श्री
भंवरीलाल बाकलीवाल स्मारिका

सम्पादक

पं० इन्द्रलाल शास्त्री, विद्यालंकार
वि. वा. पं० वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री
डा० लालबहादुर शास्त्री, एम. ए., पी. एच. डी.

卐

प्रकाशक :
श्री भा० शान्तिवीर दि० जैन सिद्धान्त संरक्षिणी सभा

प्रकाशक :

मन्त्री,

श्री भंवरीलाल बाकलीवाल स्मारिका प्रकाशन समिति

(श्री भारतवर्षीय शान्तिवीर दिगम्बर जैन सिद्धान्त संरक्षिणी सभा)

प्राप्ति स्थान :

मन्त्री,

श्री भारतवर्षीय शान्तिवीर दिगम्बर जैन सिद्धान्त संरक्षिणी सभा

१६१, कालबा देवी रोड़,

बम्बई–२

मुख्य वितरक :

इन्द्र एण्ड कम्पनी

त्रिपोलिया बाजार,

जयपुर–२

प्रथम संस्करण : १९६८

मूल्य : **पन्द्रह रूपये मात्र**

मुद्रक :

लालचन्द सोनी

अखिल भारतीय मुद्रणालय

जयपुर–३

तुम असंख्य गुण गण के धारी, देश धर्म के अनुपम लाल,
उच्च विचार, धर्मरत जीवन, प्रतिभा अनुपम, हृदय विशाल।
गुरुपद रत, निरलस, उत्साही, जनसेवी, सद्वचन रसाल,
स्मृति पथ में ही बने रहोगे, जन मन के श्री भंवरीलाल ॥
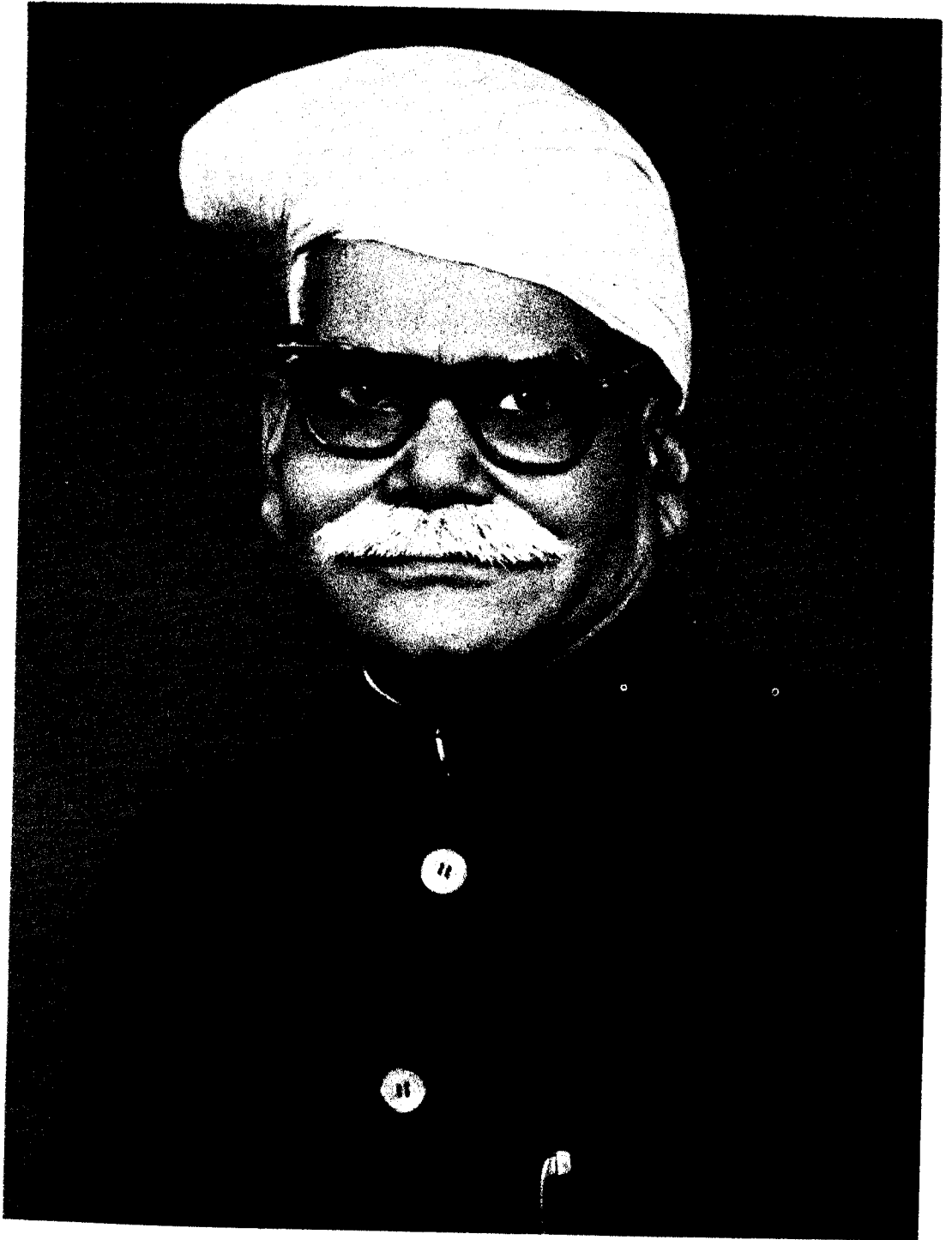
श्री भंवरी लालजी बाकलीवाल

जन्म
भाद्रपद कृष्णा ७
वि० संवत् १९५५

स्वर्गवास
आश्विन शुक्ल १३,
वि० संवत् २०२४

प्रकाशक की ओर से

स्व० पूज्य श्री भंवरीलालजी बाकलीवाल एक आदर्श नररत्न थे। उनके जो भी सम्पर्क में आया वही उनसे प्रभावित होकर उनकी भूरि भूरि प्रशंसा करता था। वे देश समाजसेवी, सत्यनिष्ठ, धार्मिक, वदान्य, परोपकारी, समयज्ञ, कृतज्ञ, देवशास्त्रगुरुउपासक, शास्त्रमर्मज्ञ आदि सभी कुछ थे। उनके असामयिक निधन से सभी लोग भारी शोकग्रस्त होगये।

उनकी अन्त्येष्टि–क्रिया के समय उसमें उपस्थित प्रायः सभी सज्जन उनके अनुकरणीय गुणों की भविष्य में भी चिरस्मृति के लिए कोई स्मारक बनाने की बात कर रहे थे। इसके अतिरिक्त अन्य स्थानों के समाज के लोगों की भी स्मारक के लिए भारी प्रेरणा रही। फलतः यह निश्चय हुआ कि उनकी स्मृति के लिए श्री भारतवर्षीय शांतिवीर दि० जैन सिद्धान्त संरक्षिणी सभा के माध्यम से उक्त निर्णय को सफल करने के लिए एक स्मारिका प्रकाशित की जाय जिसमें विशिष्ट लेखक विद्वानों की लेखमाला भी रहे। इस कार्य की सम्पन्नता के लिए श्री पंडित इन्द्रलालजी शास्त्री विद्यालंकार से निवेदन किया गया परन्तु आपने अपनी अस्वस्थता से इतना महान भार उठाने में असमर्थता व्यक्त की तो भी विशेष अनुरोध करने पर आपको यह भार स्वीकार करना पड़ा जिससे भारी प्रसन्नता हुई। पीछे इस विचार और आयोजन की पूर्णता के लिए उक्त सभा ने निम्नलिखित प्रस्ताव द्वारा ११ महानुभावों की एक प्रकाशन समिति नियुक्त की और मुझे उसके मंत्रिपद का भार सौंपा गया।

प्रस्ताव :

सेठ भंवरीलालजी बाकलीवाल का आकस्मिक निधन दिनांक १६ अक्टूबर १९६७ को समस्त दिगम्बर जैन समाज के लिये महान् अपूरणीय क्षतिरूप हुआ है। वे समाज के एक प्रमुख स्तम्भ स्वरूप थे। उन्होंने अपने जीवन में धर्म और समाज के अभ्युदय के लिये अनवरत प्रयत्न किया। वे महान् गुणवान्, चारित्रशील, उदारचेता और कर्तव्यनिष्ठ महा नेता थे। दिगम्बर जैन साधुओं के परम भक्त थे। अनेक संस्थाओं के आधार और कुशल संचालक थे। भारतवर्षीय शान्तिवीर दिगम्बर जैन सिद्धान्त संरक्षिणी सभा के भी आप एक प्रमुख आधार, मार्गदर्शक और कार्यकर्त्ता थे। अतः उनकी पुण्य स्मृति में कृतज्ञता ज्ञापन की दृष्टि से विविध असाधारण मौलिक लेखों के साथ "भंवरीलाल बालकीवाल स्मारिका" प्रकाशित करना आवश्यक होने से सभा की कार्यकारिणी समिति यह प्रस्ताव करती है कि इस स्मारिका के प्रकाशन कार्य को शीघ्र सम्पन्न करने के लिये निम्न लिखित ११ महानुभावों की एक प्रकाशन समिति नियुक्त की जावे जो स्मारिका के आय व्यय भार की व्यवस्था और प्रबन्ध भी करेगी।

जिस प्रकाशन समिति के राय साहब जैनरत्न सेठ चांदमलजी पांड्या अध्यक्ष, श्री हुलासचन्दजी सबलावत मंत्री और कोषाध्यक्ष तथा पंडित इन्द्रलालजी शास्त्री संयोजक और सम्पादक रहेंगे। पंडित इन्द्रलालजी शास्त्री चाहेंगे तो सम्पादकत्व में अन्य विद्वानों को भी सम्मिलित कर सकेंगे।

प्रकाशन समिति के सदस्यों के नाम :

(१) राय साहब सेठ चांदमलजी पांड्या, गौहाटी : अध्यक्ष
(२) सेठ सुनहरीलालजी जैन, आगरा
(३) श्री हरखचन्दजी सरावगी, कलकत्ता
(४) पं० इन्द्रलालजी शास्त्री, जयपुर, संयोजक और सम्पादक
(५) सेठ नेमीचन्दजी पांड्या, सुजानगढ
(६) बाबू रामदेवजी जैन, कानपुर
(७) डा० कैलाशचन्दजी जैन, राजाटायज कंपनी देहली
(८) पं० वर्धमानजी शास्त्री, सोलापुर,
(९) सेठ बदरीप्रसादजी सरावगी, पटना
(१०) श्री नेमीचन्दजी बडजात्या, नागौर
(११) श्री हुलासचन्दजी सबलावत, मन्त्री एवं कोषाध्यक्ष

पहले २०० पृष्ठात्मक कलेवर में ही इस स्मारिका को प्रकाशित करने का विचार था परन्तु इतने संस्मरण श्रद्धांजलियां और लेख आदि प्राप्त हो गये कि ४०० पृष्ठ भी कम रह गये। बहुत से लेखादि अप्रकाशित ही रह गये, जिसका खेद है तदर्थ लेखादि प्रेषकों से क्षमा याचना की जाती है।

माननीय श्रद्धेय पण्डित श्री इन्द्रलालजी शास्त्री विद्यालङ्कार महोदय ने पर्याप्त अस्वस्थ होते हुये भी इतने अल्प समय में उत्तमता के साथ इस स्मारिका के सम्पादन को सम्पन्न किया उसके लिए आप असंख्य धन्यवाद के पात्र हैं। आपके इस कार्य में आपके पुत्रों श्री कैलाशचन्दजी, श्री सुबोधचन्दजी बी. काम. ऐल ऐल. बी. श्री ताराचन्दजी बी. ए. ऐल ऐल. बी. और श्री जम्बूकुमारजी ने भी मनसा वाचा कर्मणा परिश्रम के साथ सहयोग दिया जिससे वे भी सज्जन धन्यवाद के भाजन हैं।

असावधानता रूप प्रमादादि से प्रकाशन में त्रुटियां रह जाना भी सम्भव है जिसके लिए समिति की ओर से मैं क्षमा प्रार्थी हूं।

निवेदक
हुलासचन्द सबलावत
मंत्री
श्री भंवरीलाल बाकलीवाल स्मारिका प्रकाशन समिति
(श्री भारतवर्षीय शांतिवीर दि० जैन सिद्धांत संरक्षिणी सभा)

के-८, दुर्गादास पथ
सी० स्कीम, जयपुर-१
७ मार्च १९६८

स्व० श्री भंवरीलालजी बाकलीवाल एक अनुकरणीय आदर्श महापुरुष थे। समस्त मानवीय गुणों के वे पुंज और प्रतीक थे। मेरे साथ उनकी ४५ वर्षों से भी अधिक समय से घनिष्ठ निःस्वार्थ मित्रता थी। उनके साथ निकट पारिवारिक जैसा ममतापूर्ण सम्बन्ध था। उनके असमय में अवसान से हृदय को भारी आघात हुआ। वे कुछ वर्ष और रहते तो देश और समाज का बहुत कुछ हित होता परन्तु दैव ऐसा नहीं चाहता था। उनके स्वर्गवास के समय भी मुझे उपस्थित रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उनके अन्त्येष्टि संस्कारके समय सभी उपस्थित शोकातुर महानुभावों एवं अन्य सज्जनों ने भी ऐसे स्वर्गीय महानुभाव का योग्य स्मारक बनाने का अनुभव किया। उक्त सज्जनों ने सुझाव रक्खा कि उनकी स्मृति में उनका स्मृति-ग्रन्थ प्रकाशित किया जाय। तीसरे ही दिन अर्थात् १८ अक्टूबर १९६७ को प्रातःकाल श्री सेठ चान्दमलजी पांडया अध्यक्ष भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा और संरक्षक भारतवर्षीय श्री शान्तिवीर दि० जैन सिद्धांत संरक्षिणी सभा भी गौहाटी से आगये और उन्होंने भी ऐसा ही सुझाव रक्खा। फलतः उनकी स्मृति में स्मारिका (स्मृतिग्रन्थ) प्रकाशित करने का अनौपचारिक रूपसे निश्चय हुआ और उसके सम्पादन प्रकाशन सम्बन्धी व्यवस्था का भार मुझ पर डालने को कहा गया, परन्तु शरीर की भारी अस्वस्थता आदि कारणों से मैंने असमर्थता प्रकट की तो भी वे सज्जन न माने और उन्होंने अनिवार्य अनुरोध किया। मैं कार्य में अक्षम होते हुए भी उनके हार्दिक प्रबल अनुरोध को टालने में असमर्थ होगया। मैं ता० १९-१०-१९६७ को जयपुर आया और शारीरिक परिस्थिति के अनुसार इसकी तैयारी में लग गया। विद्वान् लेखकों को लेख भेजने के लिए पत्र लिखे एवं जो भी इस कार्य की सम्प्राप्ति में आवश्यकता थी उसके पूर्ण करने का प्रयत्न किया। नादगांव (नासिक) से श्री भाई तेजपालजी काला महोदय मेरे अनुरोध पर जयपुर आये परन्तु अनिवार्य कार्यवश जब वे २५ दिन से अधिक न ठहर सके तब मेरे निवेदन पर श्री पंडित बाबूलालजी शास्त्री भूतपूर्व प्रकाशक जैन गजट देहली से आये। श्री बाबूलालजी शास्त्री ने इस स्मारिका को प्रकाशित करने मुद्रण कराने में मेरे पास रहकर सहयोग दिया। प्रूफ संशोधनादि सारे कार्य आपने ही किये अतः मैं श्री तेजपालजी काला और श्री बाबूलालजी शास्त्री का पूर्ण कृतज्ञ और आभारी हूं।

जिन विद्वान् लेखकों ने लेख कविताएँ आदि भेजने की कृपा की है उनका भी मैं हृदय से आभारी हूं।

श्री बाकलीवालजी के चारों सुपुत्ररत्नों (श्री नथमलजी, श्री प्रसन्नकुमारजी श्री मन्नालालजी और श्री चैनरूप जी बाकलीवाल) ने इस स्मारिका के प्रकाशन में समस्त प्रकार का सहयोग दिया। जिन उपलब्धियों

की आवश्यकता थी उनकी पूर्ति की और आन्तरिक वास्तविक पितृभक्ति का सुपरिचय दिया। एवं इनकी धार्मिक व्रत-नियम-पालनशील ममता-मूर्ति माताजी श्री मलखूदेवी जी ने भी आवश्यक जानकारी आदि देने सम्बन्धी पूर्ण सहयोग दिया। ये चारों ही बड़े योग्य, सेवाभावी, प्रेमल स्वभाव और पितृच्छन्दोनुवर्त्ती हैं। इन सभी से धर्म-समाज सेवा की दिशा में बहुत आशायें हैं। इस संकल्पित कार्य में पूर्ण सहयोग के उपलक्ष्य में इनको जितना भी धन्यवाद दिया जाय और आभार माना जाय, थोड़ा है।

श्री हुलासचन्दजी सबलावत महोदय का भी मैं अत्यन्त कृतज्ञ और आभारी हूं जिन्होंने प्रायः प्रतिसमय उपस्थित होकर अपनी शुभ सम्मति से सहयोग दिया। आप विवेकशील दूरदर्शी परिश्रम-प्रिय धर्मसमाजसेवी सज्जन महानुभाव हैं।

इस स्मारिका के सम्पादन में डा० लालबहादुरजी शास्त्री साहित्याचार्य एम० ए० पी० एच० डी० देहली और विद्यावाचस्पति पंडित वर्धमानजी पार्श्वनाथजी शास्त्री न्यायकाव्यतीर्थ शोलापुर का भी प्रशंसनीय सहयोग रहा अतः उनके प्रति भी आभार और कृतज्ञता प्रकट किये बिना नहीं रहा जा सकता।

इसी प्रकार इस स्मारिका के मुद्रण कार्य में अखिल भारतीय मुद्रणालय जयपुर के मालिक श्री लालचन्दजी सोनी के प्रति भी साभार कृतज्ञता है जिन्होंने थोड़े ही समय में इतने महाकाय ग्रन्थ का सुन्दरता के साथ मुद्रण कराने की कृपा की।

प्रारम्भ में २०० पृष्ठात्मक कलेवर में ही इसको प्रकाशित करने का विचार था परन्तु श्रद्धांजलियां संस्मरण, अत्यधिक आ गये एवं लेखक विद्वानों ने भी इतनी सामग्री भेज दी कि बहुत सी सामग्री अभी तक अवशिष्ट भी रह गई है तो भी २०० पृष्ठ के स्थान में ४०० पृष्ठ से भी अधिक हो गये।

बहुत संभव है कि संपादन प्रकाशन प्रूफ संशोधनादि में त्रुटियां रह गई हों जिनके लिए मैं क्षमा चाहता हूं आशा ही नहीं विश्वास है कि सज्जन विद्वज्जन क्षमा करेंगे।

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः॥

मार्ग चलते हुए प्रमाद से कहीं ठोकर आदि लग जाने पर दुर्जन हँसते हैं और सज्जन संभालते हैं।

फाल्गुन शु० ८ वि. सं. २०२४
जयपुर-३

विनीत
इन्द्रलाल शास्त्री

विषयानुक्रमणिका

विशिष्ट लेख

महान् मंगल–स्वरूप

णमोकार-महामन्त्र

णमो अरिहंताणं
णमो सिद्धाणं
णमो आइरियाणं
णमो उवज्झायाणं
णमो लोए सव्वसाहूणं

चत्तारि मङ्गलं — अरिहंता मङ्गलं,
सिद्धा मङ्गलं साहू मङ्गलं,
केवलिपण्णत्तो धम्मो मङ्गलं ॥

चत्तारि लोगुत्तमा —
अरिहन्ता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा,
साहू लोगुत्तमा,
केवलि पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो ॥

चत्तारि सरणं पव्वज्जामि —
अरिहन्ते सरणं पव्वज्जामि, सिद्धे सरणं पव्वज्जामि,
साहू सरणं पव्वज्जामि
केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि ॥

एसो पंच णमोयारो सव्वपावप्पणासणो।
मङ्गलाणं च सव्वेसिं पढमं होइ मङ्गलं ॥

श्री सद्गुरु-स्मरण

सुप्त और विलुप्त मुनिपथ हुआ था बहुकाल से,
खड्गधारा तुल्य मुनिपद धार हृदय सुचाल से।
निर्ग्रन्थ दैगंबर दिपाया किये वैसे शिष्य भी,
आचार्यवर श्री शांतिसागर हरें मेरे अघ सभी ॥

साधु सत्तम भव्य पूजित ज्ञानराशि महामना,
मोह विभ्रम जाल विरहित आर्ष पथरत सन्मना।
सिंहवृत्ति महान् निर्भय उर विमल अवदात है,
चंद्रसागर महामुनि के चरण में नत माथ है ॥

छत्तीस गुणधर तपोधारी क्षमा आगर चिन्मयी,
शत्रु मित्र समान जिनके आत्म साधन निर्भयी।
ध्यानरत स्वाध्याय तत्पर वचन शशिसम तापहर,
श्री वीरसागर चरण बंदूं कर युगल को जोड़कर ॥

मंगल-पाठः

१

ऋषभादिकवीरान्तान् नंनमीमि जिनान् हृदा ।
यत्पदस्मृतिमात्रेण निर्भिद्यन्ते हृयघाद्रयः ॥

२

अर्हन्तः सिद्धिसंप्राप्ताः सूरिणः पाठकास्तथा ।
सत्साधवः सदा लोके नित्यं कुर्वन्तु मङ्गलम् ॥

३

श्रीमद्वृषभसेनादिगौतमान्तान् गणाधिपान् ।
वन्दे श्रीमज्जिनाधीशदिव्यध्वनिविकासकान् ॥

४

कुन्दकुन्दाकलङ्कादीनाचार्यान् तत्त्वबोधकान् ।
समन्तभद्रप्रमुखान् नंनमीम्यखिलान् त्रिधा ॥

५

श्रीशान्तिसागरं वन्दे ततः श्रीवीरसागरम् ।
शिवसागरमाचार्यं नौम्यहं चन्द्रसागरम् ॥

६

नंनम्यते महावीर-कीर्तिः श्रीसाधुनायकः ।
दन्दह्यन्ते सदा येन ध्यानाग्नौ कर्मराशयः ॥

७

आचार्यकल्पं सद्वंद्यं तपोनिष्ठं गुणोत्तमम् ।
विद्वच्छ्रेष्ठं सदा वन्दे सन्मुनिं धर्मसागरम् ॥

८

देशभूषणमाचार्यं सूरिं विमलसागरम् ।
वन्दे त्रैविध्यतो भक्त्या साधूनन्यान् तपोधनान् ॥

९

द्वादशांगमयीं वाणीं जिनराजमुखोद्गताम् ।
सर्वविघ्नहरीं वन्दे ज्ञानज्योतिःप्रकाशिकाम् ॥

१०

सम्यग्दर्शनसज्ज्ञानसच्चारित्र्यमयीं त्रिधा ।
रत्नत्रयीं सदा वन्दे जन्मार्त्तिमृतिहारिणीम् ॥

११

अन्ये सर्वे मया वन्द्या रत्नत्रयविभूषणाः ।
अतीता वर्तमानाश्च भाविनो धर्मदेशिनः ॥

१२

श्रीमत्पञ्चपरमेष्ठि-स्मरणाद्विघ्न – नाशनम् ।
सर्वाभ्युदय-संप्राप्तिर्जायते पदमव्ययम् ॥

१३

जिनचैत्यानि सर्वाणि जिनचैत्यालयास्तथा ।
जिनधर्मो जगद्बन्धुर्नंनम्यन्ते मुहुर्मुहुः ॥

१४

नवदेव – स्तुतिर्नित्यं पापविध्वंसकारिणी ।
सर्वाभ्युदयसंदात्री वर्त्ततां सकले जने ॥

— इन्द्रलाल शास्त्री

वर्तमान युग के महान् धर्म नेता
चारित्रचक्रवर्ती स्व० श्री १०८
आचार्य शांतिसागरजी महाराज
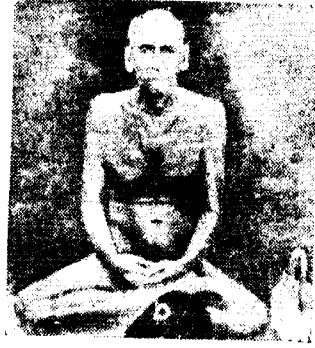
आचार्य शांतिसागरजी महाराज
के पट्टशिष्य स्व० श्री १०८
आचार्य वीरसागरजी महाराज

आचार्यकल्प स्व० श्री १०८ चंद्रसागरजी महाराज
(श्री भंवरीलालजी बाकलीवाल को आप से ही
धार्मिक और सामाजिक कार्यों में विशेष
प्रेरणा प्राप्त हुई।)

श्री १०८ आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज
संघस्थ सप्तऋषि दर्शन
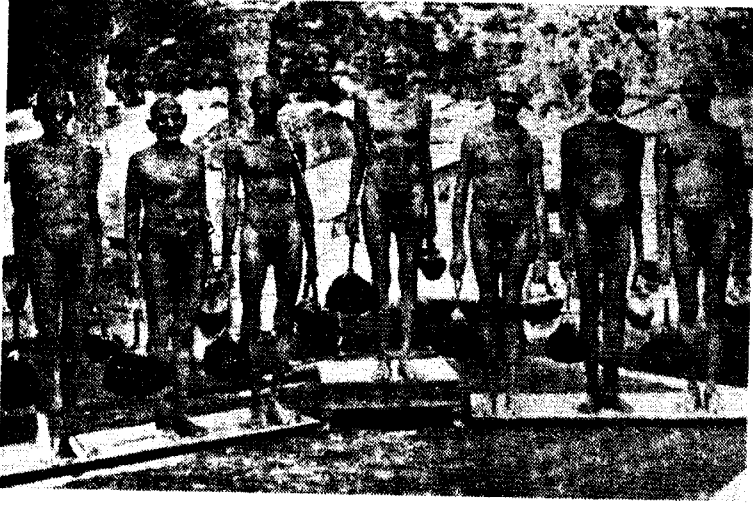
श्री १०८ आचार्य कल्प श्री धर्मसागरजी महाराज
संघस्थ मुनिदर्शन
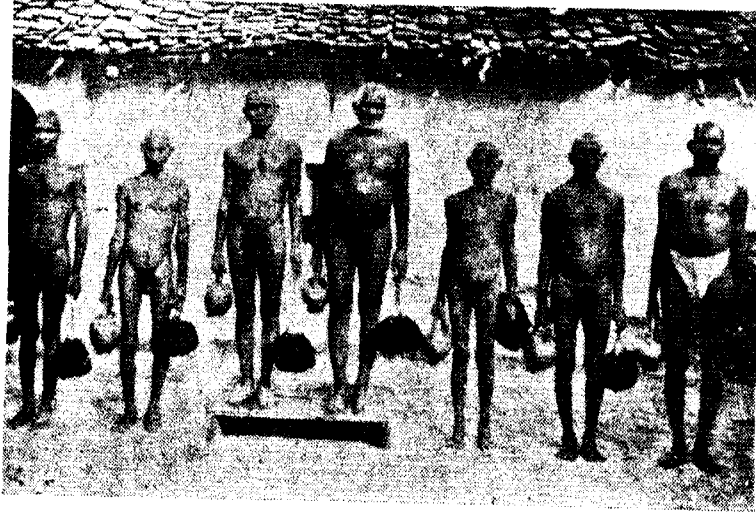
श्री १०८ मुनि दयासागर जी, श्री १०८ मुनि संयमसागर जी, श्री १०८ मुनि भव्यसागर जी,
दीक्षा गुरु श्री १०८ श्री धर्मसागर जी, श्री १०८ मुनि बोधसागर जी,
श्री १०८ मुनि निर्मलसागर जी, श्री १०५ क्षुल्लक महेन्द्रसागर जी

श्री १०८ आचार्य श्री शिवसागर जी महाराज संघस्थ सत्साधु दर्शन
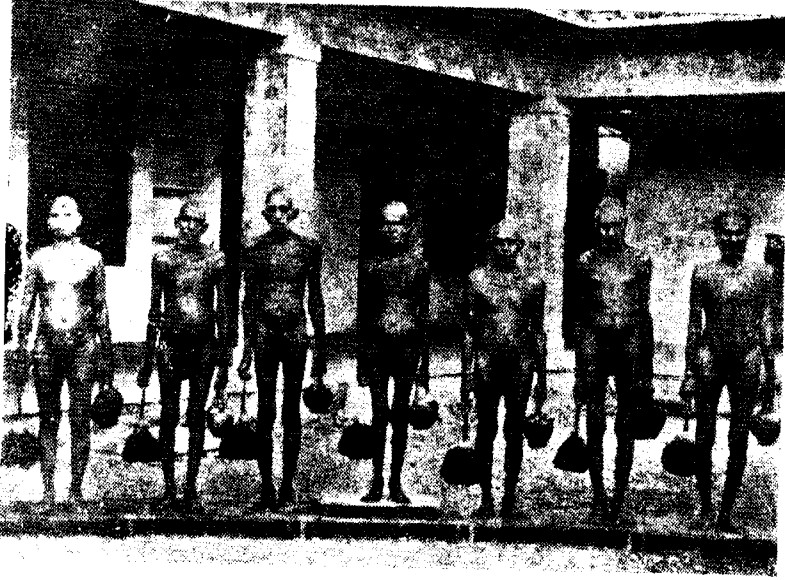
श्री १०५ आर्यिका विद्यामती जी

श्री भंवरीलालजी बाकलीवाल के अनुज श्री नेमीचंदजी की सुपुत्री शांतिबाई । विवाह के कुछ दिनों बाद ही पतिदेव केलापता हो जाने पर परम पूज्य श्री १०८ आचार्य शिवसागरजी महाराज से सुजानगढ़ में वि० सं० २०१७ में आपने आर्यिका दीक्षा ग्रहण कर ली । आप वर्तमान में महातपस्विनी और विदुषी हैं ।

श्री भंवरीलालजी बाकलीवाल श्री १०८ आचार्य शिवसागरजी
महाराज और श्री १०८ जयसागरजी महाराज
के चरण-स्पर्श करते हुये ।

श्री १०८ आचार्य देशभूषणजी महाराज के प्रवचन में दर्शन लाभ के साथ
श्री भंवरीलालजी बाकलीवाल प्रार्थना करते हुये ।

पूज्यपाद साधु महापुरुषों के आशीर्वाद

परमपूज्य प्रातःस्मरणीय विश्ववन्द्य महातपस्वी श्री १०८ आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज की तरफ से :—

श्री सेठ मोतीलालजी मींडा जोहरी ने उदयपुर से लिखा है कि परमपूज्य श्री १०८ आचार्यश्री व समस्त संघ को श्री भंवरीलाल जी बाकलीवाल के अवसान से एक अच्छे धर्मात्मा की अपूरणीय क्षति का अनुभव हुआ और उन्होंने स्वर्गीय आत्मा के मोक्षलाभार्थ अपना आशीर्वाद दिया है।

परमपूजनीय महातपोनिधि श्री १०८ आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी की तरफ से :—

श्री. ब्र०पं० बिहारीलालजी शास्त्री ने हुमच (शिमोगा) से लिखा है कि श्री धर्मनिष्ठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल के आकस्मिक निधन से परमपूज्य १०८ आचार्य श्री महावीरकीर्तिजी महाराज और संघस्थ समस्त साधु-साध्वियों ने अपनी गहरी चिन्ता व्यक्त की। उनका जीवन आदर्श और अन्य श्रावकों के लिए अनुकरणीय था। उन्होंने स्व० भंवरीलाल जी बाकलीवाल की आत्मा के लिए मोक्ष लाभ की भावना व्यक्त की।

परमवन्दनीय महायोगी श्री १०८ आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज की तरफ से :—

संघ संचालिका ब्र० चित्राबाई ने ईडर से लिखा है कि परमपूज्य १०८ आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज एवं संघ के सभी साधुओं को स्व० भंवरीलाल जी बाकलीवाल के वियोग से बड़ा आघात पहुँचा। स्वर्गीय सेठ साहब पूज्य आचार्य महाराज के परम-भक्तशिष्य थे। सदैव पर्यूषण में धर्मसेवनार्थ उनके चरणों में सपरिवार आते थे। मृत्यु से पूर्व भी पंद्रह बीस रोज पहले यहाँ आकर आचार्य महाराज का पुनीत आशीर्वाद लेकर गये थे। वे धर्म के एक स्तम्भ थे। उनके वियोग से समाज और धर्म की बड़ी हानि हुई है। पू० आचार्य महाराज ने स्व० बाकलीवाल जी की आत्मा के लिए शीघ्र ही मोक्ष का परम सुख प्राप्त होने का आशीर्वाद भेजने की आज्ञा की है।

पूज्य श्री १०८ मुनिराज श्री धर्मसागरजी महाराज ने :—

सेठ भंवरीलालजी बाकलीवाल के वियोग के समाचार सुनकर उनकी स्वर्गस्थ आत्मा के लिए मोक्ष लाभार्थ बूंदी (राजस्थान) से आशीर्वाद भेजते हुए लिखवाया है कि—श्री भंवरीलालजी बाकलीवाल जैन समाज के एक आदर्श धर्मात्मा सत्पुरुष और देवशास्त्र-गुरुभक्त सज्जन नरपुंगव थे। उनके वियोग से समाज की बड़ी भारी क्षति हुई है। उनकी सद्गत आत्मा को अनन्त चतुष्टय की प्राप्ति हो—ऐसा हमारा आशीर्वाद है।

× × × ×

परम विदुषी रत्नत्रय-साधिका आर्यिकायें पूज्य १०५ श्री इन्दुमतीजी, पूज्य श्रीसुपार्श्व-मतिजी एवं पूज्य श्री विद्यामतिजी ने बाहुबली (कोल्हापुर) से लिखवाया है कि—

श्री भंवरीलालजी बाकलीवाल के आकस्मिक वियोग से बहुत खेद हुआ। वे एक आदर्श नररत्न

श्रावक थे। साधुओं के परम भक्त थे। समाज में सन्मार्ग का प्रचार हो—इसके लिए बहुत प्रयत्नशील रहते थे। वे धर्म के आधार थे। उनके वियोग से समाज को दुःख होना स्वाभाविक है। परन्तु इससे संसार की असारता और अशरणरूप स्वभाव का विचार कर मानव को अपने आत्मसुधार के मार्ग का अवलम्बन करना चाहिए। हमारा श्री भंवरीलालजी बाकलीवाल की वियुक्त आत्मा को चिर शान्ति प्राप्त हो—ऐसा आशीर्वाद है।

× × × ×

महाप्रभावक वक्ता तपस्वी श्री १०८ आचार्य श्री देशभूषणजी महाराज :—

धर्म परायण मुनिभक्त श्री भंवरीलालजी बाकलीवाल का अकस्मात् मृत्यु का समाचार सुनकर खेद होता है। वे एक धर्म-धुरन्धर व्यक्ति थे। जैनसमाज में समाजोन्नति और धर्माभ्युदय के लिए सदैव अग्रेसर होकर काम करने वाले थे। अखिल भारतवर्षीय दि० जैन महासभा की अध्यक्षता से उन्होंने बहुत आदर्श काम किया। ऐसे एक महान् आदर्श श्रावक-रत्न के वियोग से खेद होना स्वाभाविक है। परन्तु कराल काल के मुख से कौन बचा है? हमारी श्री १००८ जिनेन्द्र भगवान् से यही प्रार्थना है कि उनकी दिवङ्गत आत्मा को चिर शान्ति प्राप्त हो। यही हमारा उनके लिए आशीर्वाद है।
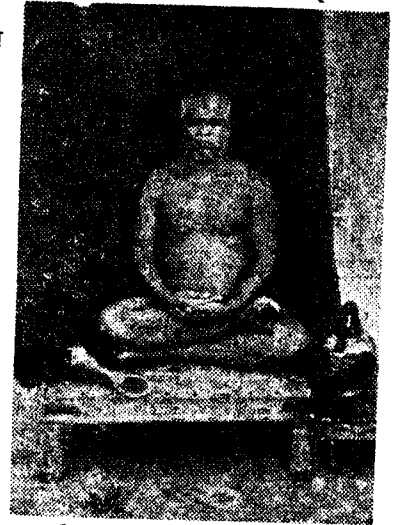
स्वस्ति श्री १०५ भट्टारक श्रीमद्दिल्ली कोल्हापुर जनकोचि पिनगोंडि चतुःसिद्ध सिंहासनाधीश्वर श्रीमदभिनव लक्ष्मीसेन भट्टारक पट्टाचार्य महास्वामी संस्थान मठ कोल्हापुर, रायबाग और होसूर (बेलगांव) कोल्हापुर से लिखते हैं कि—

जैनदर्शन में सेठ भंवरीलालजी बाकलीवाल के वियोग के समाचार पढ़कर बहुत दुःख हुआ। उनके वियोग से जैनधर्म का हीरा गया—ऐसा मालुम होता है। यह क्षति कभी भरने वाली नहीं है। किन्तु संयोग और वियोग की बात तो संसार में सदा से चलती आरही है। अतः उसका शोक न कर मनुष्यमात्र को आत्मकल्याण में लगना श्रेयस्कर है।

स्वर्गस्थ आत्मा अनन्त सुखभागी बने—ऐसा हमारा आशीर्वाद है।

आगम परम्परा के दृढ़ समर्थक

गुरु गादी नागौर के पट्टाधीश भट्टारक श्री देवेन्द्रकीर्ति जी ने लिखा है कि—

श्री भंवरीलाल जी बाकलीवाल भारतीय संस्कृति, और दिगम्बर जैन आगम परम्परा के दृढ़ समर्थक थे। उन्होंने दिगम्बर जैन संस्कृति, आचार परम्परा और आगम निष्ठा के लिये अनिर्वचनीय प्रयत्न किये, उनकी सदैव यही भावना और प्रवृत्ति रही कि देश और समाज में आध्यात्मिकता बनी रखने के लिये सम्यक्-ज्ञान के साथ सदाचार परम्परा बनी रहे। वे स्वयमपि इस सद्भावना और प्रवृत्ति के लिये सदैव सोत्साह, सप्रयत्न और संलग्न देखे गये। उन्होंने जनहित के वास्तविक कल्याणकारी कार्यों में सदैव मनसा वाचा कर्मणा योगदान दिया। ऐसे आदर्श महापुरुष के अवसान से एक असाधारण अपूरणीय क्षति का अनुभव होता है। वास्तव में उनके वियोग से हृदय को आघात पहुंचना स्वाभाविक है, परन्तु पर्याय सम्बन्धी आयु कर्म के रोकने में कोई समर्थ नहीं है। इसलिये अब तो धैर्य धारण करना पड़ेगा। उनकी स्वर्गस्थ आत्मा अनुपम शिवपद का लाभ करे यही हमारा शुभाशीर्वाद है।

आशायाः ये दासास्ते दासाः सर्व-लोकस्य ।
आशा येषां दासी तेषां दासायते लोकः ।।
अनुगंतुं सताम् वर्त्म यदि कृत्स्नं न शक्यते ।
स्वल्पमेव हि गन्तव्यम् मार्गस्थो नावसीदति ।।
आदानस्य प्रदानस्य कर्तव्यस्य च कर्मणः ।
क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः पिवति तद्रसम् ।।
साधुरेव प्रवीणः स्यात् सद्गुणामृत-वर्णने ।
नवीनांम्रांकुरस्वाद-कुशलः कोकिलः किल ।।

श्री मङ्गलाष्टकम्

१

श्रीमन्नम्र-सुरासुरेन्द्र-मुकुट-प्रद्योति-रत्नप्रभा-
भास्वत्पाद-नखेन्दवः प्रवचनाम्भोधीन्दवः स्थायिनः।
ये सर्वे जिन-सिद्ध-सूर्यनुगतास्ते पाठकाः साधवः
स्तुत्या योगिजनैश्च पञ्च-गुरवः कुर्वन्तु नो मङ्गलम् ॥

२

सम्यग्दर्शन-बोध-वृत्तममलं रत्नत्रयं पावनं
मुक्ति-श्री-नगराधिनाथ-जिनपत्युक्तोऽपवर्गप्रदः।
धर्मः सूक्तिसुधा च चैत्यमखिलं चैत्यालयं श्र्यालयं
प्रोक्तं च त्रिविधं चतुर्विधममी कुर्वन्तु नो मङ्गलम् ॥

३

नाभेयादि-जिनाधिपास्त्रिभुवनख्यातारश्चतुर्विंशतिः
श्रीमन्तो भरतेश्वरप्रभृतयो ये चक्रिणो द्वादश ॥
ये विष्णु-प्रतिविष्णु-लाङ्गलधराः सप्तोत्तरा विंशतिः
त्रैकाल्ये प्रथितास्त्रिषष्टिपुरुषाः कुर्वन्तु नो मंगलम् ॥

४

देव्योऽष्टौ च जयादिका द्विगुणिता विद्यादिका देवताः
श्रीतीर्थङ्करमातृकाश्च जनका यक्षाश्च यक्ष्यस्तथा।
द्वात्रिंशस्त्रिदशाधिपास्तिथिसुरा दिक्कन्यकाश्चाष्टधा
दिक्पाला दश चेत्यमी सुरगणाः कुर्वन्तु नो मंगलम् ॥

५

ये सर्वौषधिऋद्धयः सुतपसो वृद्धिंगताः पञ्च ये
ये चाष्टाङ्गमहानिमित्तकुशला येऽष्टाविधाश्चारणाः ।
पञ्चज्ञानधरास्त्रयोऽपि बलिनो ये बुद्धिऋद्धीश्वराः
सप्तैते सकलार्चिता गणभृतः कुर्वन्तु नो मंगलम् ॥

६

कैलाशे वृषभस्य निर्वृतिमही वीरस्य पावापुरे
चम्पायां वसुपूज्यसज्जिनपतेः सम्मेदशैलेऽर्हताम् ।
शेषाणामपि चोर्जयन्तशिखरे नेमीश्वरस्यार्हतो
निर्वाणावनयः प्रसिद्धविभवाः कुर्वन्तु नो मंगलम् ॥

७

ज्योतिर्व्यन्तर-भावनामरगृहे मेरौ कुलाद्रौ तथा
जम्बू-शाल्मलि-चैत्यशाखिषु तथा वक्षार-रूप्याद्रिषु ।
इष्वाकारगिरौ च कुण्डलनगे द्वीपे च नन्दीश्वरे
शैले ये मनुजोत्तरे जिनगृहाः कुर्वन्तु नो मंगलम् ॥

८

यो गर्भावतरोत्सवो भगवतां जन्माभिषेकोत्सवो
यो जातः परिनिष्क्रमेण विभवो यः केवलज्ञानभाक् ।
यः कैवल्यपुरप्रवेशमहिमा संभावितः स्वर्गिभिः
कल्याणानि च तानि पञ्च सततं कुर्वन्तु नो मङ्गलम् ॥

९

इत्थं श्रीजिनमंगलाष्टकमिदं सौभाग्यसंपत्प्रदं
कल्याणेषु महोत्सवेषु सुधियस्तीर्थङ्कराणामुषः ।
ये शृण्वन्ति पठन्ति तैश्च सुजनैर्धर्मार्थकामान्विता
लक्ष्मीराश्रयते व्यपायरहिता निर्वाणलक्ष्मीरपि ॥

जीवन परिचय

श्री भंवरीलाल बाकलीवाल-सङ्कीर्त्ति-परिचयः

— इन्द्रलाल शास्त्री विद्यालंकारः

श्रीमदृषभपुत्रस्य भरतस्य सुचक्रिणः ।
श्री भारते महादेशे राजस्थानसुमडिते ॥ १ ॥

बीकानेरप्रदेशेऽत्र श्री लालगढ़नामके ।
सद्ग्रामे धनिकावासे मरुस्थलसुमंडने ॥ २ ॥

खंडेलवाल-सज्जातौ बाकलीवाल-गोत्रजः ।
जैने दैगम्बरे धर्मे श्रेयो मार्गप्रशासके ॥ ३ ॥

जालूरामोऽभवत्तत्र यशः सौभाग्यमण्डितः ।
तस्य पुत्रद्वयेनेह सर्वत्र ख्यापितं यशः ॥ ४ ॥

तत्र पुत्रद्वयं तस्य कुलकीर्त्तिप्रकाशकम् ।
आद्यो धनसुखो ज्ञेयश्चुन्नीलालाभिधः परः ॥ ५ ॥

चुन्नीलालो महान् ख्यातः पतिरुद्योगिनां सुधीः ।
आंग्लराज्ये पदं येन लब्धं रायबहादुरम् ॥ ६ ॥

याभ्यां प्रदीपितो वंशो दिगन्ते नाम ख्यापितम् ।
आसाम प्रान्ते संगम्य व्यवसायः प्रसाधितः ॥ ७ ॥

सर्वासामप्रदेशे हि संस्थानानि विधाय यः ।
यायोपात्तधनत्वस्य प्रतिष्ठां विदधे सदा ॥ ८ ॥

पुत्रो धनसुखस्यासीत् खूबचंद्राभिधो बुधः ।
त्रित्रिसुनवकैकाब्दे* वैक्रमे गुणमंडितः ॥ ९ ॥

वदान्यो बुधसंसेवी गुरुभक्तिपरायणः ।
साधुसेवारतः श्रीमान् दानपूजापरः कृती ॥१०॥

व्यापारे धर्मकार्येषु येन लब्धं यशो महत् ।
परोपकारी लोकानां यो निःशुल्कचिकित्सकः ॥११॥

प्यारीदेवी प्रिया तस्य रूपसद्गुणमंडिता ।
पतिव्रता महासौम्या धार्मिकाग्र्या सुलक्षणा ॥१२॥

चत्वारः सूनवो जाता प्यारी दक्षिणकुक्षितः ।
परोपकारिणः सर्वे व्यापारकुशला बुधाः ॥१३॥

तेष्वाद्यो भंवरीलालो द्वितीयो नेमिचंद्रकः ।
तृतीय इन्द्रचन्द्राख्यश्चतुर्थश्चासुलालकः ॥१४॥

पंचपंचनवैकेऽब्दे श्रीमाद्रासितसप्तमे ।
भंवरीलालजन्माभूत् सुमुहूर्त्ते हि वैक्रमे ॥१५॥

आसूलालो महाचेताः सार्वो धर्मपरायणः ।
समाजधर्मकार्येषु ह्यग्रणीः युवकोत्तमः ॥१६॥

परोपकृतिकृद्दानी जनसेवाव्रतं दधत् ।
समासंस्थानवृन्दस्य कार्यकर्त्ता गतस्पृहः ॥१७॥

पंचविंशतिवर्षेभ्यः प्राक् स्वकीयायुषःक्षये ।
युवकाले हि संप्राप्तः स्वर्गतिं बत ! सन्नरः ॥१८॥

---

* विक्रम सम्वत् १९३३

मौरिलालो महाचेता यशस्वी मानवोत्तमः ।
ज्ञानवान् धार्मिको नेता जनता हितसन्मनाः ॥१९॥

पूर्वमासामसदप्रान्ते पश्चान्मणिपुरे वरे ।
विदधे व्यवसायं यो न्यायोपात्तप्रवृत्तितः ॥२०॥

समर्ज्य वित्तं सत्कार्ये धार्मिके जनताहिते ।
वितीर्णवान् हृदा मोदात्कर्तव्यं पालयन् त्रिधा ॥२१॥

न दृश्यते नृपर्यायेऽस्माकं मध्ये शिरोमणिः ।
कृतपुण्यफलं भोक्तुं प्रयातो निर्जरालये ॥२२॥

तत्रैव विविधान् भोगान् भुक्त्वा यास्यति सच्छिवम् ।
पुनर्नृपर्ययं प्राप्य तपस्तप्त्वा सुमुक्तिदम् ॥२३॥

तस्य पुत्रास्तु चत्वारः सर्वसद्गुणमंडिताः ।
शिक्षिता गुणिनो विज्ञा व्यवसायपराः खलु ॥२४॥

ज्येष्ठो नथमलो ज्ञेयः प्रसन्नश्चापरः सुधीः ।
मन्नालालस्तृतीयो हि चतुर्थश्चैनरूपकः ॥२५॥

धार्मिकाः पटवः सन्ति विनीता गुरुभाक्तिकाः ।
पितृछन्दोऽनुवृत्तित्वं सुपुत्रस्य हि लक्षणम् ॥२६॥

यः सत्त्वमित्रः श्रुतशीलनिष्ठः समग्रसद्वैभवमण्डितो हि ।
निर्मायकः सात्विकवृत्तिधारी लोकप्रियो लोकहितानुरागी ॥२७॥

या भारतीया जगति प्रसिद्धा महासभा जैनदिगम्बराणाम् ।
अध्यक्षतां यो विदधे सुनेता कुर्वन् समृद्धां धनहीनकाले ॥२८॥

परोपकारी सुकृती दयालुः सदा त्रिधा सद्गुरुपादसेवी ।
जिनेन्द्रभक्तो गुणिषु प्रमोदी समन्वयीवृत्तिधरः सुचेताः ॥२९॥

मान्यो वदान्यो मतिमाननन्यो धन्योऽघशून्यो कृतिनां वरेण्यः ।
सकीर्तिमानोऽप्यभिमानहीनः छिन्नः कृतान्तेन ह ! मौरिलालः ॥३०॥

साहित्य-सेवा विविधैः प्रयोगैः शिक्षा प्रसारोऽपि कृतः प्रशस्यः ।
सद्बोधसच्छास्त्रप्रकाशनेन सज्ज्ञानराशिर्भुवने वितीर्णः ॥३१॥

अनुष्ठितं त्यागतपः प्रशस्तं संसेवितः सद्विदुषां समूहः ।
कृता गुरूपास्तिरघः प्रणष्टः समर्जितं पुण्यममोघकृत्यम् ॥३२॥

कृता सदा दीनजनानुकम्पा भोज्यौषधिज्ञानबलं प्रदाय ।
सत्पात्रदानं प्रभुपत्सपर्या सत्कार्यजातं निखिलं चकार ॥३३॥

अजातशत्रुर्ह्यकुतोभयश्च स्वाध्यायशीलः परकष्टहर्त्ता ।
पित्रोः सुसेवानिरतः शुभंयुः कौटुम्बिकैरप्यऽभिनन्दितोऽभूत् ॥३४॥

यस्तीर्थभक्तः कृततीर्थयात्रः तीर्थावने चार्पितवित्तराशिः ।
सत्साधुसेवा सुविधोपटिष्ठः आध्यात्मिकीं वृत्तिमुदाजहार ॥३५॥

सत्पात्रदाता व्रतधृत्सुचर्यः धर्म्योपवासेषु रतः पटीयान् ।
इच्छन् मृतिं यः सुसमाधियुक्तां सदा बभूवात्मनि जागरूकः ॥३६॥

सन्मंत्रयंत्रोद्धृत्तिकार्यलग्नः सम्मानयामास विधिज्ञ लोकान् ।
प्राच्यं विधिं संस्कृतिमादधानः प्रारव्यापयद्भारतगौरवं यः ॥३७॥

क्षान्तोऽवदात-हृदयः समुदात्तभाषः
विघ्नोपसर्गसमयेऽप्यनुबद्ध धैर्यः ।
निर्वाहकः सततमुत्तरदायितायाः
संमृष्टशुद्धधिषणः खलु मौरिलालः ॥३८॥

यो धर्मतीर्थे ह्यवगाह्य नित्यं तत्तीर्थतोयं प्रशमस्वरूपम् ।
ववर्ष लोके बहुभिः प्रकारैः स मौरिलालः सपदि प्रयातः ॥३९॥

न्यायेन वित्तं समुपार्ज्य बुध्या वितीर्णवान् लोकहितैककार्ये ।
हितावलोकस्य जनस्य नेता गतो ह्यकस्मात् सकलान् विहाय ॥४०॥

उदारचेता महनीय-कीर्त्तिः सर्वप्रियो लोकहितानुरागी ।
दाता धनी सद्गुणराशिभूषा श्री मौरिलालो न विलोक्यतेऽद्य ॥४१॥

सदा कृता येन हि मूकसेवा कृता न काचित् यशसोऽपि वाञ्छा ।
नित्यं धृतं दीनजने सुहृत्वं श्री मौरिलालो मृतिमागतो हा ! ॥४२॥

समाजसेवानिरतः सुपुण्यः ज्ञानी कृतज्ञः परिवारपूर्णः ।
न्यायप्रियः सद्व्यवसायदक्षः श्री मौरिलालो न हि दृश्यतेऽद्य ॥४३॥

रोगो विनंक्ष्यति भविष्यति सातवेद्यं
संपत्स्यतेऽखिल-सुधर्म-समाजकार्यम् ।
इत्थं विचिन्तयति सर्वजने कुटुम्बे
हा ! भौंरिलालसुहृदं यम उज्जहार ॥४४॥

संगम्य चोदयपुरे गुरुपादमूले
स्थित्वा दिनानि कतिचिन्निकटे यमेऽपि ।
यातस्ततः स पुनर् ईडरपत्तनेऽपि
रुग्णोऽपि यो विमलसागरपादहृष्ट्यै ॥४५॥

श्री नेमिसागर मुनीशपदारविन्द—संदर्शनार्थमगमत्पुरि मोहमय्याम्* ।
आगत्य श्रीमति सुजानगढ़े स्वगेहे चक्रे जिनेन्द्रपदभक्तिमनारतं यः ॥४६॥

सूनोश्चतुष्कमति सद्गुणाकं विहाय लक्ष्मीस्वरूपयतधार्मिकधर्मपत्नीम् ।
भ्रातृद्वयं वरसुतात्रयसत्कुटुम्बं स्वर्गं ययौ सपदि हा बत ! भौंरिलालः ॥४७॥

मासे शुभाश्विनसितस्य त्रयोदशेऽह्नि चन्द्रे चतुर्द्वयनभोद्वयविक्रमेऽब्दे* ।
रात्रौ स्मरन् श्रुतजिनेन्द्रगुरून् सुभक्त्या सर्वान् विहाय प्रययौ स हि नाकलोकम् ॥४८॥

यन्मृत्युवृत्तमवगम्य नराः कृतज्ञा
हृद्घाततो विपुलशोकसरोनिमग्नाः ।
हानिं परामनुबभूवुरसह्यदुःखात्
क्रौर्यं यमस्य जगदुः परिदेयमानाः ॥४९॥

सोत्साहसद्धीजनसेवकस्य श्री धर्मवीरस्य जितेन्द्रियस्य ।
श्री भौंरिलालस्य दिवंगतत्वा—दपूरणीया क्षतिरद्य जाता ॥५०॥

यः पूर्वपुण्यात्समवाप लक्ष्मीं सुसंपदां सर्वविधां विशिष्टाम् ।
अत्रापि पुण्यं विहितं सुपूज्यं विदिष्यते भाविनि सौख्यजातम् ॥५१॥

यो जन्म लेभे म्रियतेऽप्यवश्य—मात्मानबुद्धो विफलं नृजन्म ।
कृती भवेद् यः परलोकसिद्धयै तस्यैव साफल्यमवाप जन्म ॥५२॥

---

* बम्बई ।

* आश्विन शुक्ल १३ चन्द्रवार वि० सं० २०२४

श्री भौंरिलालेन मनुष्यजन्म सार्थं कृतं सत्कृतिकर्म कृत्वा ।
संलप्स्यते मोक्षसुखं विशिष्टं भुक्त्वा चिरं स्वर्गसुखादिसौख्यम् ।।५३।।

एकोनसप्तति (६९) सुवर्षसमायुषोऽन्ते
प्राणान् जहौ विपुलशोकनिमग्नलोके ।
तस्यैव सत्पुरुषमन्डनसज्जनस्य
संस्मारिका बुधजनप्रियतामुपैतु ।।५४।।

अन्यो जनस्तद्गुणराशिमेनं दधातु चित्ते लभतां सुकीर्तिम् ।
परोपकारी शुचिरास्तिकः स्यात् नित्यं सदाचारपरः कृतज्ञः ।।५५।।

उद्देश्यमेनं हृदये समर्प्य प्रकाशितेयं पठनीयवाणी ।
सत्पुरुषाणां चरितं हि पूतं करोति पूतानि जगन्ति शश्वत् ।।५६।।

भौंरिलालस्य संकीर्त्तिरिन्द्रलालेन शास्त्रिणा ।
कृता तद्गुणकृष्टेन श्री जयपुरवासिना ।।५७।।
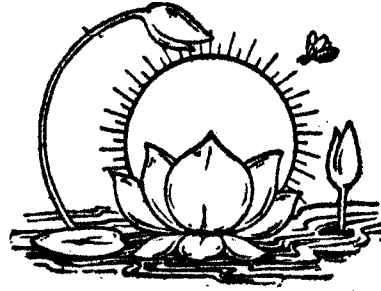
सेठानी साहिबा श्रीमती मलखूदेवी जी

श्री भंवरीलालजी बाकलीवाल का जीवन-परिचय

—श्री इन्द्रलाल शास्त्री विद्यालंकार

संसार में जन्म के साथ मरण का और मरण के साथ जन्म का अविनाभावी सम्बन्ध है। संसार में जिस प्राणी ने भी जन्म लिया है उसका मरण अवश्यम्भावी है। "यो जन्म लभते प्राणी तस्य मृत्युरसंशयम्" अर्थात् जो प्राणी जन्म लेता है वह मरणको भी प्राप्त होता ही है इसमें किंचिन्मात्र भी संदेह नहीं है। यह जन्म मरण का चक्र सांसारिक प्राणी के अनादि काल से लगा हुआ है। जो प्राणी अभव्य अथवा दूरानुदूर भव्य भी होते हैं उनके यह जन्म मरणका चक्र अनादि और अनंत भी होता है। भव्य प्राणियों के यह चक्र अनादि किन्तु सान्त होता है।

बहुत से प्राणी ऐसे भी होते हैं जो एक श्वासमात्र समय में अठारह बार जन्म और मरण दोनों कर लेते हैं। अडतालीस मिनिट के समय को मुहूर्त्त कहते हैं और एक मुहूर्त्त में तीन हजार सात सौ तिहत्तर श्वासोच्छ्वास होते हैं। इस प्रकार २४ मिनिट के समय में बहुत से प्राणी ६७९ १४ बार तक जन्म और मरण कर डालते हैं। इस घोर दुःखमय आकुलतापूर्ण अशान्तिमय संसार में मनुष्य जन्म अत्यन्त दुर्लभ है। देव-पर्याय में सुख कहा जाता है परन्तु वह सुखाभासही है क्योंकि उस पर्याय से साक्षात् आत्यंतिक सुख की उपलब्धि नहीं हो सकती। आत्यंतिक परम निःश्रेयस स्वरूप अनन्त सुख की साक्षात् प्राप्ति मानव-पर्याय से ही हो सकती है। सकलचारित्र के बिना आत्यंतिक सुख प्राप्त नहीं हो सकता जिसे प्राप्त कराने की क्षमता मानव जन्म में ही है, क्योंकि सकलचारित्र अथवा पूर्ण संयमोपलब्धि मनुष्य पर्याय में ही संभव है।

मनुष्य-पर्याय पा लेने पर भी सकलचारित्र अथवा सकल-संयम को प्राप्त कर लेना कोई साधारण बात नहीं है। पंचेंद्रियों के विषयों पर पूर्ण विजय प्राप्त कर लेना अत्यन्त असाधारण बात है। करोड़ों अरबों मनुष्यों में एकाध व्यक्ति ही ऐसा होता है जिसका समस्त पंचेंद्रिय विषयों पर पूर्ण विजय हो। अभिलाषा अथवा इच्छा का नाम संज्ञा है। चार संज्ञाएं (आहार, भय, मैथुन और परिग्रह) प्रत्येक सांसारिक प्राणी के साथ संलग्न हैं। इन संज्ञाओं का नाम ही ज्वर अथवा रोग है, इस रोग से सभी सांसारिक प्राणी आक्रान्त हैं। जिनके यह रोग असाध्य है वे अभव्य या दूरानुदूर भव्य होते हैं और जिनके यह रोग साध्य है वह भव्य कहलाता है।

भव्य-जीव राशि में भी कितने ही अति निकट भव्य और कितने ही निकट भव्य होते हैं। अति निकट भव्य एक दो पर्याय धारण करके ही आत्यंतिक सुख प्राप्त कर लेते हैं और निकट भव्य वे होते हैं जिनके भी सांसारिक दुःख संदोह निरस्त होकर जिन्हें आत्यंतिक सुख कुछ अधिक पर्याय धारण करने पर प्राप्त हो जाता है।

इस पंचम दुःषमा काल में जन्म लेने वाले मानव को संयम धारण करने पर भी उसी मानव पर्याय से उत्तम संहननादि के अभाव एवं अनेक प्रतिबन्धक कारणों से आत्यंतिक सुख प्राप्त नहीं हो सकता उन्हें भी भवान्तर धारण कर पुनः मनुष्य पर्याय प्राप्त होने एवं संयम धारण करने पर ही प्राप्त होता है।

पूर्ण संयम पंच महाव्रतों एवं अन्य तेईस गुणों के बिना नहीं हो सकता जिनका धारण करना और पालन करना साधारण बात नहीं किन्तु अत्यंत कठिन है। आज इन २८ मूल-गुणों को धारण करने वाले बहुत ही थोड़े अंगुलिगण्य पुरुषोत्तम हैं। ऐसे महामहिम महामानव संसार में रहते हुए भी संसारातीत अथवा जीवन्मुक्त होते हैं। वास्तविक अर्थ में वे सच्चे स्वतन्त्र हैं।

विकल-संयम अथवा देश संयम धारण करना भी कोई साधारण बात नहीं है जो अन्तरात्मा होते हैं जिनमें भेद विज्ञान की झलक है और जो आत्यंतिक परमनिःश्रेयस की सन्मुखता में कुछ ही पीछे हैं वे ही विकल संयम अथवा देश संयम धारण कर सकते हैं। संयम का अर्थ इंद्रिय विषयों के पराधीन न रह कर आत्म-सम्मुख होना है। इन्द्रियों के विषय आत्म-सम्मुख नहीं होने देते। वे आत्म-सम्मुखता के विरोधी अथवा प्रतिबन्धक हैं। श्री पूज्यपादाचार्य स्वामी ने कहा है कि:—

यत् यत् आत्मोपकाराय तत् तत् देहापकारकम्।
यत् यत् देहोपकाराय तत् तत् आत्मापकारकम् ॥

अर्थात् जो जो आत्मा के हित अथवा उपकार करने वाले हैं वे वे शरीर का अपकार करने वाले हैं और जो जो शरीर का उपकार करने वाले हैं वे वे आत्मा का अहित करने वाले हैं।

अत्यन्त कठिनतम संप्राप्त मनुष्य-पर्याय में जबकि आत्मा और शरीर दोनों में भिन्नता मानी जाती है, स्वर्ग, नरक, मोक्ष परलोक परोक्ष में श्रद्धा और मान्यता है, तब केवल भौतिकता का ही आश्रय करना और आत्म-विमुख रहना महा हानि का स्वागत करना है। मनुष्य जीवन को जितना भी हो सके संयमी बनाने का ध्येय और साथ ही प्रवर्तन भी होना ही चाहिये। मानव-जीवन यापन करने के तीन मार्ग हैं। उत्तम, मध्यम और जघन्य। उत्तम मार्ग तो २८ मूलगुण धारण कर सकल-संयम का पालन करना है। मध्यम मार्ग के दो भेद हैं। एक तो वह जो ११ श्रेणियों में विभाजित है जिसे जैन आगम

की परिभाषा में ११ प्रतिमाऐं भी कहा जाता है। एक वह जिसे पाक्षिक कहा जाता है। मानव जीवन की जघन्य प्रणाली तो वह है जो सर्वथा हिंसा असत्य चौर्य मैथुन और संचय के ही आधी। है जिसमें आत्मा और शरीर को अभिन्न समझा जाकर केवल शरीर और इन्द्रियों की पुष्टि के लिए ही सब कुछ होता हो ऐसे जीवों की संज्ञा बहिरात्मा भी है।

विचारों, भावों, परिणामों की अपेक्षा से आत्मा तीन प्रकार की होती है। बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। राग द्वेष क्रोध मान माया लोभ को अपना स्वरूप समझना, पर वस्तु धन मकान स्त्री पुत्र शरीर आदि परपर्याय-स्थित वस्तुओं को अपनी समझना, अलौकिक परमानन्द आत्म सुख की ओर दृष्टिपात भी न होना एवं वंचित रहना आत्मा की बहिरात्म-अवस्था है। इस बहिरात्म-अवस्था में स्वसंवेदन ज्ञान और निजानुभवरूप सम्यक् ज्ञान नहीं होता और बहिरात्मा प्राणी पर पदार्थ में ही निरन्तर स्व-बुद्धि करता है उसे स्वसंवेदन और स्वानुभवरूप सम्यक् ज्ञान का नाम भी नहीं सुहाता, वह चिर परिचित श्रुत अनुभूत संसार भोग इन्द्रिय सुखादि की कथा और प्राप्ति में ही लगा रहता है। इन वाह्य पदार्थों के अतिरिक्त अंतर्वस्तु भी कुछ है या नहीं इसकी ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता और न इसके साधन ही उसे प्रिय लगते हैं, इस प्रकार के बहिरात्मा अनन्त हैं प्रायः सभी प्राणी बहिरात्मा ही हैं जिनका लक्ष्य और ध्येय केवल भौतिकता है।

अन्तरात्मा प्राणी वे होते हैं जो वाह्य वस्तुओं और आत्मा को अभिन्न न मानकर अन्तस्तत्व की तरफ भी आकृष्ट और प्रवृत्त हैं। प्रशम, संवेग, अनुकंपा और आस्तिक्य भावों के रखने वाले हैं। वे शरीरादि पर वस्तुओं को परवस्तु मानकर उतना ही उनसे प्रयोजन रखते हैं जिससे स्वसंवेदन और स्वानुभव रूप सम्यक् ज्ञान की उपलब्धि में सहायता पहुंच सके एवं बाधा न हो क्योंकि आत्मा के साथ शरीर का अनादिकाल से सम्बन्ध है। संसार में अकेली आत्मा और अकेला शरीर कभी नहीं रहता। एक पर की हुई क्रिया प्रतिक्रिया दोनों पर होती है हालांकि ये दोनों पदार्थ भिन्न स्वरूप हैं। आत्मा और शरीरादि के संयोग सम्बन्ध का नाम ही संसार और स्थायी वियोग का नाम ही मोक्ष है। शरीरादि के कारण ही आत्मा सांसारिक दुःखों में पड़ा हुआ है अतः शरीरेन्द्रियादि विषयों पर विजय पाना ही मानव जीवन का लक्ष्य अथवा ध्येय होना चाहिये। आत्मा के अभ्युत्थान और उन्नयन के लिये शरीर इन्द्रियों को आक्रान्त रखना ही होगा। अन्तरात्मा प्राणी शरीर इंद्रियादि पर पदार्थों से आत्मा को आक्रान्त नहीं होने देते, वे उन पर अपना अधिकार चाहते एवं रखते हैं उनका अपनी आत्मा पर सर्वाधिकार रख कर उन्हीं के आधीन नहीं हो जाते और न सर्वथा उनके आधीन बनना चाहते हैं।

परमात्मा तो संसार से अतीत होते हैं वे कृतकृत्य, सिद्धसाध्य कर्मबंधन से रहित अलौकिक होते हैं। इसी परमात्म-अवस्था के लिए अन्तरात्मा प्रयत्नशील और कर्तव्यनिष्ठ होता है। यदि अनिवार्य समझी जाने वाली विवशताओं अथवा मानसिक आत्मिक निर्बलताओं से उत्तम मार्ग की ओर प्रवृत्ति न भी

हो सके तो मानव को मध्यम-मार्ग का पथिक तो होना ही चाहिये। स्व० श्री भंवरीलालजी बाकलीवाल उसी मध्यम मार्ग के पथिक थे और सकल संयम रूप अमृतमय भोजन के लिए क्षुधित थे।

वंश-परिचय

त्याग, चारित्र और आस्तिक्य-संपत्ति के निधान धर्म-प्राण भारतवर्ष में एकतन्त्र शासन ही रहा। वर्तमान में प्रचलित जनतन्त्र अथवा दलतन्त्र शासन में एक तन्त्रीय अथवा राजाओं के शासन में चलने वाले प्रदेश का नाम राजस्थान प्रदेश है। उसी राजस्थान प्रदेश के बीकानेर नामक उप प्रदेश की नोखा तहसील में लालगढ़ नामक ग्राम में दिगम्बर जैन-धर्मानुयायिनी खण्डेलवाल जातीय लोगों का भी निवास है उसी जाति की चौरासी गोत्रों में बाकलीवाल नामक गोत्र या वंश में आपका जन्म हुआ। यों तो यह वंश और उसके पूर्वज बहुत हुए ही हैं परन्तु उनका ऐतिहासिक बोध नहीं है। श्री भंवरीलालजी के प्रपितामह से पता चलता है जिनका नाम श्री जालूरामजी बाकलीवाल था। जालूरामजी के दो पुत्र हुए—धनसुखदास जी और चुन्नीलालजी। श्री धनसुखदासजी के सुपुत्र थे—श्री खूबचन्द्रजी। श्री खूबचन्द्रजी के चार पुत्र हुये जिनमें प्रथम चरित्र-नायक श्री भंवरीलालजी बाकलीवाल। दूसरे श्री नेमीचन्दजी, तीसरे श्री इन्द्र-चन्द्रजी और चौथे श्री आमूलालजी।

श्री खूबचन्द्रजी के चार लड़कियां भी हुईं। जिनका विवाह श्री मोहनलालजी काला सुजानगढ़ श्री मगराजजी सवलावत डेह, श्री मेघराजजी सेठी लाडनूं और श्री कंवरीलालजी पाटणी डेह से क्रमश; विवाही गईं। जिनमें से श्री भंवरीलालजी के चारों बहनोई तो गुजर गये और एक बहन गुजर गई। तीनों बहनें जो मौजूद हैं उनके नाम सोहनीबाई, मनोरीबाई और टीकीबाई हैं। टीकीबाई के तो सातवी श्रेणी के व्रत भी हैं। श्री आसूलालजी धार्मिक धर्म समाज सेवा में निरत एवं सार्वजनिक परोपकारी कार्यकर्त्ता थे परन्तु आज से २५ वर्ष पूर्व उनका अकाल में युवावस्था में ही स्वर्गवास हो गया। उनके अवसान से सभी लोग भारी शोक सागर में निमग्न हो गये। वे कलकत्ता रहते थे और वहीं व्यापार करते थे।

स्व० श्री धनसुखदासजी और चुन्नीलालजी व्यापारार्थ आसाम चले गये थे और सरदार शहर निवासी माहेश्वरी जातीय करवा वंश के श्री सालिगरामजी के साझे में व्यापार करते थे। इस व्याव-सायिक संस्थान (फर्म) का नाम सालिगराम चुन्नीलाल रखा गया था जिसका मुख्य कार्यालय डिब्रूगढ (आसाम) में था। इस फर्म की मुख्य व्यापार वस्तु पेट्रोल केरोसिन आदि हैं। इस संस्थान की पचासों शाखाएं आसाम में स्थापित हुईं और तेल उद्योग में इस संस्थान की प्रमुखता रही। इस संस्थान की स्थापना के समय अंग्रेजी राज्य था। अंग्रेजी शासन ने श्री चुन्नीलालजी को उनकी कार्यकुशलता और कर्तव्यपरायणता से प्रसन्न होकर 'राय बहादुर' इस सम्मान्य उपाधि से अलंकृत किया तथापि श्री सालिगराम

जी के नाम के आगे 'राय' और अपने नाम के आगे 'बहादुर' लगाये जाने की व्यवस्था की और संस्थान का नाम भी तभी से 'सालिगराम चुन्नीलाल' इस नाम के स्थान पर "सालिगराम राय चुन्नीलाल बहादुर" रखकर घोषित कर दिया और सर्वत्र इसी नाम से यह संस्थान सुप्रसिद्ध रहा।

इस संस्थान के कार्य में पीछे लालगढ़ (बीकानेर) निवासी स्वनामधन्य धर्मरत्न सुप्रसिद्ध वदान्य रायसाहिब सेठ चांदमलजी पांडया के पूर्वज (पिता एवं उनके अग्रज) भी सम्मिलित हो गये परन्तु संस्थान के नाम में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। तीनों परिवारों (करवा बाकलीवाल और पाँडया) में जनसंख्या वृद्धि एवं अन्यान्य व्यावसायिक कारणों से भी सन् १९५५ में ये तीनों ही परिवार व्यावसायिक क्षेत्र में अलग अलग होकर अपना-अपना स्वतन्त्र रूप से कार्य करने लगे हैं और परस्पर प्रेम सौहार्द के साथ विभाजित हो गये हैं। इस विभाजन में स्व० श्री भंवरीलालजी बाकलीवाल इंफाल (मनीपुर) में अपना व्यवसाय करने लगे और अपने संस्थान (फर्म) का नाम "भंवरीलाल बाकलीवाल एण्ड कम्पनी" रखा।

श्री भंवरीलालजी बाकलीवाल के पिता स्व० सेठ खूबचन्द्रजी एक अच्छे व्यापारी थे। उनका जन्म वि० सं० १९३३ में हुआ और ६६ वर्ष की आयु में वि० सं० १९९९ में स्वर्गवास हो गया। स्वर्गवास के ६ वर्ष पहले आप सारा व्यापार कार्य अपने पुत्रों पर छोड़ चुके थे और लालगढ़ में ही रहने लगे। आप परम धार्मिक, मिलनसार, विनोदप्रिय और स्वाध्यायशील महापुरुष थे। आप आयुर्वेद चिकित्सा प्रणाली से जनचिकित्सा भी निःशुल्क किया करते थे। आपको आयुर्वेद सम्बन्धी औषधियों और वनीय जड़ी बूटियों का बहुत ज्ञान था। अनेक तात्कालिक लाभप्रद चमत्कारी प्रयोग जानते थे, जिनका उपयोग यथावसर किया करते थे। आप एक अच्छे दानी थे। कबूतरों को मोठ चुगाने के बाद ही भोजन करते थे। शुद्ध सात्विक जीवन बिताने वालों में आदर्श थे। अपने कुटुम्ब के साथ सभी तीर्थों की यात्राएँ की अनेक व्रत विधान किये जिनके उद्यापनों में बड़े २ प्रीतिभोज भी दिये और भी अनेक प्रकारों से चार प्रकार के दान में धन का सदुपयोग किया। आपकी मुनियों के प्रति अगाध भक्ति थी। स्व० परम पूज्य श्री १०८ श्री चन्द्रसागरजी महाराज के आप उपासक थे।

श्री स्व० सेठ खूबचन्दजी बाकलीवाल का विवाह जसरासर निवासी सुजानगढ़ प्रवासी श्रीकनीरामजी पांडया की सुपुत्री अथवा स्व० सेठ दीपचन्दजी पांडया की बहन श्रीमती प्यारीबाई के साथ हुआ था। श्रीमती प्यारीबाई का जन्म वि० सं० १९३५ में हुआ था। आप लालगढ़ एवं आस-पास के गांवों में 'लक्ष्मी' के नाम से प्रसिद्ध थीं। दया दान धर्म साधन में सबसे आगे रहती थीं। प्रत्येक व्यक्ति के साथ वात्सल्य भाव था। सबकी उचित सहायता करती थीं। मुनियों को आहार दान, पात्र दान, करुणा दान, भगवत पूजा, शास्त्र श्रवणादि में भारी रुचि थी। आपने अन्त में श्रावकीय सप्तम श्रेणी के व्रत लेलिये थे और अन्त में सल्लेखना लेकर समाधिमरण के साथ द्वि-श्रावण कृष्ण द्वादशी वि० संवत् २०१५ को स्वर्गयात्रा के लिए प्रयाण किया।

स्व० सेठ खूबचन्द्रजी और उनकी धर्मपत्नी श्रीमती प्यारीदेवी जी (श्री स्व० भंवरीलाल जी के पिता माता) मेरे साथ भी भारी स्नेह और ममता भाव रखते थे। मैं एक बार लालगढ़ भी गया था तब आपके स्नेह वात्सल्य और ममत्व भाव एवं आत्मीयता ने मुझे प्लावित कर दिया और वह निर्व्याज आत्मीय स्नेह आज भी स्मृतिपथ में बना ही रहता है।

श्री भंवरलाल जी की पूज्य माताजी श्री प्यारीदेवी जी मरे पूरे परिवार की स्वामिनी थी। स्वर्गवास के समय पारिवारिक स्थिति इस प्रकार थी—३ पुत्र, ४ पुत्र वधू, ४ पुत्रियां, ३ जामाता, १७ पौत्र, ११ पौत्र वधू २३ दौहित्र, २७ दौहित्रियां, ८ प्रपौत्र, ५ प्रपौत्रियां आदि कुल १४८। इनके अतिरिक्त स्व० सेठ चुन्नीलालजी के परिवार था ही। इतना परिवार और उसके साथ सब प्रकार की सम्पत्ति, मनुष्य पर्याय में ८० वर्ष की आयु पाना साधारण पुण्यशालिता नहीं है। आपको इतना ही महान् दुःख हुआ कि आपके १ पुत्र श्री आसूलालजी और जामाता श्री कंवरीलालजी का अपने ही सामने इष्ट वियोग जनित दुःख देखना पड़ा।

श्री स्व० सेठ भंवरीलालजी, सेठ नेमीचन्दजी, सेठ इन्द्रचन्द्रजी और स्व० श्री आसूलालजी के पुत्र श्री दानमलजी ने अपने पिता माता की चिर-स्मृति के लिए "श्री सेठ खूबचन्द प्यारीदेवी जैन ग्रंथमाला" नामक प्रकाशन संस्था की स्थापना की और २०००) रुपये श्री स्व० सेठ भंवरीलालजी ने दिये। इस ग्रंथमाला द्वारा अब तक दो ग्रंथ प्रकाशित हुये हैं। पहला पुरंदरव्रत पूजा विधान और दूसरा स्व० प० दौलतराम कृत हिन्दी भाषानुवादमय श्री पद्मपुराण। इस ग्रंथ माला द्वारा प्रकाशित ग्रंथ लागत मात्र मूल्य में श्री आचार्य शांतिसागर जैन सिद्धांत प्रकाशिनी संस्था श्री महावीरजी (राज०) द्वारा प्राप्त होते हैं। ग्रंथों के विक्रय मूल्य से जो आय होती है उससे अन्य ग्रंथ छपते रहते हैं। उक्त संस्था का ऐसा नियम है कि कोई साहित्य-प्रेमी किसी शास्त्र के प्रकाशनार्थ धनराशि दे तो उस शास्त्र को प्रकाशित किया जाकर लागत मात्र मूल्य या उससे कम में भी बेचा जा सकता है और उस ग्रंथ के विक्रय से जो आय प्राप्त हो उससे आगे अन्यान्य ग्रंथों का प्रकाशन इसी प्रकार की प्रणाली से होता रहता है।

विदित हो कि स्व० सेठ भंवरीलालजी ने पापक्षय, पुण्यावाप्ति और संसार निवृत्ति के उद्देश्य से पुरन्दर व्रत स्वयमपि किया था। इस व्रत का बड़ा भारी माहात्म्य है। "पुरन्दर व्रत पूजा विधान' पुस्तक २५० पृष्ठ में छपा है जिसका मूल्य डेढ़ रुपया और पद्मपुराण का मूल्य ११) रुपया है। ये दोनों ही ग्रंथ श्री शांतिवीर दिगम्बर जैन संस्थान शांतिवीर नगर श्री महावीरजी (राजस्थान) से प्राप्त होते हैं।

श्री सेठ भंवरीलालजी का जन्म अपने पूर्वजों के निवास स्थान लालगढ़ (बीकानेर) में भाद्रपद कृष्ण सप्तमी विक्रम संवत् १९५५ को हुआ था। शैशव काल लाड प्यार में जाने के बाद आपने अपने

छोटे से निवास स्थान में ही शिक्षण प्राप्त किया था। उच्च शिक्षा के साधन न मिल सके तो भी आप हिन्दी, अंग्रेजी, बंगला, आसामी, मनीपुरी भाषाएं जानते थे। अनेक ग्रंथों का आपने स्वाध्याय किया जिससे आपका धार्मिक और शास्त्रीय ज्ञान परिमार्जित और प्रशंसनीय था। हिन्दी और अन्य भाषाओं से हिन्दी में अनूदित पुस्तकों, सार्वजनिक समाचार पत्रों, साहित्यिक पुस्तकों के सतत पढ़ते रहने से शिक्षा स्तर कुछ कम होने पर भी आपका अनुभव और ज्ञान विशिष्ट था।

थोड़ी उम्र में ही आप व्यावसायिक कार्यों में योगदानार्थ डिबरूगढ़ (आसाम) चले गये और श्री सालिगराम राय चुन्नीलाल बहादुर नामक अपने संस्थान में (फर्म में) अपनी असाधारण स्थिति थोड़े ही समय में बनाली। आप संस्थान में प्रधानतम समझे जाने लगे। आपकी सम्मति और आदेशों को प्राथमिकता दी जाने लगी जो आपके असाधारण बुद्धि वैभव का फल था।

डिबरूगढ़ में रहते हुए आपने समाज सेवा और धर्म रक्षा के कार्यों में भी भारी योगदान दिया आसाम में जैन धर्म के प्रसार का श्रेय मुख्यतः आपको ही माना जाय तो इसमें अत्युक्ति नहीं हो सकती। आप आसाम में विद्वानों को बार-बार आमन्त्रित करते और उनके भाषणों प्रवचनों में आसामवासी शिक्षित लोगों विद्वानों को बुलाते, उन्हें घरों से बुला बुलाकर लाते थे। उनको अंग्रेजी भाषा में प्रकाशित जैन धर्म की पुस्तकें बिना मूल्य देते एवं अनेक प्रकारों से उन्हें जैन तत्वज्ञान की ओर आकृष्ट करते रहते थे। कई बार स्व०ब्र० शीतलप्रसादजी आदि को बुलाया और उनके सार्वजनिक भाषण कराये। आसाम में तो यह उनका तत्स्थानीय होने से मुख्य था बाकी यह काम जहां भी हो सकता था, आप कराते और उसमें सहयोग देते रहते थे।

आपकी समाज, देश और धर्म की सेवा करने वाली संस्थाओं से प्रारम्भ से ही अभिरुचि थी। १८-१९ वर्ष की आयु से ही आप भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा, भारतवर्षीय दिगम्बर जैन खण्डेलवाल महासभा के अधिवेशनों में जाते और उनमें सक्रिय भाग भी लेते थे। संभवतः भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा के आप १९-२० वर्ष की अपनी आयु से ही सदस्य रहे और आपने समाज और धर्म की तन-मन-धन से श्लाघनीय सेवा की।

आपका विवाह सुजानगढ़ निवासी सेठ दिलसुखराय जी पाटनी की सुपुत्री श्री मलखूबाई के साथ वि० सं० १९६७ को सुसम्पन्न हुआ। आपने ४ पुत्रों और तीन पुत्रियों को जन्म दिया। पुत्रों के नाम इस प्रकार हैं—श्री नथमलजी, श्री प्रसन्नकुमारजी, श्री मन्नालालजी और श्री चैनरूप जी। आप चारों ही योग्य विनीत, मातृपितृ-भक्त, माता पिता के छन्दोऽनुवर्ती, सात्विक, धार्मिक और कार्य कुशल हैं। श्री नथमल जी इंफाल-मणिपुर की नगरपालिका के अध्यक्ष भी रह चुके हैं तथा कुछ समय तक चैम्बर आफ कामर्स के मंत्री भी रहे। अन्य अनेक व्यावसायिक, सार्वजनिक, सामाजिक संस्थाओं के सदस्य आदि रहे एवं हैं। श्री चैनरूप जी सन् १९६४ से अब तक चैम्बर आफ कामर्स के सेक्रेटरी हैं। श्री प्रसन्नकुमार

जी एवं श्री मन्नालाल जी भी महान् सेवाभावी परोपकारी नर-रत्न है। चारों ही कुलदीपक हैं। इसी प्रकार आपकी तीन पुत्रियां श्री रतनदेवी, श्री मन्नीदेवी और सुशीलादेवी हैं। तीनों ही धार्मिक आचार-विचार सम्पन्न, सात्विक, व्यवहार कुशल और विनीत हैं। आपके तीनों ही जामाता श्री मांगीलाल जी सेठी, श्री हुलासचन्दजी सबलावत डेह (नागौर राजस्थान) और रतनलालजी बगड़ा एम. ए. सुजानगढ़ हैं। श्री माँगीलालजी सेठी के पिता श्री स्व० सेठ वृद्धिचन्द्रजी सेठी ने आज से ३४-३५ वर्ष पूर्व भारतवर्षीय दिगम्बर जैन खंडेलवाल महासभा की रेनवाल माजी (सांगानेर जयपुर) अधिवेशन में अध्यक्षता की थी। आप विशिष्ट साहित्यानुरागी और कुशल व्यापारी भी थे। मेरे साथ उनका विशिष्ट प्रेम और ममत्व भाव रहा। श्री माँगीलालजी सेठी आजकल इम्फाल (मनीपुर) में ही अशोक ट्रेडर्स के नाम से संस्थान स्थापित कर उसके द्वारा व्यापार करते हैं। आप धार्मिक, विनीत, शिक्षित और कुशल व्यापारी हैं। श्री हुलासचन्दजी सबलावत संप्रति जयपुर रहने लगे हैं और जयपुर में ही एक उद्योग स्थापित किया है। बहुत योग्य, शिक्षित धार्मिक, आचार विचार सम्पन्न धनी उदार कुशल उद्योगपति हैं। आपका मूल निवास स्थान डेह है। कलकत्ता में भी आपका व्यापार सबलावत ट्रेडिंग कम्पनी के माध्यम से चलता है। श्री रतनलालजी बगड़ा एम. ए, (संस्कृत) डिबरूगढ (आसाम) रहते हैं। आपके पिता भाई आदि व्यापार करते हैं। परन्तु आप वहीं प्रोफेसर हैं। योग्य, शिक्षित, धार्मिक, सदाचारी, विनीत, स्वाध्याय शील, प्रतिभाशाली सज्जन हैं एक कवि भी हैं। भक्तामर स्तोत्र आदि का हिन्दी पद्यों में अनुवाद किया हैं, जो प्रकाशित हो चुके हैं।

श्री भंवरीलालजी के ज्येष्ठ पुत्र श्री नथमलजी बाकलीवाल के दो पुत्र श्री सुनीलकुमार और अनिलकुमार, श्री प्रसन्नकुमार जो के दो पुत्र जवाहरलाल और प्रद्युम्नकुमार, श्री मन्नालालजी के पांच पुत्र महेन्द्रकुमार, राजेन्द्रकुमार देवेन्द्रकुमार, जिनेन्द्रकुमार, और नरेन्द्रकुमार हैं एवं श्री चैनरूपजी के संजयकुमार और अरुणकुमार हैं। इस प्रकार स्व० भंवरीलालजी ११ पौत्रों एवं पौत्रियों के भी पितामह थे।

श्री स्व० भंवरीलालजी के सहोदर लघु भ्राता श्री नेमीचन्दजी बाकलीवाल धार्मिक, सदाचारी, सात्विक वृति, भाक्तिक और कुशल व्यापारी हैं। आपका व्यापार क्षेत्र शिवसागर (आसाम) में है जहां 'नेमचन्द माणकचन्द' नामक फर्म के नाम से आपके पुत्र व्यवसाय करते हैं और आप अधिकतर सुजानगढ़ ही रहने लगे हैं। आपके चारों पुत्र श्री माणकचन्दजी, मोतीलालजी, पदमचन्दजी और भागचन्दजी योग्य, सदाचारी, सात्विक, कार्य कुशल और व्यवसायी हैं। श्री भागचन्दजी के चार पुत्र बसन्तकुमार, पुखराज, अशोककुमार और सुशीलकुमार हैं।

श्री नेमीचन्दजी की एक सुपुत्री के पति दुर्दैव से किसी दुर्घटना में स्वर्गस्थ हो गये जिसका आज तक पता नहीं। उस सुपुत्री ने भरी युवावस्था में आर्यिका के व्रत ले लिये और वह श्री १०५ श्री

पारिवारिक झांकी
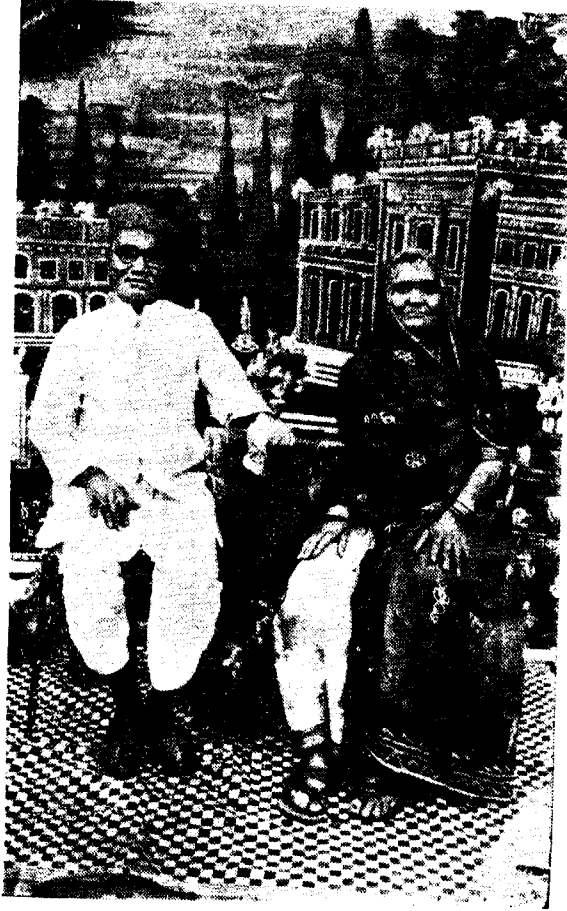
स्व० सेठ भंवरीलाल जी के पिता स्व० श्री सेठ खूबचन्द जी
और माता श्रीमती प्यारीदेवी जी
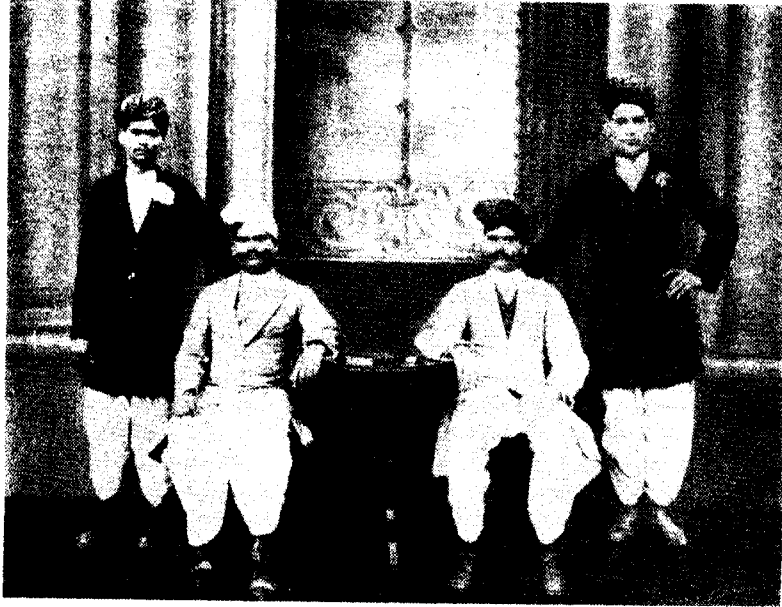
चारों भाई श्री स्व० सेठ भंवरीलाल जी, श्री नेमीचन्द जी
श्री इन्द्रचन्द जी और स्व० श्री आसूलाल जी

श्रीमान् सेठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल अपनी धर्मपत्नी श्री मलखुदेवी के साथ

श्रीमान् सेठ भंवरीलाल जी के ज्येष्ठ पुत्र
नथमल जी बाकलीवाल

द्वितीय पुत्र श्री प्रसन्नकुमार जी
बाकलीवाल

तृतीय पुत्र
श्री मन्नालाल जी बाकलीवाल

चतुर्थ पुत्र
श्री चैनरूप जी बाकलीवाल

श्री भंवरीलाल जी अपने लघुभ्राता श्री नेमीचन्द जी और श्री इन्द्रचन्द्र जी के साथ
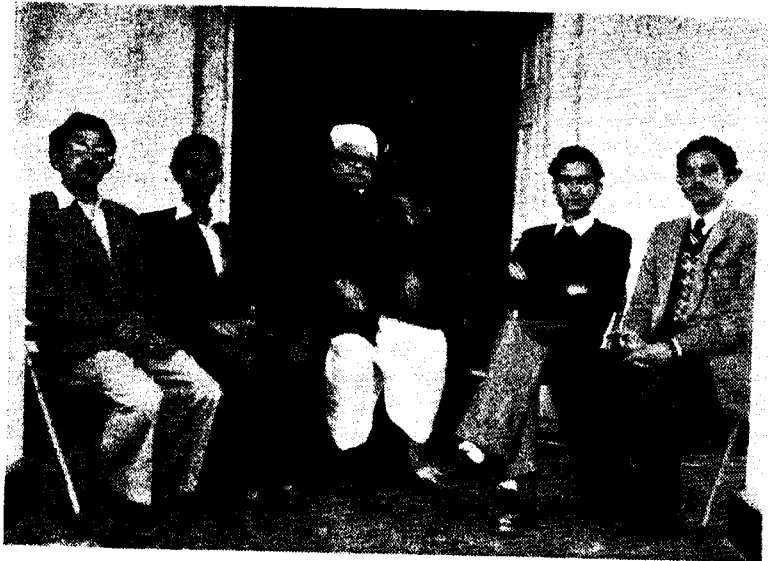
बीच में बैठे हुये स्व० श्री भंवरीलाल जी बाकलीवाल
अपने चारों पुत्रों के साथ ।

बड़ी पुत्री श्री रतनीबाई

द्वितीय पुत्री श्री मन्नीबाई

तृतीय पुत्री श्री सुशीलाबाई

श्री वाकलीवाल जी के बड़े जामाता
श्री मांगीलाल जी सेठी

द्वितीय जामाता
श्री हुलासचंद जी सबलावत

तृतीय जामाता
श्री रतनलाल जी बगड़ा M. A.

आर्यिका विद्यामतीजी माताजी के रूप में पूज्यपाद श्री १०५ श्री आर्यिका माताजी इन्दुमती जी और सुपार्श्वमती माताजी के संघ में है। अध्ययन करते करते तपोनिष्ठता के साथ उल्लेखनीय विदुषी बन गई हैं। श्री बाकलीवालजी का वंश जितना अन्यान्य लौकिक विभूतियों में आगे है उतना ही धार्मिकता में भी है।

श्री भंवरीलालजी के तृतीय सहोदर भ्राता श्री इन्द्रचन्दजी हैं जिनके छह पुत्र हैं:—समुद्रकुमार पवनकुमार, कमलकुमार, बुधराज, मक्खनलाल और गजराज। श्री इन्द्रचन्दजी आजकल प्रायः सुजानगढ़ ही रहते हैं और व्यापारिक कार्य आपके सुयोग्य कार्य कुशल प्रतिभा सम्पन्न सुपुत्र देखते हैं। इन्द्रचन्दजी और आपके छहों सुपुत्र एवं अन्य पारिवारिक सभी धार्मिक सम्पन्न और सात्विक हैं। आपका व्यवसाय 'इन्द्रचन्द गजराज कम्पनी' के नाम से आसाम में चलता है।

चरित्र नायक श्री भंवरीलालजी के चतुर्थ सहोदर भ्राता श्री आसूलालजी थे जिनका आज से २५ वर्ष पूर्व युवावस्था में ही स्वर्गवास हो गया था। श्री आसूलालजी चार पुत्र छोड़कर स्वर्गस्थ हुये थे—दानमलजी, दुलीचन्दजी, शांतिलालजी और महावीरप्रसादजी,। हार्दिक दुःख की बात है कि श्री दानमलजी कुछ दिनों पहले ही स्वर्गस्थ हो गये जिनके चार पुत्र हैं—वीरेन्द्रकुमार, सरोजकुमार, राजकुमार और सुंदरलाल। श्री शांतिलाल जी के दो पुत्र संजयकुमार और सन्मतिकुमार हैं और दुलीचन्दजी के दो पुत्र प्रदीपकुमार और सुनीलकुमार हैं। आप सभी भाई सुयोग्य प्रेमल प्रकृति, प्रतिभा-सम्पन्न और व्यापार कुशल हैं। आप अपना व्यापार आसूलाल एण्ड कम्पनी नाम से आसाम में करते हैं।

आप सभी भाइयों के निवास स्थान लालगढ में तो हैं ही परन्तु अब सभी ने सुजानगढ में भी बना लिये हैं और व्यापारिक स्थानों में हैं ही। इस तरह सारा परिवार सम्पन्न वदान्य व्यापारी सात्विक आस्तिक और धार्मिक है।

यह वंश परिचय स्व० श्री जालूरामजी के सुपुत्र श्री स्व० धनसुखदासजी तत्पुत्र श्री खूबचन्दजी के परिवार का है। स्व० श्री जालूरामजी के दूसरे पुत्र स्व० रायबहादुर श्री चुन्नीलालजी थे एवं धनसुख-दासजी के दूसरे पुत्र स्व० छोगमलजी थे जिनसे प्रचलित वंश परम्परा का परिचय साथ में संलग्न वंश वृक्ष से जानना चाहिये।

यह सारा ही बाकलीवाल वंश व्यवसायी, सम्पन्न, दानी, उदार और धार्मिक है। धर्म और समाज के कार्यों में इस परिवार से सभी प्रकार की सहायता मिलती है। इसी परिवार के अन्यतम सदस्य-मुकुट श्री भंवरीलालजी बाकलीवाल थे जिन्होंने अपने सद्गुणों और सार्वजनिक सेवाओं से परिवार अथवा वंश को प्रथित और उज्ज्वल किया।

जयपुर में भी व्यवसाय

श्री भंवरीलालजी बाकलीवाल आसाम में तो श्री सालिगराम राय चुन्नीलाल बहादुर फर्म में

8142

भागीदार के रूप में व्यापार करते ही थे तो भी उनकी इच्छा साथ ही साथ स्वतन्त्र रूप से भी व्यापार करने की हुई फलतः आप जयपुर आये और स्व० सेठ रायबहादुर रामेश्वरप्रसादजी साहरिया के साझे में 'रामगोपाल नथमल' नामक संस्थान स्थापित कर चांदी आदि का व्यापार किया। रामगोपाल श्री साहरिया जी के सुपुत्र और नथमल आपके सुपुत्र का नाम है। दैव अनुकूल न होने से आपको व्यापार में भारी हानि उठानी पड़ी। लोगों ने आपको दिवालिया बन जाने, आधा, चौथाई, पौन, चुकाने की सलाह दी परन्तु आपने इन सब परामर्शों को ठुकरा कर जिनको देना था उन सबको पूरा दिया और एक पैसा भी किसी का बाकी नहीं रक्खा। आपको उतनी धनराशि की व्यवस्था करने में भारी अड़चनें और असुविधाएं भी हुईं परन्तु सबका सामना करके जिनको देना था सबको पूरा दिया। किसी एक सज्जन की रकम जो बड़ी थी अपनी तरफ रह जाने पर ब्याज सहित दी। उस लेने वाले ने कहा कि बिना ब्याज ही दे दीजिये परन्तु आपने ब्याज सहित पूरी धनराशि दी और अपनी सत्यता का परिचय दिया। आपका उस समय यही कहना रहा कि जिसे देना है उसे उतना न देने बराबर दूसरा अन्याय और पाप नहीं है। उस अर्थ संकट की अवस्था में भी धर्म और समाज के कार्यों में आर्थिक सहयोग अधिक उत्साह के साथ देते थे। उनका कहना यही रहा कि जब इतनी अर्थ-हानि हुई है तो धर्म और समाज हित के कार्यों में कृपणता करने से क्या होगा ? पुण्य कार्य करने से धन-हानि नहीं होती किन्तु धनलाभ ही होता है। पुण्य ही तो सुखसम्पत्ति का हेतु है। हेतु कभी कार्य का विरोधी नहीं होता किन्तु सहायक ही होता है।

मेरी श्री बाकलीवालजी से यों तो मित्रता बहुत पहले से चली आ रही थी तो भी जयपुर में उनके कुछ वर्षों रहने से मित्रता में घनिष्ठता बहुत अधिक आगई थी। प्रतिदिन वे मुझसे मिलने को आते अथवा मैं जाता था। वे मिलन-समय में सदैव धर्म और समाज हित की ही चर्चा करते थे। व्यावसायिक अर्थ-हानि से किंचिन्मात्र भी वे विचलित नहीं पाये गये। कर्मठ, उद्योगप्रिय, निष्ठावान् महापुरुष थे। जयपुर निवास काल में ही उन्होने अनेक व्रत विधान किये। श्री ऋषिमण्डल विधान भी कराया। उस विधान के लिए बाहर से एक विद्वान् को विधानाचार्य के रूप में बुलाया। २० दिन उन्हें बड़े सम्मान सत्कार और आतिथ्य के साथ रक्खा। जाते समय मुझसे भेंट देने के लिए धनराशि की संख्या पूछी तो मैने जो कहा उससे त्रिगुण उनको दी। मुझे उसे बतलाते हुये बोले कि इन का आशीर्वाद भी तो मेरे लिए मंगलदायक और शुभावह होगा। कितने उच्च विचार थे; वास्तव में श्री बाकलीवालजी एक आदर्श महापुरुष थे। उनमें आलस्य बिल्कुल नहीं था। जो कर्तव्य-कार्य था उसे वे कल पर नहीं छोड़ते थे। समय की उनके हृदय में बड़ी इज्जत थी, वे सब काम नियमित करते थे। किसी से १० बजे मिलने का समय किया तो ठीक दस बजे पहुंच जाते थे और आपने किसी को जो समय दिया तो उस पर अवश्य मिलते ही थे। मेरे यहाँ वे बीसों बार भोजन आदि के लिए आये परन्तु जो समय निश्चित हो गया उस पर ठीक पहुंच जाते थे। इसी प्रकार वे दूसरे से भी अपेक्षा करते थे।

वे अपने व्यापारिक, व्यावसायिक और कौटुम्बिक कार्यों से भी अधिक महत्व धार्मिक सामाजिक कार्यों को देते थे। उनका सदैव यही कहना था कि अपने व निजी कार्यों को महत्व और प्राथमिकता देना तो साधारण बात है। उसमें प्राथमिकता और महत्व का नाम मानवता नहीं है। यह बात तो पशु-पक्षियों में भी है। मानवता का अर्थ ही यह है कि परहित के प्रति सहृदयता और प्राथमिक प्रवृति हो। ऐसे कई प्रसंग देखने में आये जब उन्होंने अपने निजी आवश्यक कार्यों को भी महत्व और प्राथमिकता न देकर आवश्यक सामाजिक धार्मिक कार्यों को प्राथमिता के साथ महत्व देना उचित समझा और उनमें सहयोग दिया।

एक बार की घटना है --श्री अन्नदेश्वर पार्श्वनाथ क्षेत्र के वार्षिक महोत्सव पर श्री दिगम्बर जैन सिद्धांत रक्षिणी सभा के अधिवेशन में जो सं० २०११ में दीपमालिका के पश्चात् हुआ था, मैं अपने घर से जा रहा था। रेलवे स्टेशन पर जाने के लिए तांगे में मैंने सामान रखवा दिया था। दिन के १०-१०।। बजने का समय था। दैवयोग से अकस्मात् श्री सेठ भंवरीलालजी आगये। तांगे में से उनका सामान उतरने का अवसर था और मेरे जाने का। मैं दुविधा में पड़ गया, जाऊं या ठहरूं ? उन्होंने पूछा—कहां जा रहे हो ? मैंने कहा—श्री अन्नदेश्वर पार्श्वनाथ क्षेत्र की वंदनार्थ एवं सभा के अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिए; परन्तु अब आप आगये सो नहीं जाऊंगा। इतना कहकर मैंने तांगे में से सामान उतारने को कहा। तब वे बोले, ऐसा न करिये। मै भी आपके साथ चलता हूं। उन्होंने भोजन भी नहीं किया था, मुझे संकोच भी हुआ परन्तु वे न माने और अपना सामान मेरे तांगे में रखवाकर साथ हो गये। भोजन भी जो मैंने कुछ साथ लिया था उसे ही सवाईमाधोपुर स्टेशन पर उन्होंने खाया। रास्ते में उन्होंने कहा कि मुझे जो जयपुर में काम है वह ४ दिन बाद भी हो सकता है चाहे उसके होने में आपकी मौजूदगी की आवश्यकता थी परन्तु महोत्सव और सभा का समय तो आगे नहीं बढ़ सकता था यदि आप रुक जाते तो आप से होने वाला धार्मिक सामाजिक कार्य है वह न होता, इसीलिए मैं आपके साथ हो गया। उनके इस धर्म वात्सल्य, समाजहित प्रेम को देखकर मुझे अवाक् रह जाना पड़ा। वास्तव में वे महापुरुष और मानव के प्रतीक थे।

श्री अन्नदेश्वर पार्श्वनाथ क्षेत्र पर दिगम्बर जैन समाज के ही दो दलों में आपस में झगड़ा हो गया, मार पीट तक की आपस में नौबत आगई। आपने दोनों दलों के बीच में पड़कर उसी रात को इतना प्रेम और सौमनस्य करा दिया कि लोग देखते ही रह गये। जिस समय दोनों दलों का विसंवाद पारस्परिक अगाध प्रेम और सद्भावना में परिवर्तित हुआ तो वह दृश्य देखने ही योग्य था। इस सब काम में सर्वाधिक श्रेय बाकलीवालजी को ही था।

श्री बाकलीवालजी के सभा के अधिवेशन में पहुंच जाने से सभा के अधिवेशन के चार चांद लग गये थे। वे प्रत्येक विषय पर गहराई और दूरदर्शिता से विचार-विमर्श कर परामर्श देते थे जो सभी

को मान्य करना पड़ता था। इतना ही नहीं आपने सभा के कार्य से प्रसन्न होकर रु० १५१) की सहायता भी सभा को दी थी। वे वितरण को वैभव और धन सम्पत्ति का भूषण मानते थे। और ऐसे समय पर 'वरविभवभूषावितरणम्' इस वाक्य का प्रयोग करते हुए उसे जीवन में सदैव कार्यान्वित करते रहते थे।

वे एकता, शान्ति और प्रेम के अभिलाषी थे

श्री भंवरीलालजी की इच्छा सदैव यही रहती थी कि सारे विश्व में एकता शांति और प्रेम का वातावरण रहे। वे द्वेष, विद्रोह, हिंसा आदि पापों और अपराधों को नहीं देखना चाहते थे। उनकी दृष्टि में जहां-जहां भी संघर्ष दीखता था उसे वे निबटा कर परस्पर सद्भाव ही देखना चाहते थे। ऐसे उदाहरण उनके जीवन में अनेकों हो सकते हैं। मेरे देखने में आया कि वे जयपुर में रहते थे तब हम दोनों एक बार रेल्वे स्टेशन गये थे। रास्ते में सड़क पर दो बालकों के दलों में संघर्ष होता देखा। २००-३०० जनता भी वहां एकत्रित थी। तांगे में से उतर कर वे उसमें चले गये और झगड़े का कारण पूछा तो विदित हुआ कि केवल चार आने की बात पर झगड़ा है। एक कहता था कि मैंने दे दिये दूसरा कहता था कि नहीं दिये। आपने उसी समय १) रुपया निकाल कर दे दिया और बोले कि लड़ो मत, प्रेम के साथ रहो। समस्त जनता ने उनका बड़े आदर से अभिवादन किया और जनता कहने लगी कि मानवता तो इनमें है। जिस लड़के को एक रुपया दिया उसे भी यह विचार हुआ कि मैं इनसे क्यों लूँ? उसने वापस देना चाहा तो उसी समय उसकी मिठाई मंगाकर दोनों के हाथ में देकर कहा कि दोनों साथ बैठकर प्रेम के साथ खाओ और भविष्य में इस प्रकार मत लड़ना। कितनी उदात्त भावना की प्रतीकता थी।

बंगाल और आसाम में नया वर्ष रामनवमी से माना जाता है। कुछ जैन बंधुओं का ऐसा विचार था कि रामचन्द्र भगवान तो सनातनी वैदिकों के हैं, जैनों के नहीं। उनको उन्होंने समझाया कि रामचन्द्र, हनुमान, सुग्रीव ये सब मोक्ष गये हैं। जैनों के भी भगवान् हैं परन्तु वे निर्ग्रन्थ दिगम्बर परम वीतराग मुद्रा धारण कर घोर तपश्चरण कर मुक्त हुये हैं। वैदिक सनातनी लोग राज-अवस्था तथा संसार अवस्था को मानते हैं और जैन जनता में उसके महत्व के साथ साथ मुक्त अवस्था को विशेष महत्व देते हैं:—

> रामहणू सुग्गीवो गवयगवक्खो य णील महणीलो।
> णवणवदीकोडीओ तुंगीगिरिणिव्वुदे वंदे ॥ (निर्वाण कांड)

आपने इस पवित्र उद्देश्य से कि जैनों और जैनेतरों में राम नवमी के दिन वर्षारंभ मानने पर विवाद न चले, पारस्परिक सौमनस्य में अन्तर न आवे, आपस में भिन्नता का विचार न आवे, स्वर्गीय विद्यावारिधि पंडित खूबचन्द्रजी शास्त्री द्वारा श्री रामचन्द्र-पूजा बनवाकर और उसे प्रकाशित कराकर समस्त जनता में प्रसार किया। जो इस स्मारिका में अन्यत्र प्रकाशित है। मरसलगंज (ऋषभनगर)

में श्री भगवान् रामचंद्र और भगवान् हनुमान की मूर्तियां भी बनवाकर पंचकल्याणक प्रतिष्ठा द्वारा प्रतिष्ठित कराने में सहयोग दिया ।

बीस-पंथ तेरह-पंथ समस्या

जैन संघ में जैसे किसी समय दिगम्बर, श्वेताम्बर दो संघ नहीं थे वैसे बीसपंथ तेरहपंथ भी नहीं थे । २५०-३०० वर्ष पहले एक ही दिगम्बर जैन समाज में ये दो भेद पड़ गये और जनता इन दोनों भेदों में यहां तक विभाजित हो गई कि दोनों में यत्र-तत्र संघर्ष भी होने लगे । उदयपुर, मदनगंज-किशनगढ़ आदि इसके ताजा उदाहरण हैं । वे चाहते थे कि चाहे दो नहीं सौ भेद हों किसी के विश्वास पर तो आक्रमण न होना चाहिये और पारस्परिक संघर्ष भी नहीं होना चाहिये । जिसकी जैसी इच्छा हो उसी प्रकार पूजा करे, खड़ा खड़ा करे, बैठकर करे, फल-फूल चढावे न चढावे, जल से अभिषेक करे, पंचामृत से अभिषेक करे आदि । परन्तु एकका एक विरोध न करे, एकको एक बाधा न पहुंचावे । कम से कम एक धर्म के अनुयायियों में लड़ाई झगड़ा संघर्ष हो, यह उचित नहीं । इसी उद्देश्य को लेकर जब मरसलगंज ऋषभनगर में श्री पंच कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के सुअवसर पर भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा का अधिवेशन उनकी अध्यक्षता में हुआ था तब निम्नलिखित प्रस्ताव सर्व सम्मति से पारित हुआ था ।

प्रस्ताव नं० १५

"प्राय: यह देखा जा रहा है कि श्री दिगम्बर जैन धर्मानुयायी बन्धु विचार-भेद के कारण तेरह व बीसपंथ के प्रसंग को लेकर आपस में द्वेष फैलाते हैं तथा परस्पर में ही इसको लेकर खेंचतान करते हैं जिससे सामाजिक व धार्मिक संघठन को क्षति पहुंचने की संभावना होती रहती है अत: श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा का यह ६९वां अधिवेशन समाज से अनुरोध करता है कि वे आपस में धार्मिक मान्यता में कटुता नही फैलावें और अपनी प्रक्रिया के अनुकूल पूजा पाठादिको करते हुये धार्मिक वात्सल्यता बनी रक्खें ।"

विदित हो कि भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा का यह अधिवेशन ता० १६ जनवरी सन् १९६४ से २२ जनवरी सन् १९६४ तक सुसम्पन्न श्री पंच कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के सुअवसर पर हुआ था, जिसमें दिगम्बर जैन समाज के सभी प्रमुख नेता जैसे रा० ब० सेठ राजकुमारसिंहजी, सर सेठ भागचन्दजी सोनी आदि उपस्थित हुये थे । यह पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव श्रीमान् धर्मरत्न राय-साहिब सेठ चांदमलजी सरावगी पांडया गौहाटी प्रवासी, सुजानगढ़ निवासी ने कराया था, जिसके प्रेरणा स्रोत श्री बाकलीवालजी थे । सेठ चांदमलजी के निवास स्थान लालगढ़, सुजानगढ़ और गौहाटी हैं । मरसलगंज उत्तर प्रदेश में आगरा के पास जंगल में बिलकुल नया तथा अपरिचित भी था तथापि ऐसे सुदूर कष्ट से व्यवस्था-साध्य स्थान पर इतना महान् महोत्सव कराया । यह महोत्सव और अधिवेशन

अभूतपूर्व सफलता के साथ सम्पन्न हुआ। सेठ चांदमलजी ने इस महान् पुण्य कार्य में भारी धनराशि व्यय की, जिसमें हजारों जनता के अतिरिक्त श्री १०८ श्री आचार्य बिमलसागरजी महाराज भी ससंघ विराजमान थे और समाज के सभी बड़े-बड़े विद्वान् उपस्थित थे। भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा के अध्यक्ष श्री भंवरीलालजी बाकलीवाल थे। आपने जो अध्यक्ष की हैसियत से भाषण दिया था, वह अन्यत्र प्रकाशित है। इस भाषण में प्रकाशित विचार-सरणि से आपके हृदय की शुद्धता का पता चलता है।

भारतवर्षीय दिगंबर जैन महासभा और बाकलीवाल जी

श्री बाकलीवालजी यह बात हृदय से चाहते थे कि समस्त भारतवर्षीय दिगम्बर जैन समाज की जनता एक ही सम्मिलित संगठन की छत्र-छाया में रहे और सब एक रहकर अपना ज्ञान चारित्र और वैभव समुन्नत करें। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये वे भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा को उपयुक्त इसलिये समझते थे कि भारतवर्ष के जैनों की सबसे प्राचीन प्रतिनिधि संस्था एक यही है। वे चाहते थे कि कुछ विचार भेद के कारण जो भारतवर्षीय अनेक संस्थाएं बन गई हैं वे ऋषि प्रणीत और समाज हित के वास्तविक आलोक में आकर सब एक हो जावें और अपने वैमनस्य को समाप्त करदें। इसी उद्देश्य की भावनाओं से वे महासभा के अधिवेशनों में जाते और प्रमुख-प्रमुख नेताओं से बातचीत करते रहते थे। कुछ वर्षों पहले जब देहली में कन्वेन्शन हुआ था उसके सम्पन्न कराने में आपका प्रमुख हाथ था। जब उस कनवेंशन में यथोचित सफलता न मिली तो आपको भारी वेदना हुई थी। उनका कहना था कि राजनैतिक वातावरण में पड़कर अपनी परम्परागत स्वस्थ और शुद्ध परम्परा एवं सदाचार पद्धति को बदलना ठीक नहीं। राजनीति तो भौतिकता पर आश्रित है और उसका प्रकार बदलता रहता है परन्तु हमें हमारी परम्पराओं और प्रवृत्तियों को सदैव आध्यात्मिकता और सदाचार एवं उसके साधनों से नियन्त्रित रखना चाहिये। संगठन बंधन के लिये होने चाहिये, स्वच्छंदता के लिये नहीं। स्वच्छंदता के लिये संगठन बनाना और उसका सहारा लेना एक प्रकार की प्रवंचना है।

भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा के आप सदैव सदस्य, प्रभावक और उन्नायक रहे। विशेषत: जब महासभा घोर आर्थिक संकट में फंस गई तब सर्व प्रथम आपने ही उसे हस्तावलम्बन दिया। आपने स्वयमपि अर्थ साहाय्य किया एवं अन्य लोगों को भी प्रेरित कर कराया। जैन गजट का कलेवर बढ़ाने में भी आपने बड़ा भारी सहयोग दिया। आज जो 'जैन गजट' पत्र एक उल्लेखनीय और प्रशस्य दशा में है उसका सर्वाधिक श्रेय आपको ही है।

लाडनूं (राज०) में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के समय उक्त महासभा का अधिवेशन कराने और उसे समृद्धता की ओर ले जाने में आपका प्रमुख हाथ रहा। इस अधिवेशन में अध्यक्ष श्री रायबहादुर सेठ राजकुमारसिंहजी साहब इन्दौर थे। जिन्हें अध्यक्ष बनाने में आपकी प्रेरणा सर्वोपरि थी।

ऋषभनगर-मरसलगंज में पंचकल्याणक महोत्सव और उस अवसर पर भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा के अधिवेशन कराने में आपका ही प्रमुख हाथ रहा। सौभाग्य से एवं कुछ लोगों के अनुरोध पर आपने सभाध्यक्ष का आसन भी ग्रहण किया। इसके अनन्तर गौहाटी (आसाम) में पंच कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के समय महासभा के अधिवेशन कराने में आपकी मुख्य प्रेरणा रही। श्री रायसाहिब सेठ चांदमलजी साहब सरावगी आदि के सहयोग से महासभा को ८००००) रुपये के अनुमान सहायता मिलने में आपकी प्रेरणा प्रशंसास्पद रही। तदनन्तर जब श्री श्रवणबेलगोला श्री गोम्मटस्वामी मैसूर में महासभा का अधिवेशन होने वाला था तब उसकी अध्यक्षता का भार श्री धर्मरत्न रायसाहिब सेठ चांदमलजी सरावगी के सबल कन्धों पर रखने का काम भी आपका ही रहा। आप अस्वस्थ होते हुये भी श्रवणबेलगोला पहुंचे और महासभा की उन्नति, प्रभावना और समृद्धि के लिए भारी प्रयत्नशील रहे। आशय यह है कि भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा की आपने तन-मन-धन से भारी सेवा की जो महासभा के इतिहास में सुवर्णाक्षरों में लिखी जायगी।

इन्दौर में भा० ब० दि० जैन महासभा की प्रबन्धकारिणी कमेटी

भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा के इतिहास में सम्भवतः यह इन्दौर में सुसम्पन्न प्रबंधकारिणी कमेटी का अधिवेशन अभूतपूर्व ही था। इसमें दूर-दूर से भी पर्याप्त संख्या में सदस्य उपस्थित हुए थे। ऋषभनगर-मरसलगंज पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के समय सम्पन्न भारतवर्षीय दि० जैन महासभा के अध्यक्ष श्री बाकलीवाल जी ही थे उसके पश्चात सन् १९६४ के नवंबर के अन्तिम सप्ताह में यह अधिवेशन इन्दौर में श्री रा० ब० सेठ राजकुमारसिंहजी महोदय के नगरस्थ विशाल भवन शीश महल में सम्पन्न हुआ। समाज में व्याप्त कुछ असमंजसताओं को दूर करने एवं धर्म समाजोन्नति के लिए खुलकर विचार विमर्श हुआ। इस अवसर पर भी श्री बाकलीवालजी अत्यधिक परिश्रम और कार्यव्यस्तता से पर्याप्त अस्वस्थ हो गये। डाक्टरों ने पूर्ण विश्राम की सलाह दी परन्तु आप ४-६ घंटे ही विश्राम कर पुनः कार्य व्यस्त देखे गये और उक्त सम्मेलन को पूर्णतः सफल करने में जुट गये। वास्तव में आप महान् सक्रिय, कर्मठ, आलस्यहीन, स्फूर्तिशाली व्यक्ति थे। सेठ राजकुमारसिंहजी के साथ यों तो आपका स्नेह सम्बन्ध चिरकाल से था ही तो भी मरसलगंज अधिवेशन में आपसे आपका स्नेह संबंध अत्यन्त घनिष्ठ और ओतप्रोतसा हो गया था। इस इन्दौर प्र० का० के अधिवेशन में आगत सदस्यों का आतिथ्य, ठहराने की व्यवस्था आदि का भार श्री सेठ राजकुमारसिंहजी साहब ने ही वहन किया था। आप अपने पूज्य पिता स्व० श्री सेठ सर हुकमचन्दजी साहिब के समान ही भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा के स्तम्भ और दिगंबर जैन समाज के मुकुट-मणि हैं। आप श्री बाकलीवालजी के प्रत्येक कार्य में हृदय से सहयोगी उसी प्रकार रहे जैसे सर सेठ भागचन्दजी सोनी रहे।

इन्हीं दिनो इन्दौर में वर्षायोग के प्रसंग में श्री १०८ श्री मुनिराज धर्मसागरजी महाराज, श्री १०८ श्री मुनिराज पुष्पदंतसागर जी, श्री १०८ श्री मुनिराज सन्मतिसागरजी एवं श्री १०८ श्री

मुनिराज पद्मसागरजी महाराज एवं अन्य त्यागी व्रती भी विराजते थे। इन सत्साधु महाराजाओं को वानस्पितिक घी में प्राणिजतत्व के संमिश्रण का संदेह होने से ये उस व्यक्ति के हाथ से आहार करने को नियम बद्ध हो गये कि जो वानस्पतिक घी (डालडा घी) न खाता हो। मुनि महाराजों द्वारा इस नियम से समाज के लोगों में हलचल मची और अशांति का वातावरण इस प्रकार उपस्थित हो गया कि कोई कहने लगे कि इस वनस्पति घी में प्राणिज तत्व है और कोई कहने लगे 'नहीं है'। श्री बाकलीवाल जी ने इस तथ्य की जांच की तो जब उन्हें श्री सेठ भंवरलालजी सेठी द्वारा उपस्थित जांच परताल से यह विश्वास हो गया कि इस वनस्पति घी में प्राणिज तत्व नहीं है तो आपने मुनिराजों से ऐसा नियम न लिवाने की प्रार्थना की। मुनिजनों ने कहा कि श्री १०८ श्री आचार्यवर्य महावीरकीर्तिजी महाराज हमें आदेश देदें कि इसमें प्राणिज तत्व नहीं है तो हम विचार करेंगे। श्री बाकलीवालजी अस्वस्थ अवस्था में भी मोटर द्वारा श्री १०८ श्री आचार्य महावीरकीर्तिजी महाराज के पास बड़वानी पहुंचे और समस्त समस्यायें समक्ष रक्खीं। आचार्यजी ने कहा कि वानस्पतिक घी में प्राणिज तत्व के विषय में चाहे हम आश्वस्त भी हों तो भी हम लोगों के वृतिपरिसंख्यान तप के सम्बन्ध में गृहस्थों को न पड़ना चाहिये। आपने बड़वानी से वापस आकर वानस्पतिक 'घी' में प्राणिज तत्व नहीं है इस आशय का एक घोषणा-पत्र प्रकाशित किया।

इन्दौर में भा० दि० जैन महासभा की प्रबंधकारिणी कमेटी का यह अधिवेशन अपनी एक निराली शान का द्योतक था। इस अधिवेशन से समाज जीवन में इक अपूर्व चेतना का निर्माण हुआ और महासभा एक विशेष कार्यक्षम संस्था बन गई।

श्री बाकलीवालजी अस्वस्थता में भी अत्यधिक परिश्रम और कार द्वारा हजारों मील की यात्रा करने से विशेष अस्वस्थ हो गये तो भी आपने विशेष अस्वस्थता की परवाह न कर अधिवेशन को सफल कराना ही उचित समझा और मनसा वाचा कर्मणा पूर्ण योगदान दिया। इस अवसर पर उपस्थित प्रमुख महानुभावों का एक सामूहिक चित्र भी लिया गया था जो अन्यत्र प्रकाशित है।

साधु-समाचार-प्रणाली में भिन्नता और बाकलीवालजी

इन शताब्दी के महान् तपस्वी और धर्मनेता श्री १०८ श्री चारित्र-चक्रवर्ती आचार्यवर्य स्व० श्री शांतिसागरजी महाराज के अनुपम तपोऽनुष्ठान और अतुल पुण्य प्रभाव से निर्ग्रन्थ दिगंबर बीतरागी मुनिराजों का अस्तित्व है। इस समय ५२ करोड़ भारतीय जनसंख्या में केवल ऐसे परम तपोधन ६० के अनुमान हैं। ऐलक, क्षुल्लक, आर्यिका, क्षुल्लिकादि अलग हैं परन्तु इनकी भी समाचार प्रणाली में भिन्नतासी देखी जाती है। कुछ श्रावकीय धर्माचरण की प्रक्रिया के उपदेश में भी विभिन्नता देखी जाती है। उक्त मुनिजनों की अल्प संख्या में भी अनेक संघ एवं आचार्य भी अनेक हैं। कोई आचार्य ऐलक क्षुल्लक के यज्ञोपवीत की आवश्यकता बतलाते हैं तो कोई नहीं। कोई आहारदाता श्रावक से किसी त्याग की अपेक्षा
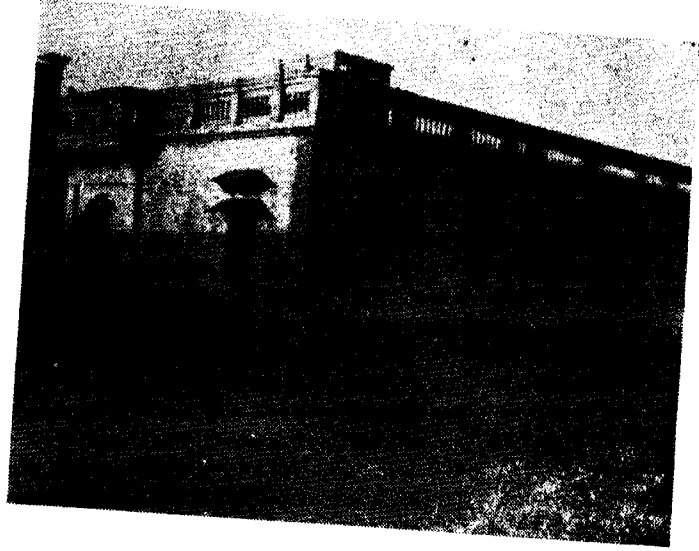
मूल निवास स्थान लालगढ़ भवन
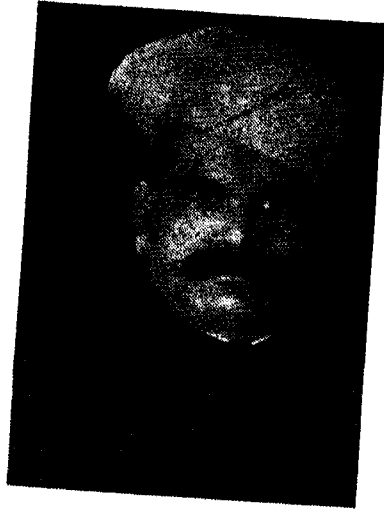
श्री भंवरीलालजी बाकलीवाल युवावस्था में ।
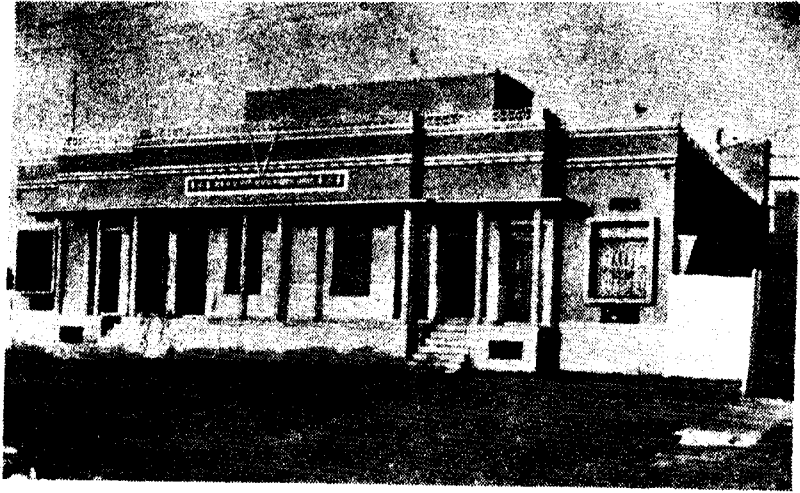
बाकलीवाल प्रासाद सुजानगढ़

स्व० श्री बाकलीवाल जी का

शांति सदन इम्फाल (मनीपुर)

श्री पदमचंदजी

श्री माणिकचंदजी

श्री भंवरीलालजी बाकलीवाल

के

अनुज

श्री नेमीचंदजी

के

चार पुत्र

श्री भागचंदजी

श्री मोतीलालजी

श्री गजराजजी बाकलीवाल
सुपुत्र इन्द्रचंदजी

श्री दुलीचंदजी
सुपुत्र स्व० श्री आसूलालजी

श्री महावीरप्रसादजी
सुपुत्र स्व० श्री आसूलालजी

श्री शान्तिलालजी
सुपुत्र स्व० श्री आसूलालजी

रखते हैं तो कोई नहीं अथवा अन्य की। कोई पंचामृताभिषेक का समर्थन करते हैं तो कोई निषेध, इत्यादि और भी कुछ बातें हैं। इस विभिन्नता को देखकर श्री बाकलीवाल जी भारी चिंतित थे। वे कहते थे कि इस प्रकार की विभिन्नता से जनता संशयदोला में झूल जाती है और किंकर्तव्यविमूढ़ होकर सभी से अलग रहना उचित समझती है, जिससे साधु संस्था का जितना उपयोग होना चाहिये, नहीं होता किन्तु कभी कभी पारस्परिक विवाद और संघर्ष भी खड़ा हो जाता है। नए-नए छोटे मोटे दल भी बनते बिगड़ते रहते हैं जिनसे शक्ति का ह्रास होता है और जो होने योग्य समाजहित और धर्म प्रचार के कार्य हैं उनमें बाधा पड़ जाती है।

श्री बाकलीवाल जी इस विभिन्नता को मिटाने के लिए सक्रिय थे। इस विभिन्नता को दूरकर एकता लाने के लिए बारबार चिन्ता के साथ चर्चा करते थे। अनुमानत: अपने स्वर्गवास के डेढ़ दो वर्ष पूर्व आपने यह निश्चय किया कि समस्त आचार्यों और मुनियों की सेवा में एक प्रौढ़ विद्वान् भेजा जावे जो उनसे अपनी अपनी समाचार प्रणालियों के सम्बन्ध में शास्त्रीय प्रमाण प्राप्त कर एक को दूसरे का दृष्टिकोण प्रस्तुत करे और सबके दृष्टिकोण और आगम प्रमाणों को ध्यान में रखकर आगम के आलोक में उन पर विवेचन कर आगमीय निर्देश सम्मुख रक्खे क्योंकि साधु आगमचक्षु होते हैं। कहा भी है कि 'आगम चक्खू साहू' अर्थात साधु के नेत्र आगम ही होते हैं। वे आगम नेत्रों से ही सब कुछ तथ्यातथ्य देखते हैं। इस कार्य के लिए श्री बाकलीवाल जी ने सर्वतोमुखी विद्वान् और प्राय: सभी मुनिराजों के विश्वस्त पात्र विद्यावाचस्पति न्याय-काव्य-तीर्थ पण्डित वर्धमान जी पार्श्वनाथ जी शास्त्री शोलापुर को उपयुक्त समझ उनसे इस कार्य को पूर्ण करने का अनुरोध किया। उक्त शास्त्रीजी ने अपनी स्वीकारता भी दी परन्तु अत्यन्त खेद की बात है कि श्री बाकलीवालजी को कृतांत ने पकड़ लिया और यह परमावश्यक कार्य पूरा न हो सका।

शान्ति-सम्मेलन और बाकलीवाल जी

छोटे से दिगम्बर जैन समाज में भी जब वे अनेकता, पारस्परिक-विवाद और संघर्ष का वातावरण देखते थे तब वे विशेष चिंतित हो जाते थे। बीसपंथ तेरहपंथ सम्बन्धी वैमनस्य से तो अंतर्वेदित थे ही, साथ ही जब वर्तमान में कुछ प्रचलित अध्यात्म की व्याख्या और उसके विरोध में जो विवाद विसंवाद लेख प्रतिलेख आदि चलते थे उनसे भी उन्हें अगाध वेदना थी। वे चाहते थे कि वर्तमान में चलाये गये अध्यात्म के नये रूप के प्रवक्ता या प्रवर्तक जिनकी ऐकान्तिक उत्सूत्र प्ररूपणाओं से अशांति और क्षोभ है तथा उनके समर्थक विद्वान् एक जगह एक साथ बैठकर समाधानात्मक चर्चा करलें और जनता को उससे अवबुद्ध करा दें तो ठीक है। इसी के लिए सन् १९६६ के जनवरी मास में उन्होंने श्री महावीरजी में एक शांति सम्मेलन बुलाने की योजना की। खेद है कि बहुत प्रयत्न करने पर भी वे न आये। हाँ, उनके भेजे गये या स्वयं अपने आप उनके पक्ष का समर्थन करने के लिए अभिभावक के रूप में अवश्य

कुछ सज्जन उपस्थित हुए। दूसरे पक्ष के भी बहुत से विद्वान् उपस्थित हुये परन्तु इस सम्मेलन में स्वपक्ष परपक्ष के समर्थन निरसन की बात न रहकर ऐसा वातावरण बनाया गया कि उभय पक्ष के लोगों में सद्भावना शांति और प्रेम में बाधा न आवे। श्री भंवरीलाल जी बाकलीवाल के बहनोई का देहान्त हो गया था और आप पर्याप्त अस्वस्थ भी थे तो भी इस सम्मेलन में पहुंचे और पूरा भाग लिया, आयोजन की सारी व्यवस्था की, आगत सज्जनों के आतिथ्य सत्कार भोजनादि का सारा सुप्रबन्ध अपने अर्थ व्यय से कराया। व्यवस्था का भार श्री चौधरी सुमेरमल जी ने उठाया था जो प्रशंसनीय था।

यह सम्मेलन ता० २३-१-६६ से २५-१-६६ तक चला। इस सम्मेलन में समाज के प्रमुख-निम्नांकित सज्जनों को आमंत्रित किया गया था।

(१) धर्मवीर सरसेठ भागचन्द जी सा० सोनी, अजमेर (२) जैनरत्न रा० ब० सेठ हीरालालजी सा० काशलीवाल इन्दौर (३) जैनरत्न रा० ब० सेठ राजकुमारसिंहजी सा० काशलीवाल, इन्दौर (४) सेठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल सुजानगढ़ (५) सेठ बालचन्दजी पाटनी, सुजानगढ़ (६) रायसाहब सेठ चांदमलजी पांड्या, गोहाटी (७) सेठ हीरालालजी पाटनी, निवाई (८) सेठ नथमलजी सेठी कलकत्ता (९) सेठ अमरचन्द जी पहाड़िया कलकत्ता (१०) लाला श्यामलाल जी जैन ठेकेदार देहली (११) सेठ चंदूलालजी कस्तूरचन्दजी शाह, बम्बई (१२) पण्डित मक्खनलाल जी शास्त्री न्यायालंकार मोरेना (१३) पं० इन्द्रलालजी शास्त्री विद्यालंकार, जयपुर (१४) पंडित जगन्मोहनलाल जी शास्त्री कटनी (१५) पं० कैलाशचन्दजी शास्त्री वाराणसी (१६) पण्डित फूलचन्दजी सिद्धान्त-शास्त्री वाराणसी (१७) ब्र० रतनचन्दजी जैन मुख्त्यार सहारनपुर (१८) पण्डित सुमेरुचन्दजी दिवाकर शास्त्री न्यायतीर्थ, बी. ए. एल. एल. बी. सिवनी (१९) पण्डित लालबहादुरजी शास्त्री एम० ए० इन्दौर (२०) पण्डित वर्धमानजी पार्श्वनाथजी शास्त्री शोलापुर (२१) पण्डित नाथूलालजी शास्त्री इन्दौर (२२) पण्डित बाबूलालजी बक्ता कलकत्ता (२३) पण्डित तनसुखलाल जी काला जालना (२४) ब्र० लाडमलजी जयपुर (२५) ब्र० सूरजमल जी (२६) चौधरी सुमेरमलजी अजमेर (२७) सेठ भगवानदास जी जैन सागर (२८) पण्डित अजितकुमारजी शास्त्री देहली (२९) सेठ मांगीलालजी पांड्या, लाडनूं (३०) सेठ नेमीचन्दजी बड़जात्या नागौर (३१) बाबू मानमलजी काशलीवाल इन्दौर (३२) सेठ देवकुमारसिंह जी काशलीवाल इन्दौर (३३) रा० ब० सेठ हरकचन्दजी पांड्या रांची (३४) श्री हुलासचन्दजी सबलावत जयपुर (३५) पंडित राजेन्द्रकुमारजी जैन न्यायतीर्थ मथुरा (३६) लाला सुनहरीलाल जी जैन, आगरा (३७) श्री जयचन्दजी लुहाड़े, हैदराबाद (३८) लाला परसादीलालजी पाटनी देहली (३९) श्री मूलचन्दजी किशनदास जी कापड़िया सूरत (४०) पण्डित बन्शीधरजी व्याकरणाचार्य बीना (४१) सेठ भंवरलालजी सेठी इन्दौर (४२) श्री भूपेन्द्रकुमारजी सेठी उज्जैन (४३) श्री नेमीचन्दजी पाटनी आगरा (४४) भट्टारक देवेन्द्रकीर्तिजी नागौर (४५) सेठ ताराचन्दजी ठोलिया जयपुर (४६) श्री गेंदीलालजी मन्त्री क्षेत्र, जयपुर।

उपर्युक्त मीटिंग में निम्नलिखित महानुभाव पधारे—

(१) धर्मवीर सरसेठ भागचन्दजी सा० सोनी अजमेर (२) रा० ब० सेठ हीरालालजी काशलीवाल, इन्दौर (३) रा० ब० सेठ राजकुमारसिंह जी साहब इन्दौर (४) रा० सा० सेठ चांदमलजी पांड्या, गोहाटी (५) सेठ हीरालालजी पाटनी निवाई (६) लाला श्यामलालजी जैन ठेकेदार देहली (७) पंडित इन्द्रलालजी शास्त्री विद्यालंकार जयपुर (८) पंडित जगन्मोहनलालजी शास्त्री कटनी (९) पंडित कैलाशचन्दजी शास्त्री वाराणसी (१०) पंडित फूलचन्दजी सिद्धांतशास्त्री वाराणसी (११) ब्र० रतनचन्दजी जैन मुख्त्यार सहारनपुर (१२) पंडित लालबहादुरजी शास्त्री इन्दौर (१३) पंडित वर्धमानजी पार्श्वनाथजी शास्त्री शोलापुर (१४) पंडित नाथूलालजी शास्त्री इन्दौर (१५) ब्र० लाडमलजी जयपुर (१६) ब्र० सूरजमलजी सा० (१७) चौधरी सुमेरमलजी अजमेर (१८) पं० अजितकुमारजी शास्त्री देहली (१९) सेठ मांगीलालजी पांड्या लाडनूं (२०) बाबू मानमलजी काशलीवाल, इन्दौर (२१) सेठ देवकुमारसिंहजी सा० काशलीवाल, इन्दौर (२२) श्री हुलासचन्दजी सबलावत जयपुर (२३) पं० राजेन्द्रकुमारजी जैन न्यायतीर्थ. मथुरा (२४) लाला सुनहरीलालजी जैन आगरा (२५) श्री जयचन्द जी लुहाड़े हैदराबाद (२६) पं० बन्शीधरजी व्याकरणाचार्य बीना (२७) श्री नेमीचन्दजी पाटनी आगरा (२८) भट्टारक देवेन्द्रकीर्तिजी नागोर (२९) श्री गेंदीलालजी मन्त्री जयपुर (३०) सेठ भंवरीलालजी बाकलीवाल सुजानगढ़।

सत्पुरुष का कार्य सत्कार्य के लिए सत्प्रयत्न करना है जो श्री बाकलीवालजी ने अथक परिश्रम और वह व्यय के साथ किया। यह सम्मेलन पारस्परिक मधुर वातावरण में प्रेमल आलाप और स्नेह सम्बन्ध के साथ सम्पन्न हुआ। विद्वानों में पारस्परिक विमनस्कता दूर होकर सौमनस्य की भावना बढ़ी जिसे प्रत्येक दशा में सफल ही कहा जायगा। अन्त में श्री बाकलीवालजी ने जो भाषण दिया वह हृदयस्पर्शी और मधुरता का प्रवर्धक था जिसकी प्रशंसा किए बिना नहीं रहा जा सकता। मुख्यत: उसी समय यह भी विदित हुआ कि आप एक कुशल वक्ता और महान् समयज्ञ भी हैं।

आपने उस समय जो भाषण दिया उससे सभी लोग गद्‌गद् हो-गये। गले से गले मिले और सभी में हार्दिक प्रेम का स्रोत प्रवाहित हो गया। इस कार्य में राय साहब, धर्मरत्न सेठ चांदमलजी पांड्या गोहाटी का बाकलीवालजी के साथ हार्दिक सहयोग रहा।

श्री बाकलीवालजी और महासभा का गोहाटी अधिवेशन

भारतवर्षीय दि० जैन महासभा के अधिवेशन पहले वार्षिक नहीं भी होते थे परन्तु लाडनूं अधिवेशन के बाद करीब करीब अधिवेशन प्रतिवर्ष होने लगे। मरसलगंज (ऋषभनगर) के बाद गोहाटी (आसाम) में यह अधिवेशन सन् १९६५ के फरवरी मास में पंच कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के सुअवसर पर ता० ९–१०–१२ फरवरी को सम्पन्न हुआ। जो महासभा के ,७० वें वर्ष का अधिवेशन था। इसके

अध्यक्ष श्री बाकलीवालजी ही थे। यहां जो पंचकल्याणक महोत्सव हुआ उससे धर्म की बड़ी भारी प्रभावना हुई। गौहाटी के समस्त जैन बन्धुओं ने इस धर्म कार्य में बड़ा भारी सहयोग दिया और पर्याप्त व्यय भी किया। श्री बाकलीवालजी ने भी पंचकल्याणक महोत्सव और महासभा के अधिवेशन को सफल और प्रभावक बनाने में कोई कसर उठा नहीं रखी। सेठ चांदमलजी पांड्या, सेठ नेमीचन्दजी पांड्या, श्री झूमरमलजी बगड़ा, श्री लखमीचन्दजी छाबड़ा आदि स्थानीय सज्जनों के सहयोग से श्री बाकलीवालजी ने महासभा को रु० ८००००)के करीब आर्थिक सहायता भी कराकर महासभा की हिली हुई आर्थिक नींव को दृढ़ करदी। इसका सारा श्रेय श्री बाकलीवालजी की अध्यक्षता को है। वास्तव में वे कर्मठ, सक्रिय, स्वयं उदार और सबके लिए प्रेरणा के स्रोत थे।

दो ऑपरेशन :—

श्री बाकलीवालजी को प्रोस्टेट ग्लेंडस् Prostate Glands की बीमारी थी। सन् १९६० में जयपुर आकर स्थानीय सवाई मानसिंह अस्पताल में आपने ऑपरेशन कराया। आपसे काटेज वार्ड में रह कर ऑपरेशन कराने को कहा गया परन्तु आपने कहा कि—मैं तो जनरल वार्ड में ही रहूंगा। फलतः आप ऑपरेशन के दिनों में जनरल वार्ड में ही रहे। इस बात में उनकी यह इच्छा थी कि अन्य आर्थिक दृष्टि से असमर्थ रोगियों की वे औषधि आदि से सेवा कर सकें। फलतः उन्होंने वैसा ही किया। आपने डाक्टरों से कह दिया था कि इस वार्ड का कोई रोगी औषधि इन्जेक्शन के बिना कष्ट नहीं पाए। जिसे जो भी जरूरत हो मुझे कहें। मेरे लड़कों से कहें, वे सब निःसंकोच व्यवस्था करेंगे। ये आपके कितने उच्च विचार थे, और कितने सेवाभाव थे लेखनी से लिखे नहीं जा सकते।

ऑपरेशन सफल हो गया। परन्तु किसी कुपथ्य अथवा उठने बैठने में शीघ्रता के कारण उन्हीं दिनों आपको केंसर रोग की संप्राप्ति हो गई थी जो उस समय तो विदित न हो सकी अथवा डाक्टरों द्वारा औषधोपचार से दवा दी गई। परन्तु पांच वर्ष बाद वह उपशांत रोग सामने आ गया और दो वर्ष में बढ़ते बढ़ते उनके प्राणान्त का कारण बन गया।

उनको मेरे साथ इतना प्रेम था कि आपरेशन थियेटर से बाहर आने के बाद सबसे पहले मुझे ही याद किया। मैं तो उनके पास ही था। वे मुझे देखकर गद्‌गद हो गए और हॉस्पिटल से छुट्टी पाकर सबसे पहले मेरे दोहिती के विवाह में जो उसी दिन था सीधे आए और उसमें सम्मिलित होकर वरवधू को अपना आशीर्वाद प्रस्तुत किया।

सन् १९६५ में आपने आंख में मौतिया बिन्दु का ऑपरेशन जयपुर में ही कराया। जो सफलता पूर्वक सम्पन्न हुआ। आपकी आंख के ऑपरेशन के दस बारह दिन बाद मेरी आंख में ऑपरेशन हुआ और अपनी आंख के दस बारह दिन बाद ही बहुत निषेध कराने के बाद भी मुझसे मिलने को आ गए। जो मेरे साथ उनके निश्छल प्रेम का परिचायक है।

श्री बाकलीवालजी के हृदय में अध्यात्म के प्रति ऐसी कुछ गाढ़ श्रद्धा थी कि इतनी बीमारी और बड़े ऑपरेशन के समय भी वे जरा भी अशान्त और अधीर नहीं पाए गये और सदैव प्रभु नाम स्मरण में तत्पर देखे गए या किसी न किसी धर्म तथा सामाजिक चर्चा में।

वास्तव में वे एक साहसी, आदर्श और उपमान व्यक्ति थे।

श्री बाकलीवालजी स्वयं दिगंबर जैनमुनि बनना चाहते थे

श्री बाकलीवालजी स्वर्गवाससे अनुमानतः अढ़ाई दो मास पूर्व जयपुर आये थे। नगरके बाहर सी स्कीम में अपनी पुत्री के निवास स्थान पर ठहरे थे। कुछ दिनों से आते जब वहीं ठहरने लगे थे। पहले तो पचासों बार मेरे पास ही ठहर कर मुझे सौभाग्यशाली बनाते थे। पीछे हवा पानी की दृष्टि से वहां ठहर जाते थे। उन्हीं दिनों पंडित राजेन्द्रकुमारजी न्यायतीर्थ आये और मेरे पास ही ठहरे थे। हम दोनों श्री बाकलीवालजी से मिलने गये। वे बीमार थे। बातचीत के प्रसंग में बोले कि यहां के डाक्टरों को तो मैंने दिखला दिया है। बम्बई में भी इस रोग के विशेषज्ञ चिकित्सकों को दिखलाना है। यदि उन्होंने मेरे अण्डकोष का आपरेशन कर दिया तो मुनि बन सकूंगा या नहीं? क्या अंडकोषों के अलग हो जाने से हीनांगता आजायगी? और मैं मुनिपद के अयोग्य हो जाऊंगा? यदि यह अयोग्यता आगई तो मेरी निर्ग्रन्थ मुनि बनने की प्रबल इच्छा ही नष्ट हो जायगी तब उस जीवन से भी क्या करना है क्योंकि मानव जीवन की सार्थकता तो सकल संयम के धारण करने से ही हो सकती है।

महान् रोग और वेदना की अवस्था में भी ऐसी भावना का होना असाधारण धार्मिकता का उदाहरण है। हम दोनों को उनका साधुवाद करते ही बन आया। हम दोनों ने उत्तर दिया कि अंडकोष के अलग हो जाने के बाद आपको मुनिदीक्षा दी जायगी या नहीं इसे दीक्षादायक आचार्य निश्चित करेंगे। हम लोगों की तो यही मंगल कामना है कि आप जल्दी से जल्दी स्वस्थ हो जावें और स्वस्थ होकर मुनि बनें।

सुजानगढ़ के अपने बाकलीवाल प्रासाद के जिस कमरे में वे अन्त समय में रहे काष्ठ के पलंग पर हो सोये बैठे। सारे कमरे में भगवान और मुनि महाराजों के चित्र लगवा दिये थे। पिच्छिका और कमंडलु भी अपने सामने रखवा दिये थे। ६–७ दिन पहले से समस्त वातावरण अपने भवन और उस खास कमरे को धार्मिक बना दिया गया था। प्रति समय अखण्ड धार्मिक स्तोत्रों स्तुतियों और णमोकार मंत्र का पाठ ही चलता रहता था। श्री बाकलीवालजी ने अपने पारिवारिकों से यह भी कह दिया था कि मेरे शव की भी दिगम्बर जैन मन्दिर के बाहर होकर उसकी छाया शव पर गिराकर श्मशान लेजाया जाय और वैसा ही किया भी गया। श्री बाकलीवालजी की अन्त तक जो ऐसी उत्तम–भावना और परिणति रही जिसे मनुष्य पर्याय की बहुत कुछ सफलता ही कहना पड़ेगा।

श्री बाकलीवालजी आध्यात्मिक सत्पुरुष थे

श्री भंवरीलालजी बाकलीवाल जितनी पूर्व पुण्य पाक से सामग्री मिलनी चाहिये थी प्राय: उससे बहुत अंशों में सु-संपन्न थे तथापि वे उससे अन्तर्लिप्त नहीं थे। उनकी दृष्टि भोग-वासना की तरफ न होकर उससे अलिप्त-प्राय: थी। श्री सम्मेदशिखर तीर्थराज पर श्री पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के समय उन्हें एवं उनकी धर्मपत्नी को भगवान के पिता माता बनने का सौभाग्य प्राप्त होगया जिसे उन्होंने महान् महान् पुण्य एवं पुण्यफल माना। एक अच्छी धनराशि इसके उपलक्ष्य में उक्त क्षेत्र को भेंट के रूप में त्यागने के अतिरिक्त विशेष रोग की अवस्था में रात्रि के समय पानी और औषधि मात्र का ग्रहण रखकर आजीवन रात के समय चतुर्विध आहार (खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय) का त्याग कर दिया और अन्त तक उसका पूर्णत: निर्वाह किया। एवं उसी समय से ब्रह्मचर्य भी लेलिया था।

छहों रसों में लवण (नमक) रस प्रधान और विशेष अभिरुचिकर होता है उसके बिना भोजन गोबर के स्वाद बराबर लगा करता है। लावण्य (सुन्दरता) शब्द भी लवण से ही बनता है। लवण के सम्बन्ध में कहा है कि—

ख्यात: सर्वरसानां हि लवणो रस उत्तम:।
येनैकेन बिना सर्वं भोजनं गोमयायते ।।

अर्थात्—सब रसों में लवण रस उत्तमता में प्रसिद्ध है क्योंकि उसके बिना सारा भोजन गोबर सरीखा लगता है।

श्री बाकलीवालजी ने कई वर्षों से नमक (लवण) छोड़ दिया था। वे लवण शून्य भोजन ही लेते थे, इस प्रकार उनका रसनेंद्रिय पर भी उल्लेखनीय विजय था।

'अध्यात्म' शब्द संस्कृत भाषा का है जिसका अर्थ 'आत्मनि अधि' अथवा 'आत्मानमधिकृत्य' अर्थात् शरीरेन्द्रिय भोगादि से हटकर आत्मा में ही रमण करने का नाम अध्यात्म है। आध्यात्मिक वही हो सकता है जो शरीर इंद्रिय भोगों से विरक्त होजाय क्योंकि जो-जो शरीर इंद्रियादि के पालन पोषण संवर्धन की वस्तुऐं हैं वे आत्मा का अहित करने वाली होती हैं और आत्मा में अनुरक्ति के लिए जितनी जितनी वस्तुऐं स्वाध्यायादिक हैं उन सबसे शरीरेंद्रियादि की पुष्टि, रक्षा आदि नहीं होती। अध्यातम का लक्षण इस प्रकार है कि—

गतमोहाधिकाराणामात्मानमधिकृत्य या।
शुद्धा वृत्तिर्भवेद्यत्र तदध्यात्मं जगुर्जिना: ।।

अर्थात्—जिनकी आत्मा पर से मोह का अधिकार चला गया है उनकी समस्त क्रियाऐं आत्म-साधनार्थ होती हैं और समस्त वृत्तियां जहां शुद्ध हो जावें उसे जिनेन्द्र भगवान् ने अध्यात्म कहा है। श्री पूज्यपाद स्वामी ने भी कहा है कि—

यत् यत् आत्मोपकाराय तत् तत् देहापकारकम् ।
यत् यत् देहोपकाराय तत् तत् आत्मापकारकम् ।।

अध्यात्मवादी हर कोई हो सकता है क्योंकि अध्यात्मवादी केवल जबान से आत्मा आत्मा सम्यग्दर्शन की रटंत लगाता है। यह केवल वचन का व्यायाम-मात्र है। आध्यात्मिक तो वही हो सकता है जिसका इंद्रिय-विषयों, शरीरादि पर पदार्थों पर विजय हो। वह विजय बहिरंग अन्तरंग तप के बिना नहीं हो सकता। अन्तरंग तप की वृद्धि और स्थिरता बाह्य तप के बिना नहीं होती। सोही श्री समन्तभद्राचार्य महाराज ने कहा है कि—

बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरस्त्व—
माध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम् ।।

(स्वयंभूस्तोत्र-श्रीकुन्थुनाथस्तुति)

परम आध्यात्मिक वही हो सकता है जिसने सकल संयम धारण कर लिया है। देश संयमी अथवा प्रशम संवेग में रुचि रखकर उसकी तरफ बढ़ने वाला भी आध्यात्मिक हो सकता है। श्री बाकलीवालजी सम्पत्ति वैभव साधन सभी से सम्पन्न होते हुये भी उनको त्याज्य समझते थे। संयमधारियों के प्रति वे अन्तरंग से भाक्तिक थे।

गत वर्ष श्री १००८ श्री बाहुबलि स्वामी के महामस्तकाभिषेक के समय अस्वस्थावस्था में भी इसी उद्देश्य से इतनी लम्बी यात्रा करते हुए पहुंचे थे कि वहाँ अनेकों संयमधारियों के दर्शन चरण-स्पर्श से आत्मा में पवित्रता आजायगी। भगवान् का अभिषेक देखने से नेत्र और हृदय पूत होजायंगे।

श्री बाकलीवालजी पांच वर्ष से बराबर श्री दशलक्षण व्रत करते थे। इस व्रत में दशों दिन उपवास करते थे और जहां भी श्री १०८ आचार्य श्री विमलसागरजी महाराज का चातुर्मास होता था, वहीं भाद्रपद मास में दश लाक्षणिक पर्व प्रारंभ होने के पहले पहुंच जाते थे। वि. सं. २०१९ में ईसरी (श्री पारसनाथ सम्मेदशिखर जी), २०२० बि. सं. में बाराबंकी (उ. प्र.) वि. सं. २०२१ में बड़वानी (म. प्र.), वि. सं. २०२२ में कोल्हापुर (महाराष्ट्र) और वि० सं० २०२३ में शोलापुर (महाराष्ट्र) गये और वहीं दश लक्षण व्रत किये। और प्रायः सभी जगह उद्यापन भी किये जिनमें सहधर्मियों को प्रीतिभोज एवं पात्रदानादि दिये। वि० सं० २०२४ में आप ने विशेष रोग अवस्था में भी सुजानगढ़ से उदयपुर श्री १०८ आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज के संघ में जाकर व्रत किया। केवल २४ घंटे में एक बार पाव भर दूध और औषधि लेते थे। इनके अतिरिक्त कुछ नहीं लेते थे। अस्वस्थ अवस्था में भी सामायिक, गुरूपासना आदि बराबर करते थे। समाधिस्थ श्री १०८ श्री सुपार्श्वसागर जी महाराज के संनिधान में बहुत समय बिताते थे। इन्हीं दिनों श्री १०८ सुपार्श्वसागर जी महाराज (सारसोप) ने ३२ दिन का महान निराहार व्रत किया था। जिससे उदयपुर क्षेत्र एक महान धर्मतीर्थ बनगया था।

श्री बाकलीवाल जी के ऊपर इस महान तपश्चर्या का बहुत भारी प्रभाव पड़ा। विशेष अस्वस्थ हो जाने पर भी आप जयपुर से श्री १०८ श्री आचार्य विमलसागर जी के दर्शनार्थ अपनी कार द्वारा ईडर गये और वहां भी कुछ दिन उनकी सेवा में बिताये वहां से श्री १०८ श्री मुनिराज नेमिसागर जी महाराज के दर्शनार्थ और चिकित्सकों से परामर्शार्थ भी बम्बई गये और जब चिकित्सकों ने आपके कैंसर रोग को असाध्य बतलाकर विश्राम करने की सलाह दी तो वायुयान द्वारा देहली आकर सुजानगढ़ आगये।

उनका चिरकाल से अभ्यस्त आत्म साधना कार्य अंत तक चलता रहा। मोह ममता के वे विशेष पराधीन न रहे। कषायों में मंदतरता थी। स्पर्शन रसन इंद्रियों के विषयों में मंदतमता एवं अलिप्तता थी। संसार वर्द्धक नाटक सिनेमा कभी न देखते थे। इंद्रिय-विषय-वर्धक साहित्य न पढ़कर सदैव स्वाध्याय-शील रहते थे। साधु-संतों, विद्वानों एवं सदाचारी मानवों से ही मैत्री भाव रखते थे। स्वाभाविक दयालु थे। इस प्रकार वे आध्यात्मिक एवं आध्यात्मिकता के ही सम्मुख रहने वाले सन्मानव थे।

श्री बाकलीवालजी की वदान्यता

श्री बाकलीवालजी जैन समाज के असाधारण दानी सत्पुरुषों में से थे। आपने अपने जीवन में पर्याप्त दान दिया परन्तु आपने कभी उसकी प्रसिद्धि नहीं चाही। आप मूक दानी थे। जहां भी आवश्यकता समझते थे वहां दान देने में पश्चात् पद नहीं रहते थे। अनेक तीर्थक्षेत्रों, मन्दिरों, धार्मिक संस्थाओं और सामाजिक संस्थाओं को दान देकर आप अपना अहोभाग्य समझते थे। आप कई छात्र और असहाय भाई बहनों को गुप्त रूप से सहायता पहुंचाते रहते थे। आप अपनी इस परोपकारिता, सात्विकता, दानशीलता, मधुरभाषिता और प्रेमलता से अजात-शत्रु और अकुतोभय थे।

वे तीर्थ-भक्ति में अग्रेसर थे। जब श्री सम्मेदशिखर तीर्थराज के संबंध में भारत की राजधानी देहली में लाखों व्यक्तियों के जुलूस के साथ एक शिष्टमण्डल भारत के तत्कालीन प्रधान मन्त्री माननीय स्व० लालबहादुर जी शास्त्री से मिला था उसमें आप अस्वस्थ होते हुए भी गये और भा० दि० जैन महासभा की अध्यक्षता के उत्तरदायित्व को तनमनधन से निभाया एवं तीर्थ क्षेत्र कमेटी को भारी अर्थ सहयोग दिया। बिहार के तत्कालीन राज्याधिकारियों से अपना समुचित पक्ष प्रकट करने के लिए शिष्ट मण्डल के साथ पटना भी गये। जहां-जहां जब-जब भी आवश्यकता हुई आप बराबर मनसा-वाचा-कर्मणा सहयोग देने में सदैव अग्रेसर रहते थे।

जयपुर से ३ मील पूर्व की तरफ खानियां एक सुप्रसिद्ध स्थान है। वहां दो मन्दिर हैं। राजाजी के मंदिर के पीछे एक पहाड़ी है। जहां सन् १९३८ में श्री १०८ परमपूज्य स्व० श्री चंद्रसागरजी महाराज दोपहर में बिना किसी को कुछ कहे सुने सामायिक तथा ध्यान करने के लिए चले गये। दैव से

मनीपुर के मुख्यमंत्री को बाढ़ पीड़ितों की सहायता के लिये धनराशि का चैक भेंट करते हुये श्री सेठ भंवरीलालजी बाकलीवाल।

मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी के तत्वावधान में बाढ़ पीड़ितों को कम्बल और अनाज बांटते हुये श्री सेठ भंवरीलालजी बाकलीवाल।

मनीपुर नृत्य समारोह में भाषण देते हुये नर्तकों के साथ
श्री सेठ भंवरीलालजी बाकलीवाल

मनीपुर के मुख्यमंत्री श्री कोइरामसिंह, जुडीशियल कमिश्नर श्री राजवीरूपसिंह
कानून सचिव श्री मार्सबिव शर्मा एवं आसाम आइल कं० के जनरल
मैनेजर श्री डब्ल्यू ब्रोन तथा श्री सेठ भंवरीलालजी बाकलीवाल
इंफाल में दी गई भोज पार्टी में।

श्री महावीरजी में आयोजित शांति सम्मेलन। विशिष्ट महानुभावों का श्री भंवरीलालजी बाकलीवाल के साथ लिया गया चित्र।

श्री भंवरीलालजी बाकलीवाल के अंतिम समय लघुभ्राता नेमीचंदजी इन्द्रचंदजी व सुपुत्र मन्नालालजी एवं श्री इन्द्रलालजी शास्त्री आदि बैठे हैं।

श्री भंवरीलालजी बाकलीवाल चिर-निद्रा में। परिवार के लोगों के साथ डा० व्यास भी उपस्थित हैं।

उनके सामने एक सिंह गुजरा। जब महाराज श्री सायंकाल चार बजे तक न लौटे तब उपस्थित लोगों को बड़ी चिन्ता हुई और ढूंढने लगे। उस पहाडी पर भी पहुंचे। महाराज श्री तब तक ध्यान में लीन थे। सामने सिंह के पांव के निशान थे। लोग भयभीत हुए। महाराज खानियों में आ गये। पहाड़ पर रहने वाले लोगों से विदित हुआ कि महाराज के सामने से सिंह निकल गया। लोग बडे आश्चर्यान्वित हुए। पूज्यमहाराज श्री की तपोनिष्ठता और निर्भीकता से प्रभावित होकर कहने लगे कि ऐसे साधुओं के प्रभाव से जाति विरोधी जीव वैर छोड़ देते हैं।

इसी पहाडी पर श्री १०८ आचार्य देशभूषण जी महाराज भी पधारे एवं उसकी रम्यता और तपोभूमि से प्रभावित होकर उसको शास्वत तपोभूमि बना देने के लिए मंदिर निर्माण कराने का अभिप्राय प्रकट किया। फलत: सन् १९६४ के जयपुर चातुर्मास में वहां एक जिन-मंदिर की नींव डालने का निश्चय हुआ। जिसका शिलान्यास श्री भंवरीलाल जी बाकलीवाल के द्वारा होने वाला था। परन्तु उसी दिन आपकी तबियत अकस्मात खराब होजाने से आप स्वयं न पहुंचे और अपने जामाता श्री हुलासचंद जी सवलावत से अपने प्रतिनिधि के रूप में शिलान्यास कराया।

इस क्षेत्र का नाम श्री पार्श्वनाथ चूलगिरी है। यहां मंदिर, धर्मशाला आदि बन गये हैं और आगे भी इसका निर्माण कार्य जारी है। यह क्षेत्र एक तीर्थ बन गया है। जिसका श्रेय श्री बाकलीवाल जी की तरफ से शिलान्यास किये जाने से उनको भी दिया जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। यह शिलान्यास मार्गशीर्ष शुक्ला त्रयोदशी वि० सं० २०२१ को हुआ था।

आपने भारत के सभी इष्ट तीर्थों की अनेक बार यात्राएं की और पुण्योपार्जन के साथ अर्थ-दान भी किया। यह सब करते हुए भी वे यशोलिप्सा और अपनी प्रशंसा एवं गुणगाथा वर्णन कराने के भूखे नहीं पाये गये। उनको मूक सेवाएं ही ज्यादा प्रिय थीं।

उनको विद्वानों से बड़ा अनुराग था। वे विद्वानों को अपना पारिवारिक सदस्य के समान ही समझते थे और उनको कभी-कभी अपनी धनिकता का अनुभव नहीं होने देते थे। उनके साथ दूध पानी की तरह घुल मिल जाते थे। उनकी सत्साधुओं में अपार भक्ति थी। परमपूज्य मुनिराजों, ऐलकों क्षुल्लकों आदि की सेवामें बराबर पहुंचते रहते थे और उनकी सेवा सुश्रुषा करते रहते थे। वे चारित्रधारियों के बड़े भारी उपासक थे। साधु संघों का विहार, उनकी चर्या निर्विघ्न निरंतराय चले उसका पूरा ध्यान रखते थे और तदर्थ जितना भी सहयोग दे सकते थे, देते थे।

इम्फाल में उन्होंने अपने निवास स्थान पर एक जिन चैत्यालय बनाया था जिसमें वे प्रतिदिन पूजा आरती अपने परिवार के लोगों के साथ करते थे।

मणिपुर राज्य में जैनियों की संख्या बहुत कम है। परन्तु वहां दि० जैन धर्म का कोई प्रतीक

स्थापित हो और जैनधर्म के उच्च आदर्श का सबको ज्ञान मान होता रहे तदर्थ उन्होंने मनीपुर की एक पहाड़ी ली और वे यह चाहते थे कि इस पहाड़ी के ऊपर भगवान पार्श्वनाथ स्वामी की एक विशाल मूर्ति विराजमान करादी जावे। इसके लिए वे सदैव प्रयत्नशील पाये गये। उसके कुछ पूर्व रूप भी तैयार किये। परन्तु अपने जीवन काल में वे अपनी इस अभिलाषा को पूर्ण न कर सके। इसकी उन्हें अन्त तक चिंता रही और अपनी अन्तिम यात्रा के १८ घण्टे पहले अपनी इस अभिलाषा को पूर्ण करने के लिये अपने पुत्रों को संकेत किया।

मंत्र-यंत्रादि पर अटूट श्रद्धा

श्री बाकलीवाल जी की मंत्र यंत्रादि पर अटूट श्रद्धा थी, होनी भी चाहिये क्योंकि "अचिन्त्यो हि मणिमंत्रौषधादीनां प्रभाव:" अर्थात् मणि मंत्र औषधि यंत्र तंत्र आदि का भी प्रभाव अचिंत्य होता है। आचार्य वर्य श्री समन्तभद्र स्वामी ने श्री १००८ श्री शीतलनाथ स्वामी की स्तुति करते हुए श्री स्वयंभू-स्तोत्र में कहा है कि—

सुखाभिलाषानल — दाहमूर्च्छितं
मनो निजं ज्ञान-मया-मृताम्बुभि:।
व्यदिध्यपस्त्वं विषदाहमोहितं
यथा भिषङ् मंत्रगुणै: स्वविग्रहम्

जैसे वैद्य विष के दाह से मोहित अपने शरीर को मंत्र प्रभाव से निर्विष कर देता है, उसी प्रकार इन्द्रिय सुखाभिलाषा-रूप अग्नि के दाह से मूर्च्छित अपने मन को आपने ज्ञान-मय अमृत जल से सचेत कर दिया है।

यहां मंत्र का प्रभाव उदाहरण अथवा उपमान के रूप में श्री आचार्य समन्तभद्र महाराज ने स्वीकार किया है।

इस प्रकार श्री पूज्यपादाचार्य महाराज ने श्री शान्तिनाथ भगवान की अन्धे हो जाने पर स्तुति की और उनकी नेत्र दृष्टि निर्मल होगई तब उस तत्कालीन शान्ति भक्ति में कहा है कि—

क्रुद्धाशीविषदुष्टदुर्जयविष-ज्वालावली-विक्रमो—
विद्याभेषजमंत्रतोयहवनैर्याति प्रशान्तिं यथा।
तद्वत्ते चरणारु-णाम्बुजयुग-स्तोत्रो-न्मुखानां नृणां
विघ्ना: कायविनायकाश्च सहसा शाम्यंत्यहो विस्मय: ॥

जैसे क्रुद्ध और दुष्ट सर्पको दुर्जय विष की ज्वाला का प्रभाव अथवा पराक्रम विद्या औषधि मंत्र जल हवन (होम) से शान्त हो जाता है वैसे हे प्रभो ! आपके चरणकमल-युग की स्तुति के सन्मुख व्यक्तियों के सारे शरीर संबंधी रोग, विघ्न नष्ट हो जाते हैं।

धर्म श्रेय और प्रेय दोनों का साधक और दाता है। श्री बाकलीवाल जी अपनी इस उचित और सत्य सच्छ्रद्धा के अनुसार स्वयं भी सदैव णमोकार मंत्रादि का जाप्य करते थे और श्री० पं. विजय-मूर्ति जी एम. ए. साहित्याचार्य ज्योतिषायुर्वेद शास्त्री, ब्र० पंडित सूरजमल जी संहितासूरि आदि से भी ऋषिमंडल, सिद्धचक्र आदि विधान कराते रहते थे। वे विधिज्ञ मांत्रिक महानुभावों का बड़ा आदर करते थे। मंत्रादि शक्ति द्वारा वे आध्यात्मिकता का प्रसार चाहते थे। मंत्रादि की शक्ति से वे परोक्षश्रद्धा और आस्तिकता को सदैव व्याप्त और दृढ़ देखना चाहते थे।

श्री बाकलीवालजी की सार्वजनिक लोकप्रियता

श्री बाकलीवालजी जैसे धार्मिक और सामाजिक कामों में अत्यधिक रुचि और भाग लेते थे वैसे सार्वजनिक कामों में भी बहुत रुचि रखते थे। आपकी सुयोग्यता, कार्यकुशलता और दीर्घदर्शिता के कारण आप अनेक सार्वजनिक संस्थाओं के प्रमुख कार्यकर्त्ता चुने जाते थे। जिनका संचालन आप बहुत सुयोग्यता से करते थे, जिससे आप सार्वजनिक क्षेत्र में भी बहुत लोकप्रिय और सम्मान्य होगये थे।

आपने निम्न संस्थाओं में अपनी सेवाएं अर्पित की।

१–नोर्थ ईस्ट पेट्रोलियम डीलर्स एसोशियेशन गोहाटी (आसाम) के अध्यक्ष थे।

२–मॉडर्न स्कूल इम्फाल (मनीपुर) के अध्यक्ष थे।

३–एसोशियेटेड मनीपुर चेम्बर ऑफ कॉमर्स इम्फाल के अध्यक्ष थे।

४–हिन्दी नागरिणी प्रचार सभा मनीपुर के उपाध्यक्ष थे।

५–मारवाड़ी धर्मशाला इम्फाल के अध्यक्ष थे।

मनीपुर राज्य हिन्दी भाषी नहीं है। वहां की भाषा मनीपुरी है। परन्तु आपने वहां हिन्दी का हिन्दी नागरिणी प्रचार सभा के माध्यम से पर्याप्त प्रचार किया। और आप उस सभा के सम्मानित उपाध्यक्ष भी चुने गये। जब मनीपुर में बाढ़ आई तब आपने बाढ़ पीड़ितों की पर्याप्त सेवा की और तदर्थ बहुत अच्छी धनराशि राज्याधिकारियों को भेंट की।

इन सार्वजनिक संस्थाओं के नेता होने के अतिरिक्त आप जैन समाज की भी अनेक संस्थाओं के उच्च पदाधिकारी थे और प्राय: सम्बन्धित संस्थाओं में उनका उच्चासन और गौरव था। भारतवर्षीय दि. जैन महासभा की सम्पत्ति के वे ट्रष्टी भी थे।

आपकी सामाजिक और धार्मिक सेवाओं के उपलक्ष में श्री भारतवर्षीय शान्तिवीर दिगम्बर जैन सिद्धान्त संरक्षिणी सभा ने आपको सन् १९६४ में विशाल जन-समूह की उपस्थिति में ऋषभ-नगर में 'धर्मवीर' उपाधि से अलंकृत किया।

अनेक स्थानों पर आपको अभिनन्दन पत्र भी समर्पित किये गये जो अन्यत्र प्रकाशित हैं।

सादी वेशभूषा और एकरंग की पगड़ी

श्री बाकलीवालजी आडम्बर और प्रदर्शन प्रिय नहीं थे। आपकी वेशभूषा भारतीय संस्कृति और सभ्यता की द्योतक थी। उनके आचार विचार सभी भारतीयता से ओत-प्रोत थे। वेशभूषा सादी थी। उन्हें चटक-मटक प्रिय नहीं थी। वे फैशन परस्ती से भी दूर थे। वे सदैव एक रंग की ही पगड़ी पहनते थे। जिसका रंग नींबू के जैसा होता था। जिसे राजस्थानी भाषा में तोरुफूली रंग कहा जाता है। बोलचाल में वे अधिकतर अपनी मातृभाषा मारवाड़ी का ही प्रयोग करते थे। एक रंग की पगड़ी बांधने में उनसे कारण पूछने पर बतलाया कि मस्तक का रंग अर्थात् मस्तकीय सन्तुलन एक ही रहना चाहिए, उसी का प्रतीक पगड़ी होती है।

अन्तिम समय

श्री भंवरीलालजी बाकलीवाल को यह निःसन्देह रूप से भान हो गया था कि यह नर पर्याय अब जाने वाली है। इसीलिए उदयपुर, ईडर, बम्बई जाकर पूज्य मुनिराजों के दर्शन कर अपनी अन्तिम यात्रा के आठ दिन पूर्व तारीख ८ अक्टूबर सन् १९६७ को अपने निवास स्थान सुजानगढ़ आ गये। आपको कैंसर रोग के कारण असह्य-पीडा थी, तो भी उसमें बिलकुल घबराहट नहीं थी। बराबर चौबीसों घण्टे धर्म-श्रवण, णमोकार मंत्र स्मरण आदि में तत्पर रहते थे। उदयपुर आदि की यात्रा में भी उनकी धर्मपत्नी और दो पुत्र (श्री मन्नालाल तथा श्री चैनरूप) साथ थे। जिस कमरे में रहते थे वहां का वातावरण सर्वथा धार्मिक बना दिया गया था। मेरी सेठ भंवरीलालजी से ४५ वर्ष से बहुत निःस्वार्थ घनिष्ठ मित्रता थी। तारीख १३ अक्टूबर सन् १९६७ को उनके पुत्र श्री मन्नालाल का मेरे पास पत्र आया कि पिताजी की अवस्था असाध्य है। यह चिन्तनीय विषय है। क्योंकि उस समय मेरी जाने की इच्छा होते हुए भी यातायात की साधन की प्राप्ति न होने से मैं ता० १४ की रात को ७॥ बजे सुजानगढ़ पहुंचा। उनको मुझे देखते ही हर्ष हुआ और हाथ बढ़ाकर स्वागत किया। सारी रात भर धर्म साधन में बीता। ता० १५ को प्रातःकाल रायसाहब सेठ चांदमलजी पांड्या के गृह चैत्यालय से श्री बाकलीवालजी के भ्राता श्री नेमीचन्दजी गाजेवाजे के साथ भगवान् जिनेन्द्रदेव की मूर्ति लाये। उनको दर्शन कराये। चरित्रनायक स्वर्गीय आत्मा ने सोते से बैठकर भगवान् के दर्शन किए और प्रणाम किया। अर्ध्य चढ़ाया और दो केले चढ़ाये। सारा दिन धार्मिक वातावरण में व्यतीत हुआ। रात को दो बजे अपने दोनों पुत्रों, धर्मपत्नी, तीनों बहनों, तीनोंपुत्रियों, भाइयों, उपस्थित जामाता श्री हुलासचन्द जी को सात मिनट तक उपदेश दिया जिसका सार यही था कि कुल परम्परा और धार्मिक परम्पराओं को बराबर निभाना। देव शास्त्र गुरु में भक्ति रखना। जो मेरे अधूरे धार्मिक कार्य हों उनको पूरा करने का यथासम्भव ध्यान रखना और संयुक्त कौटुम्बिक प्रथा को छिन्न भिन्न मत होने देना।

इसे सबने शिरोधार्य किया। उस समय श्री बाकलीवालजी प्रसन्न मुद्रा में थे।

ता० १६ को शाम को मृत्यु के दो घण्टे पहले आपने भगवान् की स्वयं अपने हाथों से आरती की। बाद में उनको अन्त तक णमोकार मन्त्र का स्मरण कराते रहे। अन्त तक वे सावधान पाये गये। अन्त में ६ बजकर २० मिनट पर सबको बिलखता हुआ छोड़कर चिर आत्म-निद्रा में स्वर्गवासी बन गये।

ता० १७ को प्रातः उनका पार्थिव शरीर जैन मन्दिर के बाहर होकर उसकी छाया से शव को भी उनकी इच्छानुसार पूत कराकर शवदाहालय लेजाया गया। शव यात्रा में भारी संख्या में लोग उपस्थित थे। मनों घी चन्दन आदि से उनका दाह संस्कार किया गया और सब लोग उनका गुणगान करते हुए स्नानादिक कर अपने-अपने स्थान चले गये।

संसार में जो जन्म लेता है उसका मरण भी अवश्यंभावि है। परन्तु जन्म लेना उसी का सफल है जिसने अपनी आत्मा का भी हित किया हो और परलोक में सुगति के साधन जुटाये हों। श्री बाकलीवाल जी यदि कुछ वर्ष इस पर्याय में और रहते तो जनता को उनसे होने वाले अपने हित का और भी अवसर मिलता और उन्हें भी इतोऽप्यधिक आत्महित करने का अवसर मिलता। इस विषाद के साथ यह हर्ष भी हो सकता हे कि उनका जीवन असाधारण परोपकारी और आध्यात्मिक रहा। बाकी मरण तो होता ही है। परन्तु उसका मरण भी जीवन ही है जिसका जीवन अनुकरणीय और परोपकारी होता है।

मुझे विश्वास है कि उनकी पवित्रात्मा स्वर्गादि के सुख भोगकर कुछ भवों में ही मोक्ष लाभ प्राप्त करेगी।

प्राणि-मित्र गुणिमोद धर क्लिष्ट जीव दुखहार।
सज्जन धार्मिक धीर बुध रत नित पर उपकार ॥१॥

सद्गुरु सेवक लोकप्रिय दानी धनिक कृतज्ञ।
जनसेवी कर्तव्य रत व्यवसायी तत्त्वज्ञ ॥२॥

स्वाध्यायी कुल रवि विशद मानव हृदय उदार।
सत्य अहिंसा रत सुधी गुण संदोह अपार ॥३॥

गुण लेवें उनसे सभी हो स्मृत भंवरीलाल।
लहैं मोक्ष-सुख परमशिव सुबुध बाकलीवाल ॥४॥

जैनेतर मत और जैनमत

भगवान् समंतभद्राचार्य महाराज श्री १००८ श्री महावीर स्वामी की स्मृति में कहते हैं कि:—

हे प्रभो ! जैनेतर मतों में भी बहुत गुण और सम्पत्ति है। उनमें मधुर वचनों का विन्यास भी प्रायः सर्वत्र ही है परन्तु इतना होने पर भी वे सब आपसे भिन्न मत असकल अर्थात् विकल-असंपूर्ण अथवा पूर्णता रहित हैं वे वस्तु के सब अंशों और अंगों का प्रतिपादन नहीं करते। एकांती हैं। आपका मत नय भाग रूपी अवतंसों-आभूषणों रूप कलाओं से अलंकृत होने से सकल-सम्पूर्ण अथवा पूर्णता का प्रतिपादक है।

बहुगुणसंपदसकलं परमतमपि मधुरवचनविन्यासकलम् ।
नयभक्त्यवतंसकलं तव देव मतं समंतभद्र-सकलम् ।।

इसीलिए प्रभो ! आपका मत समंतभद्र (सब प्रकार से कल्याणकारी) अथवा सर्वांश प्रतिपादक है।

× × × × ×

जे णयदिट्ठिविहूणा ताण ण वत्थूसहावउवलद्धी ।
वत्थुसहावविहूणा सम्माइट्ठी कहं होंति ।।

जो नय-दृष्टि से विहीन हैं उन्हें वस्तु स्वभाव की उपलब्धि अथवा वस्तु स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता और जो वस्तु स्वभाव के सर्वांश ज्ञान से विहीन हैं वे सम्यग्दृष्टि कैसे हों ? अर्थात् नहीं हो सकते।

× × × × ×

जैनेतर साधु और जैन साधु

भगवान् समंतभद्राचार्य महाराज श्री १००८ श्री शीतलनाथ स्वामी की स्तुति करते हुए कहते हैं कि—

कितने ही तपस्वी पुत्र, धन-संपदा और परलोक में इंद्रिय विषय सुखों की तृष्णा से तपश्चर्या कर्म करते हैं परन्तु हे प्रभो ! आप जन्म जरा मृत्यु की सर्वथा छूट जाने की इच्छा से मन वचन काय की प्रवृत्ति को रोकते हैं।

अपत्यवित्तोत्तरलोकतृष्णया तपस्विनः केचन कर्म कुर्वते ।
भवान् पुनर्जन्म जराजिहासया त्रयीं प्रवृत्तिं शमधीरवारुणत् ।।

—इन्द्रलाल शास्त्री

श्रद्धाञ्जलियां

एवं

संस्मरण

श्री भंवरीलाल जी बाकलीवाल

उच्च और सुलझे हुए विचारों के व्यक्ति

श्रीमान् रा० ब० सर सेठ भागचन्द जी सोनी
संरक्षक व भूतपूर्व अध्यक्ष भा० दि० जैन
महासभा अजमेर

श्री धर्मवीर सेठ भंवरीलाल बाकलीवाल के असामयिक निधन से बड़ी वेदना हुई, बड़ा आघात सा लगा। उनके निधन से समाज की महान क्षति हुई है जिसकी पूर्ति होना निकट भविष्य में संभव नहीं है। उनका अपना व्यक्तित्व था—काफी लम्बे अर्से से उनके निकट सम्पर्क में मैं आया। उनका व्यक्तित्व और उनका जीवन सरलता, विचार-शीलता, गम्भीरता और निरभिमानता आदि गुणों से परिपूर्ण था यह सब उनके व्यवहार में स्पष्ट प्रतीत होता था।

धर्म एवं समाज सेवा के क्षेत्र में उन्होंने बहुत काम किया उनकी धर्म में रुचि एवं मुनिभक्ति अटूट थी। उनकी लगन उनकासा अदम्य उत्साह, जिस अवस्था में वे थे और जिस प्रकार अस्वस्थता कुछ समय से उन्हें घेरे हुए थी दूसरी जगह कम ही दृष्टि गोचर होता है। मेरे प्रति उनका बहुत स्नेह और विश्वास था, उन्होंने अपना सारा सहयोग खुले हृदय से मुझे प्रदान किया और सामाजिक विषम परि-स्थितियों में कभी हतोत्साह नहीं होने दिया। वे बड़े उच्च और सुलझे हुए विचारों के व्यक्ति थे। उनकी सदैव यही आकांक्षा रही कि समाज में सौहार्द बढ़े सब एक दूसरे के निकट आवें—इसके लिए वे सदैव प्रयत्न करते रहे।

आज वे हमारे बीच में नहीं हैं लेकिन उनकी स्मृति सदैव ताजा रहेगी।

अपरिमित सेवाएं

श्रीमान् रा० ब० सेठ रामकुमारसिंह जी
भूतपूर्व अध्यक्ष भा० दि० जैन
महासभा इन्दौर

श्रीमान सेठ भंवरीलालजी बाकलीवाल से मेरा घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। वे धार्मिक एवं सामाजिक कार्यों में बड़े प्रेम और उत्साह से भाग लेते थे। भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा के वे दो बार सभापति निर्वाचित हुए।

इन्दौर में महासभा की प्रबन्धकारिणी और श्री महावीरजी में सामाजिक संगठन सम्बन्धी विशिष्ट बैठक आदि अवसरों पर उनकी कर्तव्यनिष्ठा, समाज सेवा की उत्कट भावना, धार्मिक श्रद्धा और सौजन्य का सभी को परिचय प्राप्त हो चुका है। जब वे इन्दौर पधारते थे, हमारे यहां ही ठहरते थे और हम लोग घण्टों सामाजिक समस्याओं एवं धार्मिक चर्चाओं में व्यस्त रहते थे। जैन समाज के प्रति उनकी अपरिमित सेवाएं हैं, जो कभी भुलाई नहीं जा सकती। उन्होंने अपनी उदारता, निरभिमानिता सहृदयता, परोपकारवृत्ति और कुशल नेतृत्व द्वारा सबको मुग्ध कर लिया था। स्नेहपूर्ण व्यवहार से हमारे परिवार का अंग बने हुये थे। वयोवृद्ध होने के नाते उनसे मुझे बहुत कुछ प्रेरणा प्राप्त होती रहती थी।

श्रीमान भंवरीलालजी सा० के आकस्मिक वियोग से सचमुच दिगम्बर जैन समाज की महती क्षति हुई है। हमारे समाज में ऐसे निष्ठावान और सेवाभावी कर्मठ व्यक्तित्व की कमी होना दुर्भाग्य की बात है।

एक आदर्श महापुरुष

श्रीमान् रा० सा० जैनरत्न सेठ चांदमल जी पांड्या सभापति भा० दि० जैन महा-सभा, संरक्षक शांतिवीर सिद्धांत संरक्षिणी सभा, गोहाटी

दिगम्बर जैन समाज के मूर्धन्य धार्मिक नेता, कर्मठ समाजसेवी, परोपकारी, निष्ठावान श्रीमान् सेठ भंवरीलालजी बाकलीवाल का दिनाङ्क १६ अक्टूबर १९६७ को असहनीय चिर-वियोग हो गया। श्री बाकलीवालजी मेरे व्यावसायिक साझेदार और रिश्तेदार ही नहीं थे अपितु मुझे समाज सेवा में अग्रे-सर करने वाले प्रेरणास्रोत भी थे। मेरे सामाजिक क्षेत्र में पदार्पण का समस्त श्रेय उन्हीं को है। मरसलगंज क्षेत्र पर आचार्य श्री १०८ विमलसागरजी महाराज की प्रेरणा से पंचकल्याणक प्रतिष्ठा कराने का सत्साहस उन्होंने ही पैदा किया और तभी से समाजसेवा के प्रति मेरी आस्था दृढ़ हुई।

श्री बाकलीवालजी एक आदर्श महापुरुष थे, उनके साथ समाज सेवा व व्यापार करने में समान आनन्द मिलता था। उनमें कपट नाम मात्र को भी न था। वे व्यवसाय में भी झूठ और अन्याय को घृणा की दृष्टि से देखते थे।

कट्टर देव-शास्त्र-गुरुभक्त श्री बाकलीवालजी मानवता के सच्चे प्रतीक थे। चातुर्मास के दिनों में वे मुनिराजों के पास जाकर गुरुओं का आशीर्वाद ग्रहण कर अपने को धन्य मानते थे। गुरुवर्ग के प्रति उनकी असीम आस्था थी। विगत ५ वर्षों से दशलक्षण पर्व में आचार्य श्री १०८ विमलसागरजी महा-राज के चरणों में जाकर दश-दश उपवास कर अपनी आत्मा को पवित्र किया करते थे।

श्री भा० दि० जैन महासभा तो उनके वियोग से निष्प्राणसी हो गई है। उन्होंने अपने अध्यक्ष

काल में समाजसेवा के अनेक ऐसे चिरस्मरणीय कार्य किये जिनका उल्लेख समाज के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में किया जावेगा।

श्री भा० दि० जैन महासभा के गत श्रवणबेलगोला अधिवेशन में झण्डारोहण के बाद महासभा की बागडोर मेरे हाथों सम्हलाते हुये उन्होंने अत्यन्त निष्ठापूर्वक समाज सेवा के लिये प्रेरित किया था। वे अनेक जैन व जैनेतर धार्मिक, सामाजिक व व्यवसायिक संस्थानों के संचालक, सभापति, उपसभापति व माननीय सदस्य थे। उनकी कार्यप्रणाली तथा कार्य सक्षमता स्पृहणीय थी।

उनकी अस्वस्थता के समाचार पाकर भी यातायात सम्बन्धी आकस्मिक असुविधाओं के कारण मैं यथासमय आकर उनके दर्शन न कर सका, जिसका हार्दिक खेद रहा है।

श्री बाकलीवालजी के वियोग से समाज की अपूरणीय क्षति हुई हे, जिसकी पूर्ति होना असम्भव है। मैं श्री १००८ भगवान महावीर स्वामी से दिवंगत आत्मा को सद्गति लाभ के लिये विनम्र प्रार्थना करता हूं।

कर्मठ समाज सेवक

"श्री भंवरलाल जी बाकलीवाल के देहावसान का समाचार जान कर दुःख हुआ। वह कर्मठ समाज सेवक थे और समाज उनका सदा कृतज्ञ रहेगा। उनके निधन से जो क्षति हुई है उसकी पूर्ति बहुत कठिन है।"

(साहू) शांतिप्रसाद जैन कलकत्ता

दारुण क्षति

श्री बाकलीवाल जी समाज के महान् पुरुषों में से थे और समाज की समस्त प्रवृत्तियों में अग्रणी थे। यह दारुण क्षति आप एवं आपके कुटुम्ब की ही नहीं अपितु सम्पूर्ण समाज की है। प्रभु से प्रार्थना है कि स्वर्गीय आत्मा को चिर शान्ति सुलभ हो।

(रा० ब० सेठ) हीरालाल काशलीवाल इन्दौर

समाज की महान् निधि

श्री भंवरीलाल जी के स्वर्गवास के समाचार जानकर बहुत दुःख हुआ। वह समाज की महान् निधि थे। उनके अभाव से समाज की बहुत हानि हुई है।

(ब्र०) रतनचन्द जैन मुख्तार अध्यक्ष भा० दि० जैन शास्त्री परिषद् सहारनपुर

राजस्थान सरकार

जयपुर

नवम्बर ६, १९६७

दुःख सहन की शक्ति प्राप्त हो

राजस्थान के मुख्य मंत्री श्री मोहनलाल सुखाड़िया ने श्री पी० के० बाकलीवाल को लिखा है

मुझे यह जान कर अत्यन्त खेद हुआ है कि आपके पिता श्री भंवरीलाल जी का स्वर्गवास होगया है। ईश्वर दिवंगत आत्मा को शान्ति प्रदान करे तथा आप सबको यह बज्रपात सहन करने की शक्ति दे।

मोहनलाल सुखाड़िया

चमकता हुआ रत्न लुप्त हो गया

श्रीमान् धर्मवत्सल सेठ भंवरीलालजी बाकलीवाल सुजानगढ़ वालों से कोई अपरिचित था ऐसी बात नहीं है अपितु सारी जैन समाज आपको भलीभांति जानती थी । आप परम धर्मात्मा, लोकप्रिय सज्जन थे, आपका धर्मश्रद्धान अडिग था, आपत्ति-काल में भी आप अपने धर्मश्रद्धान से च्युत नहीं हुए । कुछ वर्ष पहले पाप कर्मोदय से सम्पदा नष्ट होकर आप संकटग्रस्त हो गए थे फिर भी आप उस अत्यन्त विपत्ति दशा में भी पावन धर्म को नहीं भूले थे, यह आपकी धर्म के प्रति अटूट श्रद्धा थी । आप देव शास्त्र-गुरुओं की भक्ति में तल्लीन रहते थे । दिन भर में जो कमाते थे उसमें से बहु भाग धार्मिक कार्यों में खर्च कर देते थे । आप सदैव कहते रहते थे कि—"धर्माद्धनं ततः सुखं" अर्थात् परम पावन धर्म धारण करने से ही धन की प्राप्ति होती है, यह सूत्र उनके मुख पर रटा हुआ था. इस सूत्रानुसार ही वह चमकते रहे। फलस्वरूप कुछ ही दिनों में धर्मप्रसाद से पाप कर्म शमन हुआ और भाग्योदय हुआ। "भाग्यं जागृति का व्यथा' अर्थात् भाग्योदय होने पर संसार के प्राणियों को किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं होता है तदनुसार आप धर्मात्मा थे ही, क्रम से पैसे बढ़ जाने से आप अधिकाधिक धार्मिक कार्यों में लक्ष्मी का सदुपयोग करने लगे । आप धर्मानुष्ठान एवं विधानादि बहुत ही रुचि पूर्वक कराते थे । आपने ३-४ वर्ष पूर्व इम्फाल में (मणिपुर नागालेंड में) अपने मकान में ही पार्श्वनाथ स्वामी का सुन्दर चैत्यालय निर्माण कराकर प्रभावना पूर्वक उसकी वेदी प्रतिष्ठा मुझ से कराई थी । उनकी हृदय की भावना यही थी कि घर में चैत्यालय की स्थापना करने से छोटे छोटे सभी बच्चे बच्चियों की धर्म में रुचि बढ़ेगी । इसी हेतु आपने चैत्यालय की स्थापना की ।

आप यह भी कहा करते थे कि मन में जिस कार्य की इच्छा होवे, उसे तुरन्त कर डालो (पेंडिंग में मत रखो) जीवन का भरोसा नहीं है । किस समय शरीर से हँसा निकल जावेगा पता नहीं । हर समय सेठ सा० धार्मिक कार्यों में निष्प्रमादी थे, मन से उत्पन्न होने वाले कार्यों को फौरन ही कर डालते थे । दि० जैन गुरुओं के प्रति आपकी अटूट श्रद्धा थी, तदनुसार आप हर वर्ष चातुर्मास में मुनिराजों के पास आहार दान का लाभ लेने जाया करते थे । इस वर्ष महा केन्सर रोग से पीड़ित होने पर भी आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज के संघ में उदयपुर आये थे । यहाँ करीब १ महिना रहकर धर्म लाभ लिया, तदनन्तर आ० श्री विमलसागर जी महाराज के संघ में ईडर में १४ दिन रहकर आहार दान का लाभ लेकर बम्बई गये, वहाँ पूज्य मुनिराज श्री नेमीसागरजी महाराज के दर्शन कर प्लेन द्वारा सुजानगढ़ आये और ५-७ दिनों तक मिलने वालों से क्षमायाचना तथा कुटुम्बियों को सदुपदेश देकर महामन्त्रों का उच्चारण करते हुए धर्मपत्नी पुत्र पुत्रियों तथा पौत्रों को छोड़कर स्वर्गप्रयाण कर गये । आप अत्यन्त धर्मात्मा कर्मठ सज्जन थे । आपके आकस्मिक स्वर्गवास से जैन समाज में ऐसे महान् नर-रत्न की क्षति हो गई जिसकी पूर्ति होना असंभव है । महावीर भगवान से प्रार्थना है कि कुटुम्बीजनों को धैर्य लाभ होते हुए स्वर्गीय आत्मा को शांति व सद्गति लाभ हो ।

(संहितासूरि ब्र०) सूरजमल जैन

एक दुर्लभ पुण्यात्मा

श्री भंवरीलाल जी के महारोग की असाध्यता का समाचार सुनते ही मैंने सुजानगढ़ पहुंचकर उनसे मिलने का संकल्प किया था। पर मैं रवाना हो सका उससे पहले ही उनके स्वर्गवास के विषय में मेरे पास तार आ गया। मुझे बड़ा पश्चाताप हुआ कि मैं जल्दी से सुजानगढ़ क्यों नहीं पहुंच गया।

बनस्थली के काम से मेरा दो बार इम्फाल (मणिपुर) जाना हुआ। दोनों बार मुझे श्री भंवरीलालजी के घर के स्नेहपूर्ण तथा सुखद आतिथ्य का लाभ मिला। बाकलीवाल परिवार की प्रत्येक वस्तु पर मुझे श्री भंवरीलास जी की छाप देखने को मिली। श्री नथमलजी आदि भाइयों ने अपना हार्दिक सहयोग मुझे दिया। उन्होंने दोनों ही बार मेरी कोहिमा (नागालैंड) यात्रा की सुन्दर व्यवस्था की। बाकलीवाल परिवार ने बनस्थली के लिए दिल खोलकर आर्थिक सहायता दी जिसके उपलक्ष्य में श्री भंवरीलाल जी बाकलीवाल के शुभ नाम का एक लेख बनस्थली की पुरानी पवित्र कुटियों के बीच में लगाया गया है।

श्री भंवरीलाल जी जैसे सत्पुरुष बहुत कम होते हैं। अर्थोपार्जन तो बहुत लोग कर लेते हैं, पर अपने अर्जित अर्थ का सदुपयोग सत्कार्यों के लिए करने वाले बिरले और यश की इच्छा न रखने वाले सज्जन तो और भी कम होते हैं। ऐसे दुर्लभ पुण्यात्माओं में श्री भंवरीलाल जी का विशेष स्थान था। उनको मैं अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं और उनके परिवार की सुख समृद्धि के लिए शुभकामना प्रकट करता हूं।

हीरालाल शास्त्री बनस्थली
भूतपूर्व मुख्य मंत्री, राजस्थान सरकार

महान् आत्मा

श्री सेठ भंवरीलालजी बाकलीवाल के स्वर्गवास से हृदय को अत्यन्त दुःख हुआ। काल की गति विचित्र है। इसके चक्र से कोई भी नहीं बचने पाता। तथापि जन्म पाना उसी का सफल होता है जो अपने मानवीय गुणों से संसार में अपनी कीर्ति सौरभ और मधुर स्मृति छोड़ जाता है। सेठ साहब स्वयं एक महान् आत्मा थे। गुणवान और आदर्श व्यक्ति थे। उन्होंने धर्म और समाज की महान् सेवा की है। ऐसे धर्मनिष्ठ धर्मात्मा का वियोग किसी को भी सहन नहीं हो सकता है। आपने जैन समाज की अकथनीय सेवा की है। वे वास्तव में एक महान् रत्न थे।

(ब्र०) लाडमल जैन श्रीमहावीरजी

अनभ्र वज्रपात

सेठ भंवरीलालजी के स्वर्गवास के समाचारों से मुझे मर्मान्तिक वेदना हुई, उसे मैं किन शब्दों में लिखूं। उनका प्रसन्न मुख, गम्भीर चिन्तन और सामाजिक वार्तालाप मेरी स्मृति में अब भी साक्षात् की तरह विद्यमान है। उनके वियोग से सारी समाज पर अनभ्र वज्रपात हुआ है, जिसे भुलाया नहीं जा सकता।

(डा० पं०) लालबहादुर शास्त्री M. A. दिल्ली
संपादक 'जैन दर्शन'

एक कुशल नेता चला गया

श्री सेठ भंवरीलालजी के स्वर्गस्थ हो जाने से मुझे ऐसा लगता है कि समाज का एक महान् व्यक्तित्व चला गया है, आप में धार्मिक लगन, समाज के प्रति गाढ़ स्नेह, कर्तव्य निष्ठा, उत्तरदायित्व का ध्यान, गुणज्ञाता निरभिमानता, सरल परिणाम वृत्ति, वाणी माधुर्य आदि बहुत से गुण ऐसे थे कि विरोधी विचारधारा वाला व्यक्ति भी बरबस आपके प्रति झुक जाता था। आप वृद्ध होकर भी इतना श्रम करते थे कि युवक भी मात खा जायं।

मेरा आपसे साक्षात् परिचय श्री महावीरजी क्षेत्र पर समाज में सामंजस्य स्थापित करने की दृष्टि से किये गये एकता सम्मेलन में हुआ था। वास्तव में वह सम्मेलन ही आपकी सामाजिक संगठन की उत्कट भावना, कार्यक्षमता और उत्तरदायित्व की सम्हाल के बल पर हुआ था। आपका उस समय जो मार्मिक और प्रभावक भाषण हुआ था उससे यह ज्ञात होता था कि आप समाज के लिये कुशल नेता है।

इसमें सन्देह नहीं, कि इस तरह के व्यक्तित्व का उठ जाना समाज के लिये बहुत भारी आघात है।

वंशीधर व्याकरणाचार्य
अध्यक्ष विद्वत् परिषद बीना

संगठन की तीव्र भावना

वे परम धार्मिक वृत्ति के आस्तिक पुरुष थे। बड़े समाज सेवी और अपनी धुन के पक्के थे। उनकी सामाजिक संगठन की भावना और तीव्र लगन थी। महासभा के सभापतित्वकाल में भी उन्होंने बहुत ही लगन और उत्साह पूर्वक काम किया। अपनी अस्वस्थता की भी कोई परवाह नहीं करते थे। परम गुरुभक्त थे।

बदरीप्रसाद सरावगी पटना
उपसभापति भा० शांतिवीर दि० जैन सि० सं० सभा

परम मुनिभक्त तथा आगमभक्त

श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा के भूतपूर्व सभापति स्वनामधन्य श्रीमान् सेठ भंवरीलालजी सा० बाकलीवाल का असामयिक निधन दि० जैन समाज की अपूरणीय क्षति है। सेठ भंवरीलाल जी का व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावशाली तथा सौम्य था। वे विरोधी से भी सामञ्जस्य बैठाकर समाज हित के कार्यों को सदैव तत्परता से करने में दत्तचित्त रहते थे। श्री भा० दि० जैन महासभा के अध्यक्षकाल में आपने महासभा की आर्थिक समृद्धि करने के साथ ही अनेक समाज हित के कार्य किए। जैन गजट के पृष्ठों की वृद्धि में भी आपने तन-मन-धन से पूर्ण योग दिया।

सैद्धान्तिक विवाद को लेकर आपके ही सद्प्रयत्नों से श्री महावीर जी में विद्वानों तथा श्रीमानों का अभूतपूर्व एकता सम्मेलन आयोजित किया गया। समाज संगठन की भावना आप में भरी हुई थी।

आप परम मुनिभक्त तथा आगमभक्त थे। विगत ५ दशलक्षण पर्वों में आप प्रति वर्ष पूज्यपाद श्री १०८ आचार्य विमलसागर जी महाराज के पादमूल में दशलक्षण के दशदश उपवास करते थे।

आपकी समाज सेवा की भावना, संगठन की भावना, गुरुभक्ति तथा सच्चरित्र-निष्ठा स्पृहणीय गुण थे। ऐसे आदर्श महापुरुष के अवसान से दिगम्बर समाज में से एक नर-रत्न का अभाव हो गया है। हम श्री वीर प्रभू से प्रार्थना करते हैं कि दिवंगत आत्मा को सद्गति लाभ हो तथा उनके सुपुत्रों श्री नथमलजी, प्रसन्नकुमारजी, मन्नालालजी चैनरूपजी तथा परिवारीजनों को धैर्य धारण करने की शक्ति प्राप्त हो।

चौधरी सुमेरमल अजमेर महामंत्री महासभा

शांति लाभ की कामना

हमारा उनसे बहुत प्रेम-भाव था। उनके वियोग से जो क्षति सारे समाज की हुई है उसकी पूर्ति नहीं हो सकती। भगवान से प्रार्थना है कि स्व० आत्मा को शान्ति मिले।

(रा० ब० सेठ) हरखचन्द पांडया रांची

आदर्श श्रावकरत्न

स्व० सेठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल समाज के एक आदर्श श्रावकरत्न महापुरुष थे। सागार-धर्मामृत में पंडित प्रवर आशाधरजी ने 'न्यायोपात्तधनो' आदि के रूप में आदर्श श्रावक के जिन चौदह गुणों का उल्लेख किया है सेठ भंवरीलालजी में वे सभी गुण विद्यमान थे। वे केवल एक आदर्श श्रावकरत्न ही नहीं थे एक श्रेष्ठ मानवरत्न भी थे। उनका आदर्श जीवन दीप-स्तंभ की तरह एक प्रकाशमान अनुकरणीय जीवन है। समाज को उनके आदर्श जीवन से प्रेरणा प्राप्त करना चाहिए।

निरंजनलाल जैन
मंत्री भा० शांतिवीर दि० जैन सिद्धांत संरक्षिणी सभा बम्बई

कर्मठ कार्यकर्त्ता

श्री भंवरीलाल जी बाकलीवाल के स्वर्गवास से जो क्षति हुई है उसकी पूर्ति होना असम्भव है। वे समाज के एक कर्मठ कार्यकर्ता थे। समाज की निरन्तर चिन्ता रखने वाले ऐसे नेता होना मुश्किल है।

नेमीचंद बड़जात्या
प्रचार मंत्री भा० शांतिवीर दि० जैन सिद्धांत सं० सभा नागौर

सुख और शांति की कामना

सेठ भंवरीलालजी बहुत ही धर्मात्मा और परोपकारी जीव थे। उनका मेरे साथ अपूर्व प्रेम था। अब यही प्रार्थना है कि स्व० सेठजी की आत्माको सुख और शांति प्राप्त हो।

शामलाल ठेकेदार देहली
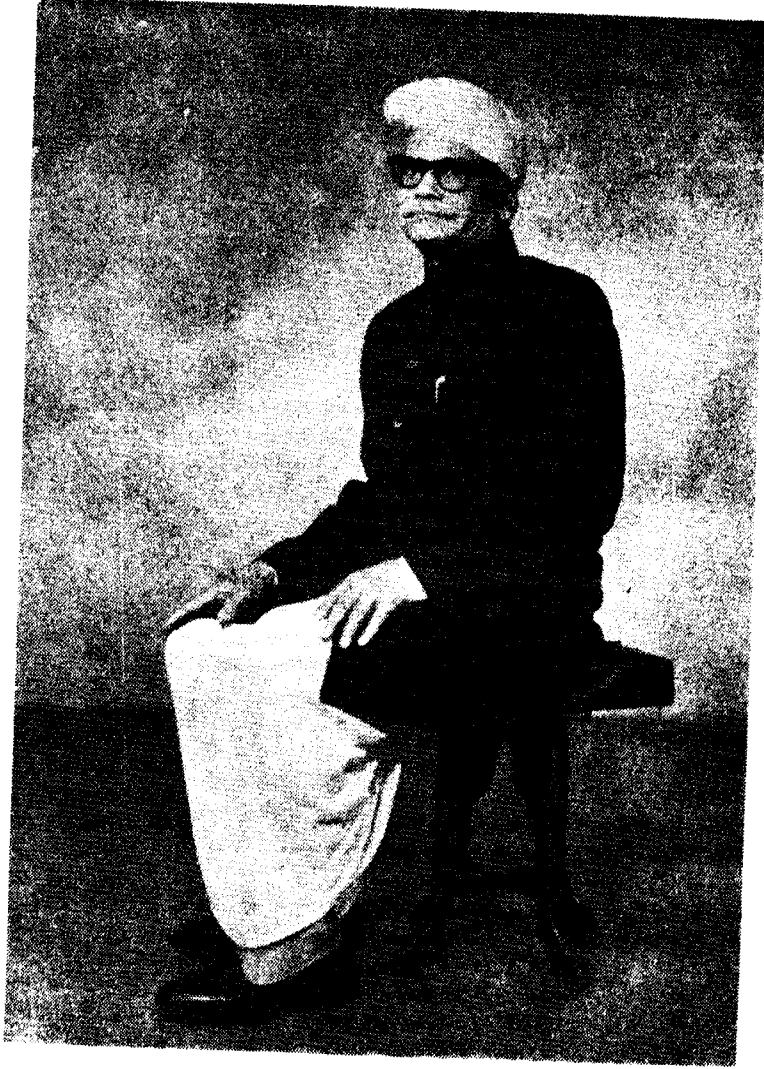
स्वनामधन्य सेठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल

भूतपूर्व कांग्रेस अध्यक्ष तथा वर्तमान लोक सभा अध्यक्ष
श्री संजीव रेड्डी का मनीपुर आगमन पर हार्दिक
स्वागत करते हुए श्री बाकलीवाल जी ।

★

मनीपुर में बाढ़ राहत कार्य के समय श्रीमान्
सेठ सा० अन्न वितरण करते हुए ।

जयपुर में पूज्य १०८ आचार्य देशभूषण जी महाराज की जयन्ती महोत्सव के समय अध्यक्षीय भाषण देते हुए सेठ भंवरीलाल जी साहब ।

गौहाटी पंचकल्याणक महोत्सव के अवसर पर सेठ भंवरीलाल जी साहब भावपूर्ण नृत्य करते हुए।

महासभा के ७२ वें अधिवेशन में निवर्तमान सभापति श्री बाकलीवाल जी झण्डे की डोर वर्तमान सभापति सेठ चांदमल जी पांड्या को देते हुए।

महा सभा के ७२ वें अधिवेशन, श्रवणबेलगोला का एक दृश्य।

धर्मज्ञ और कर्मठ पुरुष

पर्यूषण के बाद ईडर में श्री बाकलीवालजी के पवित्र दर्शन हुये थे। किन्तु उसके बाद अचानक स्वर्गवास के समाचारों से हृदय को बड़ा धक्का लगा और बड़ी भारी वेदना हुई। श्री बाकलीवालजी जैसे धर्मज्ञ और कर्मठ पुरुषका वियोग समाज के लिए दुःख की बात है। उन्होंने अपने जीवन में विश्राम लेना तो सीखा ही नहीं था। वे रात दिन संघर्षों से जूझने में लगे रहते थे। उनके पवित्र विचारों से हम लोगों को बड़ी प्रेरणा मिलती थी।

(विनोदरत्न व्या० पं०) छोटेलाल बरैया साहित्यभवन उज्जैन

असाधारण रिक्तता

भा० दि० जैन महासभा के भूतपूर्व सभापति सेठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल के स्वर्गवास के आकस्मिक समाचारों ने हमें स्तब्ध कर दिया। उनका स्वास्थ्य कुछ समय से ढीला चलता था, किन्तु ऐसी संभावना नहीं थी। महावीर जी सम्मेलन में उनके अन्तिम दर्शन हुए थे। मोतिया बिन्द के कारण उनकी दृष्टि मन्द हो गई थी, किन्तु धार्मिक उत्साह और सामाजिक लगन में कोई कमी नहीं आई थी। हमारा उनसे पुराना परिचय था। इधर कई वर्षों से उन्होंने सामाजिक और धार्मिक कार्यों में विशेष अभिरुचि दिखलाई थी। वह सामाजिक एकता के हामी थे। हमारे पास उनके पत्र बराबर आते थे, जो सामाजिक और धार्मिक चर्चाओं से पूर्ण होते थे। आसाम और मारवाड़ जाते थे तो अवश्य मिलते थे। बड़े स्नेही और मिलनसार थे। कुछ वर्षों से आ० विमलसागर जी के पास जाकर दशलक्षण व्रत के दश उपवास भी करते थे और बड़ी उमंग से उसका वर्णन करते थे। उनके स्वर्गवास से एक ऐसी रिक्तता आ गई है जिसका पूर्ण होना सम्भव नहीं है। हम उनके परिवार के प्रति अपनी संवेदना प्रकट करते हैं।

जगन्मोहनलाल शास्त्री कटनी
कैलाशचंद शास्त्री वाराणसी

गुण गरिमा के धनी

धर्मवीर समाज हितैषी सेठ भंवरीलालजी बाकलीवाल जैन समाज के नर-रत्न थे। गुण गरिमा के कारण ही आप भा० दि० जैन महासभा के अध्यक्ष चुने गए। आपके स्वर्गवास से जैन समाज की जो क्षति हुई है उसकी पूर्ति होना अति कठिन है। आप भा० अनाथाश्रम देहली के परम हितैषी थे।

सम्पादक जैन प्रचारक देहली

अनुकरणीय जीवन

श्री बाकलीवाल जी के निधन का समाचार सुनकर दुःख हुआ। उन्होने अपने जीवन के अन्तिम दिनों तक धर्म एवं समाज की तनमन धन से निस्वार्थ सेवा की थी। भारत के पूर्वी सीमा प्रदेश (इम्फाल) से लेकर देश के पश्चिमी राजस्थान और दक्षिण भारत तक अपने अस्वस्थ वृद्ध शरीर की परवाह न करके सामाजिक संस्थाओं के अधिवेशनों एवं धार्मिक प्रतिष्ठा विधानों में शामिल होना, उनको सफल बनाना, तीर्थों की देखभाल करना, परमपूज्य साधुओं के चरणों में रहकर उनकी वैयावृत्ति करना तथा धर्मलाभ लेना आदि समाज के सन्मुख उनके अनुकरणीय उदाहरण हैं।

उन्होंने दिगम्बर जैन समाज में चली आई विभिन्न मतधाराओं में ऐक्य स्थापन की भी पूर्ण कोशिष की थी। सभापति बनकर भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा को नवजीवन प्रदान किया। उन्हीं की महत्वाकांक्षा से गौहाटी में पंचकल्याणक बड़ी शान और सफलता से सम्पन्न हुआ था।

मेरी जब भी आप से भेंट होती थी उनकी एक ही प्रेरणा रहती थी कि "आप लोग धर्म एवं समाज के काम में आगे बढ़े, मेरी उम्र अधिक हो गई है, इस बोझ को सम्भालिये" इस प्रकार सामाजिक चिताओं से ओतप्रोत देखे गये। ये वाक्य याद आते ही उनकी धार्मिकता के प्रति मैं नत मस्तक हो जाता हूं। मेरा विश्वास है कि उनके सम्पर्क में आए हुये महानुभाव उनकी धार्मिक वृत्ति का अनुकरण अवश्य करेंगे। उन्होंने इस वृद्धावस्था में जिस तत्परता से अपना जीवन सामाजिक एवं धार्मिक सेवामें तन-मन धन से लगाया था उसके लिए जैन समाज उनको भुला नहीं सकती। बाकलीवाल जी आसाम प्रदेश की जैन समाज के ही नहीं इतर समाज के भी प्रमुख एवं अग्रगण्य व्यक्ति थे। उनके निधन से दिगम्बर जैन समाज को जो क्षति हुई है उसकी पूर्ति होना कठिन है। अन्त में मैं उस दिवंगत आत्मा को शांति-लाभ की वीतराग भगवान से प्रार्थना करता हूं।

नेमीचन्द पांड्या
मंत्री जैन पंचायत गोहाटी

गुणों के प्रकाशमान पुँज थे

श्रीमान् सेठ साहेब भंवरीलाल जी बाकलीवाल मनीपुर, समस्त गुणों के प्रकाशमान पुंज थे। उनके अवसान से जैन जगत का एक बृहस्पति सदा के लिए विलीन हो गया। मेरी, उस दिवंगत आत्मा के चरण कमलों में श्रद्धांजलि सर्मपित है।

भूमरलाल काशलीवाल
सहायक मंत्री, जैन समाज मनीपुर

विशिष्ट आकर्षण

सेठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल विशिष्ट व्यक्ति थे, श्रीमान् व धीमान् थे। सेठ बाकलीवाल से मेरा प्रथम व अन्तिम साक्षात्कार गोहाटी में हुआ था। राजस्थानी वेश-भूषा में एक नाटे कद के वयस्क व्यक्तित्व को मैंने अपने सामने खड़ा देखकर आकर्षण सा पाया था। वह मुझ से बोलने लगे और मैं सुनने लगा। उनका विषय पंच कल्याणक प्रतिष्ठाओं का था। तीर्थङ्कर भगवान के कल्याणकों में मेरी स्वाभाविक रुचि है ही। अतः मैं उनकी बात को ध्यान से सुन रहा था। उनका कहना था कि ऐसे महोत्सव बराबर होते रहने चाहिए। आज जब इस बात पर विचार करता हूं तो लगता है कि पंच-कल्याणक महोत्सव वह पुण्यायोजन होते हैं कि जिनके निमित्त से मिथ्यादृष्टि जीव तक सम्यक्त्वी बन जाते हैं। लेकिन इनका रूप शालीन विशुद्ध धार्मिक होना चाहिए। वे जब दि० जैन महासभा गोहाटी अधिवेशन में अपना मुद्रित भाषण पढ़ रहे थे, तो एक बात विशेष पाई गई कि वे जहां तहां आवश्यकता होती थी वहां अपने विचारों को अपनी ओजस्वी भाषा में और स्पष्ट करने की कोशिष करते थे। उन्हें प्राचीन हिन्दी कवियों के उद्धरण भी याद थे जिन्हें वे अपनी बात की पुष्टि में कहते जाते थे। आज वे पार्थिव शरीर में नहीं हैं किन्तु उनकी स्मृति ताजी है।

सम्पादक अहिंसावाणी अलीगंज

सतत धर्म साधना में रत

गत माह में अनेक धर्मप्रेमियों का असह्य वियोग हुआ है श्रीमान् सेठ भंवरीलालजी बाकलीवाल मनीपुर से जैन समाज परिचित है। आप महासभा के भूतपूर्व अध्यक्ष थे। शिखर जी पंचकल्याणक के सुअवसर पर वर्तमान के सामाजिक वातावरण पर मेरी सेठ साहब से खुलकर चर्चा हुई थी। आप अच्छे धर्म प्रेमी एवं सुप्रसिद्ध समाजसेवी सज्जन थे। आप हमेशा सत्संग में रहकर धर्मसाधना करते रहते थे। अभी कुछ दिन से केन्सर के भयानक रोग से पीड़ित थे। इसी बीमारी के कारण १६ अक्टूबर को धर्म श्रवण करते हुए स्वर्गस्थ हो गये। स्वर्गस्थ आत्मा को सद्गति की कामना के साथ और उनके परिवार के प्रति समवेदना प्रगट करता हूं।

—सम्पादक **सन्मति सन्देश**

दृढ़ धार्मिक पुरुष

वे दृढ़ धार्मिक पुरुष थे। उनसे धर्म तथा समाज की बहुत बड़ी हानि हुई है।

अजितवीर्य शास्त्री टेहू

ठोस धार्मिक लगन के सत्पुरुष थे

श्रीमान् सज्जनवर्य धार्मिक शिरोमणि श्रेष्ठि भंवरीलाल जी बाकलीवाल बड़े ठोस धार्मिक लगन के सत्पुरुष थे। उन्होंने थोड़े समय में ही धार्मिक उन्नति का अभ्युत्थान कर दिखाया। ऐसे पुरुष दस वर्ष भी और जीवित रहते तो धर्म, समाज, जाति के उत्तम संस्कारों की अत्यधिक वृद्धि हो जाती। जैन समाज चिरकाल तक कृतज्ञ रहता।

"किन्तु श्रेयांसि बहुविघ्नानि" महान् कार्यों में बहुत विघ्न आ जाते हैं। क्रूर काल ने असमय में सेठ भंवरीलाल जी को कवलित कर लिया। हम लोग साश्रुपात रुदन करते ही रह गए। "यमस्य करुणा नास्ति, कर्तव्यो धर्मसंचयः"। ऐसे परोपकारी विद्वद्प्रेमी, धर्मवत्सल-बन्धु के गुणों को कहां तक गिनाया जाय। मैं उनके सांजलि गुण स्मरण करता हुआ शीघ्र सद्गति प्राप्ति हो जाने की भावना करता हूं।

(सिद्धांतमहोदधि पं०) माणिकचन्द्र न्यायाचार्य फीरोजाबाद

मेरे प्रेरणाश्रोत

मुझ से सेठ साहब बहुत प्यार करते और मुझे अपना समझते थे। मुझे उनकी बहुत याद आ रही है और उनके आकस्मिक वियोग का बहुत दुःख हो रहा है। मगर कोई बस नहीं चलता है। मेरा दुर्भाग्य है कि आखिरी समय में मैं उनके दर्शन नहीं कर सका। वे मेरे प्रेरणा स्रोत थे। वीर प्रभु से प्रार्थना है कि सेठ साहब की आत्मा को शांति मिले।

सुनहरीलाल जैन

सभापति भा० शांतिवीर दि० जैन सिद्धांत संरक्षिणी सभा आगरा

संस्कृति का सच्चा सेवक

स्व० बाकलीवाल जी के समाज व संस्कृति के संरक्षण के कार्यों की चर्चा तो यहां सम्भव नहीं है। उनके वियोग से जहां हमको हार्दिक चोट लगी है वहां यह भी सत्य है कि समाज एवं संस्कृति का एक सच्चा सेवक उठ गया है, जिसकी पूर्ति निकट भविष्य में सम्भव नहीं दीख रही है।

राजेन्द्रकुमार जैन न्यायतीर्थ

मंत्री श्री दिगम्बर जैन संस्कृति सेवक समाज मथुरा

गुरु भक्ति का साकार रूप

वे कितने धर्मात्मा, सहृदय और मिलनसार थे कुछ लिखा नहीं जा सकता। गुरुभक्ति उनके सारे शरीर में साकार रूप धारण किए हुए थी। उनके गुणों की स्मृति जितनी भी की जावे थोड़ी है।

हरिश्चन्द्र टकसाली जयपुर

धर्मात्मा पुरुष था

सा० भंवरीलाल जी साहब एक धर्मात्मा पुरुष थे। उनकी आत्मा अवश्य सुरग में ही गई होसी। उणाका वियोग अचानक ही हो गयो जिणांको बहुत भारी दुःख छै।

नेमीचन्द मोहनलाल बाराबंकी

सेवाएं सदैव स्मरणीय

हम उनके गुणों का अनुकरण कर सकें ऐसी हमें शक्ति प्राप्त हो। धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में उनकी सेवायें सदैव स्मरणीय रगी।

फूलचन्द जैन जयपुर
जनरल सेक्रेटरी, राजस्थान प्रदेश कांग्रेस कमेटी

वो वीर आदमी हा

वो समाज का नेता हा तथा धर्मात्मा और वीर आदमी हा। दुःख सुख में दूजा के लिए उपकारी हा। उनकी आत्मा अजर अमर हो।

मांगीलाल पांड्या कलकत्ता

एक निपुण नेता खो दिया

वे समाज के एक मूक कर्मठ निःस्वार्थ सेवाभावी नेता थे। समाज ने उनके निधन से एक निपुण नेता खो दिया। यह समूचे समाज का दुर्भाग्य है।

हीराचन्द्र बोहरा बजबज

अग्रगण्य महापुरुष

स्वर्गीय बाकलीवाल जी की प्रतिभा स्मरणीय, उनके कार्य वन्दनीय एवं उनकी सेवाभावी अपूर्व वृत्ति अनुकरणीय थी। वे समाज के अग्रगण्य महापुरुष थे।

विमलकुमार जैन सोंरया मण्डावरा

धर्मवत्सल

श्री भंवरीलालजी बाकलीवाल धार्मिक और सामाजिक उन्नति की प्रबल भावना रखते थे। और वे उसे कर्तव्य में भी लाते थे। साधु समागम चातुर्मास में बराबर करते थे। महासभा के सभापति-पद को कई वर्ष तक संचालित किया है। उनको धर्मात्मा पुरुषों से बड़ा वात्सल्य रहता था। उनके वियोग से धर्म और समाज के एक महान उपकारी कार्यकर्त्ता की बहुत बड़ी कमी हुई है। वे अपना एक धार्मिक आदर्श छोड़ गये हैं जिनका अनुकरण सबको करना चाहिए।

(ब्र०) प्यारेलाल भगत

सुयोग्य मार्गदर्शक

मूडबिद्री क्षेत्र पर उनको अपार अभिमान था, प्रेम था। जब जब वे यहां पधारते थे, क्षेत्र की प्रगति के लिए योग्य मार्गदर्शन करते थे। हमें बड़ा ही दुःख है कि ऐसे एक सुयोग्य मार्गदर्शक को खो बैठे हैं। स्वर्गीय आत्मा की पुण्य स्मृति में हमारी प्रेमपूर्ण श्रद्धांजलि अर्पित है।

बी० धर्मपालशेट्टी मेनेजिंग ट्रस्टी जैन तीर्थक्षेत्र मूड़बिद्री

समाज अनाथ हो गया

आदरणीय धर्मवीर सेठ भंवरलाल जी के स्वर्गस्थ हो जाने से समाज अनाथ हो गया है।

राजधरलाल जैन शास्त्री सुरई

तीर्थों के प्रति अकथनीय प्रेम

उनकी इस वृद्धावस्था में भी कर्मठता और साहस अनुकरणीय था। तीर्थ क्षेत्रों के प्रति उनका अकथनीय प्रेम था। महासभा के सभापति के रूप में उनके कार्य सर्व-विदित हैं।

नेमकुमार जैन मैनेजर बिहार स्टेट दि० जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी राजगिर

इस पर्याय का चिरस्नेही चल बसा

मेरी इस पर्याय का चिरस्नेही मुझसे सदा के लिए चल बसा। बड़ा दुःख हुआ। लालगढ़ में रहते समय उनका मुझ पर अत्यधिक स्नेह रहता था। जीवन के अन्तिम दौर में उन्होंने अच्छी सामाजिक उन्नति की थी।

पं० भैयालाल जैन 'सहोदर' मौ

युवक हृदय

वे बड़े साहसी, दया व ममता वाले थे। उनकी धार्मिक वृत्ति सराहनीय थी। उनके मन की दृढता को देखते हुए वे युवक हृदय थे। उनकी याद सदैव बनी रहेगी।

श्रीचन्द मेहता जयपुर

महान पुण्यवान आत्मा

वो तो महान् पुण्यवान आत्मा थी। देश की विभूति थी। उनकी हमारे ऊपर परम श्रद्धा और विश्वास था।

पं० सिद्धनाथ शास्त्री ज्योतिषी झोंकर (उज्जैन)

सेवा परायण

आप तो बड़े धर्मात्मा, दानी और सेवा परायण थे। स्वर्गीय आत्मा को शान्ति और मोक्ष की प्राप्ति हो यह हमारी भावना है।

पं० नागराज शास्त्री मूडबिद्री

उदार दानी थे

श्री बाकलीवालजी बड़े धर्मात्मा और उदारदानी थे। उनके जैसे धर्मात्मा के निधन से समाज एवं संस्थाएं अनाथ होगई हैं।

पं० देवकुमार शास्त्री मंत्री श्री वीरवाणी भवन मूडबिद्री

महान् व्यक्तित्व के धनी

माननीय धर्मवीर सेठ भंवरीलाल बाकलीवाल के दुःखद वियोग से अतीव दुःख हुआ। वे सच्चे समाज सेवक धर्मात्मा थे। आपने समाज को एकता के सूत्र में बांधने के लिए जो अविस्मरणीय प्रयत्न किया वह सदैव स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा। आपके वियोग से समाज की अपूरणीय क्षति हुई है।

मदनलाल पाटनी सुजानगढ़

धर्मात्मा पुरुष

सेठजी बड़े धर्मात्मा पुरुष थे। उन्हें हर समय धर्म और समाज की सेवा का ध्यान रहता था।

(रायसाहब) उल्फतराय जैन देहली

गुरुभक्त और स्पष्ट वक्ता

समाजसेवी, व्यापार कुशल, धर्मपरायण, कर्तव्यनिष्ठ, गुरुभक्त, कर्मठ, अजातशत्रु तथा भा० दि० जैन महासभा के भूतपूर्व अध्यक्ष श्रीमान् सेठ भंवरीलालजी बाकलीवाल के निधन से जैन समाज शोकातुर होगई। आप जैसे दृढ़ निश्चयी, सरल परिणामी, समाज के प्रमुख कार्यकर्त्ता के वियोग से समाज को मर्मान्तिक वेदना हुई है। आप बड़े ही गुरुभक्त व स्पष्टवक्ता थे। आप जैसे समाज सेवी के हाथों दिगम्बर जैन समाज के हितपूर्ण सुरक्षित थे।

दिगम्बर जैन समाज व श्री चन्द्रसागर दि० जैन सम्मेलन सुजानगढ

प्रतिभा सम्पन्न कार्यकर्त्ता

आदरणीय श्री भंवरीलालजी बाकलीवाल निःसन्देह हमारे समाज के एक सजग एवं प्रतिभा-सम्पन्न कार्यकर्त्ता, मिलनसार एवं अपने कर्तव्य पथ पर अटल रहने वाले थे। १९६६ की इम्फाल बाढ विभीषिका में आपने मानवता की जो सेवा की है, अविस्मरणीय है।

सांवलराम खेमका विसागर
अध्यक्ष असम प्रादेशिक मारवाडी सम्मेलन गोहाटी असम

वे उच्चकोटि के मानव थे

सम्पूर्ण जैन समाज उनके वियोग से व्यथित है। उनकी निःस्वार्थ, सरल एवं त्यागपूर्ण सेवा सभी के लिए अनुकरणीय है। वे एक उच्चकोटि के मानव थे, यह उनके अंत दिनों की स्मृति से स्पष्ट है। अन्त में तीर्थ व मुनियों के दर्शन करते हुए घर पहुंचे एवं सब परिवार के बीच हाथ जोड़ते हुए समाधि-पूर्वक संसार से विदा होगये। यह निर्मल आत्मा का प्रकाशपूर्ण प्रतिबिम्ब है।

सागरमल सबलावत इम्फाल

परमस्नेही

श्री बाकलीवालजी तो इस पर्याय से पृथक होगये हैं किन्तु उनकी धार्मिकता एवं सौम्य आकृति सदैव समक्ष घूमती रहेगी। मेरा उनसे ५ वर्ष से परिचय था। वे मुझसे सदैव हार्दिक स्नेह रखते थे।

मिश्रीलाल सौगानी हाथरस

चारित्रशील आदर्श नर-रत्न

व्यक्तिगत रूप से सेठ भंवरीलालजी के आकस्मिक बियोग से मेरे हृदय को भारी आघात पहुंचा है। उनका मुझ पर बहुत स्नेह था। मैं उसको कभी भूल नहीं सकता। उदयपुर में गत पर्यूषण में लगभग बीस रोज तक उनका जो वात्सल्यपूर्ण समागम रहा और उन्होंने मेरे प्रति जो आत्मनिष्ठा प्रकट की उसे कभी भुलाया नहीं जा सकता। नि:सन्देह उनके वियोग से समाज की अपार क्षति हुई है। जैन धर्म की प्रभावना और समाज की एकता के लिए उनके किये गये प्रयत्न चिरस्मरणीय रहेंगे। वे अपनी बीमारी की भी उतनी चिन्ता नहीं करते थे जितनी समाज और धर्म की उन्नति की करते थे। उनका व्यक्तित्व महान था। वे एक चारित्रशील आदर्श नर रत्न थे। दि० जैन साधुओं के परम भक्त थे।

तेजपाल काला साहित्यभूषण नांदगांव
सहसंपादक, जैनदर्शन एवं सं० मंत्री भा० दि० जैन सिद्धांत सं० सभा

महान् दानशील व्यक्ति

श्री सेठ भंवरीलालजी बाकलीवाल मनीपुर व असम के कर्मठ, कार्यकुशल, दानशील एवं आत्मबल के सहारे विचारे हुए कार्य को पूर्ण करने वाले महानुभाव थे। कुछ दिनों से आपने व्यापार से भी सन्यास ले लिया था। सन् १६६६ में भयंकर बाढ़ रूपी दैवीप्रकोप से मनीपुर के इतिहास में जो संकटकालीन स्थिति उत्पन्न हुई और नुकसान हुआ उस समय बाढ़ पीड़ितों की सहायता के लिये ५०००) रुपया प्रदान किया। आपके ही सत्प्रयत्न से मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी का केम्प खोला गया। इसका आप ही संचालन करते, केम्पों में जाकर देखभाल के साथ हम लोगों को प्रेरित करते थे। एक दिन रात्रि में ११।। बजे टेलीफोन पर सलाह हेतु बुलवाया। यह देखकर मुझे चकित होना पड़ा कि आपमें कार्य करने की कितनी तीव्र लगन है। इससे मुझे भी प्रेरणा मिली।

हमारे विद्यालय को आर्थिक सहायता के साथ सलाह भी दिया करते थे। एक बार आपने बिना मांगे आर्थिक व्यवस्था के सुदृढ़ हेतु ५०००) रुपया प्रदान किया। कुछ दिनों से अस्वस्थ रहने पर भी अपना समय धार्मिक तथा सामाजिक कार्यों में व्यतीत करते थे। भा० दि० जैन महासभा के सभापतिपद से समाज की चिरस्मरणीय सेवा की है। श्री जिनेन्द्रदेव से प्रार्थना है कि स्वर्गीय आत्मा को शांतिलाभ प्रदान हो।

सोहनलाल पाटनी मंत्री विद्यालय इम्फाल

सराहनीय जनसेवा

श्री भंवरीलालजी बाकलीवाल के स्वर्गवास से दुःख हुआ। ऐसे धार्मिक मानवसेवी व्यक्ति की समाज में पूर्ति होनी कठिन है। मेरा इनका सम्बन्ध तब से रहा है जब वे फर्म सालगराम चुन्नीलाल के पार्टनर थे। अनेकों कार्यों में इनके साथ रहने का, विचार विनिमय करने का मौका मिला। खास तौर से जब मनीपुर में प्रलयंकारी बाढ का दृश्य बना था, उसमें जिस लगन से इन्होंने जनसेवा की वह सदा सराहनीय रहेगी। ऐसे व्यक्ति को अपने बीच से खोकर मैं काफी दुःख का अनुभव कर रहा हूं।

परमात्मा दिवंगत आत्मा को चिरशान्ति प्रदान करे एवं शोक सन्तप्त परिवार को धैर्य धारण करने की शक्ति प्रदान करे।

गनपतराय थानुका

मनीपुर को गौरव-प्रदाता

श्रीमान् साह भंवरीलालजी बाकलीवाल मेरे परम शुभचिन्तक एवं अभिन्न साथी थे। उनके साथ अनेक वर्ष रहने का सौभाग्य मैंने पाया है। वह सौम्य-मूर्ति हमारे बीच नहीं रही ऐसी कल्पना मात्र से हृदय कांपता है। श्री बाकलीवालजी एक महान पुन्यशाली पुरुष थे। उनका व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावशाली था। जो भी व्यक्ति उनके सम्पर्क में आया होगा वह उनको सहज ही नहीं भूल सकेगा।

श्रीमान् भंवरीलालजी बाकलीवाल को मनीपुर के प्रत्येक वर्ग में बड़े आदर के साथ देखा जाता था। उनकी मधुरवाणी, अनुपम स्फूर्ति तथा उच्च विचार आदि विशेष गुण प्रत्येक व्यक्ति को प्रभावित किये हुये हैं। ऐसे सत्पुरुष के चिर वियोग से समस्त मनीपुर समाज दुःखी है। मेरा तो बहुत बड़ा शुभचिन्तक ही इस असार संसार से चला गया जिसकी पूर्ति होनी कठिन है।

श्रीमान् भंवरीलालजी सा० का हृदय विशाल था। असहनीय वेदनामय रोग होते हुये भी आपकी समाज सेवा, धार्मिक वृत्ति अटूट थी। कष्ट से कतई विचलित न हुये। उनका आत्मबल बहुत ऊंचा था। हमारा यह महान गौरव है कि हमारे यहां का लोकप्रिय पुरुष सारे जैन समाज में ऐसा प्रभाव पूर्ण आदर्श छोड़ गया है जो सदैव प्रेरणा प्रदान करता रहेगा। मैं उस महान पुरुष की आत्मा के चरणों में अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं।

किस्तूरचन्द पाटनी

धर्म की साक्षात् मूर्ति

श्री बाकलीवालजी धर्म की साक्षात् मूर्ति थे। वे बहुत सज्जन व वात्सल्य गुणधारी पुरुष थे। उनकी क्षति की पूर्ति होना असम्भव है।

पं० भगवतस्वरूप जैन फरिहा

विशाल ख्याति के धनी

वे एक ऐसे महान् व्यक्ति थे जिनने न केवल दिगम्बर समाज में अपितु देश में भी विशाल ख्याति प्राप्त की थी। उनके जीवन की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि जो भी उनके पास जाता वह कुछ प्राप्त करके ही आता था। उनका प्रेम और त्याग हम कभी भुला नहीं सकते।

गणेशीलाल बागड़ी

शांतिलाभ की कामना

श्री भंवरीलालजी बाकलीवाल के स्वर्गवास का समाचार जानकर बड़ा दुःख हुआ। प्रभु से प्रार्थना है कि दिवंगत आत्मा को शान्ति प्रदान करे।

(पद्म भूषण) अक्षयकुमार जैन संपादक नवभारत टाइम्स दिल्ली

अविस्मरणीय प्रयास

उनके द्वारा पिछले ५–७ वर्षों में इस असंगठित जैन समाज को संगठित करने का जो अविस्मरणीय प्रयास किया गया वह जैन समाज के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जायेगा।

बाबूलाल पाटनी कलकत्ता

एकता प्रेमी

विक्रम सं० १९९२ में सुजानगढ़ में स्व० श्री १०८ मुनि चन्द्रसागरजी महाराज के चातुर्मास के समय श्री भंवरीलालजी बाकलीवाल से परिचय हुवा था। उनके आदर्श एवं व्यक्तित्व की मुझ पर गहरी छाप पड़ी थी। वे देवशास्त्र गुरु के परमभक्त, परोपकारी, एकता प्रेमी सज्जन थे। भा० दि० जैन महासभा की रक्षा और उन्नति के साथ धर्म व समाज की जो अनुकरणीय सेवा की वह स्वर्णाक्षरों में अंकित करने योग्य है।

सुजानमल सोनी
अध्यक्ष दि० जैन भ्रातृमंडल अजमेर

दिल और दिमाग की बेजोड़ शक्ति

श्री भंवरीलाल जी की स्मृति कभी नहीं भुलाई जा सकती। उनके जैसा नैतिक बल बहुत कम लोगों में देखने में आया है। समाज के उत्थान की चिन्ता उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम क्षणों तक की। उनके 'दिल और दिमाग' दोनों की शक्ति बेजोड़ थी।

पन्नालाल जैन लालगढ़

अमर कीर्ति के धनी

श्रीमान् सेठ साहब ने समाज और व्यक्तियों की जो सेवा और उपकार किया है वह अवर्णनीय है। उन्होंने धर्म के साथ साथ देश और समाज में अमर कीर्ति प्राप्त की है।

उन जैसे परमोत्साही, धर्मात्मा, समाजसेवी, समदर्शी, परोपकारी, महात्मा, सद्गृहस्थ अब नहीं मिलेंगे। देश के सामने उपस्थित सभी प्रकार की समस्याओं का भी अपने दृष्टिकोण से बड़ा ही युक्ति संगत व उचित समाधान निर्भीकता पूर्वक प्रदर्शित करते थे। वे समाज को सही दिशा दिखाने लायक नेतृत्व गुण भी अपने आप में संचित रखते थे। उनकी शास्त्रनिष्ठा और गुरुभक्ति अपूर्व थी।

राजवैद्य रामदयाल शर्मा जयपुर

कर्मठ पुरुष

इस समय उन जैसे कर्मठ आदमी की समाज को बहुत आवश्यकता थी।

इन्द्रचंद्र पाटनी धुवड़ी

सर्व-प्रिय नेता

जैनरत्न, उत्साह सम्पन्न, समाज भूषण सेठ साहब समाज के एक जगमगाते तपे हुए परम शुभचिन्तक सर्व प्रिय नेता थे। सारे भारतवर्ष में जैन समाज के अन्दर उनकी कीर्ति जगमगा रही थी। धर्म, संस्कृति और समाज संरक्षण के लिए कटिबद्ध रहते थे। सेठ साहब की आत्मा में धर्म के प्रति अगाधनिष्ठा थी।

चंदमौलि शास्त्री दिल्ली

संगठन के महान प्रेरक

परम पूज्य १०८ आचार्य श्री शिवसागर जी महाराज, सकल संघ और यहां की समस्त समाज में श्री सेठ भंवरीलाल जी के स्वर्गवास के समाचार से सन्नाटा छा गया। वे वास्तविक धर्मानुरागी समाज सेवी महापुरुष थे। समाज संगठन के खास तौर से प्रेरक महान् विभूति थे। ऐसे समय में उनकी खास आवश्यकता थी।

मोतीलाल मींडा जौहरी उदयपुर

उनका गुलाबी चेहरा आंखों के सामने

वे चन्द रोज पहले यहां ब्यावर पधारे थे। अतः इस कल्पना से कि वे अब हमारे बीच नहीं रहे मुझे बहुत धक्का लगा। लेकिन उनका गुलाबी चेहरा आंखों के सामने है। उनकी धार्मिक भावना की दाद देनी पड़ेगी कि अस्वस्थ होने के बावजूद भी वे इतनी दूर का सफर तय कर पूज्य मुनिराज के दर्शन करने गये।

सौभाग्यमल जैन ब्यावर

पुरुषोत्तम व्यक्ति

सेठ भंवरीलालजी के वियोग के दु:खद समाचारों से हृदय को बहुत ही आघात लगा। वास्तव में जन्म उन्हीं का सार्थक माना जाता है जो अपने वंश, धर्म और देश को समुन्नत बनाने में सदैव प्रयत्न-शील रहता है। श्री बाकलीवालजी ऐसे ही पुरुष रत्नों में से थे कि जिनने अपनी कीर्ति से न केवल वंश को समुज्ज्वल बनाया किन्तु अपने धर्म, समाज और देश की समुन्नति में भी जीवन का प्रत्येक क्षण सार्थक किया। इसीलिए उन्होंने जन जन के मन में अपना आदरपूर्ण स्थान बना लिया था।

प्राय: यह देखा जाता है कि जहां वैभव और संपत्ति होती है वहां मनुष्य संयम और सदाचार से विमुख रहता है। श्री बाकलीवालजी इसके लिए अपवाद स्वरूप थे। उनके जीवन में वैभव और सदाचार का सजीव सम्मिश्रण था। वे धन की अपेक्षा धर्म और संयम को अपने जीवन में विशेष तर-जीह देते थे। इसीलिए वे एक पुरुषोत्तम कर्मठ बन गए।

डूंगरमल सबलावत कलकत्ता

आदर्श और कीर्तिमान जीवन

श्री बाकलीवालजी का जीवन एक आदर्श और कीर्तिमान जीवन था। उन्होंने अपने सत्कार्यों से समाज और देश में गौरव और सम्मान पूर्ण स्थान बना लिया। वास्तव में उनका जीवन धन्य है।

रामदेव कानपुर

समस्त जैन समाज के परिवार के सदस्य थे

श्री भंवरीलाल जी बाकलीवाल केवल बाकलीवाल परिवार के ही सदस्य नहीं थे अपितु समस्त जैन समाज के परिवार के सदस्य थे। उनके स्वर्गवास से समाज का एक कर्मठ सेवा भावी नररत्न उठ गया है।

गुलाबचन्द गंगवाल रेनवाल

मनुष्य जन्म सफल बनाया

दो बरस पहले ही सेठ साहब का आगमन मेरे घर पर हुआ था। उस समय से मेरा उनसे घनिष्ठ सम्बन्ध हुआ था। सेठ साहब ने समाधिमरण साधकर अपना मनुष्य जन्म सफल बनाया है। उन्होंने जिस तरह से समाज पर उपकार किया है वह आदर्श और चिर स्मरणीय है।

माणिकचन्द वीरचन्द गांधी फलटन

समाज का नररत्न चला गया

आज जैन समाज का नररत्न चला गया। वे महान् धर्मात्मा थे धर्म कार्यों को हमेशा कराते रहते थे। समाज में ऐसे नर रत्न की पूर्ति होना मुश्किल है।

वैद्य रामप्रसाद जैन शास्त्री आगरा

कर्मठ और समाज सेवी जीवन

उनके साथ मेरा बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। उन्होंने मुझे सदा पुत्रवत् माना एवं स्नेह दिया। इतनी जल्दी एक कर्मठ और समाज सेवी जीवन का अंत हो जायगा ऐसी स्वप्न में भी आशा नहीं थी।

छगनलाल जैन M. A. गोहाटी

प्रभावशाली व्यक्तित्त्व के सत्पुरुष

श्री माननीय सेठ भंवरीलाल जी के वियोग से दि० जैन समाज पर एक अनभ्र वज्रपात सा आघात हुआ है। समस्त दि० जैन समाज को एकता के सूत्र में लाने के प्रयत्न में उनका नाम अग्रणी रहेगा। वे समाज के अग्रणी नेता, कुशल व्यवसायी, महान उद्योगपति, स्पष्ट वक्ता, वीर सेनानी, शांति के अग्रदूत, देवशास्त्रगुरु भक्त, धर्मात्मा, उदारदानी, चरित्रशील एवं प्रभावशाली व्यक्तित्व के सत्पुरुष थे। उनका वियोग सब को खटकता रहेगा।

वर्धमानकुमार काला B. Com. नांदगांव

विनम्रता की मूर्ति

श्री भंवरीलाल जी साहब में पर्याप्त वैभव प्राप्त होकर भी बड़ी भारी विनम्रता थी। वे मनुष्य के साथ छोटा बड़ा न मानकर मनुष्यता के नाते समान रूप से ही लौकिक व्यवहार करते थे। यही वजह थी कि वे छोटे से छोटे व्यक्ति को प्रथम हाथ उठाकर अभिवादन करने से न चूकते थे। वे कहते थे कि अपना काम खुद करो।

उनकी धार्मिक निष्ठा, नीतिमत्ता सदाचार रूप प्रवृत्ति, समान व्यवहार, दानशीलता, संयम पूर्ण जीवन सभी अनुकरणीय थे। उनमें वे सभी गुण थे जो एक सफल मानव में चाहिए।

डॉ० अनूपचन्द जैन प्रो० राजस्थान होमियो फार्मेसी इम्फाल

शिक्षा प्रेमी उदार सज्जन

श्री बाकलीवाल जी आसाम समाज के एक धर्मात्मा एवं शिक्षा प्रेमी उदार सज्जन थे। आप जैन बाल आश्रम दिल्ली के परम हितैषी थे तथा संस्था को अपनी उदार सहायता से सदा अनुगहीत करते रहते थे। सोसाइटी और उसके शाखा विभाग श्री समन्तभद्र संस्कृत महाविद्यालय, जैन हायर सेकेण्डरी स्कूल, जैन बाल-आश्रम दरियागंज, दिल्ली ने अपनी सम्मिलित सभा में शोक प्रस्ताव पास करते हुए श्री जिनेन्द्रदेव से दिवंगत आत्मा की शांति-लाभ तथा उनके वियोग से संतप्त बन्धुओं को दुःख सहन करने की सामर्थ्यलाभ के लिए प्रार्थना की है।

—प्रेमचन्द जैन प्रचार मन्त्री भा० जैन बाल आश्रम देहली

उनकी धर्मभावना से मैं बड़ा प्रभावित हुआ

आपकी सरलता, समाज सेवा एवं धर्म भावना से मैं बड़ा प्रभावित हुआ था। ऐसे नररत्न के वियोग से समाज की बड़ी हानि हुई है।

—शिवमुखराय जैन शास्त्री
मैनेजर श्री मगनमल हीरालाल पाटणी दि० जैन पारमार्थिक ट्रस्ट मारोठ

एक मूर्धन्य मित्र चला गया

स्वर्गीय सेठ साहब मेरे परम श्रेष्ठ गुरुभाई थे। वे और मैं परम तपस्वी आचार्य विमल-सागर जी महाराज के ४-५ चातुर्मास योग में साथ-साथ रहे। उन जैसी अन्तरंग गुरुभक्ति मैंने अन्यत्र बहुत कम देखी। उनमें दिखावट नाममात्र को भी नहीं थी। सामाजिक विषयों एवं विवादों में भी उनका दृष्टिकोण बहुत उदार और निरपेक्ष रहता था। उन्हें महासभा की उन्नति की हार्दिक लगन थी। मेरे सर्वाधिक धार्मिक विश्वस्त मित्रों में से एक मूर्धन्य मित्र चला गया।

श्यामसुन्दरलाल शास्त्री फीरोजाबाद

समाज में मुखिया व्यक्ति

वो बहोत ही मिलनसार, कर्मठ और समाज में मुखिया व्यक्ति हा।

मोहनलाल पाटणी कलकत्ता

भारतवर्ष के प्रमुख

श्री बाकलीवाल जी All India famous figure हा। उनकी जगह का अभाव तो आने वाली पीढ़ियों तक खलसी।

उनके दिल में दि० जैन समाज और तीर्थ क्षेत्रों की उन्नति की तमन्ना ही तथा जिका भी कार्य उना से होना हा सब अपूर्ण रह गया। उन कार्यों व सिद्धान्तों को पूर्ण करने की प्रतिज्ञा करना ही उनके प्रति सम्मानजनक श्रद्धांजलि अर्पित होगी।

दिल्ली में तो जुलूस के समय ही वायुयान से आये, उसी समय जुलूस में शामिल होकर वृद्धावस्था होते हुए भी पैदल ही चलते रहे। मेरे मिलने पर हम लोग सुजानगढ़ से सिर्फ ५२ व्यक्ति आये तो इस बात का ओलमा दिया तथा बोले कि क्यों नहीं सब बच्चे बूढ़े व जवान आदमी आ गये।

ऐसा था उनका धर्म प्रेम और उत्साह।

—बाबूलाल पाटणी राजगिर

जैन समाज का रत्न खो गया

हमारे बीच में से जैन समाज का रत्न खो गया। हम सब हाथ मलते रह गये।

चित्राबाई ईडर श्री १०८ आचार्य विमल सागर संघ

हमारे परिवार की रोशनी

वो हमारे परिवार की रोशनी थे। उनका आत्म बल, कार्य करने की शक्ति, सूझ बूझ, धर्म और समाज के प्रति निष्ठा आदि हम सबके लिए प्रेरणा स्रोत रहे हैं।

भागचन्द जैन फर्म नेमचंद माणिकचन्द एण्ड कं० शिवसागर

स्मृति बनी रहेगी

श्रीमान् सेठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल के निधन के समाचार पढ़कर अति दुःख हुआ। मेरा सम्पर्क सेठ साहब से सन् १९६७ में आचार्य विमलसागर जी के संघ के दर्शनार्थ पधारने पर सौलापुर में हुआ था। मैं खुद को धन्य समझता हूं कि मुझे सेठ साहब से मिलने का अवसर मिला। आज वे इस नश्वर दुनियां में नहीं है तो भी उनकी सदैव स्मृति बनी रहेगी।

चांदमल मुनोत सोलापुर

वे सभी के और सभी उनके थे

श्री भंवरीलालजी बाकलीवाल ऋषभनगर (मरसलगंज) पंच कल्याणक महोत्सव में विशेष रूप से मैं उनके सम्पर्क में आया। बाल प्रभात के सम्पादक के नाते वे सदैव मुझे नई प्रेरणा देते रहे। मुझ पर उनका विशेष स्नेह था जिस समय सम्मेदशिखर सम्बन्धी बैठक के लिए पटना आये थे तो घर पर भी पधारे और अनेक लोगों के आग्रह के बावजूद मुझे कई घन्टों का समय दिया। उनकी यह महती आकांक्षा थी कि बाल प्रभात बन्द न हो। बाल प्रभात को उन्होंने सहायता दी पर नामोल्लेख करने से मना कर दिया। उनके पत्र कभी कभी ४-५ पन्नों के आते थे जो समाज और राष्ट्र हित के प्रति उनके जागरूक मन की पीड़ा को व्यक्त करते थे। वे यही चाहते थे कि समाज सत्पथ पर दृढ़ रहे और एकता खंडित न हो। उस महापुरूष के निधन से समाज की अपूरणीय क्षति हुई है। उनकी स्मृति मात्र से मन भर आता हैं। वे सभी के थे और सभी उनके थे।

प्रकाश जैन, संपादक बालप्रभात, पटना

हमारे मार्गदर्शक

स्वर्गीय पूज्य श्री भंवरीलाल जी साहब बाकलीवाल हमारे पूज्य पिताजी श्री माननीय पं. इन्द्रलाल जी शास्त्री के अत्यन्त घनिष्ठ मित्र थे। उनका हमारे साथ पिता पुत्रवत् पारिवारिक सम्बन्ध हो गया था। वे हम पर बहुत भारी स्नेह रखते थे। वे जब भी जयपुर आते तब प्रायः हमारे कुटीर पर ही ठहरते थे और अपनी सत्शिक्षाओं और सदुपदेश से हमें मार्गदर्शन कराते थे।

उनका व्यक्तित्व असाधारण था जीवन आदर्श था, चारित्र उज्ज्वल था एवं प्रतिभा तेजस्वी थी। वे धार्मिक विचारों के दानी सत्पुरुष थे। बड़े दयार्द्र हृदय थे।

उनके गुणों का कहां तक बखान करें ? उनके वियोग से हमारे पूज्य पिताजी का एक सन्मित्र खो गया और हमारा पितृतुल्य स्नेह। उनका प्रेम और आशीर्वाद तो हमें जन्म भर याद आता रहेगा।

कैलाशचंद, सुबोधचंद, ताराचंद, जम्बूकुमार जयपुर

सद्गति-लाभ की कामना

धर्मवीर सेठ भंवरीलालजी बाकलीवाल के स्वर्गवास से सोलापुर की जैन समाज के अन्दर दुःख की छाया फैल गई। वे जैन समाज के एक प्रभावशाली नेता थे। उनकी आत्मा को उच्च गति प्राप्त होवे ऐसी प्रार्थना है।

चन्द्रनाथ विठ्ठप्पा बनकुर्वे अध्यक्ष

समन्वयवादी पर दृढ़ आस्था के धनी

उम्र में वृद्ध परन्तु कार्य क्षेत्र में युवक, अदम्य उत्साह लगन एवं दृढ़ निष्ठा के साथ सामाजिक कार्यों में भाग लेकर जो नेतृत्व अल्पकाल में श्रीमान् स्व० भंवरीलालजी बाकलीवाल ने प्राप्त किया वह दि० जैन समाज के अन्य किसी भी महानुभाव ने प्राप्त नहीं किया। उनके अन्तस् में समाज के प्रति टीस थी, वे अर्थ लोभ में आकर भ्रष्ट लोगों की कार्य पद्धति से चिंतित रहते थे फिर भी उनका सभी के साथ सामाजिक पत्राचार बराबर रहता था। उनके अन्तरंग में देव, शास्त्र एवं गुरुओं के प्रति अगाध भक्ति थी। भक्ति विभोर हो वे स्वयं नाचने लग जाते थे, भक्ति का पावन प्रसाद ही था कि वे अखिल भा० दि० महासभा के अध्यक्ष बने, उसकी आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ कर गये तथा अपने योग्य उत्तराधिकारी को भार सौंप कर आप विमुक्त हो गये।

श्री बाकलीवालजी का हम युवकों पर विशेष स्नेह था। जब भी कलकत्ता पधारते सूचना देकर सामाजिक विषयों पर विचार विमर्श के लिये अवश्य बुलाते और घण्टों तक चर्चाएं करते रहते थे। युवकों को वे सदा आशा-भरी दृष्टि से देखते थे।

समाज में यों ही कार्यकर्ताओं का अभाव खटक रहा है और फिर ऐसी स्थिति में जबकि समाज आंतरिक एवं बाह्य आक्रमणों से जर्जरित हो रहा है श्री भंवरीलालजी बाकलीवाल जैसे कर्मठ, निस्पृही नेता का वियोग शोक प्रद होना स्वाभाविक है।

उनके प्रत्येक पत्र में सर्व प्रथम णमो अरहंताणं लिखा रहता था यह मंगलकारी अपराजित महामंत्र उनकी स्वर्गस्थ आत्मा को मंगलमय बनावे इस श्रद्धा के सुमन को अर्पण कर मैं अपनी श्रद्धांजलि समर्पित करता हूं।

कल्याणचंद जैन
मंत्री दि० जैन सम्मेलन कलकत्ता

सम्मेलन के विशेष अनुरागी

श्री सेठ भंवरीलालजी बाकलीवाल के निधन से सम्मेलन की कार्य समिति के सदस्यों को काफी शोक हुआ। श्री बाकलीवालजी अपूर्व लगन दृढ़ निष्ठा एवं देवशास्त्र गुरु के प्रति अगाध आस्था के कारण काफी प्रिय बन चुके थे। व्यक्तिगत तौर पर सम्मेलन के सदस्यों से उनका विशेष अनुराग था-- जब भी कलकत्ता आते तो सामाजिक विषयों पर चर्चा हेतु अवश्य सानिध्य प्रदान करते। आज वे नहीं हैं, इसका हमें अत्यन्त शोक है। कार्य समिति की बैठक में शोक एवं समवेदना का प्रस्ताव पारित किया गया।

कल्याणचन्द मन्त्री सम्मेलन

वे कुलदीपक थे

सहोदर ज्येष्ठ भ्राता पूज्य श्री भंवरीलालजी बाकलीवाल हमारे कुल के प्रकाश स्तम्भ अथवा दीपक स्वरूप थे। उनके आचार विचार चर्या सभी आदर्श और उपदेशात्मक एवं अनुकरणीय होते थे। अपने कुटुम्ब परिवार के लिए हित कार्य सभी करते हैं परन्तु वे सदैव जन हित में ही अपनी भावना और प्रवृत्ति रखते थे। उन्होंने धार्मिक सामाजिक एवं जनहित कार्यों में योगदान कर हमारे कुल को दीप्तिमान् किया है। हमारे ऊपर का छत्र चला गया, इसका भारी आघात है। उनके चरणों में हमारी विनम्र श्रद्धांजलि।

नेमीचन्द इन्द्रचंद बाकलीवाल

व्रत नियम जीवन-यापन के विशेष अंग

श्री भंवरीलालजी बाकलीवाल के असह्य निधन पर श्री सेठ हरखचन्दजी पांड्या के सभापतित्व में शोकसभा हुई जिसमें निम्न प्रस्ताव पारित किया गया।

"श्री बाकलीवालजी जीवन के अन्तिम दिनों तक अस्वस्थ दशा में भी सामाजिक एवं धार्मिक सेवा में लगे ही रहे। तीर्थ भक्ति, साधु सेवा, महासभा की उन्नति तथा व्रत नियम तो उनके जीवन यापन के विशेष अंग थे। तन-मन-धन से इनके विकास में संलग्न रहते थे।

दिगम्बर जैन समाज खासकर आसाम प्रदेश की जैन समाज के इस अनोखे नेता के हृदय विदारक निधन पर गोहाटी सर्व दिगम्बर जैन समाज उनके गुणानुराग में अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करती हुई वीतराग भगवान से प्रार्थना करती है कि दिवंगत आत्मा को शांति लाभ हो।"

नेमीचंद पांड्या मंत्री, गोहाटी पंचायत

शोक एवं समवेदना

श्री सेठ भंवरीलालजी के निधन पर कानपुर दि० जैन समाज में शोक की लहर छागई। और एक सभा श्री गुलजारीमल दि० जैन धर्मशाला में हुई। जिसमें प्रो० प्रकाशचन्दजी, सरजूप्रसादजी, पं० सुन्दरलालजी तथा सन्तकुमारजी आदि द्वारा सेठजी के जीवन कार्यों पर प्रकाश डाला गया और शोक एवं समवेदना का प्रस्ताव पारित किया गया।

धूपचन्द जैन मन्त्री

एकता सम्मेलन के आयोजक

अजमेर जैन समाज की सभा में ता० १८-१०-६७ को माननीय सरसेठ भागचन्दजी सोनी की अध्यक्षता में निम्न शोक प्रस्ताव पारित हुआ—

"श्री भारतवर्षीय दि० जैन महासभा के स्तम्भ एवं समाज के कुशल एवं कर्मठ कार्यकर्त्ता धर्म-रत्न सेठ भंवरीलालजी बाकलीवाल का सुजानगढ में दिनांक १६-१०-६७ को लम्बी बीमारी के बाद देहावसान होगया। आप समाज में दूरदर्शी एवं सफल नेता थे। समाज में धार्मिक प्रसंग के विचार भेद के कारण जो वातावरण अशांत बनता जारहा था, उसके द्वारा सामाजिक संगठन को क्षति न पहुंचने पावे, इसके लिये श्री महावीरजी में एकता सम्मेलन का आयोजन करा के अपनी सूझबूझ का वास्तविक परिचय दिया। आप में वयोवृद्ध होते हुए भी युवक जैसा उत्साह एवं लगन सदा बनी हुई थी। सामाजिक संघठन के लिये आप सदैव चिन्तित थे। धार्मिकता आप में कूट कूट कर भरी हुई थी। समाजसेवा की लगन आप में सदा से बनी हुई थी। महासभा के भरसलगंज व गौहाटी अधिवेशन की अध्यक्षता करके आपने समाज के प्रति सच्ची लगन एवं निष्ठा का परिचय दिया। आपके निधन से समाज का एक नेता उठ गया और यह अभाव सदा खटकता रहेगा।

अजमेर जैन समाज की यह सार्वजनिक सभा माननीय बाकलीवाल सा० के निधन पर दुःख प्रकट करती है तथा वीर प्रभु से प्रार्थना करती है कि दिवंगत आत्मा को सद्गति लाभ हो एवं उनके संतप्त परिवार को इस असह्य दुःख को सहन करने की शक्ति प्राप्त हो।"

साधर्मी प्रेम की अनूठी धारा के वाहक

सेठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल समाज और धर्म की सेवा अपना कर्तव्य समझते थे। पंचपरमेष्ठी, धर्मायतनों और धार्मिक शिक्षण संस्थाओं के प्रेमी थे। उन्होंने समाज में रत्नत्रय की वृद्धि के लिए सतत प्रयत्न किया। भा० दि० जैन महासभा के प्रधान एवं कुशल व्यापारी होते हुए वे चंचला लक्ष्मी का उपयोग करना जानते थे। श्री १०८ आचार्य शिवसागर जी महाराज तथा देश-भूषण जी महाराज के संघ में अपना कारोबार छोड़कर चातुर्मास का समय व्यतीत करते और आहार दान देकर पुण्य लाभ लेते थे।

तीर्थ यात्रा के अवसर पर सामाजिक वात्सल्य, परस्पर सौहार्द और साधर्मी प्रेम की अनूठी धारा उनके अन्तःकरण से प्रवाहित होती थी। श्री जिनेन्द्रदेव से प्रार्थना है कि स्वर्गीय आत्मा को शांति लाभ और कुटुम्बियों को धैर्य धारण करने की शक्ति प्राप्त हो।

महताब सिंह जैन बी० ए० एल० एल० बी० ज्वैलर्स
प्रधान मन्त्री : जैन मित्र मण्डल दिल्ली।

बाकलीवालजी के साथ तीन दिन

श्री १०८ आचार्य शिवसागर जी महाराज का पपौरा जी में चातुर्मास था। उसी समय आचार्य महाराज के दर्शन के लिए स्वनाम-धन्य सेठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल पपौरा आये हुए थे। अकस्मात् मेरा भी उसी समय पपौरा जाना हुआ। तीन चार दिन तक माननीय बाकलीवाल जी के साथ रहा। चर्चा में समाज सुधार तथा विद्वानों के एकीकरण की बात ही बार बार आपके मुख से निकलती थी। जैन संस्कृति से आप अत्यधिक प्रीति रखते थे। और चाहते थे कि त्यागी जन तथा विद्वानों की संगति से हमारी संतान में भी वही संस्कृति समवतीर्ण हो। पपौरा से मुझे अहार जी जाना था। आपने प्रातः काल ५ बजे अपनी कार हमारे रूम के सामने खड़ी कर दी और साथ में अपने पुत्र को यह कहते हुए भेजा कि विद्वानों की संगति से यह कुछ सीखेगा। १० बजे दिन के हम दर्शन कर अहार से वापिस पपौरा आ गए। उसी दिन आपके चौका में आचार्य महाराज के आहार हो गये मैं भी इस पुण्य योग में सम्मिलित हो गया, आपकी प्रसन्नता का पार नहीं रहा। पपौरा तथा बुन्देलखण्ड के अन्य-अन्य तीर्थ क्षेत्रों के दर्शन कर आप सागर पधारे। मैंने सागर के खास-खास मन्दिरों के दर्शन स्वयं जाकर कराये। श्री गणेश दि० जैन विद्यालय सागर की कार्य प्रणाली तथा व्यवस्था देखकर आप बहुत प्रसन्न हुए। गद्‌गद स्वर से कहने लगे कि पूज्य वर्णी जी महाराज ने इस प्रान्त में कितना काम किया है। जहां जाता हूं वहीं इनकी कीर्ति बिखरी हुई मिलती है।

ऐसे धर्मात्मा के चिर वियोग से समाज की अपूरणीय क्षति हुई है। भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् उनके प्रति विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करती हुई उनके शोक संतप्त परिवार के प्रति संवेदना प्रदर्शित करती है।

पन्नालाल साहित्याचार्य
मन्त्री भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद्

सेवाभावी सत्पुरुष

श्री भंवरीलाल जी के १६ अक्टूबर १९६७ को स्वर्गवास हो जाने के समाचार ज्ञात कर हार्दिक दुःख हुआ। ऐसे धर्मनिष्ठ सेवाभावी सत्पुरुष के सम्पर्क में आने का मुझे भी सौभाग्य प्राप्त हुआ था। मनीपुर बाढ़ सेवा कार्य में आपने जिस उत्साह और लगन से मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी का आह्‌वान कर सहयोग दिया वह अभूतपूर्व था। देश में ऐसे निःस्वार्थ सेवा भावी सज्जन बहुत कम देखने को मिलते हैं। परिवार के लोगों के साथ हार्दिक समवेदना प्रकट करता हुआ स्वर्गीय आत्मा को सद्‌गति लाभ चाहता हूं।

के० पी० मोदी B. Com, B. L. कलकत्ता

कुशल भगवान को ज्यादा प्यारे होते हैं

श्री भंवरीलाल जी के स्वर्गवास के समाचार ज्ञात कर अधिक दुःख हुआ। मैंने जैन मेले के अवसर पर उन्हें देखा था और मालूम हुआ था कि वे अपने लिये ही जीने वालों में नहीं हैं। ऐसे व्यक्ति भगवान को ज्यादा प्यारे होते हैं। स्वर्गीय आत्मा को शांतिलाभ और पारिवारिक जनों के प्रति समवेदना प्रगट करता हूं।

बनवारीलाल हंसारिया गोहाटी
मंत्री आसाम राजस्थानी युवक संघ

अनुकरणीय गुरुभक्ति

सेठ साहब के निधन से समाज की जो क्षति हुई है उसकी पूर्ति होना असम्भव है। आपकी समाज सेवा गुरु-भक्ति एवं दानशीलता अनुकरणीय है।

नेमीचन्द चित्तौड़ा, उदयपुर

समाज के स्तम्भ

सेठ भंवरीलाल जी समाज के स्तम्भ कहे जाते हैं। जिन पर समाज को गौरव होता है। उनका जीवन अत्यन्त धार्मिक तथा धार्मिक भावनाओं से ओतप्रोत था।

कैलाशचन्द जैन
राजा टायज कं० दिल्ली

समाज के कर्णधार

श्री बाकलीवाल जी समाज के एक कर्णधार, साहित्यिक, धार्मिक सत्पुरुष थे। उनके अभाव में समाज का सच्चा मार्ग दर्शक चला गया है।

गजराज गंगवाल कलकत्ता

साहसी और मिलनसार

उनकी हिम्मत, साहस और मिलनसार की महिमा कहां तक लिखें? उनका प्रेम आंखों के सामने घूम रहा है।

किशनलाल काला कलकत्ता

उनकी बेजोड़ सेवायें

श्री भंवरीलालाल जी बाकलीवाल ने दिगम्बर जैन समाज की जो सेवायें की हैं वे बेजोड़ हैं। उनके जैसा सेवा भावी धार्मिक सत्शील प्रवृत्ति का पुरुष होना कठिन है।

पं० रामचन्द्र जैन

अनुकरणीय उत्साह

श्री सेठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल से मेरा बहुत वर्षों से सम्पर्क रहा है। आप जब भी आसाम में आते व जाते तो कलकत्ता में मेरे से मिलकर सामाजिक विषयों पर बराबर विचार विमर्श करते रहते थे। आपकी भावना सदैव धार्मिक रहती थी। समाज में संघठन होकर समाज एक सूत्र में बंधी रहे इसके लिए उनका बराबर चिन्तन व प्रयास शुद्ध भावना से रहता था। उनका उत्साह अनुकरणीय है।

नथमल सेठी कलकत्ता

महान् सत्पुरुष

वे महान् सत्पुरुष और समाज सेवी धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे।

चौधरी उमेदमल जोधपुर

समाज के सच्चे सेवक

सेठ साहब बहुत धर्मात्मा और धर्म तथा समाज के सच्चे सेवक महापुरुष थे। उनकी क्षति पूर्ति होना बहुत ही कठिन है।

मानमल काशलीवाल इन्दौर

जिसका अन्तिम सुधरा उसका सब सुधरा

श्री भंवरीलाल जी बाकलीवाल के धर्म, प्रेम एवं मानवीय गुणों को देख उनके प्रति अवश्य ही सद्भावना जागृत होती है। वास्तव में जिस किसी मानव ने जीवन को परोपकार तथा धर्म साधना में लगाया उसी का जीवन सार्थक हुआ। श्री बाकलीवाल जी ने अन्तिम क्षणों में भी अपना जीवन धर्म-निष्ठा में व्यतीत किया यह बहुत प्रशंसनीय बात है। जिसका अन्तिम सुधरा उसका सब सुधरा।

अगरचन्द नाहटा सिद्धांताचार्य बीकानेर

समन्वय की भावना से ओतप्रोत

सुजानगढ निवासी श्री सेठ भंवरीलालजी बाकलीवाल का गत १६–१०–६७को-कॅसर रोग के कारण देहावसान होगया। श्री बाकलीवालजी जब भी जयपुर आते थे प्राय: मुझ से अवश्य मिलते थे। समन्वय की भावना उनके मानस में कूट-कूट कर भरी थी। वे जब भी मिलते थे जैन समाज की एकता के लिए बहुत जोर देते थे। समाज की उन्नति की बातें सुनकर उनको बहुत प्रसन्नता होती थी। विश्व-विद्यालयों में जैन ग्रन्थ रखवाने आदि के बारे में वे क्रियात्मक प्रयत्नों की चर्चा करते रहते थे, उनमें काम करने की लगन थी। दिवंगत आत्मा को शान्ति लाभ की कामना करते हुए हम इस असह्य वियोग में उनके कुटुम्बियों से सहानुभूति प्रकट करना अपना कर्तव्य समझते हैं।

चैनसुखदास न्यायतीर्थ

दानवीर लोहपुरुष

श्रीमान सेठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल परम धार्मिक, कर्तव्य परायण, समाज-सेवी, कुशल वक्ता, लोकप्रिय दानवीर, लोह पुरुष थे। आप हमेशा, सामाजिक व धार्मिक कार्यों में पूर्ण सहयोग देते थे। अभिमान आपको कभी छू भी न पाया था। इन वर्षों में प्रति वर्ष कहीं न कहीं पर्यूषण पर्व में मुनि संघ में जाकर आप दस दस उपवास कर धर्म साधन करते थे।

आप भारतवर्षीय दि० जैन महासभा के सभापति थे। आपने अपने सभापतित्व काल में महासभा को आर्थिक संकट से विमुक्त करके महासभा को एक नया मोड़ दिया।

मनीपुर दि० जैन समाज आपके निधन पर शोक प्रकट करती है कि दिवंगत आत्मा को सद्‌गति प्राप्त हो एवं उनके परिवार को इस असह्य दु:खको सहन करने की शक्ति प्राप्त हो।

तनसुखराय सेठी

धर्म के प्रति अटूटश्रद्धा

आपका जीवन समाज की सेवा में व्यतीत हुआ। आपमें धर्म के प्रति बड़ी श्रद्धा थी। समाज के हर कार्यों में आगे रहते थे। आपके निधन से दिगम्बर जैन समाज को बड़ी क्षति पहुंची है। मैं अपनी एवं परिषद् के समस्त परिवार की ओर से उनको श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं।

भगतराम जैन
मंत्री भा० दि० जैन परिषद्

समाज के गण्य मान्य व्यक्ति

भाई भंवरीलाल जी कर्मठ, लगन के पक्के और धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। हमारे परिवार के सभी लोगों के साथ बहुत स्नेह था। वे समाज के गण्यमान्य व्यक्ति थे। अपनी बनिष्पद वे धर्म और समाज की अधिक चिन्ता करते थे। आज के इस जमाने में उनके जैसे व्यक्ति की बहुत आवश्यकता थी।

धर्मचन्द सरावगी
एम० एल० सी० कलकत्ता

निःस्वार्थी शुभचिन्तक व्यक्ति

सेठ साहब भा० दि० जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी के माननीय सदस्य और समाज के एक कर्मठ एवं उत्साही कार्यकर्त्ता थे। कमेटी के सभी कामों में आपका सहयोग और सुलझा हुआ मार्ग दर्शन मिलता था। आपके निधन से समाज ने अपना एक निःस्वार्थी शुभ चिन्तक सेवक खो दिया।

चंदूलाल कस्तूरचंद बम्बई
महामंत्री भा० दि० जैन-तीर्थ क्षेत्र कमेटी

लोकप्रिय व्यक्ति

गत १६ अक्टूबर को अपने सुजानगढ़ निवास स्थान पर असम के प्रमुख समाजसेवी श्री भंवरी-लाल जी बाकलीवाल का ६६ वर्ष की उम्र में स्वर्गवास हो गया। आप बड़े ही धार्मिक प्रवृत्ति के मिलन-सार, कर्मठ व्यक्ति थे। अपने जीवन के अन्तिम दिनों तक अस्वस्थ वृद्ध शरीर की परवाह किए बिना आप धार्मिक एवं सामाजिक कार्यों के निमित्त देश के विभिन्न भागों का दौरा करते रहे। भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा के सभापति पद से अभी हाल ही में आप निवृत्त हुए थे। पूर्व भारतीय पेट्रोलियम डीलर्स एसोशिएसन के भी आप सभापति थे। पहले जोरहाट तथा काफी अर्से से मनीपुर इम्फाल में आपका कारोबार रहा। एक भरे-पूरे, सुखी एवं समृद्ध परिवार को छोड़कर आप गये हैं। आपके चार लड़के हैं, जिनमें श्री नथमलजी बाकलीवाल सर्वज्येष्ठ है। असम के मारवाड़ी समाज में ही नहीं, दूसरे समाज के लोगों में भी स्व० श्री भंवरीलालजी बाकलीवाल बड़े लोकप्रिय थे। 'पूर्वज्योति' पत्रिका से उन्हें खास प्रेम था। वे जब तब इसकी सहायता के लिये तत्पर रहते एवं उन्नति के लिये सलाह-सुझाव देते रहते। हम पूर्वज्योति परिवार की ओर से इस महान् कर्मठ धार्मिक समाज नेता को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं तथा दिवंगत आत्मा के शांतिलाभ एवं शोकसंतप्त परिवार को धैर्य-प्राप्त होने की भगवान से प्रार्थना करते हैं।

सम्पादक पूर्वज्योति

भक्ति, नृत्य के रूप में

श्री बाकलीवालजी बहुत विनोद प्रिय थे उन्हें छोटे बच्चों से तो बहुत ही ज्यादा प्रेम था। हर एक बच्चे को वे अपने ही बच्चे के समान लाड़ प्यार करते थे व सांस्कृतिक कार्यों में भी बहुत रुचि रखते थे। एक समय की बात है कि उनके यहां वर्मा ओयल कम्पनी के मैनेजर W. G. Broun साहब मनीपुर आये थे तब उन्हें दिखाने के लिए मनीपुर के चुने हुए कलाकारों द्वारा मनीपुर नृत्य का कार्यक्रम रखा गया उसमें "थाबल चौंगवा" (जो यहां का प्रसिद्ध नृत्य है) नृत्य हो रहा था तो उनमें भी नृत्य करने के भाव जागृत हुए और उसी टाइम पर कुर्सी से उठकर स्टेज पर जाकर उन कलाकारों के साथ नृत्य करने लगे।

वैसे ही एक दफे गौहाटी के पंच कल्याणक प्रतिष्ठा के अवसर पर भगवान के जन्म कल्याणक के समय इन्द्र को नृत्य करता हुआ देखकर खुद ही चंवर लेकर भगवान के सामने नृत्य करने लगे, वह नृत्य तो उनका बहुत ही भावपूर्ण था उनकी इस प्रकार की भक्ति को देखकर सारी जनता में एक नया उत्साह व हर्ष की लहर दौड़ गई थी।

जयचन्द जैन मनीपुर

उनका अभाव सदा खलता रहेगा

श्री बाकलीवाल जी वैसे तो अपने अच्छे व्यवहार के कारण सब लोगों में ही लोकप्रिय थे लेकिन मैंने उनका अपने प्रति अनुराग कुछ विशिष्ट रूप से अनुभव किया है। आज वे नहीं रहे, उनका अभाव मनमें सदा खलता रहेगा।

मुतीन शर्मा डिब्रूगढ़

जीवन खुली पोथी

श्रद्धेय श्री भंवरीलाल जी बाकलीवाल के निधन से वस्तुतः दिगम्बर जैन समाज ने एक अच्छा व्यक्तित्व खो दिया है। वे स्वयं एक धर्म-निष्ठ व्यक्ति तो थे ही, लेकिन साथ ही साथ वे सबके लिए एक प्रेरणा स्रोत भी थे। मैं भी पिछले कुछ समय से उनके परिचय में था और अभी अभी भगवान बाहुबलिजी के मस्तकाभिषेक के अवसर पर श्रवणबेलगोला में उनके पुनः साक्षात्कार का सुयोग भी मुझे मिला था। उनका जीवन समाज के लिए एक खुली पोथी के रूप में था।

इन्दरचन्द गंगवाल बेंगलोर

मार्गदर्शन के प्रेरक

श्री सेठ भंवरीलाल जी के स्वर्गवास से दुःख हुआ। स्वर्गीय आत्मा ने अपने जीवन में जो पुण्य कार्य किये हैं, वह सदैव सब लोगों को प्रेरणा देते रहेंगे और समाज का मार्ग दर्शन करेंगे।

रमेश कौशिक नई दिल्ली

अभिन्न सन्मित्र

श्री सेठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल का ६९ वर्ष की अवस्था में स्वर्गवास हो गया। हमारा उनका ३५-४० वर्ष से घनिष्ठ संबंध था। वे उत्साही, कर्मठ, धर्मात्मा, समाज सेवी पुरुष थे और समाज के संघठित करने एवं उन्नतशील बनाने की भावना रखते थे। वृद्धावस्था में भी उनमें नवयुवकों जैसा उत्साह था। भा० दि० जैन महासभा के अध्यक्ष के नाते समाज को संघठित करने, विभिन्न विचार के विद्वानों को भी एक सूत्र में लाने एवं पारस्परिक विवाद को खत्म करने के लिये उन्होंने भरसक प्रयत्न किया। वे चाहते थे कि विद्वानों की शक्ति आपसी छींटाकसी में खर्च न होकर धर्म-प्रचार में लगे तो समाज की बहुत उन्नति हो सकती है। जैनधर्म पर आक्षेप करने वाली जैनिदंडनम् पुस्तक को जब्त कराने के लिए आपने कंधे से कंधा मिलाकर हमें पूरा सहयोग दिया। पुस्तक जब्ती के सिल-सिले में आप देहली भी पधारे थे।

श्री सम्मेदशिखरजी के संबंध में ३ मई १९६५ को जो देहली में १ लाख आदमियों का जलूस निकला उसमें हमारे पत्र व तारों को सम्मान देते हुये अस्वस्थ होने पर भी अत्यंत आवश्यक समझ हवाई जहाज की टिकट न मिलने पर भी किसी सरकारी आफीसर की रिजर्वसीट को दूसरे दिन की कराकर आप कलकत्ता होकर वायुयान से दिल्ली पधारे और जलूस में सम्मिलित हुये। धर्म रक्षा की कितनी तीव्र भावना थी यह इस बात से भलीभांति पता चलता है। जनता की अपार भीड़ होने पर भी अपनी अस्वस्थता के बावजूद सबके साथ पैदल चलना ही उचित समझा। आप निरभिमानी थे। आपके निधन से धर्म-समाज एवं देश की महान क्षति हुई है जिसकी पूर्ति होना असंभव है।

परसादीलाल पाटनी देहली भूतपूर्व महामंत्री भा० दि० जैन महासभा

मानवता के प्रतीक महामानव

सेठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल के निधन से समस्त जैन समाज अपने को दुःखी अनुभव करती है। श्री बाकलीवाल जी मानवता के प्रतीक महामानव थे। उनकी बहुमुखी प्रतिभा स्मरणीय, धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र में किए गए कार्य बन्दनीय एवं सेवा भावी उदारवृत्ति अनुकरणीय है। उस स्वर्गस्थ महान् आत्मा के प्रति अपनी श्रद्धांजलि समर्पण कर भगवान से सद्गति लाभ की प्रार्थना है।

विमलकुमार जैन, मन्त्री बन्धाजी

—शांतिवीरनगर (श्री महावीर जी) में सेठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल इम्फाल सुजानगढ़ के स्वर्गारोहण के उपलक्ष्य में शोक सभा हुई, जिसमें श्री पं० अजितकुमार जी शास्त्री, पं० हुकमचन्द जी शास्त्री आदि के व्याख्यान हुए। वक्ताओं ने दिवंगत सेठ जी की सामाजिक सेवाओं का विवरण देते हुए उन्हें श्रद्धांजलि अर्पण की।

रत्नेन्द्रकुमार शास्त्री

पिता का अनुकरण कर यशस्वी बनें

श्री भंवरीलाल जी बाकलीवाल सुजानगढ़ वालों के १६ अक्टूबर को निधन होने से बड़ी हार्दिक वेदना छा गई, आप बहुत ही धर्मपरायण गुरुभक्ति से ओतप्रोत पात्रदानादि में बहुत तत्पर रहा करते थे वृद्धावस्था में आत्म शक्ति इतनी सबल हो गई थी कि वर्षत्रय से प्रति पर्यूषण में श्री १०८ आ० विमल-सागर जी महाराज के संघ में पहुंच कर शारीरिक मोह छोड़कर संयम त्याग की ओर आकृष्ट होकर दश दश उपवास करके आत्म बल का परिचय देते थे। आप सचमुच धर्मवृत्ति के महान् उदीयमान समाज सेवक थे। महासभा को विपुलद्रव्य राशि भी संचित करवा देने में आपका प्रधान हाथ रहा। आप मूक दानी भी थे। ऐसे नररत्न के वियोग से समाज को महान् क्षति पहुंची है, जिसकी पूर्ति होना निकट भविष्य में बड़ा दुस्तर लग रहा है।

अन्त में प्रभु से प्रार्थना है कि स्वर्गीय आत्मा को शांति व सद्गति एवं परिवार को धैर्यधारण की सामर्थ्य प्राप्त हो। एवं आपके सभी पुत्र भी पितृ परम्परा निभाते हुए समाज व धर्म सेवी बनकर यशस्वी सिद्ध हों।

दिगम्बर जैन समाज लाडनूं

धर्म रक्षा में तत्पर

श्री सेठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल भूतपूर्व अध्यक्ष श्री दिगम्बर जैन महासभा मनीपुर आसाम सुजानगढ़ निवासी सच्चारित्र व्रती एवं धर्म पर आघात आने पर तन-मन-धन लगा कर उसको दूर करने पर अग्रसर रहते थे। मुनि भक्त, धार्मिक एवं पारमार्थिक संस्थाओं में हजारों रुपया दान देकर उनके संचालित रहने के लिये सदैव द्रव्य देकर सहयोग देते रहते थे।

मुझे स्वयं भी गोहाटी पंच कल्याण मेले के समय श्री दि० जैन महासभा के अधिवेशन के समय, इन्दौर में मध्य प्रदेश दिगम्बर जैन तीर्थ रक्षा समिति के अधिवेशन के समय और श्री १००८ बाहुबलि मस्तकाभिषेक महोत्सव पर मिले पहाड़ पर से नीचे आने तक अनेक चर्चाएं हुई।

आप सामाजिक कुरीति निवारण के साथ धर्म मन्दिरों की साल संभाल व रक्षार्थ बालक बालिकाओं को धार्मिक शिक्षा दिलाये जाने में बड़े ही प्रयत्नशील थे।

मुझसे भी अपना उद्धार करने हेतु धार्मिक ज्ञान की चर्चा कर अनेक शिक्षा रूपी बातें कहीं। यथार्थ में समाज का उत्थान करने में महान् अग्रणीय नेता थे ऐसी महान् विभूति को अपने से पृथक् होने में मुझे अत्यन्त दुःख हुवा। उनके प्रति मैं अपनी श्रद्धांजलि भेंट करता हूं।

मिश्रीलाल पाटनी लशकर

विद्वानों के हित चिन्तक

श्रीमान् सेठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल के निधन के समाचार ज्ञात कर बड़ी मार्मिक वेदना हुई। श्री दि० जैन महासभा के मुखपत्र साप्ताहिक "जैनगजट" के प्रकाशक होने के नाते एवं महासभा में कार्य करने के नाते आपसे कई बार मिलना हुआ। सबसे पहले सन् १९४२ में जब परमपूज्य श्री १०८ आचार्य शांतिसागर जी महाराज पर नातेपूते (शोलापुर) में हुये उपसर्ग के विरोध में जगह जगह से कलक्टर आदि को तार दिलाने के सिलसिले में दौरा करने पर लालगढ़ में आपसे परिचय हुआ था। उस समय महासभा के लिये भी आपने द्रव्य एकत्रित कराया था।

सन् १९५८ से ६३ के बीच जब मैं भारतवर्षीय जैन बाल आश्रम का सुपरि० रहा उस समय श्री दि० जैन महासभा और परिषद की एकता के लिये दिल्ली में साहू शांतिप्रसाद जी की अध्यक्षता में जो कन्वेंशन हुआ था उसमें आपने भी भाग लिया था। दोनों सभाओं के मूल नियमों एवं उद्देश्यों में अंतर न आते हुए एकता स्थापित कराने के लिये काफी सक्रिय प्रयत्न किया था। उसके बाद भी मेरा उनसे मिलना हुआ तो उन्होंने यह चिन्ता व्यक्त की कि तुम कहां रहते हो क्या कार्य करते हो कुछ पता भी नहीं। मैंने उस समय यह अनुभव किया कि विद्वानों के हित की कितनी लगन उनमें विद्यमान है। वे मुनियों के परम भक्त थे साथ ही अपना हित संपादन में भी पीछे नहीं रहते थे। आत्म कल्याण की भावना से ओतप्रोत होनेका सबसे बड़ा ज्वलंत उदाहरण उन्होंने श्री पं० इन्द्रलाल जी शास्त्री और पं० राजेन्द्रकुमार जी न्यायतीर्थ मथुरा के उनकी बीमारी के समय जयपुर में मिलने जाने पर व्यक्त किया और पूछा था कि अंडकोष के आपरेशन हो जाने पर मुझमें मुनि बनने की योग्यता रहेगी कि नहीं? ऐसे धर्मात्मा कर्मठ समाज सेवी के निधन से धर्म और समाज की निःसंदेह अपूरणीय क्षति हुई है। मैं श्री १००८ जिनेन्द्रदेव से प्रार्थना करता हूं कि स्वर्गीय आत्मा को सद्गति लाभ हो और उनके परिवार को इस महान् दुःख के सहन करने की क्षमता प्राप्त हो।

बाबूलाल शास्त्री दिल्ली

सेवा कार्य के सहयोगी

श्री भंवरीलाल जी बाकलीवाल का स्वर्गवास जानकर बहुत ही दुःख हुआ। उन्होंने गत समय इम्फाल सेवा कार्य में सोसाइटी को सहयोग प्रदान किया था। मैं अपनी ओर से एवं सोसाइटी की ओर से परम पिता परमेश्वर से प्रार्थना करता हूं कि उनकी दिवंगत आत्मा को शांति प्रदान करें एवं आपके शोकाकुल परिवार को इस असह्य दुःख में धैर्य धारण करने की शक्ति दें।

सीताराम केड़िया कलकत्ता
अवैतनिक प्रधानमन्त्री मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी

भावी यात्रा का संकल्प

नरसिंहलाल बियाणी, दुलीचंद पाटनी, हनुमानमल शर्मा, दुलीचंद छाबड़ा, सम्पतराम पांड्या, माणकचंद गंगवाल, महावीरप्रसाद झांझरी, कंवरीलाल छाबड़ा, प्रेमचंद लुहाड़या, सुगनचंद जैन, वासुदेव वर्मा, रतनलाल त्रिपाठी, परीछतसिंह, निधुरंजन दे, विधुशर्मा, मुनालसिंह, सुशीलकुमार पुरकायस्थ, नौकर चाकर, डीपू स्टाफ आदि सभी को श्री भंवरीलाल जी बड़े बाबू के निधन के समाचार सुनकर अपार दुःख हुआ है। आप लोगों पर जो विपत्ति आई उसको बरदास्त आप लोगों ने किस प्रकार किया होगा यह हमारे वर्णनातीत है। स्टाफ के लोग भी एक पिता के चले जाने से उतने ही दुखी अपने आप को महसूस करते हैं जितने की आप लोग। उनके पदचिन्हों पर चलकर भावी यात्रा करेंगे।

नरसिंहलाल बियाणी इम्फाल

सौम्य मूर्ति

श्री बाकलीवाल जी के निधन से हम सभी व्यक्तिगत हानि से वंचित नहीं हैं। हम लोगों के प्रति उनका जो अलौकिक स्नेह, आदर, अपनापन था उससे हम सदैव के लिए वंचित होने से अत्यन्त दुःखी हैं। हम लोगों को बराबर उनकी सौम्य मूर्ति सामने दिखाई देती है और उनकी मधुर वाणी कानों में गूंजती है। हम लोग स्वप्न में भी यह आशा नहीं करते थे कि अब कभी उनसे भेट न हो सकेगी।

उनकी पुण्य आत्मा और जन्म भूमि के प्रेम को हम सब आदर्श मानकर चलते रहें। उनकी यश, कीर्ति और परोपकारी जीवन की श्रेष्ठता चिर स्मरणीय है और सदैव अमर रहेगी।

एस० गोस्वामी पीलीभीत

उनका जीवन स्वच्छ और निर्मल था

श्री भंवरीलाल जी का स्वर्गवास इतनी शीघ्र हो गया यह मैंने नहीं सोचा था। उनके पास जसीडीह में कुछ समय रहने का अवसर मिला था। वे कितने मधुर और सरल स्वभाव के थे कि मैं क्या लिखूं। वे आधुनिक विचार के थे, उनका जीवन अनेक प्रकार से स्वच्छ और निर्मल था। मेरे साथ भी वे बड़े ही स्नेह से बातें करते थे जबकि उनका मेरे से अल्प समय का ही परिचय था।

श्यामसुन्दर जयपुरिया

वे महान् कर्मठ सत्पुरुष थे

श्री सेठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल हमारे माननीय हितैषी मित्रों में से थे। उनको कई बार कई दिनों तक पास में रहकर देखने व जानने का हमें मौका मिला है। वे सरल परिणामी, दृढ़ निश्चयी, दूरदर्शी, धर्मनिष्ठ एवं सच्चे गुरुभक्त थे, एक सम्पन्न घराने का अध्वर्यु होते हुए भी प्रतिवर्ष पर्व के दस दिनों में गुरुवों की सन्निधि में पहुंचकर १०-१० उपवास करना एवं अपने जीवन को संयम मार्ग में आरूढ करना यह सबके लिए साध्य नहीं है।

गतवर्ष सोलापुर में उन्होंने पर्व व्यतीत किया था। १०-१५ दिन सोलापुर में हम साथ रहे तदनंतर उन्हें दक्षिण यात्रा की भावना जागृत हुई, उसमें भी मैं साथ रहूं, यह बलवती आकांक्षा रही। उस यात्रा में भी हम १५-२० दिनों तक साथ रहे। उनके अन्तस्तल को सूक्ष्मता से देखने का अवसर मिला उनके हृदय में धार्मिक भावना कूट कूट कर भरी हुई थी, तीर्थ स्थान के प्रति अगाध भक्ति थी, समाज के उत्थान की उन्हें गहरी चिन्ता थी, समाज व धर्म के मार्ग दर्शक निरपवाद साधु संघ के निर्माण की प्रबल आकांक्षा थी, वे चाहते थे कि हमारे साधुओं का संसार में अनुपम प्रभाव हो, सर्व साधुओं की वृत्ति आगमानुमोदित हो एवं एक ही प्रभावक आचार्य के नियन्त्रण में वे आवें, इसके लिए अनेक प्रसिद्ध संघों में प्रत्यक्ष पहुंच कर उन संघ नायकों की आज्ञा से एवं हमारे सहयोग से एक योजना भी बनाई थी और वह योजना अत्यन्त सुरक्षित पद्धति से समाज के प्रमुख विद्वानों की सम्मति के लिए भेजी गई थी, परन्तु दुःख है कि उसे कार्य रूप में परिणत होते हुए वे देख नहीं सके।

उन्होंने जीवन के अन्त समय तक धर्म सेवा की, समाज की उन्नति की एवं गुरुओं की उपासना की, जीवन को निश्चित ही सफल किया। उनका वियोग जैन समाज के लिए अपूरणीय क्षति है, क्या करें? विधि विलास का अतिक्रमण कौन कर सकता है?

दिवंगत आत्मा को चिर शांति मिले, उनके सुयोग्य धार्मिक परिवार को धैर्य व तत्पदानुसरण की शक्ति प्राप्त हो।

पं० वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री सोलापुर

अनमोल रत्न

श्री भंवरीलाल जी बाकलीवाल के असामयिक निधन पर मुमुक्षु महिलाश्रम महावीर जी में एक शोक सभा हुई, जिसमें दिवंगत आत्मा के प्रति शांति लाभ की कामना की गई व उनके परिवार के प्रति समवेदना व्यक्त की गई। सेठ साहब हमारी समाज के अनमोल रत्न थे, इसकी पूर्ति अब होना असम्भव है।

पं० हुकमचन्द शास्त्री

करनी करके चले गये

ता० १६ अक्टूबर को महासभा के भूतपूर्व अध्यक्ष सेठ भंवरीलालजी बाकलीवाल सुजानगढ़ निवासी के स्वर्गवास का समाचार सुना, पहले तो ऐसा लगा कि शायद भंवरीलालजी बाकलीवाल अन्य होंगे परन्तु जैसे जैसे स्पष्ट समाचार मिलने लगे तब मन की पूर्ण भ्रांति दूर हो गई कि वास्तव में अनेक गुण विभूषित, गणमान्य, समाज सेवक ही इस असार संसार से अत्युत्तम करनी करके चले गये।

बाकलीवालजी से सन् १९६२ में उदयपुर में परिचय हुआ था, आपसे थोड़ा सा ही परिचय आत्मीयता में परिवर्तित हो गया, आपके साथ करीब ५-६ घंटे रहा परन्तु उस समय यही अनुभव होता रहा कि आपसे परिचय कुछ ही घंटों का नहीं बल्कि अनेक वर्षों से रहा है।

बाकलीवाल जी में खास विशेषता उनकी सरल मनोवृति थी जो दूसरों को अपनी ओर शीघ्र आकर्षित कर लेती। उनमें साधु, वृतियों के लिये भी अतीव प्रेम था जो अन्त समय तक देखने को मिला। हमेशा दूसरों की सहायतार्थ सदैव तत्पर रहे, साधर्मी बन्धुओं पर कोई भी कष्ट होता तो वे सदैव कष्ट दूर करने में प्राणपन से जुट जाते। अनेक समयों पर धार्मिक, सामाजिक कार्यों में भी आप आगे होकर कार्य करते थे। आप नवयुवकों के लिये सदा प्रेरणा स्तम्भ रहे। आपको नवयुवकों में धर्म के प्रति अरुचि देख करके महान् कष्ट होता था। विपुल सम्पत्ति के अधिकारी होकर के भी उस सम्पत्ति को कभी अपना नहीं कहा; जहां जैसा कार्य हुआ वहां सम्पत्ति का उपयोग किया व कभी भी मान बड़ाई को प्रोत्साहन नहीं दिया व हमेशा लघुता ही प्रगट की, इसीलिये आज जैन समाज व दूसरी समाज जो कमी महसूस कर रही है उसकी पूर्ति होने में थोड़ा समय चाहती है।

आप जैन समाज के कार्यों में इतनी रुचि रखते थे कि आप हमेशा समाचार प्राप्त करने के लिये आदान प्रदान करते ही रहते थे आप महासभा के अध्यक्ष रहे तब तक अनेक संकटों का साहसपूर्वक सफलता से सामना करते रहे। आपने जैन समाज, जैनतीर्थों के लिये जो प्रयास किया उसको लेखनी में नहीं बांधा जा सकता है उसे तो सिर्फ अनुभव ही किया जा सकता है।

जननी जने तो भक्त जन, के दाता के सूर।
नहीं तो रहिये बांझनी, वृथा गंवा मत नूर ॥

मैं सिर्फ उन जन्म देने वाली माताओं से अन्य कवि द्वारा कहा गया उपरोक्त शब्द ही दुहराता हूं कि अगर मातायें जन्म देवें तो अपने बच्चों में धार्मिक संस्कारों को पुष्ट करती हुई उनको बलवान, दाता बनने आदि की अनेक सुशिक्षा प्रदान करें ताकि वही बालक अपना व अपने कुटुम्ब का नाम उज्ज्वल करें ताकि वर्तमान व भावी पीढ़ी उन आदर्शों पर चल कर देश, धर्म जाति, कुटुम्ब की सेवा करता हुवा अपने जन्म को सार्थक करता जाये, जिससे एक उज्ज्वल परम्परा का दिग्दर्शन प्राप्त होता रहे।

ज्ञानचन्द जैन वैद्य गंजबासौदा

वे सच्चे धर्मप्राण सत्पुरुष थे

श्रीमान् सेठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल एक सच्चे धर्म प्राण सत्पुरुष थे। देव, गुरु, शास्त्र की श्रद्धा उनमें कूट कूट कर भरी हुई थी, आत्मा की उन्नति की ओर उन का लक्ष्य रहता था। साथ में दि० जैन समाज और धर्म की सेवा में उनका जीवन भरपूर लगा रहता था। श्री अखिल भारतवर्षीय दि० जैन (धर्म संरक्षिणी) महासभा के आप सदा से अनुयायी रहे। उनका सम्बन्ध मेरे साथ बहुत समय से था। मुझे याद है कि आप महासभा की प्रबन्ध कारिणी के सदस्य के नाते समय समय पर अपनी शुभ सम्मति प्रदान करते रहते थे। श्री ऋषभनगर (मरसल गंज-फरिहा) में श्री पंच कल्याणक महोत्सव के अवसर पर महासभा का अधिवेशन हुआ उसके आप सभापति चुने गए। आपके सभापतित्व में यह अधिवेशन बड़ी सफलता के साथ सम्पन्न हुआ। महासभा को बड़ा बल मिला, आर्थिक सहयोग मिला बाद में आपके सभापतित्व काल में महासभा की इन्दौर में जो प्रबन्धकारिणी की बैठक हुई, वह तो एक निराली शानदार रही, बड़े बड़े समाज के नेताओं की उसमें उपस्थिति थी, निर्णय सभी महासभा के उद्देश्य के अनुसार हुए, यह सब आपके धर्मोत्साह पूर्ण व्यक्तित्व का प्रभाव था। बाद में समाज की एकता के लिए आपका सतत प्रयत्न रहा। श्री महावीर जी में शांति सम्मेलन प्रभावक हुआ। आपकी गुरु एवं चारित्र भक्ति आदर्श थी, श्री १०८ आचार्य विमलसागर जी महाराज के सान्निध्य में पधार कर विगत पर्यूषण पर्व में सच्चारित्र रूप दशों दिन के उपवास किए और साधर्मी वात्सल्य को प्रगट किया। इसी प्रकार अभी श्री १०८ मुनिराज सुपार्श्वसागर जी महाराज की सल्लेखना समाधि के अवसर पर भी रोगावस्था में ही उदयपुर पधारे थे। और आहार दान आदि से महत् पुण्योपार्जन करते हुए गुरु भक्ति में तल्लीन रहे। बाद में श्री १०८ आचार्य विमलसागर जी महाराज के दर्शन करने ईडर पधारे थे। रोगाक्रांत होते हुए भी चित्त में आर्तध्यान नहीं आने दिया। और अन्त समय तक श्री पंचपरमेष्ठी के गुणों में अनुरक्त रहकर समाधिमरण पूर्वक शरीर का त्याग किया। ऐसे धर्मात्मा पुरुष का वियोग सारी दि० जैन समाज को असह्य हुआ है। आप से दिगम्बर जैन समाज को बड़ी बड़ी और भी आशायें थीं। आपकी क्षति पूर्ति निकट भविष्य में अशक्य है। आप सार्वजनिक कार्यों में भी सदा योगदान करते थे। मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी आदि सार्वजनिक संस्थाओं के माध्यम से एवं स्वतन्त्र रूप से भी बाढ़ पीड़ितों, असहायों आदि को सहायता पहुंचाते थे।

पं० अमोलकचन्द उडेसरीय इन्दौर
भूतपूर्व स० महामंत्री भा० दि० जैन महासभा

आदर्श व्यक्तित्व

सेठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल खण्डेलवाल जैन समाज के भूषण थे। उनका जन्म लालगढ़ (राजस्थान) में हुआ था। आपका गोत्र बाकलीवाल था। आप एक धर्मनिष्ठ, सदाचारी, कर्तव्य परायण, शास्त्रज्ञ और कुशलवक्ता थे। धार्मिकता आपकी पैतृक सम्पत्ति थी। आपके पिता सेठ खूबचन्द जी परम धार्मिक थे। आप चार भाई थे। उन सब में आप ज्येष्ठ थे। तथा नेमीचन्द जी, इन्द्रचन्द जी और आसूलाल जी लघु सहोदर थे। आपके ये तीनों भाई भी धर्मात्मा हैं। आसूलाल जी का स्वर्गवास हो जाने पर भी उनके कुटुम्बीजन धार्मिक प्रवृत्तियों में सावधान रहते हैं। आपके विद्यमान दोनों भ्राता भी धर्म साधन करते हुए सफलता के साथ उद्योग करते हैं। आपकी धर्म-पत्नी भी आपके समान धार्मिका, साध्वी और उदार हृदया हैं। उनकी प्रत्येक धार्मिक कार्य में लगन और उत्साह देखने योग्य है। वह गार्हस्थिक कार्यों में चतुर, कर्तव्य परायण, पतिव्रता और विवेकी हैं। आज्ञाकारिणी हैं। व्रतादि पालने में सुदृढ़ और गुरु भक्त हैं। इस कारण आपका धार्मिक अनुष्ठान में महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

आपके चार पुत्र, तीन कन्याएें हैं। नथमलजी, प्रसन्नकुमार जी, मन्नालालजी और चैनरूपजी। ये चारों ही पुत्र, धार्मिक, आज्ञाकारी और कर्तव्य-निष्ठ हैं। अपने आदर्श पिता की सुयोग्य संतान हैं। आपने सुदूरवर्ती क्षेत्र मनीपुर (आसाम) को अपना व्यापारिक क्षेत्र बनाकर विपुल अर्थ संचय किया था। वे एक आदर्श व्यक्ति थे। धर्मनिष्ठ, सदाचारी, कर्तव्यपरायण, शास्त्रज्ञ और कुशल वक्ता थे। आपने उदार वृत्ति से सामाजिक एवं धार्मिक कार्यों में अर्थ व्यय किया है। आप पर्यूषण आदि पर्वों में धर्म सेवनार्थ जहां कहीं मुनि संघ का चातुर्मास होता वहां अवश्य पधारते थे। और धर्म साधना के साथ कर्तव्य में तत्पर रहते थे। तथा उपवासादि द्वारा अपने परिणामों को निर्मल बनाये रखने का यत्न करते थे। आपने अनेक धार्मिक कार्यों में द्रव्य का विनिमय किया, किन्तु इच्छा और भावना रहते हुए भी साहित्य सेवा के ठोस कार्य को नहीं कर सके। आप चाहते थे कि एक सुन्दर लायब्रेरी हो और किसी महत्वपूर्ण साहित्यिक ग्रंथ का प्रकाशन किया जाय जिससे जैनधर्म का प्रचार और प्रसार हो सके।

आप महासभा के आधार स्तम्भ थे। आपने महासभा को उस विषम परिस्थिति में सहयोग दिया जब वह आर्थिक संकट, भीषण झकोरे से लड़खड़ा रही थी। आपने महासभा को केवल आर्थिक सहयोग ही नहीं दिया किन्तु उसके कार्यों में भी गति दी। इसके लिये महासभा आपकी कृतज्ञ रहेगी। गुप्तदान द्वारा मूक सेवा करना भी आप अपना कर्तव्य मानते थे। और दीन दुखियों की सेवा करना भी अपना कर्तव्य मानते थे। आपकी गुरु भक्ति और धार्मिक परिणति का प्रभाव केवल अपने कुटुम्बियों पर ही नहीं पड़ा किन्तु उससे अन्य व्यक्तियों को भी प्रेरणा मिली, और वे धर्म साधन में तत्पर हो गए। आपने अपनी अस्वस्थता में भी धार्मिक कृत्यों से मुख नहीं मोड़ा, किन्तु उन्हें दृढ़ता से निबाहा। आपके जीवन की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि सम्पन्न होने पर भी सदाचारी रहना, बीमारी में भी धर्म को नहीं

भुलाना। धन सम्पन्नता आज के विषम समय में नैतिक पतन का कारण बन जाती है, पर आप जैसे विरले ही लोग हैं जो विषमता से नहीं ऊबते। और कर्तव्य पालन में सुदृढ़ रहते हैं। इन सबका कारण आपकी जैन धर्म में प्रगाढ़ श्रद्धा ही है। देव, शास्त्र और गुरु की आस्था जीवन की महत्ता की द्योतक है।

खेद है कि आपका ६६ वर्ष की अवस्था में १६-१०-६७ को देहावसान हो गया। समाज को ऐसे धार्मिक व्यक्ति का रिक्त स्थान भरना आसान नहीं है। आशा ही नहीं विश्वास है कि आपके पुत्र अपने धार्मिक पिता की भावनाओं को सफल बनाने का यत्न करेंगे। मेरी हार्दिक भावना है कि दिवंगत आत्मा परलोक में सुख शांति प्राप्त करे और कुटुम्बियों को उनके वियोग का असह्य दुःख सहने की सामर्थ्य प्राप्त हो।

परमानंद शास्त्री सम्पादक अनेकांत दिल्ली

दैदीप्यमान तारा अस्त

श्री सेठ भंवरीलाल जी को मैं उनके चित्र से पहिचानता था लेकिन जब वे महासभा के प्रमुख हुये उनके देखने की उत्कंठा हुई और वह श्री १००८ बाहुवलि भगवान के महामस्तकाभिषेक के अवसर पर पूर्ण हुई। बाद में उन्हें अस्वस्थ अवस्था में श्री १०८ आचार्य शिवसागर जी महाराज के दर्शनार्थ पधारने पर उदयपुर में देखने से यह भाव जागृत हुए कि सिंह घायल हुआ है। मैंने जैन शासन और गुजरात सि० सं० सभा के बारे में उनसे चर्चा की।

जब वे श्री १०८ आचार्य विमलसागर जी महाराज के दर्शन करने ईडर पधारे मैंने गुजरात सि० सं० सभा की कार्य समिति की बैठक वहां रखी थी। मैंने सेठजी को आमंत्रित किया लेकिन रुग्णावस्था के कारण उपस्थित न हो सके। फिर भी मैंने जैन शासन के सहायक होने की चर्चा की तो आपने अपने सुपुत्र से तत्क्षण २०१) रुपये दिलवाये और अधिक सहायता के लिये पुनः लिखने को कहा। ऐसे दैदीप्यमान तारा के अस्त होने से समाज में महती क्षति का अनुभव हुआ है।

कपिल कोटड़िया संपादक 'जैन शासन' हिम्मतनगर

आदर्श मानव

मनीपुर-वास के मेरे एक वर्ष के समय में मैंने श्री भंवरीलाल जी बाकलीवाल को कई बार देखा और अनुभव किया कि श्री बाकलीवाल जी ने सामायिक पाठ में दिये गये 'सत्वेषु मैत्री गरिणषु प्रमोदं' आदि श्लोक का अर्थ केवल समझा ही नहीं किन्तु अपने जीवन में उसके अनुसार चल कर जीवन को सफल बनाया है। गृहस्थावस्था में रहकर भी निर्लिप्त-से थे। किसी की बुराई करना तो वे जानते ही न थे। वास्तव में वे आदर्श मानव थे।

रूपचन्द साहित्य शास्त्री

धर्म के उदीयमान सेवक

श्री बाकलीवाल जी वृद्धावस्था में भी शारीरिक मोह छोड़कर दश-दश उपवास करने से नहीं चूकते थे। महासभा को विपुल द्रव्य संचित कराकर उसकी नींव को दृढ़ करने में आपने अनथक प्रयत्न किया। वास्तव में वे धर्म के उदीयमान सेवक थे।

मिश्रीलाल शाह शास्त्री लाडनूं

समाजोद्धार की चिन्ता में लीन

ये उन दिनों की बात है जब श्री १०८ आचार्य शिवसागर जी ससंघ निवाई में विराज रहे थे। तब आप आचार्य श्री व संघस्थ मुनिराजों अर्जिकाओं के दर्शन कर मेरे पास आये। कहने लगे पं० जी आपके लेख ट्रेक्ट मैंने कई पढ़े, नाम भी सुना, मगर दर्शन लाभ आज ही हुवा। मैंने कहा दर्शन तो मुनिराजों के होते हैं। मेरे दर्शन कैसे। हंसे और फिर गम्भीर वाणी में बोले—विद्वानों के उपदेशों से ही तो संयमी बनते हैं। मै अवाक् रह गया। कितनी श्रद्धा है विद्वानों के प्रति इनके हृदय में।

पुनः बोले पण्डितजी, समाज में जीवन लाओ ये मृत प्राय: हो रही है। क्षणिक आवेश-क्षणिक जोश इसमें क्यों रह गया है। मैंने कहा—इन्हें, धर्म समाज का महत्त्व मान नहीं हुआ। और न मानव पन का महत्त्व ही समझ पाई है समाज। कहने लगे—ठीक कहा है समाज में ईर्ष्या और द्वेष पनप रहा है। धर्म की श्रद्धा कम होती जा रही है। समाज संघठन शिथिल होता जा रहा है। अनुशासन हीनता बढ़ रही है। अपनी-अपनी ढपली और अपना-अपना राग गाये जा रहे हैं। अब क्या होगा। कितनी समाजोद्धार की चिन्ता थी उनके मनमें !

पं० राजकुमार शास्त्री निवाई

श्री धर्मनिष्ठ, गुरुभक्त, समाजशिरोमणि

श्री सेठ धर्मवीर भंवरीलालजी बाकलीवाल सुजानगढ़ निवासी के करकमलों में सादर समर्पित

★

अभिनन्दन पत्र

श्रेष्ठिवर्य ! आपका जन्म सुदूरवर्ती लालगढ़ (राजस्थान) में होने पर भी आप मनीपुर में रहकर व्यापार उद्योग बहुत दिनों से करते हैं। आज कल आप सुजानगढ़ में विराजते हैं । पूर्व पुण्योदय से एवं सुप्रतिष्ठित फर्म के माध्यम से प्रामाणिक व्यवहार के कारण लाखों रुपयों का अर्जन आपने किया। यही कारण है कि आज आसाम प्रांत में प्रथितयश उद्योगपतियों में आपकी गणना होती है।

भाग्यशाली श्रेष्ठिन् ! आपके पिता श्री सेठ खूबचन्दजी परम धार्मिक थे। उनके पिता आसाम के सालिगरामजी राय चुन्नीलाल बहादुर एण्ड कं. नामक फर्म के साझीदार थे। आपके दादा धनसुखजी व चुन्नीलालजी दोनों सहोदर थे', यह फर्म सैकड़ों वर्षों से प्रसिद्ध है। अब आप स्वतन्त्र व्यवसाय करते हैं। उद्योगी पुरुष से लक्ष्मी भी प्रसन्न रहती है, यह उक्ति आपके जीवन में सार्थक दिखती है। आपके चार भाई हैं। जिनमें सबसे ज्येष्ठ भ्राता आप हैं। श्री नेमीचन्दजी बाकलीवाल, इन्द्रचन्द्रजी व आसूलाल जी तीनों सहोदर धर्मात्मा हैं। श्री आसूलालजी का स्वर्गवास होने पर भी उनके सुपुत्र धार्मिक घराने की प्रवृत्तियों में सजग हैं, उत्तर लखीमपुर में रहते हैं। आपके दोनों विद्यमान भ्राताओं में नेमीचन्दजी शिवसागर में और इन्द्रचन्द्रजी नाहर कटिया में सफलता के साथ उद्योग करते हैं।

आपके चार पुत्ररत्न हैं। तीन कन्या रत्न हैं। श्री नथमलजी, श्री प्रसन्नकुमारजी, श्री मन्नालालजी और श्री चैनरूपजी ये चारों ही पुत्र व्यापारकुशल, आज्ञाकारी, धार्मिक, गुरुभक्त एवं पिता के अनुरूप ही गुणवान् हैं। आपकी धर्मपत्नी भी पूर्ण धार्मिक हैं।

गुरुभक्त ! आपके हृदय में गुरुभक्ति कूटकूटकर भरी हुई है। आपकी धारणा है कि आज के युग में गुरुजन के बिना भक्तों का उद्धार सम्भव नहीं है। अतः जहां जहां भी गुरुजन विराजते हैं वहां

आप दर्शन व पात्रदानादि सेवा के लिए पहुंचते रहते हैं। श्री परमपूज्य चारित्रनिधि आचार्य विमलसागर महाराज के चरणों में कई वर्षों से दशलक्षण पर्व में पहुंच कर आप १०-१० उपवास करते हैं। आपकी श्रद्धा है कि गुरुचरणों में किया गया तप सफल होता है। यही कारण है कि इस वर्ष भी आपने सोलापुर पधार कर आचार्यश्री के चरणों में १० उपवास सफलतापूर्वक किये। आपके साथ आपकी धर्मपत्नी व बहन ने भी १० उपवास किए। उधर मणीपुर में आपके सुपुत्र मन्नालालजी ने एवं उनकी धर्मपत्नी ने भी बड़ी शांति के साथ १० उपवास किए। उधर सुजानगढ़ में आपके समधी धर्मनिष्ठ रा. सा. चांदमल जी पांड्या ने भी १० दिन के १० उपवास किए। इन बातों के प्रकाश में आपका समस्त परिवार केवल धनिक, धार्मिक, गुरुभक्त ही नहीं है, अपितु गुरुवों के आदेश के अनुसार चलने वाले तपस्वी भी हैं। यह सहज समझ में आ सकता है।

समाज शिरोमणि ! आपको केवल धर्म व धर्म-गुरुवरों की सेवा से ही तृप्ति नहीं है। आपको समाजोत्थान की भी बड़ी चिन्ता है। अखिल भारतवर्षीय दि० जैन धर्म संरक्षिणी महासभा आज जैन समाज की सबसे बड़ी प्रतिनिधि संस्था है। समाज के कर्णधार बड़े-बड़े महापुरुषों ने महासभा के माध्यम से समाज व धर्म की सेवा की। स्वर्गीय दानवीर सर सेठ हुकुमचन्दजी इन्दौर, धर्मवीर सर सेठ भागचन्द जी सोनी अजमेर सरीखे महापुरुषों ने जिस संस्था को प्राणस्वरूप समझ कर सम्हाला, वर्तमान परि-स्थिति में उसकी बागडोर सम्हालने के लिए आपको सर्वोपरि समझ कर उस महान संस्था के नेतृत्वभार को आपके सफल कंधों पर डाला है। इससे अखिल जैन समाज का विश्वास आपके प्रति अगाध है, यह स्पष्ट होता है। जब से आप महासभा के अध्यक्ष पद के लिए निर्वाचित हुए हैं, तब से आप महासभा की विविध मुख से उन्नति साधने में संलग्न हुए हैं। महासभा के मुखपत्र "जैनगजट" ने आशातीत उन्नति आपके सहयोग से की है। आसाम में आपने गौहाटी में महासभा का अधिवेशन कराकर उस सुदूरवर्ती प्रान्त में महासभा के प्रति आस्था ही निर्माण नहीं की, अपितु महासभा की निधि भी करीब एक लाख करा दी, यह सब आपके ही अथक परिश्रम का फल है। आपकी अध्यक्षता में महासभा की बड़ी उन्नति हो रही है।

महासभा के अधिवेशनों में हुए आपके महत्वपूर्ण भाषणों के अध्ययन करने से पता लगता है कि आपके हृदय में समाज संगठन, धर्मायतनों की रक्षा एवं तीर्थ सेवा आदि की उत्कट भावना है।

पुरुषार्थी महोदय ! आपका सिद्धांत है कि मनुष्य के बोलने की अपेक्षा क्रियाशील बनने की अधिक आवश्यकता है। अतः आप कम बोलते हैं। समाज में मूक सेवा करते रहते हैं। सतत धर्म व समाज के उत्थान के लिए पुरुषार्थ करते रहते हैं। ६९ वर्ष की उम्र में भी युवकों को लजाने वाला धर्मोत्साह आपके हृदय में है। आप जिस कार्य को हाथ में लेते हैं, वह पूर्ण कर ही छोड़ते हैं। ऐसा होते हुये भी आप कीर्ति से पराङ्मुख हैं। कई बार महासभा के अध्यक्षपद के लिये आपको समाज के द्वारा

अनुरोध किया गया था, परन्तु आपने उसे स्वीकार नहीं किया। अब महासभा का सुदैव है कि आप सरीखे कुशल व धार्मिक नेता का नेतृत्व उसे प्राप्त हुआ।

आप अनेक सार्वजनिक संस्थाओं के भी पदाधिकारी हैं। आसाम व राजस्थान में शासन क्षेत्र में भी आपका भारी प्रभाव है। इससे आपकी लोकप्रियता स्पष्ट होती है।

जिनवाणीभक्त ! आपके हृदय में जिस प्रकार देवगुरुवों के प्रति असीम भक्ति है उसी प्रकार जिनवाणी के प्रति भी अपरिमित श्रद्धा है। यही कारण है कि आपने अपने मातापिता की स्मृति में एक ग्रन्थमाला स्थापित की है। जिसके द्वारा पद्मपुराण व पुरन्दर व्रतपूजा ये दो ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। सम्मेदशिखर माहात्म्य भी आपकी ओर से प्रकाशित होगा। इसी प्रकार प्रति वर्ष हजारों रुपयों का दान चारों प्रकार के दानों में करते रहते हैं। कई वर्षों पहले सम्मेदशिखर में संपन्न पंचकल्याणक प्रतिष्ठा के अवसर पर भगवान के माता पिता बनने का भाग्य आप दंपति को मिला था। इससे पहले आप पतिपत्नी दोनों ने आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत लिया था। इससे आपकी महानता का स्पष्ट दर्शन होता है।

धर्मप्रवर्धनचेता-आपके हृदय में धर्मवृद्धि व संस्कृतिरक्षण की बड़ी चिंता है। आज आसाम में जो धर्म जागृति का दर्शन होता है, उसका अधिकांश श्रेय आपको ही है। आप आसाम में एक संस्कृति केन्द्र निर्माण करना चाहते हैं। उसे निर्माण करने का आदेश व आशीर्वाद श्री तपोनिधि आचार्य विमलसागर महाराज से प्राप्त कर चुके हैं। आप उस संकल्प को शीघ्र पूर्ण करने के प्रयत्न में हैं। इससे आपकी धर्म तत्परता स्पष्ट होती है।

हम सोलापुर निवासी जैन समाज के सदस्य आपकी शालीनता, सौजन्य, धर्मचिंता, गुरुभक्ति, स्वभाव गम्भीरता एवं सबसे अधिक चारित्र के प्रति सक्रिय आस्था आदि गुणों से प्रभावित हुये हैं। इसीलिए हमने इस जड़ मानपत्र द्वारा हमारे चेतन अन्तःकरण के आदर को व्यक्त किया है। आपके करकमलों में यह मानपत्र बहुत आदर के साथ अर्पण करते हुये भगवान् चिंतामणी पार्श्वनाथ से प्रार्थना करते हैं कि धर्म व समाज के लिए आपको सुन्दर स्वास्थ्य के साथ दीर्घजीवन प्रदान करें।

दि० १२-१०-१६६६

समस्त दि० जैन समाज, सोलापुर

श्री १०८ आचार्य शिवसागर संघ श्री अतिशय क्षेत्र पपौरा (टीकमगढ़ मध्य प्रदेश)

श्री धर्मनिष्ठ उदाराशय धर्मवीर जातिभूषण सेठ भंवरीलालजी बाकलीवाल

सभापति श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा की

—: सेवा में :—

सादर समर्पित अभिनन्दन-पत्र

धर्मनिष्ठ श्रेष्ठिवर्य—आप हमारी समाज के प्रमुख कर्णधार हैं आप में जैन-धर्म की अगाध श्रद्धा है। तदनुकूल संयम भी सदैव पालन करते रहते हैं।

दानवीर—आप सदैव पारमार्थिक जैन संस्थाओं के लिए व जैन तीर्थ क्षेत्रों के लिए दान देकर धर्म की प्रगति को चलाते रहते हैं। वर्तमान में हमारी भा० दि० जैन धर्म संरक्षिणी महासभा ने आपको सभापति पद पर मनोनीत करके आपका गौरव बढ़ाया है।

संघभक्त शिरोमणि—वर्तमान में जैन समाज में मुनीश्वरों द्वारा धर्म की अपार उन्नति हो रही है। एवं जैन समाज में चारित्र की प्रगति परम आदर्श पर चल रही है। आप मुनि धर्म के परम उपासक एवं मुनि संस्था के परमभक्त हैं।

विद्याविनोदी—आप लक्ष्मी के स्वामी असाधारण उच्चकोटि के प्रमुख श्रीमान हैं, हमारी जैन समाज आपको परम आदर का पात्र मानती है, साथ में आप विद्या के परम रसिक हैं। जैन विद्वत्समाज आपके व्यक्तित्व से सदैव लाभान्वित होती है। आप विद्वानों के स्नेह से भरपूर अद्वितीय गण्यमान व्यक्ति हैं।

तीर्थभक्त—आपकी तीर्थ क्षेत्रों में अपार भक्ति है आप सदैव तीर्थ सेवा के कार्यों में भाग लेते रहते हैं अतएव हमारी समाज आपको सदैव धर्म प्रेम की दृष्टि से आदर्श मानती है। आप भारत वर्ष के श्रेष्ठ नगर मनीपुर में उस स्थान में रहते हुए भारत वर्ष में अपने धर्म की उन्नति का सदैव प्रचार करते कराते रहते हैं। यहां आचार्य शिवसागर जी महाराज का चातुर्मास हमारे शुभोदय से हुआ है। इस चातुर्मास के शुभावसर पर आप श्री अतिशयक्षेत्र पपौरा जी पर पधारे हैं। निकट अतीतकाल में आप बावनगजा जी (इन्दौर) के चातुर्मास में मुनियों के पास से धर्म लाभ लेकर यहां पर पधारे हुए हैं, हमारी जैन समाज को आपके संमिलन वात्सल्यपूर्ण व्यवहार से अचिन्त्य आनन्द प्राप्त हुआ है। आपको अपने मध्य में देखकर आनन्द विभोर हो रहे हैं। आपके अनेकानेक सद्गुणों से प्रभावित होकर हमारे बुन्देलखण्ड की समस्त जैन समाज युगल मुनि महाराजों के केशलुंच महा समारोह के मध्य में आपका अभिनन्दन करते हुए अपार हर्ष हो रहा है। अन्त में हम श्री महावीर प्रभु से व श्री आचार्य शिवसागर महाराज के चरण कमलों में करबद्ध प्रार्थना करते हैं व आशा करते हैं कि आप सकुटुम्ब सपरिवार शतवर्ष तक चिरायु हों और आपके द्वारा चिरकाल तक जैन धर्म व जैन जाति की उन्नति होती रहे।

आपका धर्म स्नेही

१६-१०-६४ समस्त जैन समाज व श्री दि० जैन अतिशय क्षेत्र पपौरा प्रबन्धकारिणी समिति

पूज्य श्री भंवरीलालजी बाकलीवाल धर्म और समाज के प्रकाश स्तंभ थे। वास्तव में धर्म-नियंत्रित समाज ही आदर्श होता है। अन्यथा समज हो जाता है क्योंकि 'समजः पशूनाम्'। धार्मिक दम्पति बिना अकेले पुरुष से धार्मिक समाज की रचना नहीं होती। पूज्य चरित्र-नामक की परम धार्मिकता गुरुपाद सेवा, तीर्थ भक्ति, वदान्यता में आपकी धर्म पत्नी श्री मलखू देवी जी का भी सुयोग्य प्रेरक निमित्त था। मातृ मही कल्प पूजनीया उक्त महिला रत्न परम धार्मिक, स्नेह भरी ममता मूर्ति कुल पालन व्रतैक रत भारतीय नारियों के आदर्श स्वरूप है। पूज्य बाकलीवालजी स्वयं तो धार्मिक शिरोमणि थे ही साथ ही ऐसी जीवन संगिनी के सुयोग से आपके गुण निधित्व के चार चांद लग गये थे। आप श्रावकीय द्वितीय श्रेणी (प्रतिमा) के व्रत

दाम्पत्य सुयोग भी परम वैभव

रखती हैं प्रत्येक धर्म समाजहित और चतुर्विध-दान कार्य में श्री बाकलीवालजी को उत्साह दात्री प्रेरणा मिली। अंतिम समय समाधि मरण में भी असाधारण सहायता मिली। अवसान समय से पांच दिन पहले से श्रीमती जी ने बाकलीवालजी को धर्म ध्यान-रत रहने की सुव्यवस्था कर दी थी। अन्तिम समय रुदन आंक्रदन परिदेवन भी न कर आदर्श उपस्थित किया और यही कहा कि जीवन के साथ मरण तो लगा हुआ है ही यदि समाधि मरण हो जाय तो जन्म का साफल्य ही है। पतिदेव का जन्म सफल होने में बाधा डालना शत्रुता होगी। ऐसे परम वैभव स्वरूप दाम्पत्य के सुयोग भाजन स्वर्गस्थ आत्मा के पावन चरणों में विनम्र श्रद्धांजलि।

—सुमति कुमार जैन बी० ए० जयपुर

महासभा के प्रतिभा सम्पन्न उदारमना रक्षक

स्व० श्रीमान् सेठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल इम्फाल (मनीपुर) से दि० जैन समाज भली-भांति परिचित है। श्री भा० दि० जैन महासभा को जीवनदान देने का श्रेय उनको है। गोहाटी पंच कल्याणक प्रतिष्ठा पर जो सहायता महासभा को उनने पहुंचायी वह भुलाई नहीं जा सकती। सामाजिक एकीकरण के लिए वे हमेशा प्रयत्नशील रहे। गुरुओं के प्रति उनकी अटल श्रद्धा तथा भक्ति रही। विद्वानों तथा साधर्मी भाइयों के प्रति वे बहुत ही नम्र तथा आदरभाव रखते थे। भिन्न विचारवालों को भी उनके हृदय में स्थान था। दक्षिणोत्तर सभी प्रांतवासी महासभा की छत्र छाया में आकर उसके गौरव को बढ़ावें ऐसी उनकी सद्भावना थी। अपने स्वतन्त्र विचारों के वे हामी थे। परन्तु अपनी प्राचीन संस्कृति तथा धर्म की रक्षा के निमित्त वे धार्मिक विद्वानों की बात को कभी टालते नहीं थे, उनसे पूर्ण सम्पर्क रख उनकी सलाह के अनुसार ही वर्तन करना वे अपना परम कर्तव्य समझते थे।

अन्तिम समय वे बम्बई पधारे। बोरिवली (बम्बई) में स्थापित प०पू० चा०च० श्री १०८ स्व० आचार्य शांतिसागर महाराज के स्मारक की योजना के प्रति उनने अपनी भारी श्रद्धा तथा रुचि प्रगट की। भगवान आदिनाथ, बाहुबलि तथा भरत महाराज की विशाल मूर्तियों की प्रतिष्ठापना होने पर यह एक महान् अतिशय क्षेत्र बन जावेगा तथा इसकी सहायता के लिए स्वयं जैनगजट आदि पत्रों में अपील करने को कह गये एवं रु० २५०१) स्वयं की प्रेरणा से सहायतार्थ प्रदान कर गये। वास्तव में धर्म और समाज की उन्नति के लिए उनके हृदय में तीव्र लगन थी। बीमारी की अवस्था में भी उनका आत्मबल तथा उत्साह प्रशंसनीय था।

इम्फाल (मनीपुर) में पर्वत के ऊपर श्री पार्श्वनाथ स्वामी की एक विशाल मूर्ति स्थापन कर मन्दिर निर्माण करने की उनने अपनी तीव्र इच्छा प्रगट की। उसका शिलान्यास वे अपने हाथों से कर देना चाहते थे। अन्त में उदयपुर, ईडर, बम्बई पधारकर उनने सभी आचार्यं तथा गुरुओं का आशीर्वाद लिया तथा मन्दिर निर्माण की अन्तिम भावना को लेकर वे निर्मोह वृत्ति से स्वर्ग पधारे। उनके वियोग से धर्म तथा समाज की भारी क्षति हुई है। उन सरीखे निःस्वार्थ मूक समाज सेवी श्रीमानों में विरले ही पाये जाते हैं। उनकी सत्प्रेरणा से महासभा के मुखपत्र जैन गजट ने काफी प्रगति की। अपने सभापतित्व के पद को उनने अच्छी तरह निभाया तथा आसाम के प्रधान उद्योगपति, सच्चे धर्मानुरागी, गुरुभक्त, श्रीमान् दानवीर जैनरत्न रायसाहब सेठ चांदमल जी पांडया गोहाठी को अपना पद सौंपकर वे मुक्त हुए।

पं० तनसुख लाल काला बम्बई

विनम्र श्रद्धा-सुमन

पूज्यवर श्री भंवरीलालजी बाकलीवाल हमारी सहोदर भगिनी के श्वसुर एवं पहले व्यावसायिक भागीदार थे। इसीलिए वे श्रद्धा भाजन हों ऐसा नहीं किन्तु वे लोकोत्तर महा-पुरुष सदृश थे। वे जब भी दर्शन देते थे तब ही कुछ न कुछ उपदेश देते थे जो सदैव स्मृति पथ में रहते हैं। उनके अवसान में हमारे समस्त परिवार के ही नहीं, किन्तु प्रत्येक परिचित के हृदय को मार्मिक आघात पहुंचा है। उनके पावन चरणों में विनम्र श्रद्धा-सुमन।

गणपतराय, रतनलाल, भागचंद सरावगी
सुपुत्र—चांदमलजी सरावगी, गोहाटी

अद्वितीय प्रतिभा के धनी

स्मित हास्य युक्त सौम्य शान्त चहरा, गम्भीरवाणी, प्रभावशाली व्यक्तित्व, बच्चों के बीच बच्चे एवं बूढ़ों में बूढ़ें, मिलनसार इतने कि जहां कोई भी जान-पहचान का मिला, हरे हो जाते।

ठोस निर्णय करने की उनमें अपूर्व क्षमता थी। सबको निश्छल राय देते थे। कभी-कभी हमें उनकी राय अनुपयुक्त भी लगती थी पर जहां भी उनकी राय के अनुसार कार्य नहीं किया, पछताना पड़ा। सचमुच वे अत्यन्त दुरदर्शी थे।

उनकी जैसी लगन और उत्साह कम व्यक्तियों में देखने को मिलती है। अनुचित आलोचना से वे कभी कर्तव्य-विमुख नहीं हुए और कार्य सम्पन्न हो जाने पर विरोधियों को भी उनका लोहा मानना पड़ता था। दो वर्ष पूर्व मणिपुर में आई भयंकर बाढ़ के समय बाढ़ पीड़ितों के लिए उनके द्वारा किया गया सहायता कार्य मणिपुर-वासी कभी नहीं भूल सकेंगे।

जाति और धर्म के प्रति उनके हृदय में अटूट श्रद्धा थी। सुप्रसिद्ध विद्वानों द्वारा अंग्रेजी भाषा में लिखी हुई जैन विषयक अनेक पुस्तकें वे अहिन्दी भाषी विद्वानों को भेंट देते थे, पढ़ने की प्रेरणा करते थे, जिससे जैन-धर्म के सम्बन्ध में वास्तविक जानकारी मिले।

मांगीलाल सेठी
"सरोज" इम्फाल (मणिपुर)

असीम गुणपुंज

श्री भंवरीलाल जी बाकलीवाल की बातें और कार्य कभी भुलाये नहीं जा सकते। उनकी जीवनचर्या विश्वविद्यालय की शिक्षा के समान थी वे असीम गुणपुंज मानवोत्तम थे।

हरखचन्द सरावगी
ज्ञानीराम हरखचन्द कलकत्ता

गांठ से अनमोल रत्न खुल गया

प्रेम, ममता, सद्भावना और सद्गुणावली के मूर्ति स्वरूप श्री भंवरीलालजी बाकलीवाल का वियोग ऐसा हुआ मानों गांठ से अनमोल रत्न खुल गया। वे सदैव देश और समाज के हित चिन्तन में रत रहते थे।

शिखरीलाल गंगवाल
लाडनू

ममतापूर्ण कृपा के धनी

पूज्यपाद श्री भंवरीलाल जी बाकलीवाल से हमारा निकट सम्बन्ध था। उनके ममतापूर्ण अस्तित्व से हमें अपने माता पिता का वियोग भी नहीं खटकता था। उनके विचार आदर्श थे। उनकी प्रत्येक प्राणी के साथ आत्मीयता थी। उनकी सद्भावना और सत्प्रवृत्ति पूर्ण कृपासिंचित व्यवहार अद्वितीय था। उनका अवसान खटकता है और सदैव खटकेगा।

राजकुमार प्रेमचन्द बगड़ा
सुजानगढ़।

एक अद्वितीय महापुरुष

स्व० श्रीमान् सेठ भंवरीलाल जी जैसा व्यक्ति मैंने मेरे जीवन में नहीं देखा। इनसे मेरा सम्पर्क सन् १९५१ के साल में डिब्रूगढ़ में हुआ था, और बाद में इन्हीं की शाखा डीमापुर (नागालैंड) में सेवा करने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ। उन जैसे दानवीर और सरल स्वभाव के व्यक्ति का अभाव पूर्ण होना बड़ा कठिन है। जैन व जैनेत्तर समाज के वे स्तम्भ थे। अनेकों संस्थायें सेठ जी की देख रेख में चलती थी। उस महान् आत्मा को भुलाया नहीं जा सकता।

कल्याणदत्त शर्मा
रींगस (राज०)

वे प्रेम मूर्ति और गुणग्राही थे

श्री भंवरीलाल जी बाकलीवाल की माननीय पण्डित इन्द्रलाल जी शास्त्री के साथ अभिन्न हृदय मैत्री के कारण सुप्रसिद्ध ज्योतिषी विद्वान् मेरे पूज्य पिताजी श्री पण्डित दीनानाथ जी शर्मा के साथ भी घनिष्ठ सम्पर्कता थी। वे जब भी जयपुर आते, मिलते थे। उनके प्रत्येक कार्य आदर्श होते थे। वे बड़े गुणग्राही और प्रेम-मूर्ति थे। वे अपनी तथा अपने पारिवारिक व्यक्तियों की चिकित्सा सम्बन्धी सलाह भी सर्वप्रथम जयपुर में मुझ से लिया करते थे। वे सात्त्विक, परम आस्तिक, परोपकारी, उदार, सेवाभावी मानवोत्तम थे। उनकी रह रह कर याद आती है।

डा० बृजमोहन शर्मा एम डी.
सवाई मानसिंह हास्पिटल, जयपुर

ईडर में श्री १०८ आचार्य विमलसागरजी महाराज के चरण-स्पर्श कर श्री भंवरीलालजी बाकलीवाल आशीर्वाद प्राप्त करते हुये ।

सोलापुर में श्री १०८ आचार्य विमलसागर जी महाराज की
श्री भंवरीलालजी सपरिवार पूजा करते हुये

भा० दि० जैन महासभा के गौहाटी अधिवेशन में श्री भंवरीलालजी बाकलीवाल अध्यक्ष-पद से भाषण देते हुये। श्री पं० लालबहादुरजी शास्त्री, श्री चौ० सुमेरमलजी महामंत्री महासभा सामने बैठे हुये दिखाई दे रहे हैं।

गौहाटी में रा० सा० सेठ चांदमलजी पांडया, छगनलालजी जैन संपादक 'पूर्व-ज्योति' और धर्मचंदजी सरावगी के साथ श्री भंवरीलालजी बाकलीवाल
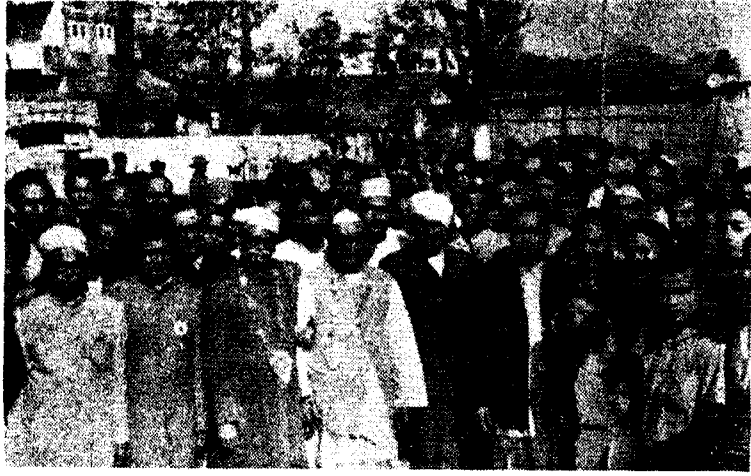
भा० दि० जैन महासभा के गौहाटी अधिवेशन के अध्यक्ष श्री सेठ भंवरीलालजी बाकलीवाल एवं उद्घाटनकर्त्ता आसाम के पी० डब्ल्यू० डी० के मंत्री श्री सिद्धिनाथजी शर्मा अन्य विशिष्ट व्यक्तियों के साथ।

श्री सेठ भंवरीलालजी बाकलीवाल महासभा के गौहाटी अधिवेशन में आसाम के मंत्री श्री सिद्धिनाथजी शर्मा तथा रा० सा० सेठ चांदमलजी पांड्या, सर सेठ भागचंदजी सोनी, रा० ब० सेठ राजकुमारसिंहजी और महासभा के महामंत्री चौधरी सुमेरमलजी के साथ।

Chief Minister

GOVT. OF NAGALAND

KOHIMA

Dated 9-1-68

The passing away of seth Bhaurilal Bakliwal is one of those events that remind the jain community of the sad closing of one of their outsanding personalities.

Sethji, no doubt, plunged deep into the various purposeful tasks in the varied field of social, religion, philanthropic and charitable causes. The sterling qualities of Sethji, his love for the suffering masses and selfless service to the distressed people will always be an objective account in the history of Jainism.

The 'SMARTHI GRANTH' Containing an evaluative account of his life and work will certainly be the most fitting tribute to his memeory.

T. N. Angami

राज्य मंत्री

सत्यमेव जयते

भारत सरकार

इस्पात, खान और
धातु मंत्रालय
नई दिल्ली

दिनांक २९-१-६८

प्रिय पण्डितजी,

यह जानकर मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि स्वर्गीय सेठ भंवरीलालजी बाकलीवाल की स्मृति में एक पुस्तिका का प्रकाशन किया जा रहा है जिसमें उनके द्वारा किये गये कार्यों का समावेश होगा।

स्वर्गीय सेठ भंवरीलालजी बाकलीवाल आसाम व मणिपुर के एक कर्मठ समाज-सेवी व्यक्ति थे। दुखी और दीनजनों के लिए उनका हृदय बहुत उदार और करुणापूर्ण था। १९६६ के मणिपुर में आये बाढ़ संकट के समय उन्होंने बाढ़पीड़ितों को न केवल स्वयं ही ५०००) रुपयों का दान देकर सहायता की वरन् मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी की ओर से उन लोगों की कई तरीकों से सहायता करवाई। वे उच्च-कोटि के धर्मपरायण व्यक्ति थे। समाज के धार्मिक एवं नैतिक उत्थान में वे सदैव प्रयत्नशील रहे। साथ ही वे धार्मिक संस्थाओं को आर्थिक सहायता देने में भी अग्रसर रहते थे।

ऐसे सहृदय, सहिष्णुतापूर्ण, दानशील एवं धर्मपरायण महानुभाव के प्रति मैं अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हुआ यह आशा करता हूं कि उनके संस्मरणों के इस संकलन से सबको यथोचित लाभ व प्रेरणा मिलेगी।

आपका

प्रकाशचन्द सेठी

Minister For Transport, Forests, Excise & Electricity

GOVT. OF NAGALAND

KOHIMA

Dated. 5th January, 68

I am very grateful to those who have decided to bring out a memoir on the life of late Shri Bhaurilal Bakliwal, for the story of a man who had led very successful life, at the same time, sincerely and entirely devoted his life for the wellbeing of his fellow men and his religion should not go untold. He was a pioneer of petroleum and automobile trade in this part of the country. His great organising ability coupled with honesty and devotion to duty had made him a most prominent business magnate of Eastern India.

Apart from this, his most lovable qualities were his whole hearted devotion towards society, and his works and contribution to relief suffering and upliftment of the common people and his life long charitable and humanitarian works. Difference in age had not been a barrier for him to associate himself with the younger generatian. He took a very keen interest that the youth lead an honest, straight and a correct life. His elderly, matured advice and guidance to the youth was not found wanting.

I personally cannot forget the time when we started a private Science College at Kohima, and he, who immediately after hearing the news was the first to come forward voluntarily with contributions and even after, he had been always a source of encouragement. He created enthusiasm around him wherever he went.

In the death of Sethji I have personally lost a great friend and the people in this part of the country have lost a real friend, for his contribution towards the society was beyond the call of his due.

His Works among us will remain a living memory for generation to come. May his soul rest in peace.

Jasokie

DEVELOPMENT COMMISSIONER
NAGALAND, KOHIMA

To us who have known him for many in both our official as well as private capacity, the sad demise of Shri Bhaurilal Bakliwal was a personal loss. A tireless social worker who devoted most of his time to the service of the people inspite of his preoccupation with his many business commitments, Shri Bakliwal in no small measure played his part in the building up of road transport net work in this eastern region.

His death was a great loss not only to the jain community but also to the country in general. The void created by his death would be hard to fill.

May his soul rest in peace.

H. Zopianga
I. F. A. S.

IMPHAL

It gives me great pleasure to know that a publication containing reminiscences of the late Shri Bhaurilal Bakliwal is being brought out by a committee specially formed for the purpose. I had the privilege of coming into contact with the late Shri Bhaurilalji during the last few years and was deeply impressed by the good qualities possessed by him. The most remarkable about Bhaurilalji was his deep sense of service to the society especially its bereaved section. During the years of my associations with him he was not keeping good health. In spite of his ill health and old age he took keen interest in religious activities and causes concerning the massage. During the last floods in Manipur which were considered the most damaging in the last fifty years, Shri Bhaurilalji came forward not only with his donation but with the remarkable idea of inviting the Marawari Relief Society of Calcutta to help the floodstricken people of Manipur.

He took great pains in making the necessary arrangements for the Marwari Relief Society's relief operations in Manipur. Manipur should remain grateful to the Marwari Relief Society and also to Shri Bhaurilalji for the noble service rendered to the people of Manipur during their plight. I always admired the old man for his deep faith in religion. In spite of his wealth, he could remain detached to it and think of the poor masses who needed his help. I remember the occassions when he personally toured the flood affected areas to judge for himself the magnitude of sufferings. He was a good example to be followed. May his example inspire us towards noble couses. I wish the plan of the publication Committee a grand success.

M. Koireng Singh

SECY. TO THE GOVT. OF NAGALAND
Medical & Industries Deptts.
KOHIMA, NAGALAND
Dated. 5-1-1968

All the way from far off Rajasthan, the land of Rajahs had young Bhaurilal Bakliwal come to this Eastern most frontier region of Manipur 60 years ago seeking for a virgin world to help develop it into a prosperous land and make the people happier.

As a pioneer, amongst the leading business men of Manipur he was exceptionally considerate and God fearing. I, as Regional Assistant Commissioner for Scheduled Castes and Scheduled Tribes for Assam, Manipur, Nagaland and Tripura, used to tour Manipur and Nagaland very often and I was deeply impressed by the popularity of Shri Bhaurilal Bakliwal in all circles for his great devotion and contributions made to the cause of the poor and distressed people.

It is no small honour far a man that had started his life career in a far flung area in most difficult days many years ago to raise to the distinction of becoming the President of All India Jain Mahasabha simply by virtue of his humane approach to problems of life and self dedication to religious sanctity.

I. Sashimeren Aier,
M. A. I. F. A. S.

GOVERNMENT OF NAGALAND

Minister for Tuensang Affairs
Community Development and Cooperation

KOHIMA

Dated 9 January, 68

I am very happy to learn that a memoir on the life of the late Shri Bhaurilal Bakliwal is being brought out. It is a fitting tribute to one who had devoted his entire life to the welfare of his fellow beings and religion. He was a pioneer of the petroleum and automobile trade in this region. Starting his eventful career when he was only 11 years, with sheer hard work and devotion to duty he was able to establish his name and fame within a short period.

Charitable in nature, he could be approached any time by any body for help and guidance. His philanthropic nature made him associate with quite a number of social and charitable institutions in the whole country. In the field of business also, his was a common name in vaiious trading organs.

He was a family friend of my father Shri Imlong Chang from the late thirties and in his death we have lost a good friend.

May his soul rest in peace.

K. A. Imlong

GOVERNMENT OF NAGALAND
(SECRETARIAT)

Special Secretary Home Department

Telephone No. Office : 242
Residence : 205

KOHIMA

Dated. **2nd November, 1967.**

My Dear Chainroop,

It was with great sorrow that I learnt of the death of your father. Please accept sincere condolences from my wife and myself and convey them to your brothers and the other members of your family.

I had the pleasure of knowing the late Shri Bhaurilal Bakliwal during the past three years and have also known of his activities in many fields as a philanthropist, social worker and professional businessman. I am sure therefore that his loss must be felt not only by you and your family, but by the whole jain community whom he represented as Chairman of the All India Jain Society, and the many other persons with whom he came in contact.

Whatever may be his achievements in other fields, in Nagaland he will probably be remembered as being the first businessman to have introduced petroleum products and the automobile trade into this State. That these had a sound beginning and continue to flourish is, in its own small way, a tribute to his enthusiasm, hard work and drive.

It is said that "men live on in their good deeds" and the late Shri Bhaurilal Bakliwal will surely be long remembered for his humanitarian and philanthropic endeavours, which I am certain his able sons will carry on.

With best wishes,

R. H. M. D'Silva
I. F. A. S.

SHRI PARSHWANATHAYA NAMAHA SHRI PADMAVATHIDEVI PRASANNA

HIS HOLINESS JAGADGURU SWASTISRI DEVENDRAKEERTI BHATTARAKA PATTACHARYAVARYA SWAMIJI

SRI JAIN MUTT, Hombuja. P. O. HUMCHA, (Shimoga Dt.) Mysore State.

ASHEERWADA PATRAM

To

SHRIMAN SETH BHAURILALJI BAKLIWAL
S/O SHRIMAN SETH KHUBCHANDJI BAKLIWAL
MERCHANT-PRINCE, IMPHAL, Manipur State.

Dharmaveera !

We are extremely happy towelcome you and the members of your noble family to this ancient and sacred place of pilgrimage, established by the illustrious jinadattaraya, the founder of Santhara dynasty of Kings. By the grace of Sri Padmavathi Devi, the presiding deity of this Kshetra. These Kings ruled over this Kingdom for centuries, transferring their Capital from Hombuja to Kalasa, Mudigere Taluk and on to Karkala in South Kanara, where one of the decendents of Jinadattaraya, Bhairarasa Wadeyar installed a colossal statue of Lord Gomateswara in the fifteenth century A. D, Jaganmatha Shri Padmavathi Devi graced the King Jinadattaraya with the boon of convereting base metal into gold. Therefore, this place took the name of Hombuja, the birth place of gold.

Manya Dharmatma !

You were born at Lalgarh in Rajasthan. Your illustrious father Sriman Seth Khubchandji Bakliwal was a great munificent benefactor and of immense devotion in Jaina religion and philosophy. You, as a true son of a great father has

taken to religious devotion and philosophical attitude by following the tenets of your great religion by thought, word and deed.

The vow of fasting for ten days by your goodself and the member of your family goes a long way in depicting your staunch faith in the teaching of Lord Tirthankaras and subsequently by Poojya Ganadharas and Jaina Acharyas.

Though your general education is not of a high standard, your interest and experience have given you a place of honour in our country. You have been evincing sincere and deep interest in social service and philosophical undertakings. Your staunch devotion to Jaina Acharya and Asceties to be greatly commended. You are undertaking long journeys to have darshan of Muni Sangha. Your Munificence to deserving persons and institutions have received the appreciation and aprobation from all quarters in our country. You are visiting every year Shri Acharya "Vimala Sagar Muni Sangha." You have performed during Dashalakshana Parva ten days fasting. This year you have observed ten days fasting at Sholapur along with your noble wife and beloved sister. We are happy to learn that your good son and dutiful daughter-in law observed ten days fasting at Manipur You are occupying the most coveted and elevated position of the presidentship of Bharata Varsheeya Digambra Jaina Dharma Samrakshini Mahasabha. This is a testimony to your devotion to Dharma and your ardent desire to visit places of pilgrimage and your object of bringing unity among the various sections of the Jaina community. This Mahasabha has achived commendable progress in all the fields of its activities for the amelioration and upliftment of Jaina community. Your speeches delivered from the Presidential seats at Marsalganj and Gauhati Mahasabhas are really exemplary in every respect and they have become a beacon light to the leaders of your community by giving them great inspiration and new strength to serve our community. The above named Mahasabha stands over firm foundation by your great efforts and sacrifices. You are watching with the keen interest the development of our community, in the whole country and wherever there is need for preserving the rights and interests of our community, you are

running to that place to redress the grievances to the best of your ability. Your farsightedness, your devotion to duty your following unflinchingly the Pancha Anuvratas namely Ahinsa, Satya, Achourya, Brahmacharya and Parimita Parigraha are really great gems adorning your respectable personality.

We are supremely happy to bring to your knowledge that by the grace of Lord Parshwanatha and Jaganmatha Shri Padmavathi Devi, we have established Shri Kunda Kunda Vidya peetha after the name of that great ilustrious Poojya Acharya Shri Kunda Kunda Maharaj, which is a residential University for preparing batches of Dharmopadeshekas who will go from corner to corner both in India and abroad and propagate the great philosophical teachings of our Venerable Tirthankars, Ganadharas and Acharyas. Shri M. K. Jinachandran of Kerala State who has already spent more than Rupees Five Lakhs for renovating and reconstructing some of the temples here has also undertaken to construct the main building of Shri Kunda Kunda Vidya Peetha.

Dharmanistha Shresthivara !

We take this opportunity of blessing you and the members of your noble and respectable family and wishing you long life, health, wealth presperity and unprecedented glory !

SHRI KSHETHRA, HOMBUJA,
Dated ; 15-10-1966

Swasti Shri Devendra Keerthi Bhattaraka
Pattacharyavarya Swamiji

SECRETARY,
(FINANCE & TRANSPORT)

GOVT. OF MANIPUR

IMPHAL

Dated **28th December 1967.**

I was shocked to hear the news of the demise of Shri Bhaurilal Bakliwal. Whoever has come in contact with him can never forget his ever-smilling face and his genial personality. He had always a soft corner for the poor and those in distress. The relief measures he undertook especially during the floods of 1966 will live in the memories of the Manipuries for quite some time. His loss is irreparable not only to his family but for many in Manipur.

May his soul rest in peace.

S. Subramaniam

—We very much regret to announce the sad and sudden demise of Shri Bhaurilal Bakliwal proprietor of Messrs Bhaurilal Bakliwal & Co., our Agents at Imphal, at his home town Sujangarh in Rajasthan on 16th October. He was 69 years of age at the time of his death.

Messrs Bhaurilal Bakliwal & Co. came into existence in 1959 after the division of the parent firm of Messrs Saligram Rai Chunilal Bahadur & Company into smaller groups owned and controlled by individual partners. Shri Bakliwal has been associated with Messrs S. R. C. B. Group for the last 40 years and has played a very great role in extending the Group's interests before their division.

He was a man of considerable standing in the Jain community and was elected President of the All India Digambar Jain Mahasabha during 1964 In recognition of his services to the community, Shri Bakliwal was awarded the title of "Dharamveer".

In the spheres of trade and commerce also he took active intrests and he was elected President of the North India Petroleum Dealers Association during 1964. He was also elected President of the Associated Manipur Chamber of Commerce. He also served as a member of the N. F. Railway Zonal Users Consultative Committee and the Manipur State Transport Advisory Board. He was a man well liked and respected in Manipur. He is survived by his wife, four sons and three daughters. We convey our heartfelt condolences to the bereaved family. May his soul rest in Peace.

—Batori

—Shri Bhaurilalji was full of his usual wit and charm when I met him last January at Imphal. He wasn't feeling fully well yet he spared me an hour. I can never forget him and his philosophic approach to life.

I pray that may he rest in peace in his heavenly abode, and may I abide by his teachings and advices.

—Rajendra Singhal,
Ragional Representative, Hindustan Motors Ltd.
Shilong-3

—**Late Bhaurilal Bakliwal**—was known to me since last 30 years or so. I came in his contact while he was interested in the organisation of M/s. Saligram Rai Chunnilall Bahadur & Co., who had their business as B. O. C. Agents all over Assam. We used to meet each other at Jorhat and discuss various problems concerning our business as Petroleum Dealers. We both discussed several times about formation of a Petroleum Dealer's Association in Assam and as a result of his efforts an association with the name "**North East India Petroleum Dealer's Association**" was formed in the year 1960 with Late Shri Bakliwal as its founder president. We met several times in connection with association affairs at various places including Gauhati and Calcutta. He was a man of great integrity, noble heart and always advocated for fellowship & Friendship amongst all. By his death we have lost a great adviser and a guide. May God grant eternal peace to the departed soul.

—B. L. Lahoty
Mg. Director, Lahoty Bros. (p) Ltd.

—In this part of the country it is not necessary to introduce the late Bhaurilal Bakliwal. He was a man of great standing in social circles and in the society. He has never failed to come to the rescue of the poor and the distressed whether asked for or not. The great part he played in the great havoc caused by the unprecedented flood in 1966 in Manipur will ever be remembered. At the age of 70 despite of many discomforts and inconvenience he visited all the flood affected areas in Manipur and personally supervised the flood relief works and distributed clothes and other essential things to the people affected by flood. This is a great thing. A soul selfless and dedicated to the service of the people we have lost. To him there was no difference of caste, religion and class. He swam in the vast human society. He is loved by all. The Marwaris, the Manipuris and any people came into contact with him could not but be impressed by the simplicity, benevolent outlook and religious mindedness. Though brought up in the old society, he was able to adjust to new changing one and could easily adopt himself to the modern way of life and thinking. Indeed we have lost a great man and a lovable personality.

—Y. Nilmani Singh
Chairman, Imphal Municipality.

—The Marwari Dharmshala Committee, Imphal deeply regrets the sudden death of Late Bhaurilal Bakliwal on 16th Oct. 1967 and find no word to console the bereaved family. Late Bhaurilalji Bakliwal became the President of this Committee in the year 1962 and remained at that Post till 1965. In 1665 he resigned from that post due to his ill health and shouldering the responsibilities of Akhil Bharatiya Digamber Jain Mahasabha. But though he was relieved of that post, yet he was always anxious for the progress of this Committee and was always eager to give us his valuable advice.

His only belief was that "He prayeth best, who loveth best" and was of opinion that our main aim is not only the accumulation of wealth but to render services to the oppressed humanity. The Committee expresses that the untimely death of Sri Bhaurilalji Bakliwal is an irreparable loss to us. May his soul rest in Peace !

G. L. Bagri
Hon'y Secretary,
Marwari Dharmshala Committee,
Imphal.

—I beg to reproduce below the resolution adopted by this Chamber as a mark of our deep sympathy for the bereaved family and as a mark of respect to the departed soul of Shri Bhaurilal Bakliwal.

"Resolved that the members of this Chamber are profoundly shoked to learn about the sudden demise of Late Bhaurilal Bakliwal, who was the former President of this Chamber. He was associated with this Organisation for many years and contributed substantially towards its growth. He was also associated with many other Charitable Organisations within and outside Manipur. He endeared himself to all by his sincere and straightforward dealings This meeting prays for eternal peace for his soul."

Sardar Kuldip Singh
Joint Secretary.
The Associated Manipur, Chamber of Commerce
Imphal (Manipur)

—The management & staff of the Cachar Motor works deeply condole the passing away of Sethji and pray that his soul may rest in peace.

Secretary.
The Chachar Motor Works.
SILCHAR.

—It is with profound sorrow that I have learnt about the death of Shri Bhaurilal Bakliwal. With his passing away, a great personality has left us with whom I was so intimately connected for over 15 years.

Please accept heartfelt condolence from my wife and myself.

—**P. Rajkhowa, Digboi**
(Assam)

—I had known Shri Bhaurilal long before I had com to Marketing and I still remember his ever smiling face in the Jorhat Gola. He was a good soul and ever so helpful. In the passing away of Shri Bhaurilal, AOC has lost one of their very able Agents and a·dear friend.

—B. K. Barman
The Burmah Oil graup of Companies New Delhi I

My dear Nathmal ji,

Seth Shri Bhaurilal ji Bakaliwal was a grand old man of the automobile trade and whoever came in contact with him developed deep regards for his personality and affectionate manners. It will be difficult to fill the void created by his departure.

I wish to convey my sincere condolences to you, your brothers and other members of the bereaved family. May God grant eternal peace to the departed soul.

—**N.C. Chaturvedi**
Hindustan Motors Ltd. Calcutta.

In Shri Bhaurilal I have lost a very good personal friend.

—**K. B. Kanuga**
Geneal Manager
Oil India Ltd. Duliajan, Assam

On behalf of myself and the various members of the staff who knew Shri Bhaurilal Bakliwal during his long and valued association with this Company, I write to extend our deepest sympathy in this sad loss.

Shri Bhaurilalji's friends in London will also be grieved to hear of his death.

—**J. D. Watt**

General Manager, Assam Oil Company Ltd.

Digboi, Assam.

Please accept my heartfelt condolence for the sad demise of Shri Bhaurilal Bakliwal.

—**S. M. Jaju**

Please accept my hearty condolence and convey the same to all Bakliwal family.

—**D. P. Bose**

Hindustan Motors Uttarpara

Hoogly, (W.B.)

I was very shocked to hear the sad demsie of Pujya Shri Bhaurilalji, who had enrolled himself as a 'Life' Member 'A' Class, of our above Sociecty. On behalf of the Board of Management of the Society, I convey herein their sincere condolences to the members of the family of late Sri Bhaurilalji. It is a irrepairable Loss.

— **C. B. M,Chandraiah**

Secretary Shri Gomateswara Education Society

Sravanabelgola

It is really an irrepairable loss to your family and organization. I still have my memory very fresh in my mind of last meeting with him. He was really a noble hearted man and hence he commanded sincere respects from any person who had an occasion to meet him.

I also humbly pray God to give eternal peace to the departed soul.

—**P. C. Modi**

Calcutta.

This meeting of the Devalaya Committee receives with great regret the news of sudden demise of Shri Bhaurilal Bakliwal of Messrs. Bhaurilal Bakliwal & Co. of Imphal, and place on record, its deep sense of sorrow at the passing away of the gentleman.

Resolved that this committee convey its heartfelt condolence to the bereaved family of the departed and prays to Almighty for the eternal rest of his soul.

Moved from the Chair and adopted all standing and observing two minutes silence.

—G.C. **Bhattacharjee**
Precident, Devalaya, Imphal

I knew, he was keeping indifferent health for sometime but as be was bearing the suffering with a strong will power, it was everybody's belief that he would come through the struggle successfully. Perhaps God willed something else. May God give peace to departed soul.

—**A. K. Saraswat**
Assam Oil Co. Ltd, Digboi, Assam.

Bhaurilal Babu was a highly respected citizen who lived for an ideal. I greatly valued his advice and this will now be missed by all.

May god rest his soul in peace.

—**R. Ray Chaudhuri**
Marketing Manager Assam Oil. Digboi

I was so sad to hear of Bhaurilal's death on the 16th.of October, 1967. He was a kind & good man and he will be greatly missed by all his friends in the company.

—**W. P. G. Maclachlan**
57, Chiswell Street, London EC1

I offer my deep condolence for Shri Bhaurilal Bakliwal's sudden demise. May the departed soul rest in peace in Heaven.

—**K.L. Das**

I am glad to learn that a souvenir is brought out to commemorate Shri Seth Bhaurilalji Bakliwal. He resided in Imphal and I had the privilege to know him personally. He was a great social worker and a great benefactor of mankind. In my tennure as the Chairman of Imphal Municipal Board, I found his munificence and unlimited zeal for social service. He was of great help to the people of Manipur. I would like to mention just one instance which will give an idea of his generous heart. It was the time of the great flood of 1966.......the worst in the living memory.......which affected nearly the whole of the valley of Manipur. Sufferings of the people was mounting. All means of communication were disrupted. Relief operation was the supreme need of the hour. It was at this critical time that his great munificence came forth spontaneously to relieve the misery of the people. Although he is no more with us I am sure his noble example will continue to inspire us.

—R. K. Birchandra Singh
President Manipur Territonal Congress Committee

We have lost a great friend in Bhaurilal and someone who was so closely associated with our business that he was regarded as a colleague and equal as well as a friend : Everyone will miss him.

—A. C. Gowan, O. B. E.
57, Chiswell Street, London EC1

I have had always great regards for his nobility and sacrifice for the general cause of humanity.

Such persons are born for the wellbeing of the community and are long remembered for their valuable services. You should therefore never miss his absence and always be prompted by his lofty ideals which is the greatest homage one can ever pay to such a pious soul.

—Kailas nath
Hindustan Motors Ltd, Calcutta.

My wife and I send our deepest sympathy to you, Prasanna Kumar, Mannalal, Chainroop and all the family at this time.

—C E. **Findlay**

Chief Marketing Manager,A.O.C. Digboi

Bhaurilal Babu has lived a glorious life and was a man with noble heart and qualities not often found in today's world. I knew him from his boy hood and you and many others know how deep confidence we had in each other. Man is not eternal but the separation casts a shadow of sadness.

S. Ghosh

Dibrugarh. (Assam)

I had been in his association for the last four years. He was a man of exactness, righteousness and punctualities-virtues rarely seen these days. He had tremendous spiritual courage and faith in God. Even the fear of death could not disturb the tranquility of his mind. The day he came to know that he is suffering from cancer prostate, he appeared more enegetic more happy and peaceful. This intensity of 'Atmabala' is rarely observed in persons of his age group. This he took as an invitation from Almighty and considered himself most fortunate sole. He continued his daily activities. He would clean his wash basin, bathroom mirror and see personally that everything is neat clean and in proper order. Self help was his deep rooted motto.

He attended his mails regularly and used to write about forty letters a day to different societies, institution and his friends.

He had a soft corner for the poor and always did his best to remove suffering from amongst them. He was modern in his relegion and had a broad out look for different ones. The day to day problems of our country were also his concern. Even two days before death he would suggest ways and means for peaceful co-existance of nattions The shadows of death started prevailing on him and he tried to challange it vigorously. He constantly devoted his soul to his salutations and was calm and quiet, inspite of the agonising pain from secondosies of prostate in

bones. His last words to me were, please do not waste time on me, doctor, go and attend to your poor patient. A rare sole amongst the rich.

Dr. V. V. Vyas M. S.
Sujangarh

Grieved to learn passing away of Seth Baurilalji Bakliwal. In him community has lost a great Benefactor. May the Depareted Soul rest in peace.

(**Sahu**) **Shriyans Prasad Jain**
Bombay.

I was extremely sorry to read about the sad demise of Shri Bhaurilalji Bakliwal. In one Chaturmas he was in Kolhapur and I had the good luck of laving some contact with him.

Dr. A. N. Upadhye M. A.D. Litt.
Kolhapur.

Grieved to learn Suden death of Bhaurilalji Bakliwal. He was himself a religious centre, broad minded and pious hearted man Manipur has lost an importent personality.

Madanlal Dugar
Gauhati.

A loss to the whole Jain community not to yours alone.

Madanlal Barjatya
Gauhati.

We have lost a great and sincere worker and devotee in him. He was a man of very straight forward nature which was definitely ideal for the entire generation. The zeal and interest with which he has carried on the work of the Mahasabha will be remembered by all of us for long time to come. The efforts contributed by him in the service of Mahasabha have definitely taken us to the prgress.

Jaichand D. Lohade
M. A. LL. B.
Hydrabad.

लालगढ़ निवासी, सुजानगढ़ प्रवासी, मनीपुर वासी यशो पुञ्जराशि
निखिल जैन समाज शिरोमणि
श्रीमंत सेठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल को

श्रद्धा-सुमन-समर्पण

रतनचन्द जैन "विशारद"

श्री-जिन पद पंकज भगति में रहते निशदिन लीन,
भं-वर जेम पंकज विषै धारत प्रीति अलीन।
व-श करि इन्द्रिय लालसा व्रत उपवास करंत
री-ति नीति पालन कुशल सबसों प्रीति धरंत ॥

ला-भ धर्म को ले गये यश की-रति-विस्तार,
ल-लित जिनालय थापि के शहर मनीपुर सार।
जी-वन भर अतिशय विमल सदाचार सों नेह,
बा-लक वत निश्छल हृदय सर्व गुणन के गेह ॥

क-रतव पालन में सुदृढ़ गुरु भक्ति लवलीन,
ली-ला ऐहिक त्यागि के भए स्वर्ग आसीन।
वा-ह्याभ्यंतर मोह तजि धरि जिन पद में ध्यान,
ल-ख लख नर नारी मुकुट भए सु अन्तर्ध्यान ॥

को-टि कोटि मानव बिकल सुनकर दुखद वियोग,
श्र-द्धा अवनत शीश सो दर्शायो निज शोक।
द्धां-म परम उनको मिले शान्ती सुक्ख निधान,
ज-गती तल पर नित रहे यशो कुसुम अमलान ॥

लि-छमी का व्यामोह तजि दियो चतुर्विध दान,
स-गरी जैन समाज सों मिला पूर्ण सन्मान।
म-हा सभा के अधि-पति थापे चतुर सुजान,
प-ता तुल्य ही हों सदा चारों पुत्र महान् ॥

त-न मन धन सो नित करे धर्म "रतन" को ध्यान।
हो-वे परिजन शान्ति सुख पौत्र बनें गुणवान ॥

भव्य श्रद्धार्पण

'सुधेश' जैन नागौद

आश्विन शुक्ला त्रयोदशी को उस पर मोहित काल हो गया।
औ' सदैव के लिए दूर अब हमसे 'भंवरीलाल' हो गया।।

१

जिसने सदा किया था श्रद्धा पूर्वक जिन देवों का अर्चन।
जिन-शास्त्रों पर आस्था रखकर किया महान पुण्य का अर्जन।।
जिन गुरुओं की सेवा करने में भी सदा रहा जो आगे।
औ' इन त्रय कार्यों से जिसमें 'रत्नत्रय' के अंकुर जागे।।
उसी रत्न से शून्य आज अब जैन जगत का थाल हो गया।
हा! सदैव के लिए दूर अब हमसे 'भंवरीलाल' हो गया।।

२

जो निज मन से चाह रहा था निज समाज की दिन २ उन्नति।
पा जिसका सहयोग हुई थी जाने कितनी धर्म-समुन्नति।।
निज समाज की सेवा करने को उत्साहित जिसका उर था।
संकट ग्रस्तों के दुख हरने का भी जिसमें भाव प्रचुर था।।
वह ही लाल 'लालगढ़' का खो निष्प्रभसा 'इम्फाल' हो गया।
हा! सदैव के लिए दूर अब हमसे 'भंवरीलाल' हो गया।।

३

उस दानी को कैसे दें हम अपनी श्रद्धा के ये पंकज।
एवं 'मलखू देवी' को हम किन शब्दों से देवें धीरज।।
उनके व्रत गतिशील रखें हम यही प्रमुख कर्तव्य हमारा।
यह ही उनके प्रति श्रद्धार्पण होगा सबसे भव्य हमारा।।
इन शब्दों के साथ यहां अब उनके प्रति नत भाल हो गया।
हा! सदैव के लिए दूर अब हमसे 'भंवरीलाल' हो गया।।

समाज के सच्चे हितैषी

श्रीमान् स्व० सेठ भंवरीलालजी बाकलीवाल अनेकबार इन्दौर आये। महासभा की कार्यकारिणी की बैठक इन्दौर में हुई तब ३ दिन वे यहां रहे। जब जब वे इन्दौर आते, मुझे अवश्य याद करते थे और मुझे इन्द्रभवन बुला लेते थे या वे शहर आ जाते थे। कई बार घण्टों हम लोग परस्पर समाजहित के सम्बन्ध में चर्चा करते रहे हैं। उनके लम्बे पत्र भी मेरे पास आते रहे हैं जिनमें समाजहित की रूपरेखा बनाकर सम्मति ली जाती रही है। सेठ सा० का मधुर स्वभाव, स्नेहपूर्ण व्यवहार और समाजसेवा की अपूर्व लगन आदि असाधारण गुण मेरे मन को आज भी आकर्षित कर रहे हैं।

श्री महावीरजी में समाज के प्रमुख श्रीमानों और विद्वानों को आमन्त्रित कर महासभा के मंच से उन्होंने समाज में ऐक्य स्थापित करने और कतिपय मतभेदों को दूर करने का खूब प्रयत्न किया था। महासभा के सभापति पद से उन्होंने कई माह भ्रमण करते हुए बिताये और समाज के दूषित वातावरण को बदलने की कोशिश की। यद्यपि वे शरीर से अस्वस्थ रहे, पर उनके मन और वाणी में उत्साह और तेजस्विता में कमी दिखाई नहीं दी। मैंने तो उनमें अपनी धारा प्रवाह वक्तृता से श्रोताओं पर अपना प्रभाव कायम कर सकने की क्षमता ही देखी।

श्री सेठ साहब द्वारा दशलक्षणपर्व में घर से दूर बाहर अपनी वृद्धावस्था और शरीर के अस्वस्थ होने पर भी दस दस उपवास किया जाना कोई साधारण बात नहीं है, यह उनकी धार्मिक दृढ़ता का उदाहरण है। वे विद्वानों का सम्मान और आदर करते थे। वे यह भलीभांति जानते थे कि समाजसेवा और धर्म की प्रभावना में विद्वानों का बहुत बड़ा हाथ रहता है अतः उन्हें प्रोत्साहन देना अत्यावश्यक है इसीलिए वे विद्वानों का पूरा ख्याल रखते थे।

उनकी मेरे प्रति सहानुभूति के अनेक प्रमाण हैं। उन्होंने गोहाटी पंचकल्याणक प्रतिष्ठा के लिए बहुत प्रेरित किया था, पर मैं नहीं जा सका। महासभा परीक्षालय के सम्बन्ध में उनके कई पत्र उत्तर स्वरूप मुझे मिले हैं।

श्री महावीरजी की मीटिंग में मुझे भी आमन्त्रित किया गया था। मैं लौटते समय उनसे मिला नहीं तो उन्होंने मुझे आने जाने के व्यय के ७१) रुपये का मनीआर्डर भेजा जिसे ज्यादा समझ कर मुझे लौटा देना पड़ा।

श्री भंवरीलालजी सा० के दिल में समाज की वर्तमान दुरवस्था के प्रति जो दर्द था और उससे बेचैन होकर जो वे उद्‌गार प्रकट करते रहते थे उनकी आज भी स्मृति बनी हुई है।

समाज में या महासभा में विविध विचार वाले लोग हैं और हर जगह ऐसे लोग रहते आए हैं। एक परिवार में भी यह देखा जाता है कि पति कुछ विचार रखता है तो पत्नी उससे भिन्न ही विचार रखती है। जैसे एक ही घर में पत्नी तेरापंथाम्नायी है तो पति बीसपंथाम्नायी परन्तु दोनों विचार सहिष्णु बनकर अपना अपना काम करते हुए घर में प्रेम पूर्वक रहते हैं। जब घर में यह मतभेद होता है तो समाज में क्यों नहीं होना चाहिए। एक दूसरे की मान्यता या विचारों पर आक्षेप या घृणा करना और शत्रु मान बैठना बुद्धिमानी नहीं कही जा सकती। जहां मन्दिर, पंचायत और धार्मिक क्रियाकांड का सूत्र सामाजिक बन जाता है, वहां साथ छोड़ना बहुत कठिन है। ऐसी स्थिति में जो जहां चल रहा हो उसमें जानबूझ कर कषाय वश बाधा डालना क्षोभ का कारण होता है। श्री भंवरीलालजी सा० समाज और महासभा के हित को लक्ष्य में रखकर सबको संगठित करने का ध्यान रखते थे इसीलिए वे दो बार महासभा के सभापति चुने गए।

अपना व्यक्तिगत विचार रखते हुए भी बिना दूसरे को हानि पहुंचाये माध्यस्थ भाव से ही आज समाज और महासभा समान संस्था को संचालित करने में कोई सफल न बन सकता है। सुधार भी प्रेम और सद्भाव पूर्ण व्यवहार से ही संभव है। सामाजिक नेतृत्व करने वाले को ऐसी बातों का पूर्ण ध्यान रखना होता है। उसका बहुत बड़ा दायित्व है। इसका सेठ साहब को पूरा अनुभव था।

स्व० श्री सेठ साहब का स्वास्थ्य उत्तरोत्तर खराब होता गया, पर वे धर्म में दृढ़ रहे और बीमारी में ही उदयपुर श्री १०८ पूज्य आचार्य श्री शिवसागर जी महाराज के दर्शनार्थ गये, उनका आशीर्वाद प्राप्त किया। अंत में हंसते हंसते सावधान होकर शरीर छोड़ सद्‌गति को प्राप्त हुए। समाज में ऐसे नेताओं की आवश्यकता है। वे समाज के सच्चे हितैषी थे।

नाथूलाल शास्त्री इन्दौर

श्रीमान् सेठ भंवरीलालजी के प्रति

श्री शर्मनलाल सकरार, झाँसी

जैन जाति के सुमन, सत्य सौरभ के दाता।
दीन हीन के लिए रहे, आनंद-प्रदाता॥

आज तुम्हारे बिना, लुटा लगता युग सारा।
गोरी सूनी हुई, क्षितिज का टूटा तारा॥

कहें "सरस" कवि तुम्हें सौंप कर, नौका सभी निहाल थे।
जग सागर की भंवर बचाने, आए भंवरीलाल थे॥

दिवङ्गताय महानुभावाय श्रद्धाञ्जलि-समर्पणम्

श्री नारायण शास्त्री काङ्कर: व्याकरण-साहित्यसांख्याचार्य: M. A.

श्रेष्ठी श्री भंवरीलालो बाकलीवाल-गोत्र-जः ।
पुण्यात्मा धर्मवीरोऽयं कीर्तिकायेन जीवति ॥१॥

सप्तम्यां भाद्रकृष्णायां पञ्चपञ्चाशदुत्तरे ।
ऊनविंशे जनिं लेभे वैक्रमाब्दे महामनाः ॥२॥

सत्पात्रदानी परदुःख वेत्ता साहाय्यकारी समये समेषाम् ।
अजातशत्रुः कुशलः प्रवक्ता गुणी गुण-ग्राहक आः ! विलुप्तः ॥३॥

व्यापारकं सम्मिलित -स्वरूपे दत्तावधानोऽयमकृष्ट-पूर्वम् ।
परं तदूर्ध्वं नितरां स्वतन्त्रं कर्त्तुं प्रवृत्तोऽजनि लब्धनामा ॥४॥

प्रभूतमर्थं समुपार्ज्य तस्मिन् सत्कार्यराशौ व्यनियुङ्क्त सोऽयम् ।
सञ्जायते सञ्चयनं विसृष्टयै सतां सदा वारिमुचां यथाहि ॥५॥

कायेन वाचा मनसा स्वधर्मं निर्भीतिपूर्वं समपालयत् सः ।
अन्त्यक्षणे चाऽप्यरहत्सु सिद्धं जपन् स्मरन्नेव दिवङ्गतोऽभूत् ॥६॥

आजीवनं धार्म्मिकवृत्तिरेव सर्वत्र सामाजिक-कार्य-पूर्त्तौ ।
यथोचितं स्वं सहयोगदानं चक्रे सदा नामनि निःस्पृहः सन् ॥७॥

दम्भाऽहङ्कार शून्योऽयं सर्वथोपकृतौ परः ।
सम्पत्तौ च विपत्तौ च समवृत्तिरभूद् गुणी ॥८॥

सत्यः सुधीर्मानवता-प्रतीकः कर्त्तव्यनिष्ठो गुरुदेवभक्तः ।
सतां मतः शास्त्रक-मर्म-वेदी मुहुर्मुहुः स स्मृति-मेति नोऽद्य ॥९॥

पीयूष-स्राविणी वाणी दृष्टिः स्नेह-परिप्लुता ।
मधुरं तस्य हास्यं च प्रत्यक्षमिव भासते ॥१०॥

अस्मान् विहाय त्रिदिवङ्गताय स्वनामधन्याय सुरप्रियाय ।
श्री बाकलीवाल-महोदयाय ददातु शांतिं परमेश्वरोऽस्मै ॥११॥

श्री रामगञ्जे जयपत्तनस्य सुमेरुकर्णाऽध्व-निवासकारी ।
श्रद्धांजलिं सादरमद्य तस्मै ददाति नारायणकाङ्करोऽयम् ॥१२॥

नार्थ ईस्ट इण्डिया पेट्रोलियम डीलर्स एसोसिएशन
का
तृतीय वार्षिक अधिवेशन

सभापति श्री भंवरीलाल बाकलीवाल द्वारा पेट्रोल व्यवसाय की स्थिति पर प्रकाश

नार्थ ईस्ट इण्डिया पैट्रोलियम डीलर्स एशोसिएशन के तृतीय वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर आए हुए अ० भा० पैट्रोल ट्रेडर्स एशोसिएशन के सभापति श्री० आर० एस० वाचा के स्वागतार्थ गौहाटी स्टेडियम (अतिथि गृह) में आयोजित एक समारोह में श्री भंवरीलाल बाकलीवाल ने कहा कि वर्तमान युग में पैट्रोल पदार्थ शक्ति का स्रोत है और उद्योगों में इसका उपयोग दिन प्रतिदिन बढ़ती पर है। औद्योगीकरण की आवश्यकता को दृष्टि में रखते हुए ही देश की तृतीय पंचवर्षीय योजना में तेल के अनुसन्धान, शोधन एवं मार्केटिंग की विशेष व्यवस्था की गई है। श्री बाकलीवाल ने बताया कि देश में बढते उद्योगों की स्थापना एवं विकेन्द्रीकरण, अधिक सड़कों और गाड़ियों का निर्माण एवं जनसाधारण की क्रय शक्ति में वृद्धि और देश की आबादी में २ प्रतिशत सालाना बढ़ती के कारणों से तेल पदार्थों की मांग प्रति वर्ष १० प्रतिशत बढ़ रही है। १९५६ से १९६१ तक पेट्रोलियम पदार्थों की खपत ४·९ मिलियनटन से १९६१ में ७·८ मिलियनटन हो गई। विभिन्न तेल पदार्थों की खपत को दृष्टि में रखते हुए किरासीन लुब्रिकेटिंग डीजल आयल और हाईस्पीड डीजल आयल में सालाना ३ प्रतिशत, ४·९ प्रतिशत, ४·८ प्रतिशत एवं १६ प्रतिशत क्रमशः वृद्धि हुई। श्री बाकलीवाल ने आगे बताया कि हमारा देश अभी तक विदेशों से मंगाए हुए तेल पर बहुत निर्भर रहता है तथा प्रतिवर्ष करीब ८० करोड़ रुपयों का तेल आयात होता है। भारत के तेल एवं प्राकृतिक गैस कमीशन ने तेल के अनुसन्धान कार्य में आशातीत सफलता पाई है। भारतीय तेल शोधन उद्योग में असम का अपना स्थान है एवं गौहाटी में तेल शोधनालय के कारण असम का महत्व और भी बढ़ गया है। गौहाटी में आइल रिफाइनरी के निर्मित होने से दो बातें विशेष रूप से नजर में आई हैं—प्रथम यह कि इससे भारत सरकार की विकेन्द्रीकरण एवं अर्द्ध-विकसित प्रदेशों को विकसित करने की नीति को प्रोत्साहन मिला है। दूसरे इस शोधनागार से डीजल आयल और केरोसीन का अधिक उत्पादन होगा जिसकी देश को सबसे ज्यादा जरूरत है जिससे तेल के आयात में विदेशी मुद्रा के व्यय में काफी कटौती हो सकेगी।

पैट्रोल की दरों का जिक्र करते हुए श्री बाकलीवाल ने बताया कि पिछले पांच वर्षों में पैट्रोल पदार्थों मे टैक्स औसत ५५·७ प्रतिशत से ७२ प्रतिशत हो गये। उपभोक्ताओं के लिए पैट्रोल की दरों का

निर्धारण भारत सरकार दामले जांच समिति की रिपोर्ट के आधार पर करती है और पैट्रोल पदार्थों की दरें निश्चित करने में पैट्रोलियम के व्यापारियों का कोई हाथ नहीं है—विशेष तौर से हाई स्पीड डीजल की बढ़ती हुई मांग एवं पैट्रोल की घटती हुई मांग का उल्लेख करते हुए श्री बाकलीवाल ने बताया कि इससे पैट्रोल व्यवसाय की काफी क्षति हो रही है चूंकि हाईस्पीड डीजल में कमीशन की दरें पैट्रोल में मिलने वाले कमीशन की दरों से आधे से भी कम है जबकि व्यवसायियों का खर्च वैसे का वैसा ही है।

श्री बाकलीवाल ने भारत सरकार एवं तेल कम्पनियों से इस बात की मांग की है कि हाई-स्पीड डीजल में दिए जाने वाले कमीशन की दरों में उचित वृद्धि की जावे। तेल कम्पनियों द्वारा आपसी होड़ व प्रतिस्पर्धा के फलस्वरूप नए नए सर्विस स्टेशनों का बगर किसी आवश्यकता के (indiscriminate) निर्माण करना देश के धन का दुरुपयोग करना है क्योंकि इससे व्यवसायियों में अस्वस्थ प्रतियोगिता को बढ़ावा मिलता है। श्री बाकलीवाल ने भारत सरकार से इस बात का अनुरोध किया कि नए स्टेशनों को बनाने के सम्बन्ध में निश्चित नीति अपनाई जानी चाहिए।

आल इण्डिया पैट्रोल ट्रेडर्स एशोसिएशन द्वारा भारत सरकार से पैट्रोल और हाईस्पीड डीजल में जो कमीशन वृद्धि की माँग की गई है, उसके प्रति भारत सरकार की उदासीनता पर श्री बाकलीवाल ने दुःख प्रकट किया एवं आशा प्रकट की कि पैट्रोल व्यवसाय की उचित मांगों को भारत सरकार शीघ्र स्वीकार करेगी।

वृद्धको एक उपदेश

बाल पनें न संभार सक्यो कुछ जानत नांहि हिताहित ही को
जोवन वैस बसी बनिता उर कै नित राच रह्यो लछमीको।
यों पन दोउ विगोय दिये नर डारत क्यों नरकैं निजजीको
आये हैं सेत अजौ शठ चेत गई सु गई अब राख रहीको॥

उत्तर—

नैनन ज्योति भई अति सूक्षम अंग थके मुख लार बही है,
शब्द सुनाई पड़ैं नांहि कानन दांत गये कर यष्टि गही है।
चाम बढ़ी तृष्णा न घटी उचरयो न सकैं कुछ बैन सही है,
नित लोग कहै अब राख रही पर, राखनिको क्या राख रही है॥

नॉर्थ ईस्ट इण्डिया पेट्रोलियम डीलर्स एसोशियेशन की स्थापना दि० ३१-१२-१६५६ को डिबरूगढ़ में। श्री के० पी० त्रिपाठी (श्रम एवं उद्योग मंत्री, आसाम) द्वारा उद्‌घाटन हुवा। श्री सेठ भंवरीलालजी बाकलीवाल, इम्फाल प्रथम सभापति एवं श्री के० बी० कानुगा (डाइरेक्टर-आइल इंडिया लिमिटेड) मुख्य अतिथि के रूप में।

जयपुर में पूज्य श्री १०८ आचार्य देशभूषणजी महाराज की जयंति में अध्यक्ष पद से भाषण देते हुये श्री भंवरीलालाजी बाकलीवाल।

मनीपुर राज्य के मुख्यमंत्री श्री एम० कोइरांगसिंह एवं अन्य मंत्रियों का अपने निवास-स्थान में स्वागत करते हुये श्री सेठ भंवरीलालजी बाकलीवाल ।

स्व० सेठ भंवरीलालजी बाकलीवाल के ज्येष्ठ पुत्र श्री नथमलजी नगरपालिका अध्यक्ष के रूप में ।
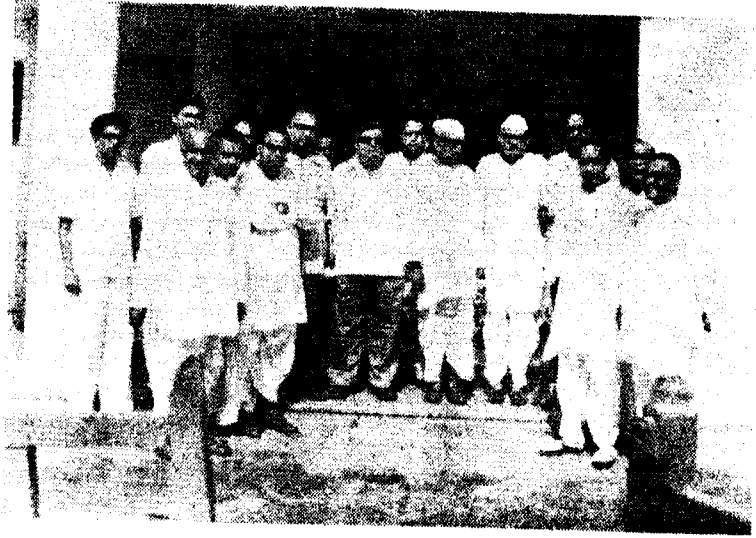
गौहाटी में हुये नॉर्थ ईस्ट इंडिया पेट्रोलियम डीलर्स एसोशियेशन के तृतीय वार्षिक अधिवेशन के सभापति श्री सेठ भंवरीलालजी बाकलीवाल एवं श्री आर० एस० वाचा सभापति अ० भा० पेट्रोल ट्रेडर्स एसो- शियेशन का एयर पोर्ट पर आसाम के प्रमुख व्यवसायियों द्वारा स्वागत ।

आसाम आयल कम्पनी के जनरल मैनेजर एवं उनकी पत्नी का अपने निवास पर स्वागत करते हुए श्री सेठ भंवरीलालजी बाकलीवाल एवं उनके सुपुत्र श्री मन्नालालजी ।
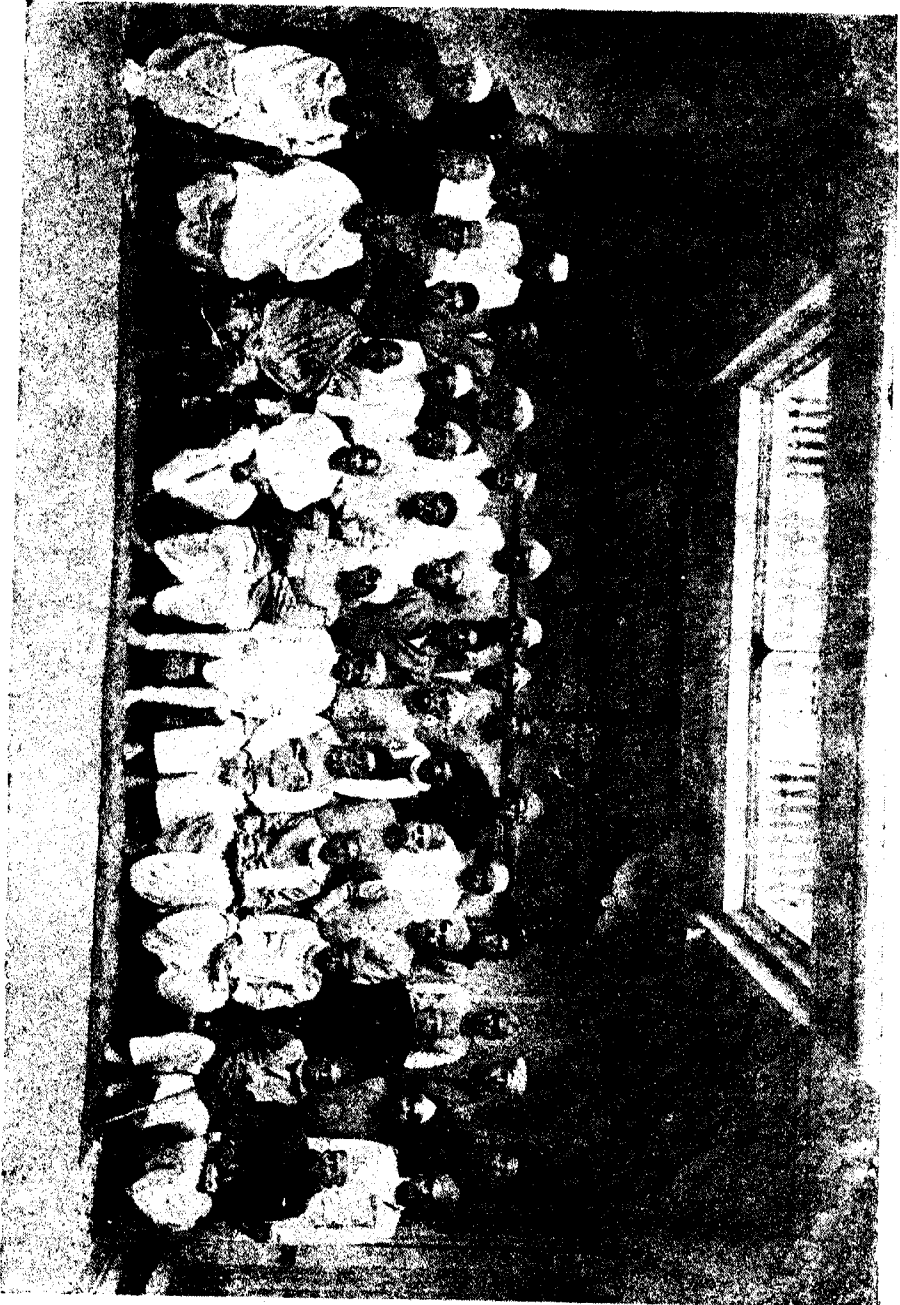
इन्दौर में हुई भा० दि० जैन महासभा की प्रबंधकारिणी कमेटी के समागत सदस्यों का श्री भंवरीलालजी बाकलीवाल के साथ लिया गया चित्र

कथं न श्लाघ्यते संयमी

डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य, M. A. P. H. D., D. Lit. आरा

हेमन्त के उपरान्त शिशिर आता है और शिशिर के पश्चात वसन्त। वसन्त के पदार्पण करते ही मलयानिल प्रवाहित होने लगता है, आम्रमञ्जरी गमकने लगती है और कोकिल का कूजना आरम्भ हो जाता है। प्रकृति का अणु-अणु ऋतुराज वसन्त के आते ही उल्लास, आनन्द और मस्ती से झूमने लगता है। पुष्प कलिकाएं चटक कर अपनी भीनी-भीनी गन्ध से जन मानस को भावविभोर बना देती हैं। पर जीवन की संयम कलिका ज्यों की त्यों संकुचित रह जाती है और संसार संतरण का प्रयास श्लथ नाविक के प्रयास के समान व्यर्थ सिद्ध होता है। विश्व के मनमोहक वातावरण में अगणित आकर्षणों के बीच संयमी ही पारगामी हो सकता है। अत: संयम ही संसार-सर्प-विषापहारक है और यही कर्तव्य- अधिकारों के बीच समन्वय स्थापित करता है। संयमी व्यक्ति की आत्मा धन्य है, जो हर्ष-विषाद, क्रोध-मोह, लाभ अलाभ एवं यश-अपयश के समत्व से आप्यायित है। संयमी के जीवन में कभी कदाचित् मतभेद उत्पन्न हो सकता है, मनोभेद नहीं। मनोभेद से पक्ष उत्पन्न होता है और पक्ष पर बल देने के साथ-साथ उत्तरोत्तर आग्रह की कट्टरता बढ़ती जाती है। यह आग्रह की अधिकता ही पृथक्ता उत्पन्न करती है, जिससे असंयम-रूपीतम का प्रवेश होता है।

गतिशील प्रवहमान जीवन निर्झर में मग्न होने के पूर्व जिसने संयम का यान प्राप्त कर लिया है, वह झंझावात के चलने पर भी परिसर के उपकूल से दूर नहीं होता। जागतिक प्रपञ्चों में उलझने पर भी उसके गति-क्रममें बाधाउत्पन्न नहीं होती। वह यावज्जीवन संयम के जादू द्वारा सरागता के बीच भी वीतरागता की अनुभूति करता है। पारिजात पुष्प मालाओं से आच्छादित रहने पर भी भरत चक्रवर्ती के समान अलिप्त रहता है। रमणियों की केलि-क्रीडाएं, उनके हास-विलास, नृत्य संगीत, माल्य आभूषण आनन्द-विहार, ताम्बूल-गुटिका एवं माधुर्य-लवणास्वाद इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने पर भी संयम अनासक्त वृत्ति उत्पन्न करता है[१]। जीवन में मैत्री, प्रमोद और माध्यस्थ वृत्तियों का विकास संयम की लघु लोल-लहर द्वारा ही सम्भव होता है। जीवन की सर्व-श्रेष्ठ उपलब्धि प्रमाद का त्याग और अनवरत श्रम का अभ्यास संयम की अमोघ शक्ति में निहित है। संयम से पूत जीवन भौतिक जगत् की अपेक्षा आध्यात्मिक जीवन को महत्व देता है।

---

[१]एक: पूजां रचयति नर: पारिजातप्रसूनै:, क्रुद्ध: कण्ठे क्षिपति भुजगं हन्तुकामस्ततोऽन्य:।
तुल्या वृत्तिर्भवति च तयोर्यस्य नित्यं स योगी, साम्यारामं विशति परमज्ञानदत्तावकाशम् ॥

—ज्ञानार्णव

श्रीमान् स्व० सेठ भंवरीलाल बाकलीवाल ऐसे ही संयमी थे, जिन्होंने अपने जीवन मूल्यों का उद्घाटन इन्द्रिय निग्रह, सेवा, त्याग, तपश्चर्या एवं सन्तोषवृत्ति के द्वारा किया था। उनके हृदय में संयम का दीप प्रज्वलित था, जिसके आलोक में उन्हें जागतिक पदार्थ यथार्थ रूप में परिलक्षित होते थे। देव,शास्त्र और गुरु के प्रति उनके हृदय में अपार श्रद्धा थी। आप असत्य, अन्याय एवं मायाचार के त्यागी तो थे ही, साथ ही आप में सत्यनिष्ठा और सरल परिणामित्व भी समाविष्ट था।

गुरुभक्त बाकलीवाल

"उपास्या गुरवो नित्यम्" का अभ्यास बाकलीवाल ने आरम्भ से किया था। वे गुरुओं का कृपा-प्रसाद प्राप्त कर अपने को कृतार्थ अनुभव करते थे। साधुओं की संगति से व्यक्ति के जीवन में मंगल का उदय होता है, जब पाप कर्मोदय का शमन होता है और शुभोदय प्रवृत्त होता है, तभी गुरु समागम का अवसर मिलता है। शास्त्रचर्चा जिनेन्द्रदेव की भक्ति और गुरुओं का संगतिलाभ पुण्योदय से प्राप्त होता है। गुरुओं के सम्पर्क से सेवाभाव और त्याग भाव के प्रति आदर उत्पन्न होता है। आत्मोत्थान के प्रति गहरी आकुलता और जीवन को भौतिकता के भार से हल्का करने की उत्कट अभिलाषा ज्ञानी गुरुओं के समागम से ही उत्पन्न होती है। गुरुभक्त निष्ठावान् व्यक्ति समाज में एक ऐसा पवित्र वृत्त बना सकता है, जो उत्तरोत्तर विस्तृत होते हुए सभी सम्पूर्ण समाज को अपने घेरे में आविष्ट कर लेता है। जीवन के उत्तम संस्कारों का अर्जन, वाक्संयम, स्वादेन्द्रिय जय एवं ब्रह्मचर्य की प्रवृत्ति का सूत्रपात साधु मुनियों के सत्संग से होता है। मनुष्य जिस प्रकार के वातावरण में निवास करता है, वह वैसा ही बन जाता है। स्वाति-नक्षत्र का जल समुद्र में मिश्रित हो क्षार, सीप में पड़ मुक्ता सर्पमुख में प्रविष्ट हो विष, गोस्तनों में समाविष्ठ हो क्षीर, हिमालय पर पड़ तुहिन और गर्म तवे पर पड़ नष्ट हो जाता है, इसी प्रकार त्यागी, जितेन्द्रियी, संयमी एवं परिग्रह त्यागी गुरुओं के साथ रहने से व्यक्ति का व्यक्तित्व उन्नत हो जाता है। संयम और त्याग का पाठ आरम्भ हो जाने से व्यक्तित्व निर्माण के लिए समस्त उपयोगी उपादान प्राप्त होते हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र के प्रतीक गुरुओं की अनुकम्पा से व्यक्ति को मंगल प्रभात का दर्शन होता है। भंवरीलाल जी उक्त तथ्य से पूर्णतया अवगत थे। अतः उन्होंने आचार्य शिवसागर जी महाराज आचार्य विमलसागरजी और आचार्य महावीरकीर्त्तिजी के संघ में अनेक पर्यूषणपर्व सम्पन्न किये थे। मुनिवन्दना, वैयावृत्य करना, आहारदान देना एवं मुनिसंघ पर किसी भी प्रकार का संकट आने पर उसे तत्काल दूर करने के लिए कृतसंकल्प होना आपका जीवन व्रत था।

यह सार्वजनीन सत्य है कि मनुष्य जैसा बनना चाहता है, वैसे व्यक्ति की संगति करता है। संगति का प्रभाव व्यक्त और अव्यक्त रूप में बराबर पड़ता रहता है। जितेन्द्रिय ज्ञानी गुरुओं का सम्पर्क व्यक्ति में एक नयी चेतना, नयी स्फूर्त्ति और नये जीवन का संचार करता है। संयम की जिस कलिका

का विकास अगणित वसन्त नहीं कर सकते, उसीका विकास निर्ग्रन्थ गुरुओं की वाणी द्वारा हो जाता है। कषाय और वासना से उत्पन्न होने वाली हिंसक वृत्ति एवं अहंकार के विष का शमन गुरूपदेश से ही संभव है। **"मूक होहिं वाचाल"** वाली उक्ति गुरु के सम्बन्ध में यथार्थ है। सेठ भंवरीलाल जी अत्यन्त विचार-शील मेधावी व्यक्ति थे। वे मानव की वास्तविक मृत्यु नैतिक ह्रास को ही मानते थे नैतिक आचरण से च्युत होने पर मनुष्य मृतक से बुरा हो जाता है। नैतिक संबल के बिना भौतिक साधनों का कोई भी मूल्य नहीं। जब तक मनुष्य भौतिक और शारीरिक सुखों की प्राप्ति के लिए पाशविकता पर उतर आता है और अपनी आत्मा की आन्तरिक पुकार पर ध्यान नहीं देता, तब तक वह व्यक्ति लौकिक वासनाओं की तृप्ति के लिए ही आतुर बना रहता है। फलतः उसके जीवन मूल्य निरन्तर हीन होते जाते हैं। अतएव गुरुओं का सम्पर्क जीवनशोधन के लिए अत्यन्त उपादेय है।

मङ्गलमयी आकृति

उन्नत ललाट, विशाल वक्षस्थल, आजानबाहु, भरा चेहरा एवं ज्योतिपूर्ण नेत्रों के कारण भव्य और मङ्गल आकृति धारी सेठ भंवरीलाल का जन्म सुजानगढ़ के अन्तर्गत लालगढ़ में हुआ था। लालगढ़ ग्राम का प्रत्येक घर सेठ खूबचन्द बाकलीवाल और उनकी सहयोगिनी प्यारीबाई के आनन्द में हर्ष विभोर था। विक्रम संवत् १९५५ की भाद्र कृष्णा सप्तमी रोहिणी नक्षत्र के अस्तित्व के कारण शलाकापुरुष कृष्ण के जन्म की स्मृति दिला रही थी। सम्भवतः बालक भंवरीलाल की नैसर्गिक सुषमा परिवार के साथ पड़ोस और ग्रामवासियों को भी आकृष्ट कर रही थी। राजस्थान की शुष्क मिट्टी की धूल में क्रीड़ा करने वाले भंवरीलाल की भाविष्णुता और बालसुलभ चेष्टायें किसी विशेष गौरव की अभि-व्यञ्जना कर रही थीं। जैन संस्कृति की अरुणिमा का आभास अभी से होने लगा था। माता-पिता ने बालक के विद्याध्ययन का प्रबन्ध किया, पर काम-काज के योग्य शिक्षा से अधिक ज्ञान उसे प्राप्त न हो सका। किन्तु, उसमें शिक्षा से अधिक प्रतिभा और प्रतिभा से अधिक व्यवसायिक बुद्धि थी; जिसके फल-स्वरूप आसाम के अन्तर्गत मणिपुर में ख्याति प्राप्त फर्म सालिगराम राय चुन्नीलाल बहादुर के कार्तिमान स्तम्भ के रूप में व्यवसाय का कौशल प्राप्त किया। विनय, सेवा एवं धर्मनिष्ठा की भावना बचपन से ही समाहित थी। मंगलमयी आकृति के साथ दया, दाक्षिण्य, उदारता प्रभृति का अपूर्व समन्वय दिखलाई पड़ता था। कार्य करने की अपूर्व लगन और प्रवृत्ति थी। जिस कार्य को सम्पन्न करने का एक बार संकल्प कर लेते थे, उसे पूर्ण किए बिना नहीं छोड़ते थे। व्यवसाय में सफलता प्राप्ति के हेतु साख के साथ सत्यता, साहस, योग्यता, कर्मठता एवं दूरदर्शिता प्रभृति गुण आवश्यक माने जाते हैं। भंवरीलालजी में उक्त गुण पूर्णतया पाये जाते थे। जहां तक हमारा अध्ययन है, उन्हें जीवन में कभी असफलता मिली ही नहीं। जिस व्यवसाय या धार्मिक कार्य को उन्होंने अपने हाथ में लिया वह कार्य अवश्य ही पूर्ण हुआ। उनकी कर्मठ वृत्ति के कारण सभी प्रकार की उपलब्धियां उनका वरण करने के

लिए प्रस्तुत रहती थीं। उनका विशाल ललाट ही निमित्तज्ञान की दृष्टि से सफलता का मूलाधार था। कहावत प्रसिद्ध है कि विशाल मस्तिष्क में सभी प्रकार की सफलताएं समाविष्ट रहती हैं। यह कहावत बाकलीवालजी के जीवन में पूर्ण चरितार्थ हुई।

लोकजीवन का सूत्रपात

किशोर अवस्था को पार करने के साथ ही साथ पुरुषार्थ की जागरूकता ने सिद्धियों को आपके पास समवेत कर दिया, जिससे सार्वजनिक कार्यों में अभिरुचि लेना भी प्रारम्भ हो गया। अतएव सामाजिक, धार्मिक एवं व्यवसायिक संस्थाओं के संघठन, संचालन एवं सक्रिय योगदान द्वारा उन्हें उन्नत बनाने के लिए आपका प्रयास आरम्भ हो गया। आपका अदम्य उत्साह और अपूर्व लगन की श्लाघा सभी करते हैं। जिस सामाजिक कार्य को आप अपने हाथ में ले लेते थे, उसकी सफलता में किसी को भी आशंका नहीं रहती थी। आपने आसाम और राजस्थान में जन-जागृति और सेवा के अनेक कार्य सम्पन्न किये हैं। 'चैम्बर आफ कामर्स' आसाम के आप अध्यक्ष पद पर आसीन रहे और व्यापारिक गतिविधियों को पूर्णतया नियन्त्रित रखा। मारवाड़ी सम्मेलन' एवं 'नागरी प्रचारिणी सभा आसाम' को आपका सहयोग आजन्म प्राप्त होता रहा। आपके सहयोग और कार्यप्रणाली से इन संस्थाओं को अपूर्व लाभ हुआ। पोस्ट एडवायजरी कोस्टल, रेलवे मुजरु कंसल्टेटिव कमेटीज, नेशनल सेविंग्ज स्कीम एडहाक कमेटी, प्रादेशिक रेडक्रास सोसाइटी एवं मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी प्रभृति संस्थाओं के पदाधिकारी और सदस्य के रूप में रह कर आपने इनका विकास किया है। इसमें सन्देह नहीं कि भंवरीलालजी ने अपने जीवन में अहंभाव का त्याग कर निःस्वार्थ रूप से उक्त संस्थाओं की सेवा की है। समय आने पर धन की सहायता भी देते रहे हैं।

आपने 'नॉर्थ ईस्ट इण्डिया पैट्रोलियम डीलर्स एशोसिएशन' की स्थापना की तथा मृत्यु पर्यन्त इस संस्था के सभापति पद पर आसीन रह कर इसका विकास करते रहे। आपकी सूझ-बूझ बहुत ही विलक्षण थी, जिससे संस्थाओ की गतिविधि समझने में आपको विलम्ब नहीं होता था। आप मूक और निःस्वार्थ सेवक थे। सेवा का अवसर उपस्थित होते ही इस क्षेत्र में कूद पड़ते और जब तक आवश्यकता समझते, तब तक अदम्य उत्साह के साथ सेवा कार्य में जुटे रहते थे। आसाम का अधिकांश भूभाग जब भूकम्प के प्रकोप से ध्वस्त हो गया था, उस समय आपने दिल्ली तक दौड़ लगायी और त्रस्त जनता को राहत देने का पूरा आयास किया। मणिपुर प्रदेश में हृदय विदारक बाढ़ के अवसर पर आपने अपरिमित धनराशि सहायतार्थ दान में देकर अपार यश अर्जित किया था। आपका यह स्वभाव था कि जनसाधारण पर जब किसी भी प्रकार का कष्ट आता था, तो आप तन, मन और धन से जनता की सहायता करने के लिए तत्पर हो जाते थे। स्वयं तो पुष्कल धन दान में देते ही थे। पर सरकार से भी अपने प्रभाव द्वारा सहायता प्राप्त कर लेते थे। आपके इस उदार स्वभाव के कारण जनता आपको अपना परम हितैषी समझती थी और आपके प्रति अपार श्रद्धा रखती थी।

जैन समाज के कार्यों में योगदान

सेठ भंवरीलालजी साधु संस्था के भक्त तो थे ही, पर जैन समाज के अन्य कार्यों के प्रति भी उनके मनमें अपार श्रद्धा-भक्ति थी। वे कहा करते थे कि मैं तो समाज का सबसे लघु सेवक हूं। जैन समाज अपने आपसी मतभेदों को भूलकर एकमत होकर अपने कार्यों को सम्पन्न करे तो समाज की उन्नति होने में समय न लगे। आप एक अच्छे समाज शास्त्री थे, समाज की समस्त गतिविधियों का अध्ययन और चिन्तन करते रहते थे। आप १६ वर्ष की अवस्था से ही भा० दि० जैन महासभा के कर्मठ सदस्य थे। जैन धर्म, जैन साहित्य और जैन संस्कृति के उत्थान हेतु आप सदैव चिन्तित रहते थे। तन, मन और धन का उपयोग कर समाज को उन्नतिशील बनाने के लिए आप सदैव सचेष्ट थे।

सन् १९६४ में महासभा का ६९ वां अधिवेशन मरसलगंज में सम्पन्न हुआ। इस अधिवेशन के आप सभापति थे। इस पद से आपने जो भाषण दिया था, वह आज भी समाज को नयी विचारधारा प्रदान करता है। जैन तीर्थों, पुरातत्त्वावशेष, जीर्ण मन्दिरों एवं शास्त्रों के पुनरुद्धार हेतु आपने एक नयी स्कीम प्रस्तुत की थी। आपसी कलह एवं एकांगी विचारधारा का आपने विरोध किया था। अनेकान्त मार्ग ही सुख-समृद्धि का साधक हो सकता है, जब तक हमारा दृष्टिकोण उदार नहीं होगा और हम सहानुभूति पूर्वक दूसरों के विचारों का अध्ययन नहीं करेंगे, तब तक समाज में एकता और दृढ़ता नहीं आ सकती है।

इसके पश्चात् गौहाटी में महासभा का ७० वां अधिवेशन सम्पन्न हुआ, इसकी अध्यक्षता भी उक्त सेठ साहब ने की। धार्मिक और सामाजिक सेवाओं के कारण आपकी लोकप्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी। आप बोलने की अपेक्षा कार्य कर दिखलाने पर अधिक विश्वास करते थे। आपके कार्यकाल में महासभा के फण्ड में ही वृद्धि नहीं हुई, अपितु उसकी कार्य प्रणाली में भी परिवर्तन उत्पन्न हुआ तथा महासभा संस्कृति संरक्षण के कार्यों में भाग लेने लगी। वृद्ध होने पर भी आपका युवकोचित उत्साह एवं क्रियाशीलता समस्त समाज के लिए अनुकरणीय है।

श्रुतदेवता का आराधक

शास्त्रोद्धार की चिन्ता भी भंवरीलाल जी को कम नहीं थी। उनका विश्वास था कि जिन-वाणी की भक्ति ही जिनेन्द्रदेव की भक्ति है। वर्तमान युग में जैनधर्म का प्रचार-प्रसारवाङ्मय के द्वारा ही हो सकता है। किसी भी धर्म या संस्कृति की वास्तविक निधि साहित्य है। साहित्य के कारण ही समाज का मूल्याङ्कन किया जाता है। कुन्द-कुन्द, अकलंक, विद्यानन्द जैसे उदभट आचार्यों के कारण ही आज हमारे समाज का अस्तित्व है। अतएव ग्रन्थ भण्डारों में जो हमारे अनेक ग्रन्थरत्नअप्रकाशित पड़े हैं जिन्हें समय पर धूप और प्रकाश भी नहीं मिल पा रहा है, ऐसे बहुमूल्य ग्रन्थों का प्रकाशन शीघ्र ही हो जाना चाहिए।

आपने अपने पूज्य पिता की स्मृति को सदैव बनाये रखने के लिए "सेठ खूबचन्द जैन ग्रन्थमाला" की स्थापना भी की है। इस ग्रन्थमाला से अब तक कई ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है। आपकी विचारधारा के अध्ययन से ऐसा ज्ञात होता है कि सेठ भंवरीलालजी इस ग्रन्थमाला में और अधिक धनराशि देकर इसे चिरस्थायी बना देना चाहते थे तथा इस ग्रन्थमाला से उपयोगी अनेक अप्रकाशित ग्रन्थों का प्रकाशन करना चाहते थे। काश, सेठ साहब की उक्त अभिलाषा उनके पुत्रों द्वारा पूर्ण की जाय और 'सेठ खूबचन्द ग्रन्थमाला' से जैन विषयों पर प्रस्तुत किये गये शोध प्रबन्धों का प्रकाशन आरम्भ हो जाय। अभी तक जैन समाज में ऐसी कोई प्रकाशन संस्था नहीं, जो शोध प्रबन्धों का व्यवस्थित रूप में प्रकाशन करे। अनेक जैन एवं जैनेतर व्यक्तियों ने जैन विषयों पर शोध प्रबन्ध लिखे हैं, जो प्रकाशन के अभाव में नष्ट ही होना चाहते हैं।

सेठ भंवरीलालजी निस्सन्देह जिनवाणी भक्त थे। नित्यप्रति स्वाध्याय करना मुनियों के शास्त्र प्रवचन एवं उपदेश सुनना तथा श्रुतदेवता के स्वाध्यायार्थ अन्य व्यक्तियों को प्रेरित करना आपका स्वभाव था। धर्मनिष्ठा इतनी अधिक थी कि वे भक्तामर स्तोत्र का पाठ निरन्तर किया करते थे। यद्यपि सेठ साहब स्पष्टवादी थे, किन्तु व्यवहार में कटु नहीं थे। उनका मधुर व्यवहार, हास्यमिश्रित वार्तालाप एवं निश्छल प्रेम अन्य व्यक्तियों के लिए अनुकरणीय है। ज्ञानाराधन की लालसा और ज्ञानवितरण की मनोभावना समाज के लिए आदर्श है। तीर्थभक्त होने के साथ श्रुतदेवता के आराधक रूप में भी बाकलीवालजी आज जीवित हैं।

जिनभक्त और आस्था का आलोक

उपास्य के स्वरूप और गुणसाम्य की प्राप्ति का प्रयत्न भक्ति है। आराध्य को अच्छे न लगने वाले विषयों से विराग और उसके स्पृहणीय पदार्थों के प्रति अनुराग का प्रदर्शन ही राग विरागमयी प्रवृत्तियों का समवाय कहलाता है। आराध्य के गुणधर्म आराधक में किसी न किसी रूप में अवश्य विकसित होते हैं। भक्ति द्वारा आत्म परिणति विशुद्ध होती है। भक्त की कामना सांसारिक व्यसन, वासना एवं कषायों के त्याग की होती है। इस दुर्लभ मनुष्य मन में जिनेन्द्रभक्ति के समान अन्य कुछ भी उपादेय नहीं है। तन्मयता के क्षण में भव-भव के बन्धन टूट सकते हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की प्राप्ति जिन भक्ति द्वारा सम्भव है। मनुष्य अपने दुःख शमन के लिए भगवान् की शरण में जाता है और वहीं पर शांति का अन्वेषण करता है। परमात्म भाव को आत्म में प्रतिष्ठित करना भक्ति है। यह विवेक समुद्र से उत्पन्न दिव्यमणि है। जिसके हृदय में भक्ति की उत्ताल तरंगें आंदोलित हैं, उसे पाप पंक का स्पर्श नहीं हो सकता है। सेठ भंवरीलालजी उक्त तथ्य से सुपरिचित थे। उनकी वीतरागी प्रभु के प्रति अपार आस्था थी। वे भगवान् के स्वरूप का अभीक्षण अनुचिन्तन करते रहते थे। उनके जीवन की सफलता की कुन्जी आस्था का आलोक ही है। वीतरागी प्रभु, वीतरागी साधु और तीर्थंकर

वाणी के प्रति उनकी अपार और अटूट भक्ति श्रद्धा थी। बाकलीवालजी के नेत्र भगवान् की पूजा करते समय आर्द्र हो जाते थे। भक्ति और श्रद्धा का छलकता प्रभाव उनके नेत्रों में देखा जा सकता था। उन जैसी भक्ति, श्रद्धा और निष्ठा कम ही व्यक्तियों में पायी जाती है। आपने इम्फाल में अपने भवन में एक चैत्यालय निर्मित कराया था, जिससे परिवार के सभी व्यक्ति देव पूजन और देव दर्शन का आनन्द प्राप्त करते हैं।

युगद्रष्टा और प्रेरणा स्रोत

बाकलीवालजी ने युग की फड़कन को सुना-समझा था। वे लक्ष्मी के पूजक होने पर भी समाज का बड़ी गम्भीरता से विश्लेषण और अध्ययन करते थे। युग की आवश्यकताओं का उन्होंने अध्ययन किया था और साथ ही उनके समाधान भी ढूंढ निकाले थे। उनका यह अभिमत था कि समाजोत्थान के लिए नए कार्यकर्ताओं को तैयार करने की आवश्यकता है। वर्तमान में जैनवाङ्मय के अध्ययन की सरिता सूख रही है, यह एक चिन्ता का विषय है। अतएव उन्होंने अनेक नवयुवकों एवं उत्साही कार्यकर्ताओं को समाज सेवा के लिए प्रेरित किया लक्ष्मी पुत्रों को समाज सेवा के लिए ललकारा, जिसके परिणाम स्वरूप कई महानुभाव समाज सेवा के क्षेत्र में आये। सम्पत्ति के रहने पर भी समाज की चिंता, धर्मोद्धार की भावना एवं सहयोग और संगठन को दृढ़ बनाये रखने का प्रयास निश्चयत: उनके युगद्रष्टा होने का फल है।

सर्वगुण समन्वित जीवन

जिनभक्ति, गुरुभक्ति और शास्त्र भक्ति के साथ स्व० सेठ भंवरीलालजी में सन्तोष, संयम, त्याग, ऋजुता, मृदुता, दया, उदारता, ज्ञानपिपासा आदि गुण भी विद्यमान थे। सामाजिक संगठन के हेतु उन्होंने विभिन्न संस्थाओं की स्थापना का भी अनुभव किया था। नवजागरण का उनका स्वप्न संस्थाओं की प्रगति द्वारा ही पूर्ण हो सकता था। अतएव उज्ज्वल चरित्र का पालन करते हुए आत्म-कल्याण के हेतु वे रत्नत्रय के धारण करने को आवश्यक समझते थे। उनके जीवन का लक्ष्य आत्मोत्थान था, अतएव सेठ साहब क्रियाशील जीवन यापन को ही सर्वस्व समझते थे। उपवास, व्रतानुष्ठान, आहार-दान, ज्ञानाराधन, तत्त्वचर्चा, आत्मचिन्तन, देवपूजन प्रभृति कार्य आपके जीवन के प्रमुख विधेयकर्त्तव्य थे। संक्षेप में हम स्व० सेठ भंवरीलालजी की कार्य-प्रवृत्तियों को निम्न लिखित रूप में विभाजित कर सकते हैं :—

१. चातुर्मास के अवसरों पर गुरुचरणों में उपस्थित होकर आत्मशोधन करना।

२. जन सामान्य पर दैविक, भौतिक और दैहिक कष्टों के आने पर उनके परिष्कारार्थ कृत-संकल्प हो जाना।

३. आचार-विचारों की उच्चता, आत्मशोधन के लिए व्रताचरण का पालन एवं धर्मोद्योतनार्थ स्वयं की सुखसुविधाओं का त्याग कर जैनायतनों की सेवा में प्रवृत्त होना।

४. तीर्थ रक्षा हेतु पुष्कल धनराशि का व्यय, जीर्णोद्धार के लिए सदैव प्रस्तुत रहना और अपनी बहुमूल्य उपस्थिति से तीर्थों के कार्य-संचालन में योगदान देना।

५. व्यापार एवं दैनिक कार्य प्रवृत्तियों में स्वयं धर्माचरण कर समाज के समक्ष प्रयोगात्मक जीवन का संस्थापन।

६. क्रान्तिकारी नवीन विचारधारा का पुरातन विचारधारा के साथ समन्वय कर दृढ़ता और निर्भयता पूर्वक समाज का नेतृत्व करना।

७. सभाओं और संस्थाओं के अध्यक्ष, मन्त्री, अधिष्ठाता आदि पदों को स्वीकार कर समाज जागरण में यथेष्ट योगदान देना।

८. साहित्य प्रकाशन के हेतु 'सेठ खूबचन्द जैन ग्रन्थमाला' की स्थापना कर वाङ्मय उद्धारणार्थ नवीन उदाहरण का प्रस्तुतीकरण।

९. संकट के दिनों में महासभा को सफल नेतृत्व कर अर्थदान द्वारा उसके ध्रौव्य का संवर्द्धन।

१०. जीवन में आनेवाली विपत्तियों, कठिनाइयों और प्रतिकूलताओं को निराकुल भाव से सहन करने की क्षमता।

११. अनेकान्त दृष्टिकोण द्वारा अन्य व्यक्तियों के विचारों को समझने के लिए सचेष्ट रहना।

१२. जीवन की चतुर्मुखी वृत्तियों उच्चता, गांभीर्य, गति एवं संयम को विकसित करने के लिये प्रयत्नशील रहना।

१३. जैन संस्कृति के संरक्षण की उत्कट भावना तथा उस भावना को क्रियात्मक रूप देने के लिए बद्ध परिकर हो जाना।

१४. दिगम्बर जैन समाज की सर्वाङ्गीण उन्नति के हेतु क्रियाशीलता का प्रदर्शन।

१५. व्यक्तित्व विकास की दोनों दिशाओं—ज्ञान प्राप्ति और जनकल्याण का समाहार।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि उनके त्याग और सत्प्रयास युग युगान्तर तक समाज को आलोकित करने में सक्षम रहेंगे। उन्होंने जिस योग्यता से समाज का नेतृत्व किया है, वह सर्वदा गौरवपूर्ण सामाजिक इतिहास का एक नया अध्याय बना रहेगा।

श्री भंवरी लाल जी बाकलीवाल

श्री अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा
के
६६ वें वार्षिक अधिवेशन

के

सभापति

श्रीमान् धर्मनिष्ठ सेठ

भंवरीलालजी साहिब बाकलीवाल

इम्फाल (आसाम)

का

भाषण

स्वदोषशांत्या विहितात्मशांतिः शान्तेर्विधाता शरणं गतानाम् ।
भूयाद्भवक्लेश भयोपशांत्यै शान्तिर्जिनो मे भगवान् शरण्यः ।।

परमपूज्य वंदनीय श्री १०८ आचार्य विमलसागरजी महाराज, अन्य मुनिराज, साध्वीवृन्द, रायसाहब सेठ चान्दमलजी पाण्ड्या, स्वागताध्यक्ष, स्वागतकारिणी सदस्यगण, उपस्थित धर्म बन्धुओं, माताओं एवं बहनों !

मुझे हार्दिक हर्ष है कि श्रीमान् रायसाहब सेठ चान्दमल जी पाण्ड्या सुजानगढ़ एवं गौहाटी निवासी द्वारा विश्वशांति और भारत देश की मंगल कामना के परम पवित्र उद्देश्य से सुसंपादित इस पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव में उपस्थित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है । श्री १००८ भगवान ऋषभ-

देव की विशालकाय प्रतिमा में प्राण प्रतिष्ठा के इस अवसर पर श्री १०८ आचार्य विमलसागरजी महाराज के ससंघ पदार्पण से इस समारोह का महत्व और भी बढ़ गया है। परमोच्च चारित्र की प्रणम्य सजीव मूर्तियां दिगम्बर जैन साधु होते हैं, प्रसन्नता की बात है कि परमोच्च चारित्रधारी दिगम्बर जैन मुनियों का सद्भाव हमारी भारत वसुन्धरा में इस जड़वाद के युग में भी हो रहा है, उन्हीं में से इस आयोजन के अवसर पर वीतराग परम तपोधन ५ मुनिराज हमें अपने पावन दर्शनों से पवित्र कर रहे हैं, इस वर्तमान परम भौतिक समय में कार्य परिणत आध्यात्मिकता की बड़ी भारी आवश्यकता है जिसकी दिशा हमें इन परम वीतराग सन्तों से ही प्राप्त होती है। अतः उनके चरणों में विनम्र भाव से मैं नत मस्तक होता हूं और आप सबकी सेवा करने में सफलता प्राप्त करने के लिए आशीर्वाद की याचना करता हूं।

भारतवर्ष के सर्वाधिक संख्या वाले विशाल प्रदेश में आगरा जिले के सुरम्य स्थान फरिहा ग्राम के पास इस अतिशय क्षेत्र मरसलगंज का बहुत महत्व है। यहां श्री १००८ भगवान ऋषभदेव स्वामी की सातिशय-सुरवंदित प्रतिमा के परम उपासक तपस्वी परोपकारी श्रावकोत्तम स्व० बाबा ऋषभदासजी का भारी महत्त्व है। इस क्षेत्र की सातिशयता के सम्बन्ध में जो चमत्कारिक जनश्रुतियां हैं उनसे धर्म के प्रति बड़ा भारी आकर्षण स्वाभाविक है। ऐसे पावन सुरम्य देव शास्त्र गुरु चरणयुत स्थान पर सुजानगढ़ निवासी और गौहाटी प्रवासी रायसाहब सेठ चान्दमल जी पाण्ड्या ने पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव आयोजित कर अपनी धर्मनिष्ठा एवं गुरु-भक्ति का परिचय दिया है। साथ ही क्षेत्र की प्रबन्धकारिणी समिति ने जो भारतीय संस्कृति और धर्म की रक्षा करने वाली दिगम्बर जैनधर्म और समाज की सबसे प्राचीन और एक मात्र प्रतिनिधि संस्था श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा के अधिवेशन कराने को निमन्त्रित किया है वह अत्यन्त आवश्यक, प्रशंसनीय और इस समारोह में चार चाँद लगाने वाला कार्य है।

श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा का यह ६९ वां अधिवेशन है। महासभा के महान् व्यक्ति अध्यक्ष रहे हैं, राजा लक्ष्मणदास जी सी० आई० ई०, सेठ माणिकचन्दजी जे० पी०, बैरिस्टर चम्पतरायजी, बाबू देवकुमार जी रईस आरा, सरसेठ हुकमचन्द जी, रा० ब० सेठ टीकमचन्दजी, श्रीमन्त सेठ मोहनलाल जी, सरसेठ भागचन्दजी, रा० ब० सेठ राजकुमारसिंहजी जैसे महान् धार्मिक सामाजिक नेताओं के सामने मेरी सेवायें व व्यक्तित्व नगण्य है तथापि मेरे बहुत कुछ निषेध करने पर भी ऐसे परम भौतिक प्रवाहशील समय में आप लोगों ने ऐसी महान् महिमाशालिनी महासभा के सभापतित्व का भार जो मेरे निर्बल कन्धों पर डाला है उसे मैं कैसे वहन कर सकूंगा और महान् दायित्व को कैसे निभा सकूंगा इसकी मुझे पूरी चिन्ता है परन्तु यदि आप महानुभावों का सहयोग रहा तो मुझे आशा ही नहीं विश्वास भी है कि कुछ सफलता मिले बिना न रहेगी।

हमारे संस्कार :

अनुमान दो सौ ढाइसौ वर्ष से भारतवर्ष में भौतिकता को विशेष बढ़ावा देने वाली हवा चल रही है, जब से हमारा देश स्वतन्त्र हुआ है तब से उक्त हवा का बहुत भारी वेग चलने लगा है जिससे हमारी सदाचार रूप संस्कृति के पांव टिकना कठिन हो रहा है। धर्मशिक्षा के साथ संस्कार शिक्षण भी विलुप्त होता जा रहा है। जैनत्व रक्षक भोजनपान से भी जनरुचि समाप्त होती जा रही है। धर्मशिक्षा में बढ़ती जा रही न्यूनता से हमारी भावी पीढ़ियों में जैनत्व की झलक भी प्रतिक्षण कम होती जा रही है साथ ही सदाचार विरोधी संसर्ग और सम्पर्क से भक्ष्य भक्षण और अपेयपान भी प्रगति करते जा रहे हैं। यदि यही संस्कृति घातक क्रम जारी रहा तो "जैन" यह शब्द धर्म बोधक न रह कर एक निस्सार रूढ़ शब्द के रूप में रह जायगा और साधारण जैनत्व भी भौतिकता के आवरण से अदृष्ट हो जायगा अत: इस सम्बन्ध में हमें गहराई के साथ विचार करके संस्कृति की रक्षा के लिये कुछ स्थायी उपाय करना ही होगा, यदि हमने इस सम्बन्ध में कुछ भी न किया तो ये आयोजन, समारोहादि नाम के होंगे, काम के नहीं। इस सम्बन्ध में मेरे सुझाव निम्न प्रकार हैं :–

जैनत्व से परिचित कराने वाली कुछ ऐसी लघुकाय पुस्तकें सुयोग्य लेखकों से लिखाई जावें जो पूर्ण वैज्ञानिक हों और साथ ही शास्त्रीय मान्यताओं का उनमें समन्वय भी किया गया हो जिन्हें स्कूल और कॉलेज, असाम्प्रदायिक भावनाओं के साथ नि:सङ्कोच अपना सकें।

नगरों, गांवों के प्रत्येक भागों में जैनत्व संस्कृति रक्षक भाषण-मालाओं की योजना रक्खी जावे।

प्रत्येक परिवार से संबन्ध स्थापित कर इस बात पर उन्हें तैयार किया जावे कि जैनत्व की रक्षक संस्कृति के पालन करने के लिये अपने परिवार के लोगों को प्रेरणा देवें।

सामाजिक एकता और संगठन :

संघ शक्ति के बिना हमारा धर्म, समाज और संस्कृति ये सब आज उपेक्षित हो रहे हैं, हमारी समस्त शक्तियों का ह्रास आज आपसी विरोध, लड़ाई, झगड़े, शीतयुद्ध आदि में हो रहा है। इस विरोध को मिटाने के लिये सभी नेता, वक्ता, लेखक, सभापति आदि प्रतिपादन करते हैं परन्तु विरोध मिटाने के उपायों पर क्रियात्मक रूप नहीं लाया जाता। विरोध नाशक भाषणादि केवल भावात्मक अथवा परोपदेशात्मक ही होते हैं क्रियात्मक नहीं, उनमें क्रियात्मकता तभी आ सकती है जब उनको अपनी चर्या में उतारा जाय।

अपेक्षा कृत हमारे छोटे से वर्ग में बीसपंथ तेरहपंथ आदि अनेक चल रहे हैं इन पंथों की मान्यताओं को लेकर पूजा पद्धति के माध्यम से जगह-जगह आपस में वैमनस्य का वातावरण चल रहा है।

सिर फुटव्वलें होती हैं मुकद्दमे बाजी होती है, साधुजनों पर प्रहार तक होकर उनका अनादर होता है। इस आपसी विरोध ने संगठन शक्ति का भारी घात किया है, इस पर लाखों रुपये व्यर्थ व्यय होते रहते हैं। जिससे चित्त में महान व्यथा होती है, इसलिए दिगम्बर जैन समाज के तथाकथित समस्त प्रमुख लोगों का कर्त्तव्य है कि इस पंथ भेद को मिटाने के लिये शास्त्रों के आलोक में मार्गदर्शन करें। पंथ भेद के वर्धक पोषण लेखों को कोई भी जैन पत्र स्थान न देवे। तीर्थक्षेत्र आदि संस्थाओं के नाम के साथ जो तेरहपंथ बीसपंथ आदि शब्द हैं उनको हटा दिया जावे दोनों पंथों की प्रबन्ध-समितियों में दोनों विचारों के कार्यकर्त्ता और सदस्य रक्खे जावें। चतुरनुयोग रूप आगम के आलोक में इस सम्बन्ध में विद्वानों को एकत्रित कर परस्पर परामर्श कर उनके विचार प्रकाशित कराये जावें। वास्तविक एकता वैचारिक समानता से ही हो सकती है इसलिये वैचारिक समानता समाज में लाने के लिये प्रयत्न किये बिना कभी संघठन नहीं हो सकेगा। हमारा समाज संगठित होगा तभी हमारा प्रभाव दूसरों पर भी पड़ेगा और तभी हम दूसरों के साथ चल सकेंगे।

हमारी समाज में कुछ समय से आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान का प्रचार और प्रसार हो रहा है इससे हमें प्रसन्नता तो है पर वह विरोध और असंगतियों के साथ न होकर समन्वय और स्याद्वाद्व शैली के साथ किया जाय तो उससे जनहित होने की सम्भावना है। आध्यात्मिकता का फल समता भाव है, कलह नहीं अतः जो आध्यात्मिकता का प्रचार करना चाहते हैं उनका यह भी दायित्व है कि उनके प्रचार से कलह न हो और लोग समत्व भावनाओं की ओर बढ़ें। इसका ध्यान रखना आवश्यक है।

हमारे माननीय पूज्य त्यागी वर्ग में भी कुछ विषयों में विचार साम्य न होने से उनके विभिन्न और परस्पर विरोधी मंतव्यों और उपदेशों से जन साधारण में किंकर्त्तव्य विमूढ़ता आ रही है। इन मुनिराजों, सन्तों की सेवा में विशिष्ट विद्वानों को पहुंचकर उनको आगम के दृष्टिकोण से परिचित कराया जाना चाहिये जिससे उन समस्त सन्तों के आचार विचारों में साम्य एकरूपता लाई जा सके। पर यह कार्य विनय और पूज्यबुद्धि के साथ होना चाहिये, अहंकार या दम्भ के साथ नहीं।

संघठन और एकता के पवित्र उद्देश्य को लेकर ४ वर्ष पहिले एक कन्वेन्शन हुआ था परन्तु वह कार्य चर्चा मात्र होकर ही रह गया, इसका कारण मैं यह मानता हूं कि उस चर्चा के पीछे बातें थीं, हृदय नहीं था अन्यथा 'जहां चाह तहां राह' के अनुसार कोई मार्ग अवश्य निकलता। मेरी समझ में जो महासभा के नियम नं० ९ के प्रतिकूल विचार वाले सज्जन हैं उनकी मनोभावना की पूर्ति तो वर्तमान राजनैतिक और प्रशासनिक वातावरण में हो ही रही है, फिर भी महासभा के अन्तर्गत कार्य करने के लिये उनकी उत्सुकता का आदर करते हुए हमें यह चाहिये कि हम पिछले अनुभवों के आधार पर ऐसी परिस्थिति का निर्माण करें जिससे सदा हम इसी उलझन में न रहें, प्रत्युत नव निर्माण के कार्यों में हाथ बटा सकें।

शिक्षा प्रसार :

वर्तमान में शिक्षा प्रसार खूब हो रहा है परन्तु जैन संस्कृति की रक्षा वर्तमान शिक्षा प्रसार से नहीं हो सकती प्रत्युत उसमें बाधा भी पहुंचती है इसलिये उचित है कि जहां जहां कालेज, हाईस्कूलों से सम्बन्ध रखने वाले बोर्डिंग हाउस हैं उनमें प्रतिदिन एकाध घण्टा धर्म शिक्षा, धर्मग्रन्थों का अध्ययन और धर्माचरण की शिक्षा का अनिवार्य प्रबन्ध किया जाय पर यह सख्ती से नहीं अपितु उनमें रुचि पैदा-कर करना चाहिये ।

यह जानकर दुःख होता है कि इस शिक्षा युग में संस्कृत, प्राकृत, न्याय, व्याकरण, धर्म-शास्त्रादि के पठन पाठन में जनसाधारण की रुचि पर्याप्त कम हो गई है । जैन समाज में ही नहीं अजैन समाज में भी संस्कृत विद्यालयों में पढ़ने वालों की संख्या अंगुलिगण्य भी नहीं रही है । जैन संस्कृति, उक्त शिक्षा के बिना बच नहीं सकती अतः उक्त शिक्षण के प्रति छात्रों और उनके अभिभावकों को आकर्षित करने के लिये छात्रवृत्तियां पढ़ने के बाद व्यवसाय की व्यवस्था का सत्य आश्वासन और उसकी व्यवस्था के लिये हमें प्रयत्न करना होगा ।

जैनधर्म का प्रसार :

वर्तमान शिक्षायुग में प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति ज्ञान का पिपासु रहता है । जाने बिना वह किसी बात पर विश्वास करने को तैयार नहीं होता । अतः जैन अजैन शिक्षितों में जैनधर्म के रहस्य का ज्ञान पहुंचाने के लिये उनको पठनार्थ आधुनिक भाषाओं में लिखी हुई पुस्तकें देनी चाहिये स्व० पण्डित महेन्द्र-कुमारजी न्यायाचार्य ने जो 'जैनदर्शन' पुस्तक लिखी है वह तथा ऐसी ही पुस्तकें प्रौढ़ विद्वानों के पास जाने की परम आवश्यकता है । यदि समर्थ जैन बन्धु महासभा के माध्यम से इस ओर ध्यान देवें तो जैन-धर्म के प्रति जो भ्रांत धारणायें फैल रही हैं वे भी दूर हो जावें और शिक्षितों को तत्त्व रहस्य का रसा-स्वाद मिले ।

पुस्तकालयों की आवश्यकता :

हमारे यहां पुस्तकालयों की बड़ी आवश्यकता है । स्व० ऐलक पन्नालालजी महाराज ने सर-स्वती भवन स्थापित किये परन्तु उनका जैसा उपयोग होना चाहिये नहीं होता । इन पुस्तकालयों का एकीकरण करके उनमें प्रकाशित अप्रकाशित जैन, अजैन ग्रन्थों का संग्रह किया जाय । वहां अनेक विद्वान् बैठकर अन्वेषण और प्रकाशन करें । एक प्रेस भी वहीं प्रकाशनार्थ हो, एक विद्यालय भी वहीं पर हो जहां उन विद्वानों से संस्कृत प्राकृत न्याय व्याकरणादि का प्रौढ़ अध्ययनाध्यापन अनुभवादि हो । यदि ये सरस्वती भवन महासभा के माध्यम से इस काम को करें तो जैन धर्म की रक्षा और प्रचार का बहुत काम हो सकता है । महासभा का भी सरस्वती विभाग है उसीको इन सरस्वती भवनों से संवर्द्धित किया जाकर इस काम में नव चेतना डाली जाय तो बहुत कुछ काम हो सकता है ।

धर्म-प्रचार :

चरित्र का नाम ही धर्म है और सच्चारिता ही मानवता है। मानव जीवन में सदाचार का पुट न हो तो वह मानव नहीं दानव है। हिंसा, असत्य, चौर्य, व्यभिचार ये अधर्म हैं। अहिंसा, सत्य, अचौर्य और ब्रह्मचर्य ये धर्म हैं। इस धर्म के पालन करने का नाम ही जैन धर्म है। इस जैन धर्म के पालन में साम्प्रदायिकता की गंध आना धर्म के स्वरूप से अज्ञानता है। अहिंसादि धर्मों का जीवन चर्या में उतरना और हिंसादिक नहीं करना ही मानवता है। इसी मानवता, सदाचार अथवा धर्म के प्रचार और प्रसार की अत्यन्त आवश्यकता है।

हिंसादि के प्रसार से आज मानव, दानव बनता जा रहा है। भारत सरकार भी हिंसा के साधन कसाईखाने आदि जघन्य कार्य को बढ़ावा दे रही है ऐसी स्थिति में सद्धर्म की रक्षा तथा उसके प्रचार एवं प्रसार की अत्यन्त आवश्यकता है। इसके लिए जनता को उद्बुद्ध करने के लिए छोटी छोटी पुस्तिकायें जनता के हाथों तक पहुंचानी चाहिये। विद्वानों, उपदेशकों, प्रचारकों, भजन गायकों, साधु-सन्तों का कर्तव्य है कि वे जनता में अहिंसा, सत्य आदि का प्रचार और प्रसार करें।

व्यर्थ व्यय :

फैशन परस्ती, भोगैक लक्ष्यता आदि के बढ़ते हुए प्रवाह को देखकर सदाचार के टिके रहने में संशय हो रहा है। विवाह शादियों में भी व्यर्थ व्यय बढ़ गया है। दहेज में ज्यादा धन मांगना भी भोगैक लक्ष्यता पर ही निर्भर है इसलिए युवकों को सदाचार की तरफ रुचि बढ़ाने की आवश्यकता है। इसके लिए समुचित उपायों को अपनाना आवश्यक है। और उसका एकमात्र तरीका यह है कि युवकों के अभिभावक भी वैसे आदर्श उनके समक्ष उपस्थित करें।

युवक संगठन :

किसी भी कार्य के सम्पादन के लिये जोश और होश दोनों की आवश्यकता है। धर्म और समाज की रक्षा और सेवा के लिये भी इन दोनों की आवश्यकता है। होश के साथ जोश में कंधा लगाने के लिये महासभा के अन्तर्गत युवकों के संगठन की बड़ी आवश्यकता है। युवकों का कर्तव्य है कि महासभा के अन्तर्गत अपना संगठन करें और कांग्रेस में युवक कांग्रेस की तरह दि० जैन युवक महासभा की स्थापना करके धर्म समाज और देश की सेवा में जुट जावें। यदि हो सके तो इस संगठन की योजना इसी अधिवेशन में बनाई जावे।

विरोध-शान्ति :

यह खेद की बात है कि हममें छोटी छोटी बातों को लेकर विरोध होकर वह अपना उग्र रूप भी धारण कर लेता है और उसमें हमारे समाचार पत्र भी उस विरोधाग्नि को भड़काने में सहायता करते

हैं फलतः आपस के शीत युद्ध में भारी शक्ति का ह्रास होता है। अतः उचित है कि किसी भी नई बातों के लिये खड़े होने पर उस पर विवाद होने की आशंका पर उभयपक्ष के लोगों और समाचार पत्रों का कर्त्तव्य है कि वे परस्पर के दृष्टिकोण को समझकर समन्वय बुद्धि से समाज की एकता को बनी रखने का प्रयत्न करें। यदि उचित समझा जावे तो समय समय पर महासभा एवं मध्यस्थ वर्ग को स्थापित कर दोनों को समझाकर विरोध को शान्त कराने का सफल प्रयत्न करावें।

स्थितिकरण :

हमारे समाज में बहुत से लोग ऐसे भी हैं जो व्यवसाय की बेकारी के कारण धर्म से विमुख हो जाते हैं। जिनके हाथ व्यापार धन्धा अथवा कुछ परोपकारक कार्य हैं उनका कर्तव्य है कि अपने सहधर्मी भाइयों को आजीविका में लगाकर उनका स्थितिकरण करें।

धर्म पर आक्षेप :

कुछ लोग जान बूझकर एवं न समझकर भी हमारे धर्म पर आक्षेप करते रहते हैं जिससे हमारे धर्म का अवर्णवाद होता है अतः एक ऐसी समिति की स्थापना की जाय जो धर्म पर आक्षेप होने पर उनका निराकरण करे और धर्म के असली स्वरूप को उस अवर्णवाद से बचावे।

तीर्थ रक्षा :

हमारे तीर्थ जो धर्म के मूर्तिमान प्रतीक हैं उनकी रक्षा के लिये आर्थिक संकोच न होने दें। यत्र तत्र जीर्ण शीर्ण मन्दिरों की मरम्मत करावें। यदि आवश्यकतानुसार नये मन्दिर बनाने के साथ-साथ प्राचीन तीर्थों, मन्दिरों, जैनायतनों आदि की रक्षा भी होती रहे तो जैनधर्म की रक्षा होगी।

जैनगजट पत्र :

महासभा का पत्र जैनगजट है जिसके घर घर प्रचार की आवश्यकता है। यदि हमारी समाज के प्रमुख हितैषी प्रत्येक १० घर के पीछे जैनगजट मंगाकर पढ़ने का संकल्प करें तो हमारा बहुत काम हो सकता है।

देश की रक्षा तथा सेवा :

हमारे देश पर आज विदेशियों की ताक है। चीन ने अपने को भारत का भाई बतलाकर उसकी ही पीठ में छुरा भौंका है, पाकिस्तान भी भारत के साथ मैत्री भाव नहीं रखता, हमारा कर्तव्य है कि हम भारत सरकार को अपने पवित्र देश की रक्षा के लिये तन, मन, धन से सहयोग करें।

अन्त में मैं रायसाहब सेठ चांदमलजी पाण्ड्या का आभारी हूं जिन्होंने यहां यह उत्सव कराकर हमें महासभा के माध्यम से समाज हित के लिये सोचने का अवसर दिया है साथ ही यहां की प्रबन्धकारिणी कमेटी तथा यहां उपस्थित सभी सज्जनों का आभार मानता हूं जिन्होंने इतना सहयोग दिया है। अब मैं समाज के सभी महानुभावों से सहयोग की कामना करता हुआ अपने भाषण को समाप्त करता हूं।

सर्वमंगल-मांगल्यं सर्व-कल्याण-कारकम् ।
प्रधानं सर्व-धर्माणां जैनं जयतु शासनम् ।।
गुरुवः पान्तु वो नित्यं, ज्ञान-दर्शन-नायकाः ।
चारित्रार्णव-गंभीरा मोक्ष-मार्गोपदेशकाः ।।

*

गृहस्थ कौडी विन कौडी का

दरिद्रता से लज्जित होता है। लज्जा के कारण स्वत्व से (स्वात्माभिमान से) पतन होजाता है। स्वात्माभिमान नष्ट होजाने से जगह जगह तिरस्कृत होता है। तिरस्कार होने से उदासीन होजाता है। उदासीन होजाने से शोकग्रस्त होजाता है। शोकग्रस्त होने से बुद्धि नष्ट होजाती है और निर्बुद्धि हो जाने से नाश को प्राप्त होजाता है मर मिटता है इसलिए दरिद्रता (धनहीनता) सम्पूर्ण आपदाओं का स्थान है।

दारिद्रयात् ह्रियमेतिह्रीपरिगतः स्वत्वात्परिभ्रश्यते ।
निःस्वत्वः परिभूयते परिभवान्निर्वेदमापद्यते ।।
निर्विण्णः शुचमेति शोकनिहतो बुद्धया परित्यज्यते ।
निर्बुद्धिः क्षयमेत्यहो निधनता सर्वापदामास्पदम् ।।
नीति-ग्रन्थ

—इन्द्रलाल शास्त्री
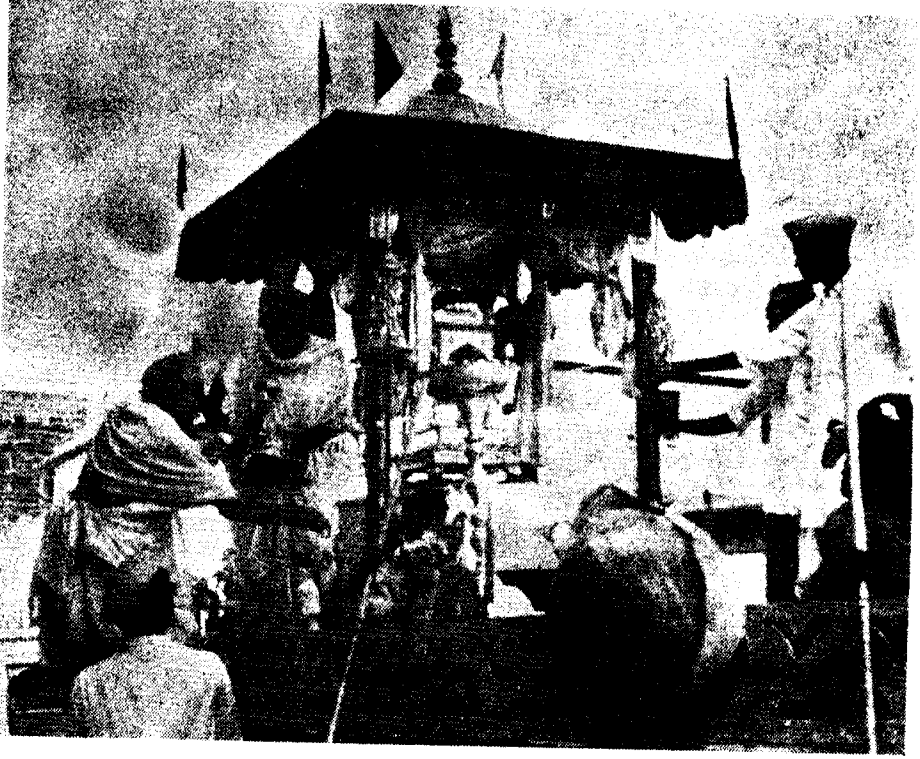
इम्फाल में गृह चैत्यालय की प्रतिष्ठा के अवसर पर
विमान में भगवान को विराजमान करते हुए
माननीय सेठ बाकलीवाल साहब

आचार्य श्री १०८
महावीर कीर्तिजी
महाराज

इसरी (पारसनाथ) मुनिराज के पड़गाने के बाद भोजनशाला में
ले जाते हुये श्री बाकलीवालजी

महासभा के अधिवेशन की अध्यक्षता करते हुये
श्रीमान सेठ भंवरीलालजी बाकलीवाल
साथ में सेठ सा० राजकुमारसिंह जी,
सेठ सुनहरीलालजी व चौधरी
सुमेरमलजी साहब आदि

सभा का अध्क्षीय
भाषण करते
हुये
सेठ साहब

●★●

श्रीमान सेठ साहब अपनी धर्मपत्नी के साथ हर प्रकार के धार्मिक कार्यों में साथ रखकर धर्म प्रभावना में सहयोग प्राप्त किया।

मृत्यु-नागिन

सुधेश' जैन नागौद

'माउन्ट एवरेस्ट' या 'बंगाल की खाड़ी हो।
डेकोटा विमान हो या कि बैलगाड़ी हो ।।
सर्वत्र मृत्यु-नागिन डसती मनुष्य को।
फौजी कमान्डर या क्रीकेट का खिलाड़ी हो ।।

तन पर हो टेरालिन या कि शुद्ध खादी हो।
कन्या नवजात हो या कि वृद्धा दादी हो ।।
मृत्यु-समदृष्टि सी भेद नहीं करती है।
होवे राजरानी या बिकी हुई बाँदी हो ।।

मृत्यु पहुंच जाती हर शहर और गांव में।
चलती हुई ट्रेन में बहती हुई नाव में ।।
ऐसा कोई शूरवीर है न जो मृत्यु को।
बन्दी बनाये डाल बेड़ी उसके पांव में ।।

कविवर श्री पं० वैद्य राजेन्द्रकुमारजी 'कुमरेश' चन्देरी

धर्म भक्त ! तुम में स्वधर्म का था अनुपम अनुराग ।
सदा धर्म के लिये हृदय से करते थे तुम त्याग ॥
महासभा का सभापति बन किया निरन्तर काम ।
किया दिखावा कभी न तुमने चाहा कभी न नाम ॥

सह न सके तुम, कभी धर्म का किंचित् भी अपमान ।
लगा दिये अवसर आने पर अपने तन मन प्राण ॥
सदा धर्म का दृढ़ता से तुम करते रहे प्रचार ।
हुये न विचलित कभी धर्म से मानी कभी न हार ॥

प्रतिपल धार्मिकता को देते रहे बढ़ावा मौन ।
धर्म समाज हितैषी तुमसा साधक सेवक कौन ॥
उद्योगी, यश-अनाकाँक्षी तुम्हें न था अभिमान ।
धर्म समाज फले फूले नित था उर में अरमान ॥

जब से सुना दुखित है अन्तर बहुत हुआ बेहाल ।
तुम्हें अचानक हाय ले गया आकर काल कराल ॥
तुमसे लालों से था सचमुच जैन समाज निहाल ।
श्रद्धांजलि है सेठ समर्पित श्रीमन् भंवरीलाल ॥

श्री अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा

के

७० वें वार्षिक अधिवेशन

के सभापति

श्रीमान् सेठ भंवरीलालजी बाकलीवाल इम्फाल का

भाषण

कर्मभूमि के प्रथम प्रवर्तक, धर्म पन्थ के सर्जनहार।
मोक्षमार्ग के आदि विधाता, मुक्तिस्थल कैलाश पहार ।।
अंकाक्षर के आदि प्रणेता, आदि चक्रि के जनक ललाम।
जगतवन्द्य श्रीआदि जिनेश्वर चरण युगलमें सतत प्रणाम ।।

श्रीमान् पूज्य त्यागी वृन्द, महासभा के संरक्षक श्रीमान् सर सेठ भागचन्दजी सोनी, महासभा के पूर्व अध्यक्ष तथा समाज के कर्णधार श्रीमान् रायबहादुर सेठ राजकुमारसिंहजी, स्वागताध्यक्ष महोदय, स्वागतकारिणी समिति के सदस्यगण, समागत एवं उपस्थित प्रिय धर्मबन्धुओ, माताओ और बहिनो !

वैसे तो मुक्ति-परम्परा भी संसार परम्परा की तरह अनादि है, परन्तु इस युग की अपेक्षा और भारत क्षेत्र की अपेक्षा भगवान ऋषभनाथ ने मुक्तिपथ का प्रदर्शन किया है। उनके पश्चाद्वर्ती

क्रमशः २३ तीर्थङ्करों ने भी उसी मुक्ति-पथ का अपने अपने समय में उद्धार किया । अन्तिम तीर्थङ्कर श्री वर्द्धमान स्वामी ने उस अहिंसामय धर्म मार्ग का महान प्रचार किया । श्री वर्द्धमान भगवान के मुक्त हो जाने पर उनके अनुवर्ती शिष्य ऋषियों ने उस विश्वहितकारी धर्म का प्रचार किया ।

इस तरह जिस जैनधर्म के द्वारा हम यथासम्भव अपना कल्याण कर रहे हैं उस जैनधर्म का उदय अन्य समस्त धर्मों से प्रथम भारत में करोड़ों वर्ष पहले हुआ था । उन पूज्य तीर्थंकरों का पुनीत नाम हमारे हृदय में सदा अंकित रहना चाहिये । हमारे पूज्य ऋषियों ने परम पूज्य तीर्थंकरों की सिद्धांत वाणी तथा धार्मिक वाणी का क्रियात्मक (अमली) प्रचार किया और उसे शास्त्रों में निवद्ध कर के अब तक सुरक्षित रक्खा अतः उस मुनि-परम्परा का उपकार भी कभी भुलाया नहीं जा सकता ।

ते गुरु मेरे उर बसो, जे भव-जलधि जहाज । आप तरें पर तार हीं, ऐसे श्री ऋषिराज ।।

मुसलमानी शासन काल के धार्मिक विद्वेष ने यद्यपि उत्तरी भारत में दिगम्बर मुनि-परम्परा को अपनी राजशक्ति से रोक दिया, जिससे हम 'निगुरे' कहलाने लगे थे परन्तु अंग्रेजी शासन में वह स्वतन्त्र दिगम्बर मुनि-विहार सुलभ हो गया, इस कारण प्रातः स्मरणीय परम-पूज्य चारित्र-चक्रवर्ती श्री १०८ आचार्य शान्तिसागर जी महाराज ने उत्तरी भारत के भी समस्त प्रांतों मे निर्भय निर्वाध विहार किया और हमारे उस निगुरे नामक कलङ्क को मिटाया । उन्होंने अपने प्रबल स्वच्छ आत्म-पराक्रम से अपनी निर्दोष मुनिचर्या द्वारा जहां भव्य जनता को जीवन का पाठ पढ़ाया, वहां अपने आदर्श बोधि-लाभ हेतु समाधि-मरण द्वारा आदर्श वीर-मरण का पाठ भी पढ़ाया । उन शांति के गम्भीर समुद्र श्री शांति-सागर महाराज के पवित्र चरण-युगल हमारे हृदय पर सदा अंकित रहें ।

उनकी अनुपस्थिति में उनके शिष्यानुशिष्य पूज्य निर्ग्रन्थ दिगम्बर आचार्य एवं मुनि-गण स्वकल्याण करते हुए जैन संस्कृति का प्रचार कर रहे हैं, यह हमारे महान सौभाग्य का उदय है । इस भोग-प्रधान आर्थिक युग में निस्पृह स्वात्म-कल्याण साधक दिगम्बर मुनिचर्या एक महान आश्चर्य है । गत भाद्रपद मास से मुझे अपने अनेक आचार्य संघों एवं मुनि महाराजों के दर्शनों का एवं उनके चरणों में रहने का शुभ समय मिला है उससे मुझे जो आल्हाद और शांत भाव प्राप्त हुआ वह शब्दों द्वारा अवर्णनीय है ।

जब तक हमारी पुनीत मुनि-परम्परा विद्यमान रहेगी तब तक हमारी संस्कृति मिट नहीं सकती । हमको गुणग्राही और यथार्थ आत्म-हितैषी बनकर अपनी गुरुसंस्था से लाभ लेना चाहिए । अपने मुनि-वर्ग के विहार की सुव्यवस्था का ध्यान रखना चाहिए ।

ते गुरु चरण जहां धरें, जग में तीरथ तेह । सो रज मम मस्तक चढ़ो, भूधर मांगे येह ।।

ते गुरु मेरे उर बसो ।

क्योंकि—गुरु की महिमा वरणी न जाय। गुरु नाम जपो मन वचन काय।

दि० जैन महासभा

प्रिय बन्धुओ ! हम श्री राजा लक्ष्मणदासजी श्री पं० छेदालालजी आदि का नाम कैसे भूल सकते हैं जिन्होंने ७० वर्ष पहले श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा की स्थापना करके दिगम्बर जैन समाज में जागरूकता में आलसवश कमी महसूस कर पुनः जागृति के भान का सूत्रपात किया। महासभा की बागडोर माननीय सच्चरित्र धार्मिक नररत्नों के हाथ में ही अभी तक रही है। इस कारण महासभा द्वारा सामाजिक जागरण, धर्म प्रचार, तीर्थ रक्षा और विद्या प्रचार का उल्लेखनीय कार्य होता रहा है।

दिगम्बर जैन धर्मावलम्बियों में धार्मिक-श्रद्धा बनाये रखने का प्रयास महासभा अपने आदि काल से करती रही है। समाज में जब भी जिनवाणी में अश्रद्धा उत्पन्न करने वाला प्रचार प्रारम्भ हुआ, जब भी जैन संस्कृति को क्षति पहुंचाने वाला असत् आंदोलन उठा, जब भी कुप्रथा पर जन साधारण को चलाने की प्रक्रिया सामने आई तथा जब भी कोई जैन सिद्धान्त विरोधी प्रचार प्रगट हुआ उस समय महासभा ने अपनी पूरी शक्ति से उसका अच्छा निराकरण किया और जनता की धार्मिक श्रद्धा को आंच न आने दी। इसी प्रकार तीर्थ-रक्षा आदि आदि कार्य किये।

इस तरह महासभा ने अपना 'जैनधर्म संरक्षिणी सभा' नाम सार्थक बनाये रक्खा।

समाज में जैन सिद्धान्त-ज्ञाता विद्वानों का अभाव दूर करने के लिए प्रथम प्रयास इस महासभा ने ही चौरासी-मथुरा पर भा० दि० जैन महाविद्यालय स्थापित करके समाज को पथ-प्रदर्शन किया। परीक्षालय की स्थापना भी इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिये सर्व प्रथम महासभा ने की। आज उसी के प्रभाव का मधुर फल है कि जगह जगह शिक्षा की प्रचारक संस्थायें हैं।

जैन समाज में स्वाध्याय एवं शास्त्र-सभाओं में बांचने योग्य ग्रन्थ ६०-७० वर्ष पहले प्रायः अनुपलब्ध थे। तब महासभा ने सरस्वती भण्डार खोलकर आवश्यक महान ग्रन्थों को लिखवा कर लागत मूल्य पर उन्हें देकर दि० जैन जनता की उस कठिनाई को दूर किया। आज भी इस सरस्वती भण्डार में लिखित ४००-५०० ग्रन्थ मौजूद हैं।

तीर्थों की सुरक्षा के लिए महासभा के कर्णधार स्वनाम-धन्य श्रीमान् सेठ माणिकचन्दजी जे० पी० बम्बई, श्री ला० जम्बूप्रसादजी रईस सहारनपुर, श्री ला० देवीसहायजी फीरोजपुर तथा श्रीमान् रावराजा सर सेठ हुकमचन्दजी इन्दौर आदि जो सेवा करते रहे, वह किसी से छिपा नहीं है।

'जैन गजट' ने अपने आदि काल से अब तक जो कुछ स्मरणीय, प्रशंसनीय और उल्लेखनीय धार्मिक सामाजिक हित-सम्पादन किया है उसको भी जैन समाचार पत्रों के पाठक भली भांति जानते हैं।

महासभा का उपदेशक (प्रचारक) विभाग जैनसमाज में सदा जागरूक रहकर जागृति पैदा करता रहा है।

इस तरह भा० दि० जैन महासभा ने अपनी विभिन्न शाखाओं द्वारा दिगम्बर जैन धर्मावलम्बियों की आदर्श सेवा की है। अतः हम सबका प्रधान कर्तव्य है कि महासभा को सदा अपना हार्दिक, वाचनिक, शारीरिक और आर्थिक सहयोग प्रदान करते रहें। जिससे यह वृक्ष समाज को अपनी मधुर फलदार छाया देने के लिये सर्वदा हरा भरा बना रहे।

संगठन :

'संगठन' वह चाहे धार्मिक हो, सामाजिक हो या राजनैतिक हो, सदा बलवर्द्धक और शक्ति का स्रोत हुआ करता है। परन्तु वह संगठन होता तभी है जबकि एक ध्येय होता है। अनेक उद्देश होने पर संगठन कभी नहीं होता। समस्त प्रजातन्त्रीय, गणतन्त्रीय, साम्यवादी (कम्यूनिष्ट) एवं राजतंत्रीय देशों का 'पारस्परिक शांति स्थापना' ध्येय बना हुआ है तो एक बलवान संगठित 'राष्ट्रसंघ' बना हुआ है जो कि विभिन्न राष्ट्रों के विवाद दूर करके शान्त स्थिति बनाये रखने में अच्छा सफल योग दे रहा है।

इसी प्रकार समस्त जैन सम्प्रदायों को स्याद्वाद, अहिंसा, वीतरागता आदिक सामान्य जैन मान्यताओं को अपने समक्ष रखकर एक उद्देश्य बनाना चाहिए और उस उद्देश्य के अनुसार सबका एक संगठन होना चाहिये। अल्प-संख्यक जैन समाज को इस युग में तभी सन्मान के साथ ह्रास से बचाया जा सकता है।

इसी प्रकार दिगम्बर जैन धर्मावलम्बियों को भी अपना एक सिद्धान्त, एक ध्येय और एक उद्देश्य बनाकर अपना संगठन दृढ़ करना चाहिये। हमारा सिद्धान्त आर्ष जिनवाणी अनुसार हो, दिगम्बर जैन समाज में प्रेमसंचार हमारा ध्येय हो और दिगम्बर जैन समाज का बल बढ़ाना हमारा पहला उद्देश्य होना चाहिये।

तेरह, बीस पंथ केवल श्री जिनेन्द्र भगवान की पूजन-पद्धति में प्रायः सीमित हैं। इसको विवाद का विषय बनाना अनुचित है। जिस मन्दिर में जिस प्रणाली से पूजन प्रक्षाल होता हो, उस मन्दिर में उसी पद्धति से पूजन प्रक्षाल चालू रक्खा जावे, बलपूर्वक अन्य पद्धति को चालू करने का यत्न न किया जावे। पर उसी ही मन्दिर के पहले की विचारधारा के बदलाव आने वाले भाई की भावना में ठेस न आवे इसका भी मधुरतापूर्वक सुधार करना आवश्यक है जिससे कि भावों में ठेस न आने पावे। जिस मन्दिर में दोनों पद्धतियाँ चालू हैं उसमें पृथक् पृथक् वेदी में अपने अपने ढंग से पूजन प्रक्षाल कर लेने की व्यवस्था कर लेनी चाहिए। वीतराग देव की पूजा में परस्पर घृणा तथा द्वेष लाना बहुत अनुचित है।

हमारे पूज्य महाव्रती या अणुव्रती त्यागी जहां पर भी विहार करें वहां पर वे शान्ति की स्थापना का प्रयास अवश्य करें। उनके प्रयास से यह समस्या सहज में हल हो सकती है।

आध्यात्मिक प्रचार सिद्धान्त के अनुकूल अनेकान्तात्मक मूल पद्धति के अनुसार होवे तो वह कभी विवादजनक नहीं हो सकता। हमारा (प्रत्येक स्त्री पुरुष का) मूल ध्येय है।

आतम के अहित विषय कषाय, इनमें मेरी परिणति न जाय।
मैं रहूं आप में आप लीन, सो करहु होंहु ज्यों निजाधीन ।।

उसी के अनुसार हमारा मन्दिर-निर्माण, बिम्ब-प्रतिष्ठा, दर्शन पूजन आदि भक्ति मार्ग तथा व्रत, उपवास, नियम आदि चारित्र मार्ग और स्वाध्याय, सामायिक तात्विक-चिन्तन आदि ज्ञानमार्ग है। इस ध्येय को अपने सामने रखकर जिनवाणी की साक्षी से निश्चय व्यवहार, निमित्त उपादान, नियति अनियति आदि विषयों का विचार, आचार और प्रचार होना चाहिये। इस युग में हम मुक्त नहीं हो सकते तब हमको अपनी आत्म शुद्धि के लिये जिस विधि को अपनाना है, उसका गम्भीरता से निर्णय करके उसे अपना लेना चाहिये। पारस्परिक घृणा द्वेष से सदा दूर रहना चाहिये। मुमुक्षु, अमुमुक्षु सौराष्ट्र, असौराष्ट्र आदि का भेदभाव दूर हो जाना चाहिये।

हमारी प्रत्येक जगह एक ही शास्त्र सभा हो उसमें प्रेमवर्द्धक अनेकान्तमयी पद्धति से प्रवचन हो और बड़े प्रेम से प्रश्न-उत्तर, शंका-समाधान हों, सभी धार्मिक उत्सवों में समान रूप से सभी नर नारी भाग लें।

हमारे समाचार पत्र भी आर्ष मतानुसार सिद्धान्त का समर्थन करें इसमें मधुर शब्दों का प्रयोग हो, व्यक्तिगत आक्षेप न हों और पक्षपात की गन्ध न हो, द्वेष तथा घृणा भाव जनक भाषा बिलकुल न आने पावे।

प्रत्येक प्रमुख उत्तरदायित्वपूर्ण व्यक्ति को संगठन के इस मूलमन्त्र पर तथा उसकी शाखाओं और उपशाखाओं पर ध्यान रखना चाहिये एवं तदनुकूल प्रवृत्ति अपनानी चाहिए।

शिक्षा :

मनुष्य को अपना जीवन स्व-पर हितकारी बनाने के लिये आध्यात्मिक तथा लौकिक दोनों प्रकार की शिक्षाओं को प्राप्त करना आवश्यक है। सरकारी स्कूलों में इस समय जो शिक्षा का पठनक्रम चल रहा है उसमें आजीविका के योग्य शिक्षा की व्यवस्था भी पर्याप्त नहीं है और आध्यात्मिक शिक्षा तो वहां पर सर्वथा मिलती ही नहीं। अंग्रेजी शासन को अपना शासन चलाने के लिये क्लर्की शिक्षा में निपुण व्यक्तियों की अधिकतर आवश्यकता थी, इस दृष्टि से स्कूलों का जो पठन-क्रम अंग्रेजी शासन के समय चालू था, वही पठनक्रम आज भी चल रहा है। अतः आज भी स्कूल कालेजों से पढ़कर निकले

हुए लड़के प्राय: दफ्तरों में क्लर्की करने योग्य ही होते हैं । यदि उनको कहीं किसी दफ्तर में नौकरी नहीं मिलती तो वह बेकार रहते हैं । ऐसे बेकार युवक ग्राजीविका न मिलने से ग्रात्म हत्या भी कर लेते हैं । जबकि ग्रशिक्षित किसान, लुहार, बढ़ई, जुलाहे ग्रादि ग्रपने हस्त-कौशल से छोटे मोटे काम धन्धों द्वारा स्वतन्त्रता के साथ सन्मान पूर्वक ग्रपने परिवार का पालन-पोषण करते हैं ।

ग्रतः वर्तमान स्कूली शिक्षा में जब तक स्वतन्त्र ग्राजीविका करने योग्य पठनक्रम न जोड़ा जायगा, तब तक यह शिक्षा ग्राजीविका के योग्य भी सिद्ध नहीं होगी । ग्राध्यात्मिक शिक्षा के बिना मनुष्य ग्रात्म कल्याण नहीं कर सकता ।

इसलिये ग्रपनी सन्तान को ग्रपना सुसंस्कृत जीवन बनाने के लिये धार्मिक शिक्षा ग्रौर सम्मान के साथ ग्राजीविका के योग्य लौकिक शिक्षा देना ग्रावश्यक है । इस कमी की ग्रोर सरकार का भी ध्यान ग्राकर्षित करने का दृढ़ प्रयत्न होना चाहिये तथा समाज को भी कुछ सोचना चाहिये ।

स्त्री-शिक्षा

पुत्रों के समान पुत्रियों को भी शिक्षित बनाना प्रत्येक माता पिता का कर्तव्य है । परन्तु स्त्रियों को उनके काम में ग्राने योग्य शिक्षा मिलनी चाहिये सुगृहिणी को ग्रहस्थाश्रम-संचालन के लिये जिस शिक्षा की ग्रावश्यकता होती है उस शिक्षा का प्रबन्ध लड़कियों के लिये होना विशेष ग्रावश्यक है । इसके लिये हमको पूना के श्री डा० कर्वे द्वारा संचालित महिला शिक्षाश्रम का ग्रनुकरण करना चाहिये । यदि हमारे महिलाश्रम डाक्टर कर्वे की शिक्षा-पद्धति का ग्रनुकरण करें तो उन्हें समाज या सरकार से सहायता लेने की ग्रावश्यकता न पड़े । वे ग्रपना खर्च स्वयं ग्रपने यहां के कला-कौशल से निकाल लिया करें ग्रौर उनकी शिक्षित छात्रायें स्वावलम्बिनी बन सकें । ग्रतः हमारे महिलाश्रमों को ग्रपने ग्रपने यहाँ लड़कियों को कपड़े सीने, काढ़ने, बुनने, खिलौने बनाने, ग्रम्बर चर्खा द्वारा सूत कातने, तेल साबुन बनाने, कपड़ों पर छपाई करने ग्रादि की शिक्षा देने का भी प्रबन्ध करना चाहिये ।

धर्मप्रचार

जैनधर्म एक विश्व धर्म है क्योंकि वह प्राणीमात्र के ग्रभ्युदय का सन्देश देता है । ऐसा विश्व-धर्म ग्राज २०-२५ लाख व्यक्तियों का ही धर्म बना हुग्रा है । यह बहुत दुख की बात है । यद्यपि जैनधर्म ग्रात्म-उद्धार के लिये विषय कषायों के त्यागने, कम करने, शुद्ध निराभिष भोजन करने, ग्रहिंसक प्रवृति रखने, ग्रभक्ष्य वस्तु भक्षण न करने ग्रादि का उपदेश देता है । जघन्यश्रेणी के जैन को भी मद्यपान, मांस-अंडा भक्षण, शहद खाने का त्याग करना ग्रावश्यक होता है, जो कि ग्राज के भोग-प्रधान युग में बहुत कठिन प्रतीत होता है । ग्रतः ग्राचरण से जैन बनना ग्रभक्ष्य-भक्षण के ग्रभ्यस्त मनुष्यों के लिये बहुत मुश्किल मालूम पड़ता है । ग्रतः जैनधर्मानुयायी बनने का साहस हर कोई व्यक्ति नहीं कर सकता ।

परन्तु मनुष्य के हृदय में जो बात बैठ जाती है, उसके कर डालने में उसे कुछ देर भी नहीं लगती। श्रेणिक राजा को अपनी चेलना रानी के सम्बोधन पर धर्म-रुचि हुई तो उसे अपने शिथिलाचार (शिकार खेलना आदि) का त्याग करते भी कुछ समय नहीं लगा। अतएव हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि हम जनता को प्रबुद्ध करने के लिये उसमें सरल सुन्दर साहित्य वितरण करें जिससे उसके हृदय में जैन सिद्धान्त तथा जैनधर्म की रुचि उत्पन्न हो। धार्मिक रुचि होने पर आचरण में परिवर्तन सरलता से आ सकता है। अतः प्रत्येक भाषा में जैन सिद्धांत की सरल उपयोगी बातें सुन्दर रोचक ढंग से प्रकाशित करके व साहित्य प्रत्येक व्यक्ति के पास पहुंचाना चाहिये।

धर्म सम्मेलनों में निपुण विद्वानों के भाषण कराने की व्यवस्था करनी चाहिये। दीन दुखी, अनाथ बच्चों, स्त्रियों को अपनी संस्थाओं में शिक्षण द्वारा स्वावलंबी कर्मठ बनाना चाहिये।

इत्यादि पद्धति से जैनधर्मका प्रचार और प्रभावना जन साधारण में सदा करते रहना चाहिये।

समाज सुधार :

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। जन्म से लेकर मरण तक उसका निर्वाह समाज का सहयोग प्राप्त किए बिना नहीं हो सकता। गृहस्थाश्रम के लिये तो समाज का सहयोग मिलना अनिवार्य है ही, किन्तु संसार-विरक्त, गृह-विरत मुनि-आश्रम भी गृहस्थों के सहयोग प्राप्त किये बिना नहीं चल सकता। अतः प्रत्येक व्यक्ति को अपने समाज के सुधार के लिए सदा तत्पर रहना चाहिए। आध्यात्मिक सिद्धान्त सदा स्थायी रहते हैं, उनमें कभी परिवर्तन नहीं आता, परन्तु सामाजिक रीति रिवाजों में, आवागमन में, पहनाव उढ़ाव आदि में द्रव्य क्षेत्र काल भाव के अनुसार परिवर्तन भी होता रहता है। पहले हाथ का सिला हुआ अङ्गरखा पहना जाता था, बैल गाड़ी में दूर दूर की यात्रा की जाती थी. अब मशीन का सिला हुआ कोट पहना जाता है, मोटर, रेल, वायुयान से यात्रा की जाती है।

तदनुसार विवाह शादियों के खर्च एवं उनके रीति-रिवाज ऐसे सुगम कम खर्चीले बन जाने चाहिएं जिनको साधारण परिस्थिति का परिवार भी सहन कर सके। हमारे साधारण परिवार जब सुविधा से सामाजिक रीति-रिवाजों का पालन कर सकेंगे, तब ही समाज की स्थिति दृढ़ रह सकेगी।

आज कल दहेज प्रथा को जन्म देकर लड़कियों के विवाह को साधारण जनता के लिये असह्य बना दिया है। इसका परिणाम बहुत बुरा निकल रहा है। इसका विशेष विवरण देना मैं उचित नहीं समझता। अतएव इस प्रथा को यदि अविलम्ब दूर न किया गया तो समाज का ढांचा विकृत हो जायगा। यह समाज को गम्भीर चेतावनी है, जिस पर समाज के प्रमुख पुरुषों का बिगाड़ होने से पहले गम्भीर क्रियान्वित ध्यान देने की आवश्यकता है। अतः विवाह शादी के बहुत खर्च वाले रीति रिवाजों में तुरन्त सुधार होना चाहिये, तभी जातीय संगठन स्थिर रहेगा।

सामाजिक सुधार का मूल मन्त्र यह भी है कि प्रत्येक समाज-सेवक सबसे पहले अपने आपका सुधार करे। अपना सुधार किये बिना अन्य व्यक्ति का या अन्य परिवार का अथवा अपनी जाति का सुधार करना असम्भव है। आशा है यहां पर होने वाला युवक सम्मेलन इस बात पर ध्यान देगा।

जैन गजट :

जैन गजट भा० दि० जैन महासभा का साप्ताहिक मुखपत्र है। इस पत्र की नीति प्रारम्भकाल से महासभा के उद्देश्य के अनुकूल धर्मप्रचार, सिद्धान्त-पोषण एवं सिद्धांत-अविरुद्ध समाज सुधार के लिये जन साधारण को प्रेरणा देना रही है। उसी रेखा पर जैन गजट आज भी चल रहा है। उसके लेख पढ़ने योग्य रहते हैं। उसके लेखों से जन साधारण की धार्मिक श्रद्धा पुष्ट होती है और जैन सिद्धान्त का समर्थन तथा सम्पोसरण होता है। इसके साथ ही उसकी भाषा में मधुरता रहती है। वह समाज का सही पथ-प्रदर्शन कर रहा है।

उसने सिद्धान्त की अनेक ऐसी बातें आगम-प्रमाण से प्रगट की हैं जिनको पहले अनेक विद्वान् भी गलत जानते थे। जैसा कि "द्रव्यलिङ्गी मुनि को मिथ्यादृष्टि ही समझा जाता था।" परन्तु जैन गजट ने त्रिलोकसार का प्रमाण देकर बतलाया है कि "भावों से असंयत सम्यक्‌दृष्टि तथा अणुव्रती सम्यग्दृष्टि निर्ग्रन्थ मुद्रा धारक मुनि भी द्रव्यलिङ्गी होता है।" इस बात से एक भ्रान्त धारणा दूर हो गई। इसके सिवाय जैन गजट ने यह भी आगम प्रमाण से बतलाया कि सर्वज्ञ का ज्ञान पदार्थ की पर्यायों को उन ही नियत अनियत पर्यायों के अनुसार नियति, अनियतिरूप में जानता है। इत्यादि विवादस्थ बातों के विषय में जैन गजट ने आर्ष आगम प्रमाणों द्वारा सरल सुबोध भाषा में जो स्पष्टीकरण किया है, वह साधारण स्त्री पुरुषों की भी समझ में आया है। और उससे उनकी ठीक सैद्धान्तिक एवं धार्मिक श्रद्धा दृढ़ हुई है।

जैन गजट इसी प्रकार समाज की सेवा करता रहे, इसके लिये यह बात परम आवश्यक है कि उसकी स्थिति सुदृढ हो। इसके लिये तीन उपाय हैं। १. ग्राहक संख्या बढ़ाना, २. अपने विज्ञापन जैन गजट में छपाना, ३. प्रत्येक अवसर पर उसको आर्थिक सहायता देने का प्रयत्न करना।

आशा है इन बातों की ओर जनता का ध्यान आकर्षित होगा।

कर्तव्य-पालन :

अपने भाषण को समाप्त करते हुए मुझे केवल एक ही बात कहनी है कि प्रत्येक स्त्री पुरुष को युवक, प्रौढ़ और वृद्ध को अपने अस्थिर किन्तु मूल्यवान जीवन का महत्व समझना चाहिए और प्रत्येक समय स्व-पर-हितकारी अच्छे कार्य करने में सावधान रहना चाहिये। आज की बात कल पर न छोड़नी चाहिये। सुखी और सन्तुष्ट रहने के लिये अति आवश्यक है कि—

परम्परा से चला आया हमारा खानपान शुद्ध सात्विक रहे। कहीं हमारे खान पान में मद्य, मांस, मधु आदि अभक्ष्य पदार्थों का उपयोग न आ जाये। सामाजिक जीमनवार जैसे दिन में होते आ रहे हैं, उनमें छने हुए जल का उपयोग तथा कन्दमूल का अनुपयोग जैसे रहा आया है, इसमें विकार न आवे।

हमारा पहनाव उढ़ाव मर्यादा अनुसार यथा सम्भव सादा हो, स्त्री-जाति के परम भूषण लज्जा का ध्यान रक्खा जावे। सिनेमा की गन्दी फिल्मों के देखने से अपने परिवार को बचाया जावे, विकृत एवं व्यर्थ खर्चीली फैशनपरस्ती का दास न बना जावे।

ब्रह्मचर्य का आचरण यथा सम्भव अधिक से अधिक किया जावे। कम से कम गर्भाधान के पश्चात् अष्टमी, चतुर्दशी, अष्टाह्निका, दशलक्षण पर्व के दिनों में तथा तीर्थयात्रा के समय तो ब्रह्मचर्य का पालन अवश्य किया जावे। पुरुषों को पत्नीव्रत और स्त्रियों को पतिव्रत का दृढता से पालन करना चाहिये।

अपने निर्धन, असहाय, अनाथ स्त्रियों तथा बच्चों एवं असमर्थ परिवारों को तन, मन, धन तथा कृत, कारित, अनुमोदना से सहायता करनी चाहिये। तन, और धन का इससे अच्छा सदुपयोग और कोई नहीं।

विद्वानों को श्रद्धा, ज्ञान और आचार का आदर्श बनकर जन उपयोगी विविध भाषामय मौलिक, सरस, समयोपयोगी साहित्य का निर्माण करके पथ-प्रदर्शन करना चाहिये तथा आर्ष सिद्धांतकी भक्ति और प्रचार में योग देना चाहिए।

बच्चे हमारे उत्तराधिकारी हैं उनको दर्शन, पूजन, स्वाध्याय, सामायिक, शुद्ध खान पान का अभ्यस्त बनाकर उनके शिक्षण, स्वास्थ्य, सभ्यता, सद्गुण-ग्रहण की ओर हमारी प्रधानतया प्रेरणा और चेष्टा होनी चाहिये।

धार्मिक उत्सव सदा प्रगतिशील होते रहने चाहिये।

एक अत्यन्त आवश्यक बात आपके समक्ष यह भी रखना उचित समझता हूं कि "अखिल विश्व विद्यालयों में जैनधर्म की जानकारी के लिए उपयोगी साहित्य भेजा जावे, जनता में प्रचारित अण्डा भक्षण, मत्स्य व्यापार आदि प्रवृत्तियों को रोका जावे।" इत्यादि योजनायें महासभा के सामने लाई जाती हैं जिसके लिये प्रचुर द्रव्य आवश्यक है। अतः इसकी व्यवस्था के लिए इस अधिवेशन में एक महान कोष की योजना बनाकर उसका प्रारम्भ अवश्य किया जावे।

आपने मेरी अयोग्यता का विचार न करके भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा का अध्यक्ष आसन मुझे प्रदान किया, इनके लिये मैं आपकी सद्भावना का आभारी हूं।

गौहाटी के जैन समाज ने उत्साह के साथ जो आसाम में प्रथम पंच कल्याणक प्रतिष्ठा जैसे महान धार्मिक आयोजन का शुभ प्रयास किया और महासभा के अधिवेशन कराने की योजना की है, गौहाटी के जैन समाज का ऐसा धार्मिक उत्साह और सामाजिक प्रेम देखकर परम आनन्द होता है। इसके उपलक्ष में उसको जितना धन्यवाद दिया जावे उतना थोड़ा है।

अन्त में सर्व कल्याणकारिणी भावना का स्मरण करना उपयोगी समझता हूं—

शास्त्राभ्यासो जिनपतिनुतिः, सङ्गतिः सर्वदार्यैः,
सद्वृत्तानां गुणगणकथा, दोषवादे च मौनम्।
सर्वस्यापि प्रियहित-वचो भावना चात्मतत्त्वे,
सम्पद्यन्तां मम भवभवे यावदेतेऽपवर्गः॥

हे भगवन्! जब तक मैं मुक्त न हो जाऊं तब तक भव भव में सत् शास्त्रों का अभ्यास, वीतराग जिनेन्द्रदेव की विनय भक्ति, सत्पुरुषों की संगति, सच्चारित्र निष्ठ महान पुरुषों की गुणमयी चर्चा, अन्य व्यक्तियों की निन्दा में मौन भाव, सबके लिये हितमित प्रियवचन, तथा आत्म चिन्तन भावना मुझ में बनी रहे। यही सद्भावना मानव मात्र में भी बनी रहे।

सन्तोषी सदा सुखी

सन्तोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम्।
कुतस्तद् धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम्॥

संतोषरूपी अमृत से तृप्त शांतचित्त वीतराग महानुभावों को जो सुख है वह धन के लोभी और धनलाभार्थ इधर उधर दौड़ने वालों को कहा है? अपितु नहीं है।

इन्द्रलाल शास्त्री

जिसने सेवा-व्रत पाला हो

लक्मीचंद 'सरोज' एम० ए०, साहित्यरत्न शास्त्री

[जीवन संघर्ष में जूझते हुए, सही दिशा में धर्म और समाज की सेवा करने का कार्य बड़ा ही कठिन है। दूसरे शब्दों में सेवा का धर्म या विषय बड़ा ही गहन गम्भीर है। संस्कृत के एक सुकवि के शब्दों में 'सेवा धर्मो पर गहनो योगिनामप्यगम्य: बना है। धर्म और समाज, साहित्य और संस्कृति, देश और विश्व के सेवकों की अतीत में आवश्यकता थी, आज है, अनागत में भी रहेगी। स्व० भंवरीलालजी बाकलीवाल जैसे सेवा भावी सेनानी समाज में और भी हो, इसके लिए उन जैसे लोगों के प्रति समाज की ओर से श्रद्धांजलि सर्वदा अपेक्षित होगी।]

जिसने सेवा-व्रत पाला हो !
जिसके मानस में बसती हो, सेवा आशा जीवन सी।
विपदा की दुखमय छाया हो, जिसको प्रेमालिंगन सी।
जिसको जीवन की हारें हों, जय-गीतों मय वन्दन सी।
जिसको दुःखप्रद घटनायें हों, शीतल सुरभित चन्दन सी।
दर दो, मेरा यह हृदय-सुमन, विभु ! उसके उर की मालाहो—
जिसने सेवा-व्रत पाला हो।

जीवन-बाधायें जो हंस कर, सहता जाए आह न भर।
जिसने सुख सारा बांट दिया, जग को-निज परवाह न कर।
जिसने सब कुछ ही दान दिया निज प्राणों की परवाह न कर।
जो सरिता तरु सा जल फल दे, बदले में कुछ भी चाह न कर।
भगवन् ! मेरा जीवन दीपक, उसको पथ में उजियाला हो।
जिसने सेवा-व्रत पाला हो।

श्रावक शिरोमणि नर-रत्न

पं० सुमेरुचंदजी दिवाकर शास्त्री न्यायतीर्थ B. A. L. L. B. सिवनी

श्री भंवरीलाल जी बाकलीवाल आसाम के साथ मेरा तीस वर्ष से निकट परिचय था। वास्तव में वे श्रावक शिरोमणी थे। उनकी भगवान जिनेन्द्र के शासन में प्रगाढ़ भक्ति थी। जब मैं जैन गजट का संपादक था, तब वे अपने पत्रों द्वारा मुझे बड़ा उत्साह प्रदान करते थे। वे उत्साह के भण्डार थे। सत्कार्य को संपन्न करने में वे सर्वदा तन मन तथा धन से तैयार रहते थे।

सरल हृदय

वे सरल हृदय, तथा निष्कपट थे। साधर्मी वंधु के प्रति उनके अन्तःकरण में वात्सल्य तथा प्रेम की धारा सर्वदा प्रवाहित होती रही है। धन की विपुल वृद्धि होने पर भी वे अपने को अहंकार के महारोग से उन्मुक्त रखते थे।

प्रभावना प्रेमी

जब मैं सन १९४३ के भाद्र पद में स्व० सेठ वैजनाथ जी कलकत्ता के साग्रह आमंत्रण पर जयपुर गया था, तब श्री बाकलीवाल जी के साथ विशेष घनिष्ठता उत्पन्न हुई थी। वे मेरे प्रत्येक प्रवचन में रस लेते हुए मुझे उत्साहित करते रहते थे।

डीमापुर (नागालेण्ड) की भव्य वेदी प्रतिष्ठा में मैं स्वर्गीय धर्मालंकार ब्र० पंडित पन्नालाल जी के साथ गया था। श्री बाकलीवाल जी के मन में तीव्र इच्छा थी, कि मेरे अंग्रेजी में भाषण करा कर आसाम में धर्म की प्रभावना करें। वे मुझे अपनी मोटर में जोरहाट ले गए। आसाम के प्रसिद्ध विद्वान् श्री हन्डीकी से उन्होंने परिचय कराया तथा वहां एक सुन्दर सभा की आयोजना कराई। मेरा अंग्रेजी में भाषण कराकर आसाम प्रांत के पत्रों में बहुत प्रचार कराया। पत्रों में भाषण का विस्तृत वर्णन पढ़ कर श्री बाकलीवाल जी को ऐसा हर्ष होता था, मानों उन्हें बड़ी निधि मिल गई हो।

जब सन् १९६६ में थियासोफिकल सोसाइटी की पांचवी विश्व परिषद के लिए मुझे सेल्जवर्ग (आस्ट्रिया) का आमंत्रण मिला उस समय दि० जैन महासभा के अध्यक्ष रहने से बाकलीवाल जी ने मुझे महासभा की ओर से उस महान् सम्मेलन में जैन धर्म का संदेश पहुंचाने के हेतु महान परिश्रम किया, किन्तु भारतीय शासन के अन्तरायरूप हो जाने से मैं वहां न जा सका, इससे बाकलीवालजी को बहुत

धक्का लगा। सन् १९६७ में एन आरबर, मिचीगेन अमेरिका में होने वाले प्राच्य विश्व सम्मेलन के सत्ताईसवें अधिवेशन के लिए जब मैं आमंत्रित किया गया तब भी प्रभावना प्रेमी श्री बाकलीवालजी ने प्रसन्नता पूर्वक योगदान दिया। उनकी मनोकामना थी, कि मैं विदेश जाकर जैनधर्म की प्रभावना करूं और इस कार्य के हेतु वे सर्व प्रकार से सहयोग देने को तत्पर थे।

मुनि भक्ति

इस हुंडावसर्पिणी काल में दिगम्बर जैन मुनीश्वरों का दर्शन कर वे अपने को कृतार्थ मानते थे। उनका विवेकी हृदय साधुओं के गुणों से प्रभावित हो भक्ति के रस से परिपूर्ण रहा करता था। मुनिजनों के चरणों में रह कर उन्होंने अपने जीवन को अत्यन्त उन्नत बनाया था। आचार्य विमलसागर महाराज के पास कई पर्यूषण उन्होंने व्यतीत किये, तथा दस दिन पर्यन्त उपवास करके अपने जीवन को अत्यन्त विशुद्ध बनाया था। वे सम्यग्दृष्टि के अष्ट अंगों से सुसज्जित दिखते थे। दुष्टजनों द्वारा की जाने वाली साधुनिन्दा देखकर उनका हृदय बड़ा व्यथित होता था। वे उपगूहन अंग का पालन करते हुए साधु जीवन को निष्कलंक बनाने के प्रयत्न में सदा तत्पर रहते थे। इस विषय में वे मुझे अनेक बार लिखा करते थे, तथा मेरे माध्यम में अनेक कार्य करने की योजना उन्होंने बनाई थी, जो साकार रूप न बन पाई। वे दि० जैन समाज की अखण्ड एकता के समर्थक थे। उन्होंने समाज के विभिन्न दलों में मैत्री तथा ऐक्य वृद्धि के हेतु अत्यन्त नम्र भावना से पर्याप्त उद्योग किया था। सत्कार्य को सम्पन्न करने में असफल होने पर वे उत्साह हीन नहीं होते थे। इस कारण सभी पक्ष तथा विचार के लोग श्री बाकलीवालजी की सद्भावना तथा सत्प्रयत्नों का समर्थन करते थे।

महासभा के रक्षक

दिगम्बर जैन महासभा को आर्थिक संकट में देखकर श्री बाकलीवालजी ने रायसाहब सेठ चांदमलजी आसाम के सहयोग से महासभा को जो सहायता समाज द्वारा प्रदान कराई, वह चिरस्मरणीय है। स्व० आचार्य श्री शान्तिसागर महाराज को दि० जैन महासभा पर बड़ा विश्वास था। वे मानते थे, कि धर्म के संकटकाल में सच्ची सेवा करने वाली महासभा की अवस्थिति आवश्यक है। उस महासभा के अध्यक्ष बन कर श्री बाकलीवालजी ने महत्वपूर्ण धर्म तथा समाज की सेवा की। वृद्ध होते हुए भी उनमें सदा तरुण सदृश उत्साह पाया जाता था।

विद्यालंकार पं० इन्द्रलालजी शास्त्री जयपुर के प्रति उनके मन में बड़ी ममता थी। वे उनके द्वारा सर्वदा मार्ग दर्शन प्राप्त किया करते थे।

बाकलीवालजी का हृदय विशाल था। विपक्ष वालों के प्रति भी वे नम्र तथा विनय भाव धारण करते थे।

मेरे अनुज प्रोफेसर सुशीलकुमार दिवाकर एम० ए० एल० एल० बी०, पी० एच० डी० के प्रति उनके मनमें अपार स्नेह तथा ममता थी। वे अपने पत्रों में सदा उनका स्मरण किया करते थे।

श्री बाकलीवाल का सद्भावनापूर्ण पत्र पाकर उत्साह शून्य व्यक्ति भी धार्मिक कार्य के लिए तत्पर हो जाता था।

आदर्श जीवन

मेरी दृष्टि में उनका जीवन आदर्श सद् गृहस्थ का जीवन था, जिसमें धर्म पुरुषार्थ को सर्वदा सर्वोपरि स्थान प्रदान किया गया था। उनका जीवन श्रीमानों के लिए आदरणीय तथा अनुकरणीय है। वे नर रत्न थे। उनके दिवंगत होने से जैन समाज को अपार क्षति पहुंची है।

प्राकृतिक चिकित्सा से प्रभावित

भाई भंवरीलालजी बाकलीवाल से मेरा सम्बन्ध गत् ३० वर्षों से है। उनकी और हमारी बगल बगल में गद्दी एक ही कोठी में कई वर्षों तक रही।

ये सुजानगढ़ से आसाम जाने के लिये या आसाम से सुजानगढ़ जाने के लिये जब कभी कलकत्ते आते तब जैन समाज के सम्बन्ध की धार्मिक सामाजिक और पारिवारिक चर्चा होती। उनका पहनावा तो आधुनिक नहीं था पर विचार आधुनिक रहते थे। वे बहुत हंसोड़ थे। चर्चा करते समय हास्य की पुट भी उसमें दिया करते थे और अपने जीवन में घटी हुई घटनाओं को भी सुनाया करते थे।

लगभग १० वर्ष पहले उन्हें ब्लड प्रेसर की शिकायत हुई और मुझ से चर्चा होने पर मैंने प्राकृतिक चिकित्सा कराने की राय दी। कुछ महीने तो उन्होंने सोचने में निकाले। पर फिर एक बार प्राकृतिक चिकित्सा कराई और उससे जो उन्हें लाभ हुआ वे इतने प्रभावित हुये कि मुझे इस सम्बन्ध में बराबर पत्र लिखा करते थे और धीरे-धीरे उन्होंने अपने परिवार में भी प्राकृतिक चिकित्सा का प्रचार किया।

दिगम्बर जैन महासभा के गोहाटी अधिवेशन पर उनको सभापति के रूप में देखा और चर्चा हुई तो ज्ञात हुआ कि समाज की धार्मिक संस्थाओं को ऊंचा उठाने के लिये उनके हृदय में कितनी वेदना है और उसके लिये हर समय सोचते हैं और प्रयत्नशील हैं।

एक बार वे मेरे साथ कलकत्ते के प्रकृति निकेतन को देखने गये। देख कर इतने प्रसन्न हुये कि बिना मांगे ही संस्था को ११००)०० ग्यारह सौ रुपया भेंट दिया। इन दिनों अपना अधिक समय समाज की सेवा में देते थे। वे हमारे बीच रहते तो समाज का बहुत बड़ा कल्याण करते।

धर्मचंद सरावगी M. L. C. कलकत्ता

श्री और श्रीमती भंवरीलाल जी बाकलीवाल
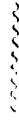
सेठानी साहिबा मलखूदेवी जी बाकलीवाल

श्रीमान् बाकलीवाल जी जयपुर में आंखों के सफल आपरेशन के बाद

श्रीमान् पं० इन्द्रलाल जी शास्त्री, विद्यालंकार

संपादक व संयोजक, स्मारिका
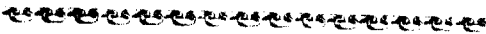
Members of M/s. Saligram Rai Chunilal Bahadur & Co. present at Dibrugarh on 23rd December, 1954.

Sitting (L to R) — M/s. Nemchand Sarawgi, Harakchand Sarawgi Bhaurilal Bakliwal, Ghanshyamdas Bakliwal, Bridhichand Karwa, Jagannath Karwa, Misrilal Sarawgi, Badrinarain Karwa, Nemchand Bakliwal.

Standing I Row (L to R) — M/s. Jaichandlal Sarawgi, Kaurilal Bakliwal, Phulchand Sarawgi, Bhanwarlal Karwa (Sr.), Madanmohan Sarawgi, Bhanwarlal Karwa (Jr.), Hulaschand Sarawgi, Ladulal Bakliwal, Inderchand Sarawgi, Motilal Bakliwal, Nathmall Bakliwal, Chandmal Sarawgi.

Standing II Row (L to R) — M/s. Ramkumar Bakliwal, Bijoy Kumar Sarawgi, Ramniwas Karwa, Manikchand Karwa, Anandilal Sarawgi, Hansraj Sarawgi, Surajmal Karwa, Hukamchand Sarawgi, Gazanand Karwa, Anandkumar Karwa, Dulichand Bakliwal.

सोलापुर महाराष्ट्र में आचार्य विमलसागर जी महाराज संघ के सानिध्य में सेठ साहब का अभिनन्दन समारोह ।

निर्भीक एवं सजग प्रहरी

श्री बाकलीवालजी ३० वर्ष की अवस्था में ।

सेठ साहब श्री भंवरीलालजी बाकलीवाल

एक असाधारण व्यक्तित्व

श्री भंवरीलालजी बाकलीवाल अब इस संसार में नहीं रहे परन्तु उनका पितृ-तुल्य एवं गुरु-तुल्य व्यक्तित्व आंखों के सामने बार-बार आ जाता है। सालिग राम राय चुन्नीलाल बहादुर एण्ड कम्पनी जैसे विशाल फर्म तथा लालगढ़ के पांड्या-बाकलीवाल परिवारों के अग्रणी होने के नाते मेरे लिए व्यक्तिगत रूप से तो वे पूजनीय थे ही; साथ ही उनमें बहुत ऐसे असाधारण चारित्रिक गुण थे, जिनके कारण उनकी पुण्य स्मृति में हमारा मानस स्वयमेव नतमस्तक हो उठता है। शारीरिक सौंदर्य के साथ-साथ उन जैसा आत्मबल एवं चरित्रबल बहुत कम देखा जाता है। प्रथम वार्तालाप में ही उनके मन और विचार शक्ति की गहराई को सहजता से आंका जा सकता था।

मेरी उनसे अन्तिम मुलाकात अगस्त १९६७ में जयपुर में हुई थी। बीमारी के दौरान में भी उनसा आत्मबल बहुत विरला देखा गया है। प्रणाम करने के बाद मैंने उनसे, उनकी बीमारी का हाल जानना चाहा, परन्तु उन्होंने अपने रोग की चर्चा को टाल दिया तथा करीब एक घंटा तक हम असम प्रदेश और समाज की विभिन्न समस्याओं पर वार्तालाप करते रहे। उनके चहरे पर इस तरह का आत्म विश्वास अंकित था जैसे समाज के बहुत से अधूरे काम अभी उनके लिए करना बाकी हैं। लोग साधारणतया बीमारी की अवस्था में अपना रोना रोते रहते हैं, परन्तु उनकी नजर से कभी इस बात का आभास नहीं हुआ कि वे कैंसर जैसी बीमारी से भी पीड़ित हैं। अन्त समय तक उनका चिन्तन ऐसा रहा जैसे उन्हें मृत्यु की आशंका से कोई परेशानी नहीं। वे हमेशा कहते थे "मृत्यु से क्या भय यह तो एक सफर है जो मनुष्य को एक धाम से दूसरे धाम ले जाती है।"

श्री बाकलीवाल जी निःसन्देह बहुत बड़े कर्मठ व्यक्ति थे। ६९ वर्ष की अवस्था में वे जितने घंटे तक व जिस मेहनत के साथ काम कर लेते थे, वह असाधारण है। उनके जैसी कार्य शक्ति युवकों में भी कम होती है। उनकी पत्र-लेखन-शक्ति हम सबको स्तंभित करने वाली थी। मैं अपनी इस दुर्बलता को छिपाना नहीं चाहता कि उनके दस पत्र आने के बाद भी मैं सिर्फ एक पत्र लिख पाता था वो भी उनके एक पत्र के दसवें भाग के बराबर ही। वे कभी-कभी मेरे इस पत्र लिखने के आलस्य पर उलाहना भी देते थे। मैं सोचता था कि पत्र का जबाब नहीं देने से फिर उनका पत्र नहीं आयेगा, परन्तु मेरा यह विश्वास निराधार हो जाता। यथा समय पर पुनः उनका पत्र आता और वे उन विषयों की ओर ध्यान आकर्षित करते थे जिनका मैं जवाब नहीं दे पाया था।

आसाम प्रदेश में जैनधर्म और उनके सिद्धान्तों का समुचित प्रचार हो यह भावना श्री बाकलीवाल जी के हृदय में भरी हुई थी। बहुत से असमियां परिवारों में जैन साहित्य का उन्होंने वितरण किया था। आमिष भोजन करने वाले बन्धुओं से वे शाकाहारी बनने का आग्रह हर मौके पर करते रहते थे। अनेकों असमियां परिवारों में उनका इतना आत्मीय सम्बन्ध था कि उनकी मृत्यु की बात सुनकर बहुत से असमियां बन्धुओं की आंखों में आंसू देखे गये। उनकी अभिलाषा थी कि गौहाटी में एक जैन ग्रन्थागार हो जिससे आसाम में रहने वाले जैन व अजैन लोग लाभ उठा सकें। परन्तु उनकी यह कल्पना साकार नहीं हो पायी। आशा है कि इस भावना को हम लोग साकार कर सकेंगे।

गौहाटी में हुए पंच कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के अवसर पर अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा के सम्मेलन के अधिवेशन को गौहाटी में कराने का अधिकांश श्रेय उन्हीं को है। गौहाटी में जैन समाज का एक ऐसा युवक वर्ग भी था जो महासभा के विरोध में सम्मेलन के अधिवेशन को आमन्त्रण देने के पक्ष में नहीं था, परन्तु श्री बाकलीवाल जी की सौजन्य एवं विरोधानुभूति में भी सामंजस्य लाने की प्रेरणा के कारण ही महासभा का सम्मेलन गौहाटी में अद्वितीय रूप से सफल हुआ। अखिल भारत में फैले हुए विराट् दिगम्बर जैन समाज को एक संगठन में लाकर सुदृढ़ करना अति आवश्यक है, इसी भावना से प्रेरित हो, वे सभा को आगे बढ़ाना चाहते थे। वे मानते थे कि यदि भौतिकता के ऊपर यदि आध्यामिकता का नियन्त्रण न रहा तो समाज का चारित्र्य बल नष्ट हो जायगा, वस्तुतः श्री बाकलीवाल जो अपने धर्म तीर्थ और गुरुओं में पूर्ण श्रद्धा रखते थे। परन्तु अन्धविश्वास एवं अन्ध धर्म भक्ति से बहुत दूर थे। उनका विचार था कि वैज्ञानिक दृष्टि से ही सुख और स्वास्थ्य के लिए जीवन यापन धर्म पूर्वक होना अति आवश्यक है।

यह एक तथ्य है कि श्री बाकलीवाल जी ने अपने जीवन के अन्तिम चरण को समाज कार्य के लिए संलग्न कर दिया था। मैं सोचता हूं कि अगर वे पारिवारिक एवं गृहस्थी की परिधि से मुक्त होते तो उनके मनोबल एवं चरित्र का और विराट् स्वरूप बहुत पूर्व ही देखने को मिल पाता।

बहुत से लोगों की बुद्धि की प्रखरता आदर के योग्य होती है तो बहुत से लोगों की हृदय की उदारता आकर्षण का कारण होती है। श्री बाकलीवाल जी में दोनों गुण एक साथ देखे गए। स्कूल तथा कॉलिज की शिक्षा अधिक न होते हुए भी उनकी बुद्धि बहुत तेज थी, साथ ही उनके हृदय की विशालता भी विलक्षण थी। उनका निधन मेरी नजर में समाज हित की दृष्टि से असामयिक हुआ है। अगर पिछले कुछ वर्षों से वे बीमारी से ग्रसित न होते और उनका जीवन काल ५-१० वर्ष के लिए और बढ़ जाता तो वे अपने कर्म और यश के पथ पर और भी उन्नत होते। श्री बाकलीवाल जी के गुणों से प्रेरित होकर उनकी स्वर्गीय आत्मा का आशीर्वाद प्राप्त करते हुए कल्याण के मार्ग पर अपने जीवन कर्म को सामाजिक दृष्टि से अग्रसर करना चाहिये।

भंवरलाल सरावगी, एम. काम., बी. एल,
प्रेसीडेंट, कामरूप चेम्बर आफ कामर्स, गौहाटी (आसाम)

फिर भी बड़ी याद आयेगी

प्रकाश जैन साहित्यरत्न

हिम गिरि तेरा एक शृङ्ग फिर सहसा कैसे टूटा।
क्रूर काल के कुटिल करों ने रत्न अमोलिक लूटा।।
जिसे देखकर मनमें नव साहस उमड़ा करता था।
प्रबल प्रेरणा स्रोत छोड़कर साथ सभी का छूटा।।

विमल प्रभाकर जैन जाति का, सदा सुधा बरसाता।
ज्योतिर्मय ध्रुवतारा बनकर, नूतन राह दिखाता।।
असत्-आंधियों के सम्मुख जो अडिग रहा पर्वत सा।
किन्तु सत्य की सरिता में जो लहरों सा लहराता।।

मधुर बचन औ निश्छल मन से सत्पथ का अनुगामी।
कीर्ति-कामना रहित सतत उपकार निरत निष्कामी।
जिसने कुछ क्षण साथ बिताये, वह न भूल पायेगा।
ऐसी अतुलनीय गरिमा का एक छत्र था स्वामी।।

जिसके होठों पर सदैव थी बचपन की मुस्कानें।
जिसके अन्तर में यौवन की सदा थिरकती तानें।।
जरा, जरा भी जिसके मन की लगन न छीन सकी थी।
हा दुर्दैव ! काल ने छीने सपने सभी सुहाने।।

उचित मार्ग दर्शन देकर भी रहते सब से न्यारे।
'मेरी है यह राय!" अन्त में यही शब्द थे प्यारे।।
कभी न थोपा स्वयं किसी पर, अनुचित कभी न माना।
ऐसी अतुलनीय गरिमा का एक छत्र था स्वामी।।

सदा साधु निर्ग्रन्थ दिगम्बर, उसके मन भाते थे।
पर्वकाल. गुरु-चरणों की छाया में कट जाते थे।
विद्वानों को सदा समादर दिया, भले हो छोटा।
इसीलिए मतभेद भले हो, पर सब गुण गाते थे।।

निर्धन धनिक सभी साधर्मी जनता गुण गायेगी।
तुम सा देव-शास्त्र-गुरु का श्रद्धालु नहीं पायेगी।।
तुम से युग को मिली प्रेरणा. युग-निर्माता जाओ।
पुण्य-'प्रक श' यहां है. फिर भी बड़ी याद आयेगी।।

विलपितं कुरुते तव शोचनम्

भ्रमरलाल महोदय। ते यशो विशदशारदचन्द्रमनोहरम्।
धवलयन् ननु विश्वमिदं ध्रुवं त्रिदशनागनिकेतनमासदत्।।१।।
उपकृता वहवो भवताजना उपकरिष्यति भूरि निराश्रितान्।
जललवं ददते खलु वारिदो वहुधनं भ्रमरो नववारिदः।।२।।
निविशतां वदने विभु भारती रतिमति कमला च सदालये।
रिपुगणो हि प्रयातु दिगन्तरं जिनपतौभवताद्भवतां मतिः।।४।।
गुरुकुलं ननु हस्तिपुरस्थित विलपितं कुरुते तव शोचनम्।
सुतचतुष्टय एस महोदयो भवतु तातसमो जनरक्षकः।।३।।

दि० जैन गुरुकुल हस्तिनापुर (मेरठ)

श्रद्धेय भंवरीलाल जी बाकलीवाल के प्रति

वे चाण चुका ही चला गया !

जेचन्द जैन (राजस्थानी) मनीपुर

वे मिनख नहीं हा अवतारी,
वे दानवीर हा उपकारी ।
वे अणबिन्धा मोती हा,
वे जैन जातरी ज्योती हा ।
वे महासभा रे दिवले री वे बुझती जोत जगाय गया, वे चाण चुकाहीचला गया

वे कर्मवीर हा धर्मवीर हा,
वे पर उपकारी वे नजीर हा ।
वे धर्म भक्त कर्तव्य परायण,
लौह पुरुष और वे अमीर हा ।
संगठन से रहो सभी ने ओही सबक सिखाय गया, वे चाण चुका ही चला गया

जैन जात रो थम्भ टूटग्यो,
संस्थावां रो भाग लूटग्यो ।
म्हांसु म्हांरो राम रूठग्यो,
पंचायत रो पंच ऊठग्यो ।
परिवार रोवतो ही रेग्यो वे हरियोबाग उजाड़ गया, वे चाण चुकाही चला गया

धोरां री धरती में जनम्या, राजस्थानी शान ही
राजस्थानी भायां री वे धणी निबाही आन ही ।
थोडी सी ऊमरमें 'जेचन्द' वे अमरनाम कर चलागया, वे चाण चुका ही चलागया

"श्रद्धांजलि"

हनुमानमल शर्मा 'हंस कवि', इम्फाल (मनीपुर)

देव पुरुष रै चरणा में अ ! आखर भेंट चढ़ाऊं
टप-टप नैणा, आंसूड़ा ढलकावै,
सूण बात पिसिजै, हियो-जियो घबरावै;
म्हैं सपणै सोची नहीं, देव उठ ज्यासो,
सारै समाज से, रथ कूण आजै ल्यासी ।
महारथी गयो सूरगां, धरती शरमायी
शोकाकूल सारा मीनख, गयी अमरायी;
शरमावै थाकै धरम-करम पर तारा,
गुरु-भक्ति, पूजा-पाठ, मनां सू प्यारा;
मीनखा से मोल, मौकलो थाकै आगै,
सेवा, समाज री, खातर सैकै सागै,
सम्पति, मान, सन्मान, नीरो जस पायो,
पण देवांनै ओ ! जस अब नहीं सुहायो;
जद काल भैरवी, कुल्टो चक्कर चलायो,
१६ अक्तूबर ६७, देव समायो,
धोरां री धरती, बीकाणेरा सुजान हा,
मारवाड़री पगड़ी, सिर का शुभ निशान हा
हाथ जोड़ सरदारां फूल चढ़ाऊँ ।
श्रद्धांजली मैं अ ! आखर भेंट चढ़ाऊँ ।।

सेठ भंवरीलालजी और उनका सत्कर्म

श्री सेठ भंवरीलाल जी के स्वर्गवास के समाचार, श्रद्धेय पं० इन्द्रलाल जी शास्त्री के लिखे हुए पत्र से ज्ञातकर कुछ क्षण यह न सोच सका कि क्या वो धर्ममूर्ति व हास्य मूर्ति एकाएक हमसे छिन जायेगी। वे उन कर्मठ कार्यकर्ताओं और नेताओं में थे जिनका जीवन सदैव समाज की सेवा में समर्पित रहता है। समाज सेवक जहाँ वह थे वहाँ गरीब निवाज भी थे। गुप्तदान उनका सदैव चलता था। लाडनूं पंच कल्याणक के अवसर पर मैं श्री पं० कैलाशचन्द जी वाराणसी, पं० सुमेरचन्द जी 'दिवाकर' और पं० नाराचन्द जी 'प्रेमी' लाडनूं गये हुए थे लेकिन ठहरने की व्यवस्था ठीक नहीं बन पाई थी, एकाएक सेठ भंवरीलाल जी हंसते हुए मेरे पास आए और बोले कि कहो जमादार जी, कहाँ ठहरे हो ? मैं उस समय प्याऊ पर स्नान कर रहा था अत: मैंने कहा कि सेठों के बंगलों में ठहरा हूं जहां स्नान कर रहा हूं, मेरे साथी अभी इन्तजार में ही हैं। वो सब बात समझ गये और उसी क्षण हम लोगों की व्यवस्था एक सुन्दर भवन में करादी जबकि वह मात्र दर्शक के रूप में आये थे।

दिल्ली जैन कन्वेन्शन के समय पर जबकि परिषद् और महासभा का एकीकरण होने जा रहा था उसमें सभी की इच्छा एक होने की थी और ऐसा प्रस्ताव भी सर्व सम्मति से पास हो गया, लेकिन सेठ भंवरीलाल जी ने एकाएक मुझे अलग बुलाकर कहा कि भाई बेटी को परिषद् के हवाले कर रहा हूं। देखें बेटी जाती है या नहीं। मैं उनकी इस बात को सुनकर दंग रह गया और पूछा कि सेठ जी बेटी से क्या तात्पर्य, तो दर्द के साथ बोले कि बेटी की तरह हमने महासभा का पालन पोषण किया और आज आप लोगों के दबाव से उसे समर्पित कर रहा हूं लेकिन आप विश्वास रखें यह मिलन हो नहीं सकेगा। और नतीजा भी यही हुआ। सम्मेदशिखर के जलूस के अवसर पर अस्वस्थ होते हुये भी वो दौडे चले आये। महावीरजी में श्री शांतिवीर नगर की पंच कल्याणक पर भयंकर गर्मी में भी जनता की सेवा में आप लगे रहे। बात के धनी लगन के धनी और हित मित, प्रिय शब्द के कहने वाले, नाम और यश से दूर रहने वाले परम मुनि भक्त भले ही काल के प्रिय हो गये लेकिन समाज में वो सदैव जीवित रहेंगे।

किन्हीं गरीब छात्रों के विषय में जब मैंने चर्चा की चुपचाप उसके घर उसको मदद भेजदी। एक बार श्री महावीर जी स्टेशन पर एक सम्पन्न परिवार का रुपयों का बटुआ गुम हो गया। बाकलीवाल साहब को पता लगा यात्री को लम्बा सफर करना था न उससे पता पूछा और न कुछ नोट लिखाया और ५००) उसके हाथ पर फौरन रख दिए गाड़ी आने वाली थी टिकट लेकर वो महानुभाव गाड़ी में बैठ गए लेकिन वो सेठजी का पता पूछना भूल गये अत: उन सज्जन ने घर पहुंच कर उन्हें रुपया

भेजना चाहा और पत्र मेरे पास आया कि वो धर्मात्मा पुरुष कहाँ के थे जिन्होंने मेरी मुसीबत में मदद की। मैंने उन्हें सेठ साहब का पता लिख दिया, उन्होंने सेठ साहब को रुपया भेजे मगर सेठ साहब ने वो रुपया यह लिखकर वापिस कर दिया कि "आपके नाम जो रुपये थे वो जमा हो गये, लेकिन यह रुपया जो मैं भेज रहा हूं आपके घर से जो हैं उन्हें भेंट दे दीजिये क्योंकि मैंने उन्हें अपनी पुत्री मानकर ही स्टेशन से गाड़ी में बैठाया था।

संघर्ष से वह घबड़ाते नहीं थे लेकिन संघर्ष स्वयं करना नहीं चाहते थे। पर के अवगुणों को सदैव उन्होंने ढका। मुंह पर तो वे सदैव सच्ची बात कह ही देते थे लेकिन पीठ पीछे किसी की निन्दा उनके मुँह से मैंने नहीं सुनी। अ० भा० दि० जैन शास्त्रि परिषद् के आप परम सलाहकार रहे और समय समय पर हमें मार्ग दर्शन कराते रहे, आज वो विभूति हमारे बीच में नहीं है लेकिन उनका सत्कर्म हमारे मध्य में उपस्थित है। वही हमें सदैव मार्गदर्शन कराता रहेगा।

बाबूलाल जैन जमादार
सं० मन्त्री शास्त्रि परिषद् बड़ौत

जैन साहित्य प्रचार के प्रेमी

श्री भंवरीलाल जी बाकलीवाल के असामयिक निधन के समाचार पर यकायक उनके साथ सुखद क्षणों की स्मृतियां मानस में चलचित्र के समान दिखाई पड़ने लगीं। उनके इम्फाल निवास समय उनके जिन रूपों को देखा था वे हृदय मंथन करने लगे। उनकी सहृदयता, नम्रता और सरलता पूर्ण मिलनसारिता की घटनायें सजीव हो मानस में अब भी उभरती हैं।

इम्फाल आने के कुछ समय पश्चात एक बार चैत्यालय से निकलते समय उनसे मुलाकात हुई थी। जिस प्रेम और स्नेह से उन्होंने कुशल समाचार पूछा उससे ऐसा मालूम पड़ता था कि जैसे वर्षों से परिचित हैं। एकाधबार उन्हें अपनी उलझन साहस करके बतायी भी तो फौरन भरसक उसमें मदद की। लोगों के प्रति उन्हें आन्तरिक लगाव था और हर व्यक्ति की कठिनाइयों में मदद करते थे।

समाज के पुनरुत्थान और विकास के प्रति वे बहुत अधिक सजग और उदार थे। वे अकसर कहा करते थे कि जैन साहित्य के बारे में जैनेतर लोगों की जानकारी तो नहीं के बराबर है ही लेकिन अधिकांश वर्तमान पीढी के जैनों की जानकारी भी अपने साहित्य के बारे में नगण्य है। इसलिए जैन धर्म के प्रचार और प्रसार के लिए इस दिशा में समुचित ध्यान देना चाहिए। पुस्तकालयों में जैन साहित्य की सामग्री पुस्तकें और पत्रिकायें देने में तथा पाठ्यक्रमों में जैन साहित्य को स्थान दिलाने में अपना सक्रिय सहयोग देने का वायदा भी किया।

तीर्थराज श्री सम्मेदशिखर जी पर वि० सं० २०१६ में हुई पंच कल्याणक प्रतिष्ठा के अवसर पर सपत्नीक माता-पिता बनने का सौभाग्य प्राप्त करते हुये ।

उदयपुर में श्री भंवरीलालजी की धर्मपत्नी श्री मलखूदेवी तथा सुपुत्र मन्नालालजी श्री १०८ आचार्य शिवसागरजी महाराज को आहार देते हुये। साथ में ब्र० सूरजमलजी व तेजपालजी काला भी हैं।

सोलापुर में पर्व के दस उपवास के पूर्व श्री १०८ आचार्य विमलसागरजी महाराज को आहार देने के पश्चात् शुभाशीर्वाद प्राप्त करते हुये श्री भंवरीलालजी एवं उनकी धर्मपत्नी आदि

भा० दि० जैन महासभा के महामंत्री मरसलगंज में हुये महासभा अधिवेशन के अध्यक्ष श्री भंवरीलालजी बाकलीवाल को स्वागत हार पहिनाते हुये।

मरसलगंज प्रतिष्ठा के समय श्री भंवरीलालजी बाकलीवाल सर सेठ भागचंदजी, रा० ब० सेठ राजकुमारसिंहजी, श्री राय सा० सेठ चांदमलजी पांड्या आदि के साथ दिखाई दे रहे हैं।

अवसान से कुछ दिन पूर्व श्री भंवरीलालजी बाकलीवाल उदयपुर में मासोपवासी श्री १०८ सुपार्श्वसागरजी महाराज के चरणसान्निध्य में

श्रीमहावीरजी में सन् १९६५ में हुई पंचकल्याणक प्रतिष्ठा के अवसर पर श्री १०८ आचार्य शिवसागर संघ की सेवा में श्री भंवरीलालजी बाकलीवाल । श्री पं० इन्द्रलालजी शास्त्री आदि साथ दिखाई दे रहे हैं ।

एक बार हम लोगों ने दशलाक्षणी पर्व के बाद एक कवि गोष्ठी धर्मशाला में आयोजित की जिसमें विभिन्न भाषाओं में लोगों ने कविताओं का पाठ किया। अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने देश की भावात्मक एकता की जो धारा बहायी उससे देश के प्रति उनके विचार स्पष्ट हो गये। मुझे बड़ा आश्चर्य होता था कि वे अपनी इस रुग्णावस्था और वृद्धावस्था में कैसे इतने कर्मठ हैं। उनके पास सामाजिक कार्यों से सम्बंधित और लोगों की व्यक्तिगत समस्याओं की चिट्ठियों का तांता लगा रहता था। उनका जवाब वे स्वयं हाथ से दिया करते। आज वे हमारे मध्य नहीं हैं लेकिन उन्होंने, मिलने वाले पर ऐसी अमिट छाप छोड़ी कि उसकी आंखों से उनका सीधा, सरल व्यक्तित्व हट नहीं सकता। उनकी याद अब भी प्रेरणा और उत्साह के रूप में लोगों के साथ रहती है जो मनुष्य के नाशवान शरीर को अमरत्व प्रदान करती है।

पी० सी० जैन, प्रोफेसर गवर्नमेंट डी० एम० कालेज इम्फाल

चमकते हुये धर्म-रत्न का वियोग

संसार की परिवर्तन शीलता के वशी-भूत होकर अनेक मानव इस संसार में आते और चले जाते हैं। ऐसे ही मानवों में कुछ ऐसी महान् विभूतियों का प्रादुर्भाव होता है जिनकी संसार को बड़ी आवश्यकता होती है। वे अपनी जीवन यात्रा पूरी करते हुए शुभ कार्यों का उपार्जन कर अथवा यश और स्मृति फैलाकर सद्गति प्राप्त कर जाते हैं। उनका लक्ष धर्म और समाज की ओर रहता है जिससे उन्हें जीवन में सुख शांति मिलती है।

पूर्व जन्म की कठोर तपस्या और धार्मिक शुभ संस्कारों से ही उन्हें धन वैभव और यश प्राप्त होता है। ऐसे सत्पुरुषों की जीवन गाथा मानवता के उदात्त गुणों का प्रकाश कर मानव को सत्य शील और संयम का पाठ पढ़ाती है।

ऐसी ही दिव्य आत्माओं में धर्मरत्न कर्तव्यपरायण मुनिभक्त और तीर्थभक्त सेठ भंवरीलाल बाकलीवाल का भी नाम आता है, 'सर्वभूतहिते रता' उनके जीवन का मूल मन्त्र रहा। उनके जीवन कार्य धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्रों में मिश्रित हो कर एक त्रिवेणी की धारा बन गई थी। इस परम पावन धारा का जिस मानव हृदय में संचार होता है वह संसार के लिए वरदान रूप सिद्ध होता है। सेठ जी में दानशीलता, उदारता, विनय, सौजन्यता, सादगी और सच्चरित्रता आदि सारे गुण विद्यमान थे। वे बहुत मिलनसार थे।

आपकी अनगिनित सेवाओं का दिग्दर्शन कराना शक्ति से बाहर है। आप के निधन से एक अनभ्र वज्रपात हुआ है और जो समाज की क्षति हुई है उसका पूर्ण होना असम्भव है। परन्तु कराल काल के सामने किसी का वश नहीं चलता है। इसका उपाय क्या है। ऐसी दिवंगत आत्मा को परमगति प्राप्त हो, ऐसी भावना है।

पूरजमल जैन 'प्रेम' आगरा

श्री बाकलीवाल सुगुण स्मृति अष्टक

भगवत्स्वरूप जैन 'भगवत्' फरिहा (मैनपुरी)

धर्मनिष्ठ सज्जन सुधी, सुगुरु भक्त गुण-माल ।
कर्मवीर कर्मठ कुशल, सेठ सु भंवरीलाल ॥

सेठ सु भंवरीलाल, बाकलीवाल सुगुण मणि ।
धर्मोत्साही पुरुष, सुगुरु सेवक जीवन मणि ॥
धर्म प्रभाव प्रकट करने, की चिन्ता भारी ।
होवै जात्युत्थान, सदा यह क्रिया सु जारी ॥१॥

श्रावक के षट कर्म में, सेठ सदा रह लीन ।
निज पर शुभ उपकार की, मन भावना प्रवीन ॥

मन भावना प्रवीन, प्रमुख व्यवसायी नेता ।
देव शास्त्र गुरुभक्त, उद्यमी सद्गुणवेता ॥
तजिकर राजस्थान, बसे आसाम सु जाके ।
लक्ष्मी पैदा करी, कला कौशल दर्शाके ॥२

नगर-नगर आसाम में, छाया चहुँदिश शोर ।
सब ब्यापारी वर्ग में, सेठ हुते शिर मौर ॥

सेठ हुते शिर मौर, प्रखर थी बुद्धि सु आला ।
पंचायत अरु राज्यमान्य, थे भंवरीलाला ॥
करते सब सन्मान, देखि चतुराई जिनकी ।
नहिं बुधि में सामर्थ, करें गुण व्याख्या उनकी ॥३॥

कुछ वर्षों से सेठ जी, तजि आरम्भ सु सर्व ।
श्री आचार्य विमलशरण, करें दश लक्षण पर्व ।।

करें दश लक्षण पर्व, दशों दिन के उपवासा ।
धर्म ध्यान में रक्त, छोड़कर परिग्रह आसा ।।
दो हजार औ वीस विक्रमी, बाराबंकी ।
सुगुरु किया चतुमास, सेठ वृत धरा निशंको ।।४।।

मरसलगंज सु क्षेत्र पर, होय प्रतिष्ठासार ।
विमल सिन्धु आचार्य ने, प्रगट किया सु विचार ।।

प्रगट किया सु विचार, सेठ गुरु वच सुनि मनमें ।
किया उपक्रम वही, लगे उसकी ही धुनि में ।।
निज समधी श्री रायसाहब, गौहाटी वाले ।
किया उन्हें तैयार, बात इनकी को टाले ।।५।।

सेठ चांदमल ने लगा, अपना द्रव्य सु सार ।
पंच कल्याणक प्रतिष्ठा, मरसलगंज मझार ।।

मरसलगंज मझार, पधारे भंवरीलाला ।
डेढ़ माह यहां रहे, उभय सेठी गुण माला ।।
सूरजमल ब्रह्मचार, प्रतिष्ठा विधि करवाई ।
सभी प्रांत के जैन वन्धु, यहां पर गये आई ।।६।।

भारतवर्षी जैन की, महासभा प्रख्यात ।
अधिवेशन यहां पर हुआ, आई जैन जमात ।।

आई जैन जमात, सेठगण पण्डित भारी ।
भंवरीलाल जी सभापति, कीरति विस्तारी ।।
जन, मन हर्षित हुआ, दर्शकरि धार्मिक जन का ।
धन्य वाकलीवाल, सुयश छाया गुन गण का ।।७।।

दृढ़ धार्मिक सु उदार मन, श्रीमन् भंवरीलाल।
कवि वर्णन किहि विधि करै, तुमगुणकथन विशाल ॥

तुम गुण कथन विशाल, करे अनुकर्ण सुधीनर।
वह भी धार्मिक बनें, सुगुरु भक्ती धारैं उर ॥
तुमरे गुण की छाप, हृदय हमरे पर लागी।
लिखे शब्द गुण सुमिर, धन्य सेठी बड़भागी ॥८॥

(सोरठा)

यह अष्टक गुण सार, लिखा बाकलीवाल का।
भगवत् सुगुण चितार, श्रद्धांजलि अर्पित करै ॥

धर्मप्राण सेठ भंवरीलालजी बाकलीवाल की स्मृति में

(रमेश कौशिक हिन्दी अधिकारी दिल्ली परिवहन व इन्द्रप्रस्थ स्टेट नई दिल्ली)

जिये सदा तुम लिए हृदय पर दुःख कातरता,
तुम जैसों से ही शोभा पाती मानवता।

दूर दूर तक यश पताका फहराती है,
गीत तुम्हारी दानशीलता के गाती है ॥

माना अब तुम इस दुनियाँ में नहीं रहे हो,
बन्धु-बान्धवों सब को रोता छोड़ गए हो।

सुकृत कर्म जो किए आपने थे अग जग पर,
वे आदर्श हमारे होंगे अब पग पग पर ॥

आदर्श व्यक्तित्व के धनी श्री भंवरीलालजी बाकलीवाल

(श्री पं० अजितकुमार जी शास्त्री संपादक 'जैन गजट' श्रीमहावीरजी)

सागारधर्मामृत में श्री पं० आशाधरजी ने मानवीय जीवन की सफलता को तीन कार्यों में निहित किया है—१-धर्म, यश और सुख। आत्मा को उच्चस्तर पर पहुंचाने वाले सत्श्रद्धा, सत्ज्ञान और सच्चारित्र रूप धर्म की आराधना अधिक से अधिक, मन, वचन, शरीर द्वारा करते रहना धर्म-साधन है। २-सौजन्य. नम्रता, दयालुता, विवेक पूर्वक दान, समाज सेवा, नैतिक आचार (ईमानदारी, सचाई), साधर्मी वात्सल्य, संगठन की प्रवृत्ति आदि कार्य यश के साधन हैं। ३—न्याय पूर्वक उपार्जित धन द्वारा सद्‌गृहस्थ के उचित सात्विक शुद्ध खान पान, स्वदारसन्तोष रूप ब्रह्मचर्य का आचरण के साथ स्वस्थ प्रसन्नचित्तपूर्वक शांति से गृहस्थाश्रम के न्याय्य भोज्य, भोग्य, उपभोग्य पदार्थों का भोग उपभोग करना सुख। इस तरह धर्म, यश और सुख साधन द्वारा गृहस्थ मनुष्य का जीवन सफल बनता है।

स्वनामधन्य श्रीमान् सेठ भंवरीलालजी बाकलीवाल ऐसे ही सर्वाङ्गीण सफलता के धनी रहे। नीतिकार ने बतलाया है कि—

अकृत्वा परसन्तापं, अगत्वा खलनम्रताम्।
अनुत्सृज्य सतां वर्त्म, यत्स्वल्पमपि तद्‌बहु।

अन्य जीवों को दुख सन्ताप न देकर, दुष्ट व्यक्तियों की सेवा शुश्रूषा से अलग रह करके और सज्जन पुरुषों के मार्ग पर चलते हुए यदि थोड़ा भी धन मान प्रतिष्ठा का लाभ हो तो उसे बहुत समझना चाहिए। इस तरह की प्रवृत्ति श्री सेठ भंवरीलालजी बाकलीवाल में आजन्म बनी रही।

वे समस्त सुख शांति का मूल धर्म साधन को अडिग आस्था के साथ मानते थे, देव, शास्त्र गुरु में उनकी अटल श्रद्धा थी। सम्पत्ति के समागम में उनकी धार्मिक श्रद्धा जैसी दृढ़ रही, दुर्भाग्य ने विपत्ति के समय भी उनकी श्रद्धा को वैसा ही स्वच्छ पाया, अतः उनकी धार्मिक श्रद्धा की परीक्षा लेकर विपत्ति स्वयं अनायास चली गई।

दर्शन अभिषेक, पूजन, वन्दना, भक्ति द्वारा भगवान की वे सदा आराधना करते रहे। देव आराधना में उनका त्रियोग आकर्षक बना रहता था। अपनी इस उत्कृष्ट भक्ति साधना के लिये उन्होने इम्फाल में अपने मकान में चैत्यालय बनाया हुआ था। जिससे आप तथा समस्त परिवार पूरा धर्म लाभ लेता था परिवार के छोटे बच्चों को भी आपने नित्य देव दर्शन व भक्ति करने का अभ्यासी बना दिया था।

गुरु भक्ति भी आपकी आदर्श थी । मुनियों की वन्दना करना, रुचि के साथ उनको आहार देना, उनकी वैयावृत्य करना, मन लगाकर उनका उपदेश सुनना, यदि मुनि-चर्या में कहीं कुछ विघ्न बाधा आवे तो उसको दूर करना आदि आपकी प्रवृत्ति आपकी गुरु भक्ति की परिचायक थी ।

आप अनेक वर्षों से चातुर्मास में प्रति वर्ष वहां पर जाया करते थे जहां पर आचार्य श्री शिवसागर जी महाराज का, आचार्य श्री महावीरकीर्तिजी महाराज का, आचार्य श्री विमलसागरजी महाराज का चातुर्मास होता था । वहां पर आप अभिषेक पूजन, आहारदान, धर्म चर्चा, उपदेश श्रवण, वैयावृत्य, व्रत उपवास आदि किया करते थे ।

वार्तालाप के प्रसंग में आपने एक बार कहा था कि आचार्य महाराज की मैं दो पुरानी पीछियां लाऊंगा, उनमें से एक पीछी घर में ऐसे स्थान पर टांगूंगा जहां से आते जाते मेरे शिर पर वह पीछी लगती रहे । दूसरी पीछी अपने तकिया में रखूंगा जिसमें सोते समय पीछी को मेरा मस्तक छूता रहे । उनकी ऐसी विचारधारा उनकी उत्कट गुरुभक्ति की प्रतीक थी । वे मुनि आचार्यों की पीछी द्वारा मिले हुए आशीर्वाद को अपने लिए महान् लाभ अनुभव करते थे ।

जिनवाणी में भी उनकी अटल श्रद्धा थी, वे आर्ष वाक्यों में परम श्रद्धा रखते थे । प्रतिदिन स्वाध्याय करते थे । पत्रों में जो शंका समाधान, तत्वचर्चा प्रकाशित होती है उसको रुचि से पढ़ा करते थे । जिनवाणी के विरुद्ध कभी न बोलते थे । बाहुबलि स्वामी के महामस्तकाभिषेक के पावन अवसर पर आप श्रवणबेलगोला गए थे । तब एक दिन पूज्य आचार्य श्री महावीरकीर्तिजी महाराज सभा में उपदेश देने पधारे, उस समय सेठ भंवरीलालजी उनका शास्त्र अपने शिर पर रखकर लाए । शास्त्र को शिर पर रखकर वे गद्‌गद् हो गए । शास्त्र को अपने शिर पर रखकर उन्होंने अपना शिर और अपनी पगड़ी को पवित्र हुआ अनुभव किया । इत्यादि उनकी प्रवृत्ति से उनकी शास्त्र में तथा गुरु में अगाध श्रद्धा प्रगट होती थी ।

आचार

उनका वैयक्तिक आचार सद्‌गृहस्थ के उचित आदर्श था पंच अणुव्रतों के अनुरूप वे अव्रती अवस्था में भी ठीक पालन करते थे । द्रव्य हिंसा, भावहिंसा से प्रायः बचे रहते थे, असत्य भाषण का अभ्यास उन्हें न था तथा अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रह परिमाण का समुचित आचरण उनके था ही । अशुद्ध खान पान के वे त्यागी थे । उनके सदाचार का प्रभाव उनके परिवार में प्रत्येक व्यक्ति पर था । इस तरह क्रियात्मक धर्माचरण वे आजन्म करते रहे ।

समाज–सेवा

समाज को प्रगतिशील बनाने में और जनता में धर्म प्रचार करने में भी उनकी आन्तरिक

रुचि थी। इसी कारण वे समाज के प्रायः प्रत्येक महत्वशाली उत्सव में भाग लिया करते थे। समाज के प्रायः समस्त विद्वानों से उनका परिचय था, वे विद्वानों से प्रत्यक्ष में वार्तालाप द्वारा, परोक्ष में पत्र द्वारा सामाजिक गति विधि को ज्ञात करते रहते थे, सामाजिक प्रगति में प्रत्येक व्यक्ति को उत्साह प्रदान करना उनका स्वभाव था।

भा० दि० जैन महासभा के मुखपत्र जैनगजट को उन्नत बनाने के लिए उन्होंने उस समय आर्थिक सहयोग देकर ८ पृष्ठों से १२ पृष्ठों का प्रकाशित कराया, जब कि वे महासभा के अध्यक्ष नहीं थे। जब वे महासभा के अध्यक्ष पद पर आसीन हुए तब उन्होंने गौहाटी अधिवेशन के समय महान प्रयास करके महासभा की आर्थिक स्थिति को अच्छा दृढ़ कर दिया। आप महासभा का ध्रुव फंड दश लाख रुपये का कराना चाहते थे तथा तीर्थ रक्षा फंड २० लाख रुपये का बनाना चाहते थे। परन्तु पिछले कुछ वर्षों से वे रक्तचाप (ब्लड प्रेसर) से पीड़ित थे अतः दोनों संस्थाओं का उतना फंड कराने के लिए डेपुटेशन की योजना न कर सके फिर भी अपने स्वास्थ्य की उपेक्षा करके सामाजिक कार्यों में भाग लेते रहे।

महासभा के अध्यक्ष रहते हुए उन्होंने महासभा की प्रबन्धकारिणी समिति की मीटिंग इन्दौर में कराई। तथा पारस्परिक सामाजिक वैमनस्य दूर कराने के उद्देश्य से जैन समाज के गणनीय श्रीमानों, विद्वानों, सम्पादकों आदि क्रियाशील व्यक्तियों का एक सम्मेलन श्री महावीरजी में कराया। इन दोनों सम्मेलनों के लिए उन्होंने अच्छा खर्च किया था।

प्रेरणा-स्रोत

वे समाज सेवा में स्वयं तो संलग्न रहते ही थे परन्तु उससे भी अधिक उनका महत्वशाली कार्य अन्य व्यक्तियों को समाज सेवा के लिये सदा प्रेरणा-प्रदान करना था। इस कार्य के लिए वे सदा जागरूक रहे। अपने परिचित प्रत्येक नवयुवक को वे समाज सेवा के लिए प्रेरणा करते थे। जिनके हृदय में उत्साह की कमी होती थी, उनको वे उत्साह प्रदान करते थे, उत्साही युवकों का उत्साह और अधिक बढ़ाया करते थे।

श्रीमान् रा० सा० सेठ चांदमलजी सा० को सामाजिक कार्य क्षेत्र में लाने का मुख्य श्रेय आपको ही है। आपने ही प्रेरणा करके ऋषभनगर (फरिहा) में श्री रा० सा० सेठ चांदमलजी से पंच-कल्याणक प्रतिष्ठा करवाई। आपकी प्रेरणा से ही रायसाहिब सेठ चांदमलजी पांड्या ने महासभा का अध्यक्ष पद स्वीकार किया।

उदारता

श्रीमान् सेठ भंवरीलालजी सदा उदारचित्त बने रहे। न्यायउपार्जित द्रव्य का वे सदा विवेक पूर्वक धार्मिक कार्यों में तथा सामाजिक उपयोगी कार्यों में दान करते रहे। प्रायः सभी सामाजिक

संस्थाओं को उन्होंने आर्थिक सहायता प्रदान की। महासभा के कोष में जो द्रव्य आया उसमें अधिकांश आपका तथा आपके संबन्धियों का ही था। आप अपने दान का प्रकाशन या प्रदर्शन नहीं किया करते थे, आप गुप्तदान ही अधिकतर किया करते थे। मुझे उनके ऐसे कुछ दानों का ज्ञान है जो कि किसी अन्य कान तक भी नहीं पहुंच सके, अतः आप दानी थे, मानी न थे।

उत्साह

जीवन में विविध प्रकार की शक्तियों का स्रोत यौवन काल में प्रकट होता है अतः सामाजिक कार्यों के करने का उद्दाम या अदम्य उत्साह भी यौवन काल में ही उमड़ता है परन्तु श्रीमान् सेठ भंवरीलालजी बाकलीवाल इसके अपवाद थे। उनको सामाजिक सेवा करने का उत्साह जैसा अपने यौवन काल में था वैसा ही उत्साह बल्कि उससे भी अधिक उत्साह अपनी प्रौढ़ अवस्था में तथा वृद्ध अवस्था में उनका बना रहा। ज्यों-ज्यों उनका अनुभव बढ़ता गया त्यों-त्यों उनके उत्साह में वृद्धि होती गई। उनकी धारणा थी कि जिस दिन मेरा उत्साह हीन होगा, उसी दिन मेरा जीवन समाप्त हो जायगा, इसी कारण वे जब तक अशक्त होकर चारपाई पर न लेटे तब तक उनको समाज उपयोगी वार्तालाप करते योजना बनाते, दूसरों को कुछ न कुछ सामाजिक कार्य करने की प्रेरणा करते बिना चैन नहीं आया। इस कारण वे शरीर से वृद्ध हो गए थे परन्तु उनका उत्साह कभी शिथिल नहीं हुआ।

सामाजिक कार्यकर्ताओं के साथ उनका वात्सल्य भाव सदा बना रहा। वे जब भी दिल्ली पधारे मुझ से बिना मिले कभी नहीं गए। उस घंटे दो घंटे के मिलने में भी वे समस्त देश की और समाज की चर्चाओं पर विचार विमर्श कर डालते थे।

इस प्रकार श्री सेठ भंवरीलालजी बाकलीवाल वैयक्तिक तथा सामाजिक विविध प्रकार के अनेक सद्गुणों के सुन्दर पुंज थे। अब वे गुण दर्शनीय साकार नहीं रहे।

माननीय महान् व्यक्ति के लक्षण नीतिकार ने बतलाये हैं—

वदनं प्रसादसदनं सदयं हृदयं सुधामुचो वाचः
करणं परोपकरणं, येषां केषां न ते वन्द्याः ॥

जिनका मुखमण्डल सदा प्रसन्न रहता है, जिनका हृदय सदा दयालु बना रहता है और जिनका कार्य सदा पर-उपकार करना है, ऐसे महानुभाव समस्त जनता के सम्माननीय, वन्दनीय होते हैं।

ये तीनों गुण (प्रसन्न मुख दयालु हृदय और परोपकार)श्रीमान् सेठ भंवरीलालजी बाकलीवाल में विद्यमान थे, अतः वे लोकप्रिय थे, अजातशत्रु थे।

गह शब्द पुष्पावली दिवङ्गत श्री सेठ भंवरीलालजी बाकली-वाल को स्मृति में समर्पित है।

श्री भंवरी लाल जी बाकली वाल
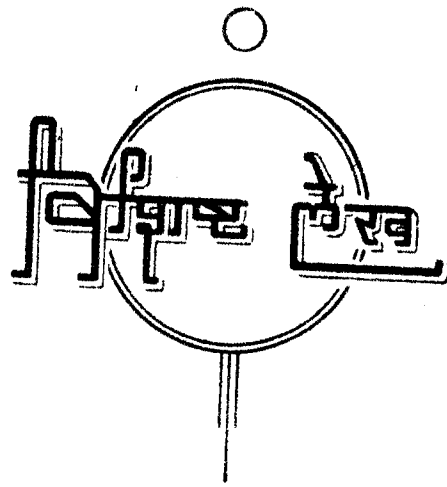
अनेकान्त

ले०-सिद्धांतवारिधि, सिद्धांतभूषण ब्र० रतनचंदजी मुख्तार सहारनपुर
अध्यक्ष भा० दि० जैन शास्त्रि परिषद्

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुर-विधानम् ।
सकलनय-विलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

इस श्लोक में श्री अमृतचन्द्रसूरि ने अनेकान्त को नमस्कार किया है । क्योंकि :—

(१) अनेकान्त परमागम अर्थात् उत्कृष्ट जैन सिद्धान्त का बीज है ।
(२) जन्म से अंधे पुरुषों के हस्ति संबंधी ज्ञान का विरोध करने वाला है । तथा
(३) समस्त नयों के विलास के विरोध को दूर करने वाला है ।

'अनेकांत' शब्द में 'अन्त' का अर्थ धर्म है । एक ही वस्तु में परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना अनेकांत है । समस्त वस्तु अनेकांत स्वभाववाली हैं इसलिये अनेकांत वस्तु स्वरूप को सिद्ध करने वाला है । श्री १००८ अरहंत भगवान ने वस्तु के यथार्थ स्वरूप का उपदेश दिया है, इसलिये अर्हत्सर्वज्ञ का निर्बाध शासन है । जिस आगम में अनेकान्त का कथन नहीं है किन्तु एकान्त का कथन करने वाला है वह परमागम नहीं है, और अर्हंत सर्वज्ञ शासन का कथन करने वाला भी नहीं है । अतः अनेकान्त का परमागमस्य बीजं विशेषण दिया गया है ।

निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्

कुछ जन्म के अन्धे पुरुषों ने एक बड़े हाथी का आकार जानने के लिये उस हाथी को हाथों से स्पर्श किया । जिसने हाथी की टांग का स्पर्श किया वह अंधा हाथी का आकार खम्बे के समान मानने लगा और जिस अंधे ने हाथी की सूंड का स्पर्श किया वह मूसल के सदृश हाथी का आकार मानने लगा । जिस अंधेने हाथी का कान स्पर्शा वह हाथी को सूप (छाज) के आकार वाला मानने लगा और जिस अंधे ने हाथी के पेट का स्पर्श किया वह हाथी को ढोल-आकार वाला मानने लगा जब वे सब अंधे परस्पर मिले और हाथी के आकार के विषय में चर्चा चली तो प्रत्येक अंधा अपनी अपनी मान्यता के अनुसार हाथी का आकार खम्बे के समान, मूसल के समान सूप के समान और ढोल के समान बता कर परस्पर में झगड़ने लगे, क्योंकि प्रत्येक अपनी मान्यता को सर्वथा सत्य बतलाता हुआ दूसरों की

मान्यताओं का निषेध करता था। झगड़े की समाप्ति असंभव थी क्योंकि कोई भी दूसरोंके मत को किसी भी अपेक्षा से स्वीकार करने को तैयार नहीं था बल्कि दूसरे के मतों को झूठ कहता था। इतने में एक नेत्रवान पुरुष वहां पर आ गया और अंधे पुरुषों को परस्पर झगड़ते हुए देखकर झगड़े का कारण पूछा। प्रत्येक ने हाथी का आकार अपनी अपनी मान्यता के अनुसार सत्यार्थ बतलाया और दूसरों की मान्यताओं को असत्यार्थ बतलाया। नेत्रवान पुरुष ने कहा कि प्रत्येक की मान्यता सत्य है किसी की भी मान्यता असत्य नहीं है। यह सुनकर वे अन्धे पुरुष चकित रह गये। वे सोचने लगे कि हममें से प्रत्येक मत दूसरों के विरुद्ध है अत: हममें से कोई एक ही सत्य हो सकता है सब ही सत्य नहीं हो सकते। नेत्रवान पुरुष ने उन अन्धों को बतलाया कि तुम में से प्रत्येक ने हाथी के एक एक अवयव को स्पर्श किया है उस अवयव के आकार की अपेक्षा प्रत्येक का कथन सत्य है। हाथी की टांग का आकार खम्बे जैसा है अत: जिसने हाथी की टांग का स्पर्श किया है उसको टांग की अपेक्षा हाथी को खम्बे-आकार कहना सत्यार्थ है। कान का आकार सूप जैसा है जिसने कान का स्पर्श किया है उसका कान की अपेक्षा हाथी को सूपाकार बतलाना सत्यार्थ है। हाथी की सूंड मूसल जैसी होती है अत: जिसने सूंड का स्पर्श किया है, उसका सूंड की अपेक्षा से मूसलाकार कहना सत्यार्थ है। हाथी का पेट ढोल के समान होता है अत: जिसने पेट का स्पर्श किया है उसका हाथी को ढोलाकार बतलाना, पेट की अपेक्षा से सत्यार्थ है। किन्तु अपेक्षा के बिना ही हाथी को अपने अपने मतानुसार खम्बादि के आकार मानना और दूसरों के मतों का सर्वथा निषेध करना ही बड़ी भारी भूल है और झगड़े की जड़ है। अपनी अपनी अपेक्षा से प्रत्येक का मत सत्यार्थ है और सर्वांग की अर्थात् प्रमाण की अपेक्षा हाथी का आकार, खम्बा मूसल सूप ढोल के मिलने से जो आकार बनता है, उस प्रकार का है। इस प्रकार नेत्रवान पुरुष उन अन्धों के हाथी-आकार विषयक एकान्त पक्ष बाद को क्षणमात्र में दूर कर देता है।

उसी प्रकार अज्ञानी पुरुष भी वस्तु के किसी एक एक धर्म को सर्वथा एकान्त पक्ष का आग्रह करते हैं और सम्यग्ज्ञान बिना सर्वाङ्ग वस्तु को न जानकर परस्पर विवाद करते हैं, परन्तु सम्यग्ज्ञानी अनेकान्त विद्या के प्रभाव से यथावत् वस्तु का निर्णय कर भिन्न भिन्न मिथ्या मतों के दुराग्रह को दूर कर देता है।

सामान्य एकान्त

जैसे कोई एकांत-मती वस्तु को केवल नित्य मानता है परन्तु स्याद्वादी कहता है कि जो सर्वथा नित्य है तो अनेक अवस्थाओं का पलटना किस प्रकार होता है ? अर्थात् सर्वथा नित्यता के एकान्त पक्ष में एक अवस्था से दूसरी अवस्था का पलटना असम्भव है। जो मिट्टी पिंड रूप है वह सदा पिंड रूप ही रहेगी उससे घटोत्पत्ति कभी नहीं हो सकेगी। जो जीव दुखी है वह सदा दुखी ही बना रहेगा उसको सुख की प्राप्ति कभी नहीं हो सकेगी। इसी प्रकार जो जीव संसारी है वह सदा संसारी ही रहेगा उसका

संसार से छूट कर मोक्ष होना असम्भव है। नित्यता के सर्वथा एकान्त पक्ष में कर्मबंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष सब ही असम्भव हैं। मोक्ष और मोक्षमार्ग का उपदेश भी सम्भव नहीं है। इस नियत एकांत मतानुसार धर्म कर्म का कोई स्थान नहीं है। श्री १०८ समन्तभद्र आचार्य ने नित्यत्व-एकान्त की सदोषता का कथन निम्न प्रकार किया है—

नित्यत्वैकान्त-पक्षेऽपि विक्रिया नोपपद्यते।
प्रागेव कारकाभावः क्व प्रमाणं क्व तत्फलम् ॥३७॥
प्रमाण-कारकैर्व्यक्तं व्यक्तं चेदिन्द्रियार्थवत्।
ते च नित्ये विकार्यं किं साधोस्ते शासनाद्बहिः ॥३८॥
यदि सत्सर्वथा कार्यं पुंवन्नोत्पत्तुमर्हति।
परिणाम-प्रक्लृप्तिश्च नित्यत्वैकान्त-बाधिनी। ३९।
पुण्य-पाप-क्रिया न स्यात्प्रेत्यभावः फलं कुतः।
बन्ध-मोक्षौ च तेषां न येषां त्वं नासि नायकः ॥४०॥

नित्य एकान्त पक्ष में भी विक्रिया (अवस्था से अवस्थान्तर रूप परिणाम, हलन चलन रूप परिस्पन्द अथवा किसी भी क्रिया) की उत्पत्ति नहीं हो सकती। कारकों का अभाव पहले ही होता है अर्थात् जहां कोई अवस्था न बदले वहां कर्ता कर्म करणादि कारकों का सद्भाव बनता ही नहीं। जब कारकों का अभाव है तब प्रमाण और प्रमाण का फल ये दोनों कहां बन सकते हैं। यदि सांख्यवादियों की ओर से यह कहा जाय कि कारण रूप जो अव्यक्त पदार्थ है वह सर्वथा नित्य है, कार्य रूप जो व्यक्त पदार्थ है वह नित्य नहीं और इसलिये विक्रिया बनती है तो उनका ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि सर्वदा नित्य के द्वारा कोई भी विकार रूप क्रिया नहीं बन सकती और न कोई अनित्य कार्य ही घटित हो सकता है। हे वीर आपके शासन के बाह्य जो नित्यत्व का सर्वथा एकान्तवाद हैं उसमें विक्रिया (कार्य) के लिये कोई स्थान नहीं हैं। कार्य को यदि सर्वथा सत्य माना जाय तो वह उत्पत्ति के योग्य नहीं ठहरता अर्थात् कूटस्थ होने से उसमें उत्पत्ति जैसी कोई बात नहीं बनती। वस्तु में परिणाम की कल्पना नित्यत्व के एकान्त को बाधा पहुंचाने वाली है। जिनके आप (जिनेन्द्र) नायक (स्वामी) नहीं हैं उन सर्वथा नित्यत्वैकान्तवादियों के मत में पुण्य पाप की क्रिया नहीं बनती तथा परलोक गमन नहीं बनता, सुख दुख रूप फल प्राप्ति की तो बात ही कहां से हो सकती है और न बन्ध तथा मोक्ष ही बन सकता है। तब सर्वथा नित्यत्व के एकान्त पक्ष में कौन परीक्षावान किसलिये आदरवान् हो सकता है अर्थात नहीं ही सकता।

इन उपरि कारिकाओं में यह बतलाया गया हैं कि जो निश्चय नय का विषय भूत मात्र सामान्य का आश्रय लेकर जीव द्रव्य को सर्वथा नित्य मानता है और व्यवहारनय की विषय भूत आत्मा की प्रमत्त अप्रमत्तादिपर्यायों को सर्वथा असत्यार्थ मानता है, वह जिनमत से बाह्य हैं और उसके मत में पुण्य पाप रूप आस्रव बन्ध तथा संवर निर्जरा मोक्ष का कोई स्थान ही नहीं है।

पर्याय एकान्त

क्षणिकैकांतपक्षेऽपि प्रेत्यभावाद्यसंभवः ।
प्रत्यभिज्ञाद्यभावान्न कार्यारंभ कुतः फलम् ॥४१॥ आप्तमीमांसा

यदि क्षणिक एकान्त का पक्ष लिया जाय अर्थात् अनित्यत्वरूप एकान्त वाद का आश्रय लेकर यह कहा जाय कि सर्व पदार्थ क्षण क्षण में निरन्वय विनाश को प्राप्त होते रहते हैं, कोई भी स्थिर नहीं है तो भी परलोक गमन और बन्ध तथा मोक्ष नहीं बन सकते । प्रत्यभिज्ञान स्मरण और अनुमानादि जैसे ज्ञान नहीं बन सकते । इन ज्ञानों का अभाव होने से कार्य का आरम्भ नहीं बनता । और जब कार्य का आरम्भ ही नहीं तब उसका फल सुख दुःखादि तो कहां से हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता ।

इस कारिका में यह बतलाया गया है कि जो व्यवहारनय की विषयभूत मात्र विशेष अर्थात् पर्याय का आश्रय लेकर जीव को सर्वथा अनित्य मानता है और निश्चयनय का विषयभूत अन्वयरूप सामान्य को स्वीकार वहीं करता वह एकान्त क्षणिक वादी भी जिनमत से बाह्य है और उसके मत में भी पुण्य पाप आस्रव बंध संवर निर्जरा मोक्ष का कोई भी स्थान नहीं है ।

एकत्व कार्य कारण का एकान्त :

एकत्वेऽन्यतराभावः शेषाऽभावोऽविनाभुवः ।
द्वित्व-संख्या-विरोधश्च संवृतिश्चेन्मृषैव सा ॥ ६६॥ (आप्तमीमांसा)

यदि कार्य-कारणादिका सर्वथा एकत्व अर्थात तादात्म्य माना जाय तो एककी मान्यता पर दूसरे का अभाव ठहरेगा । यदि द्वित्व-संख्या को (कार्य कारण में द्वित्व को) संवृतिरूप कल्पित माना जाय अथवा औपचारिक ही माना जाय तो यह संवृति (परमार्थ के विपरीत होने से) जब मृषा ही है तब द्वित्व-संख्या (कार्यकारण में द्वित्व) भी मृषा ही ठहरती है ।

इस कारिका में यह बतलाया गया है कि जो एकान्त निश्चयनय का आश्रय लेकर कार्य कारण का तदात्म्य अर्थात् अभेद मानते हैं और व्यवहारनय के विषयभूत निमित्त कारणों अर्थात् सहकारी कारणों को कार्योत्पत्ति में अकिंचित्कर मानते हैं, उनके मत में कार्य कारण में सर्वथा अभेद होने से एक के मानने पर दूसरे का अभाव ठहरेगा । अर्थात् कार्य के मानने पर कारण का अभाव ठहरेगा और कारण के मानने पर कार्य का अभाव ठहरेगा, क्योंकि उनके मत में कार्य कारण में भेद है अर्थात् कार्य और कारण ये दोनों पृथक पृथक हैं ऐसा द्वित्व मृषा है झूठ है । अतः इन एकान्त वादियों के मत में कार्य कारण की व्यवस्था नहीं बनती है ।

निश्चयनय का विषयभूत स्वभाव का एकान्त पक्ष मानने पर संसार के अभाव का प्रसंग आजायगा । इसी प्रकार व्यवहारनय का विषयभूत-विभाव का एकान्त मानने पर मोक्ष के अभाव का प्रसंग

आजायगा। आत्म को सर्वथा मूर्तिक मानने पर मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी और सर्वथा अमूर्तीक मानने पर संसार का लोप हो जायगा। यदि निश्चयनय का विषयभूत-शुद्ध स्वभाव का एकान्त ग्रहण किया जाय तो आत्मा के कर्म रूपी मलकलङ्क का लेप (बंध) संभव नहीं है, क्योंकि निश्चयनय की दृष्टि में आत्मा सर्वथा निरंजन है। अशुद्ध के सर्वथा एकान्त पक्ष में आत्मा को कभी भी शुद्ध स्वभाव की प्राप्ति नहीं होगी व्यवहारनय का विषयभूत-उपचरित स्वभाव के एकान्त पक्ष में स्वका ज्ञान सम्भव नहीं है, क्योंकि उपचरित स्वभाव का पक्ष नियमित है। इसी प्रकार निश्चयनय के विषयभूत अनुपचरित स्वभाव के एकांत पक्ष में परजता अर्थात् सर्वज्ञता का विरोध हो जायगा।[1]

अखण्ड एकान्त

जब अध्यात्माभासी 'अखण्ड' का एकान्त पक्ष ग्रहण करके यह कहता है कि आत्मा में न ज्ञान है न दर्शन है न चारित्र है[2] अर्थात् आत्मा में ज्ञान गुण, दर्शन गुण और चारित्र गुण का निषेध करके अथवा काल्पनिक कहकर आत्मा का अभाव करता है तब अनेकान्त वादी उस अध्यात्माभासी को समझाता है कि द्रव्य तो गुण पर्याय वाला है[3] यदि आत्मा में ज्ञान दर्शन व चारित्र गुणों का सर्वथा निषेध कर दिया जायगा तो आत्म द्रव्य का ही अभाव हो जायगा। गुणों के बिना द्रव्य नहीं पाया जाता है।[4] द्रव्य खण्ड-अखण्ड आत्मक है। समयसार गाथा ७ के उत्तरार्थ में खण्ड स्वभाव को गौण करके और अखण्ड स्वभाव को मुख्य करके यह कहा गया है कि आत्मा में न ज्ञान है, न दर्शन है किन्तु ज्ञान दर्शन व चारित्र गुणों का सर्वथा निषेध नहीं किया गया है। इसीलिये गाथा७ के पूर्वार्ध में व्यवहारनय का विषयभूत खण्ड स्वभाव को मुख्य करके और निश्चयनय का विषयभूत अखण्ड स्वभाव को गौण करके आत्मा में ज्ञानदर्शन चारित्र गुणों का विधान किया गया है। आत्मा में ज्ञान दर्शन चारित्र गुणों का भेद काल्पनीक या उपचार मात्र नहीं है।

प्रमाण-गोचरौ सन्तौ भेदाभेदौ न संवृती।
तावेकत्राऽविरुद्धौ ते गुण-मुख्य-विवक्षया ॥३६॥ (आप्तमीमांसा)

---

१. स्वभावस्वरूपस्यैकान्तेन संसाराभावः। विभावपक्षेऽपि मोक्षस्यापि अभावः। मूर्तस्यैकान्तेनात्मनो न मोक्षस्यावाप्तिः स्यात्। सर्वथाऽमूर्तस्यापि तथात्मनः संसारविलोपः स्यात्। शुद्धस्यैकान्तेनात्मनो न कर्ममलकलङ्कावलेपः सर्वथा निरञ्जनत्वात। सर्वथाऽशुद्धैकान्तेऽपि तथात्मनो न कदापि शुद्धस्वभावप्रसङ्गः स्यात् तन्मयत्वात्। उपचरितैकान्तपक्षेऽपि नात्मज्ञता सम्भवति नियमितपक्षत्वात्। तथाऽत्मनोऽनुपचरितपक्षेऽपि परज्ञतादीनां विरोधःस्यात् ॥ (आलापपद्धति)

२. णवि णाणं ण चरित्त ण दंसणं (समयसार)

३. गुणपर्ययवद् द्रव्यं ॥५।३८॥ (मोक्षशास्त्र)

४. दव्वेणविणा ण गुणा गुणेहिं दव्वं विणा ण संभवदि ॥ (पंचास्तिकाय)

भेद और अभेद (खण्ड और अखण्ड) दोनों धर्म सत् रूप हैं—परमार्थभूत है। कल्पना आरोपित या उपचार मात्र नहीं हैं. क्योंकि दोनों धर्म प्रमाण के विषय हैं। हे अरहंत देव ! आपके मत में वे दोनों एक वस्तु में गौण और मुख्य की विवक्षा को लिए हुए एकमात्र अविरोध रूप से रहते हैं।

यदि आत्मा में दर्शन ज्ञान चारित्र का भेद न माना जाय तो दर्शन मोहनीय कर्म, चारित्र मोहनीय कर्म तथा ज्ञानावरण कर्म आदि के अभाव का प्रसंग आजायगा और इन कर्मों के अभाव में मिथ्या दर्शन, कषाय अथवा अचारित्र और अज्ञान के अभाव का प्रसंग आजायगा। इनके अभाव में बंध का अभाव हो जायगा और बंध के अभाव में संसार का अभाव हो जायगा।

चौथे से सातवें गुणस्थान तक किसी एक गुणस्थान में दर्शनावरण-कर्म का अत्यन्त क्षय होने से क्षायिक सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। इसी प्रकार चारित्र मोहनीय कर्म के अत्यन्त क्षय से बारहवें गुण-स्थान में क्षायिक चारित्र उत्पन्न होता है। ज्ञानावरण कर्म के अत्यन्त क्षय से तेरहवें गुणस्थान में क्षायिक चारित्र (ज्ञान) उत्पन्न होता है। यदि दर्शन ज्ञान चारित्र आत्मा में भिन्न भिन्न गुण न होते तो इन तीनों की क्षायिक अवस्था एक साथ उत्पन्न हो जानी चाहिए थी।

इस प्रकार आत्मा में दर्शन ज्ञान चारित्र का भेद सिद्ध करके तथा आत्मा दर्शन-ज्ञान-चारित्र-मयी है इस प्रकार अभेद सिद्ध करके अनेकान्तवादी उस एकान्तवादी को आत्मा का नाश (अभाव) करने से बचाता है।

ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध :

जब कोई अध्यात्माभासी एकान्तवादी दो द्रव्य में परस्पर सम्बन्ध का सर्वथा निषेध कर यह कहता है कि ज्ञान स्वयं ज्ञान रूप है पर का ज्ञायक नहीं है।[१] अर्थ स्वयं अर्थ[२] है। दोनों का चतुष्टय भिन्न भिन्न है। ज्ञान का और अर्थ का परस्पर में अत्यन्ताभाव है क्योंकि भिन्न भिन्न द्रव्य हैं इस प्रकार ज्ञान का नाश करता है। तब अनेकान्तवादी उस अध्यात्माभासी को समझाता है कि ज्ञान का स्वभाव ही सत्यार्थ को प्रकाश करना है[३] और वह सत्यार्थ प्रकाश स्व और पर के विषय में होना चाहिए।[४] अर्थात् ज्ञान का स्वभाव ही स्व और पर को जानना है, क्योंकि अर्थों का और ज्ञान का ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध है। इसीलिये श्री कुंदकुंद आदि आचार्यों ने कहा है कि जितने ज्ञेय हैं उतना ही ज्ञान है।[५]

---

१. "जाणओ दु ण परस्स जाणओ सो दु" (समयसार)

२. "अर्यंते परिच्छिद्यते" जो जाना जाता है वह अर्थ है (जयधवल पु० १ पृ० २२)

३. "भूतार्थप्रकाशकं ज्ञानम्।" (धवल पु० १ पृ० १४२)

४. "स्वपरावभासके।" (स्वयम्भूस्तोत्र)

५. "णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं।" (प्रवचनसार)

यदि ज्ञान नयों को नहीं जानता तो अर्थक्रियाकारित्व का अभाव होने से ज्ञान का ही अभाव हो जायगा। और ज्ञान के अभाव में जीव का अभाव हो जायगा। इस प्रकार अनेकांत एकांतवादियों के वस्तु विधान का निषेध करने वाला है।

आधार आधेय संबंध :

अध्यात्माभासी एकांतवादी आधार आधेय सम्बन्ध का सर्वथा निषेध करके यह विचारता है कि घट का आधार स्वयं घट है और अमृत का आधार स्वयं अमृत है। अमृत के घट के आधार नहीं है। घट के विनाश से अमृत का विनाश नहीं होता जिस प्रकार घट के विनाश से दीपक का विनाश नहीं होता। यह विचार कर जब अमृतपूर्ण घट को रेत में रखकर घट को फोड़कर अमृत का विनाश करना चाहता है। तब अनेकांतवादी उसको समझाता है कि यद्यपि घट का स्वचतुष्टय भिन्न है और अमृत का स्वचतुष्टय भिन्न है तथापि तरल पदार्थ होने से अमृत घट आदि पर पदार्थ के आधार बिना ठहर नहीं सकता और घट फूट जाने पर अमृत रेत में मिलकर नष्ट हो जायगा। इस प्रकार अनेकांत एकांतवादियों द्वारा माने गये वस्तु स्वरूप का निषेध करके यथार्थ वस्तु स्वरूप को प्रकाश में लाता है।

इस प्रकार अनेकांत के विशेषण 'निषिद्धजात्यन्धसिंधुरविधानम्' का संक्षेप में कथन समाप्त हुआ अब अनेकांत के तीसरे विशेषण "सकलनयविलसितानां विरोधमथनं" पर विचार किया जाता है।

सकलनयविलसितानां विरोधमथनं :

अनेकांत को नमस्कार करते हुए श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने तीसरा विशेषण, "सकलनयविलसितानां विरोधमथनं" अर्थात अनेकांत समस्तनयों के विलास के विरोध को दूर करने वाला है, यह दिया है।

नय का लक्षण :

"तावद्वस्तुन्यनेकांतात्मन्यविरोधेन हेत्वर्पणात् साध्यविशेषस्य याथात्म्यप्रापणप्रवणः प्रयोगो नयः।" (सर्वार्थसिद्धि)। अर्थात् अनेकान्तात्मक वस्तु में विरोध के बिना हेतु की मुख्यता से साध्य विशेष की यथार्थता के प्राप्त कराने में समर्थ प्रयोग को नय कहते हैं। अथवा प्रमाण के द्वारा सम्यक् प्रकार ग्रहण की गई वस्तु के एक धर्म अर्थात् अंश को ग्रहण करने वाले ज्ञान को नय कहते हैं। अथवा जो नाना स्वभाव से हटाकर किसी एक स्वभाव में वस्तु को प्राप्त कराता है वह नय है।

नाना धर्मो वाले पदार्थ के एक धर्म को ही नय कहता है, क्योंकि उस समय उसी धर्म की विवक्षा है शेष धर्मों की विवक्षा नहीं है।[2]

---

१. प्रमाणेन वस्तुसंगृहीतार्थैकांशो नयः। नाना स्वभावेभ्यो व्यावृत्य एकस्मिन् स्वभावे वस्तु नयति प्राप्नोतीति नयः।" [आलापपद्धति]

२. णाणाधम्मजुदं पि य एयं धम्मं पिवुच्चदे अत्थं।
तस्सेय विवक्खादो णत्थि विवक्खा हु सेसाणं।" [स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा. २६४]

नय का फल :

जिस प्रकार प्रमाण से वस्तु का बोध होता है उसी प्रकार नय वाक्य से वस्तु का ज्ञान होता है।[1] नय, पदार्थ का जैसा स्वरूप है उस रूप से पदार्थों को ग्रहण करने में कारण है इसलिये मोक्ष का भी कारण है।[2]

सुनय और दुर्नय तथा उनका फल :

ते सावेक्खा सुणया णिरवेक्खा ते वि दुण्णया होंति ।
सयल-ववहारसिद्धी सुणयदो होदि णियमेण ।।२६६।। [स्वामिकार्तिकेय]

नय यदि सापेक्ष हों तो सुनय होते हैं और यदि निरपेक्ष हों तो दुर्नय होते हैं अर्थात् अपने विपक्ष नय की अपेक्षा रखते हैं तो सुनय हैं और यदि अपने विपक्ष की अपेक्षा नहीं रखते तो दुर्नय होते हैं। सुनय से ही नियम पूर्वक समस्त वस्तुओं की सिद्धि होती है। दुर्नय से वस्तु की सिद्धि नहीं होती है। क्योंकि वस्तु सर्वथा एक रूप नहीं है।

य एवं नित्यक्षणिकादयो नया मिथोनपेक्षा: स्वपरप्रणाशिनः ।
त एव तत्वं विमलस्य ते मुनेः परस्परेक्षाः स्वपरोपकारिणः ।।६१।। [स्वयंभूस्तोत्र]

श्री समन्तभद्र आचार्य ने इस श्लोक में यह कहा है कि निरपेक्ष नय मिथ्या हैं और स्वपर के घातक हैं। वे ही नय परस्पर सापेक्ष तत्त्वभूत हैं अर्थात् सम्यक् हैं और स्वपर के उपकारक हैं।

नयों का समुदाय परस्पर सापेक्ष होकर ही प्रयोजनभूत होता है। परस्पर की अपेक्षा न करने पर वह निष्फल ही रहता है।[3]

मिच्छादिट्ठी सव्वे वि णया स पक्ख पडिबद्धा ।
अण्णोण्णणिस्सिया उण लहंति सम्मत्तसब्भावं ।।१/२१।। [सन्मति तर्क]
निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् ।।१०८।। [आप्तमीमांसा]

केवल अपने अपने पक्ष से प्रतिबद्ध ये सभी नय मिथ्या हैं। परन्तु यदि ये सभी नय परस्पर सापेक्ष हों तो समीचीनपने अर्थात् सम्यक्त्व को प्राप्त होते हैं। और उनके विषय अर्थ क्रियाकारी होते हैं।

दुर्नयैकान्तमारूढा भावानां स्वार्थिका हि ते ।
स्वार्थिकाश्च विपर्यस्ता सकलङ्का नया यतः ।।८।। [आलापपद्धति]

---

१. "प्रमाणादिव नयवाक्याद्वस्त्ववगमम् ।" [जयधवल पु. १ पृ. २०६]
२. "स एव याथात्म्योपलब्धिनिमित्तत्वाद्भावानां श्रेयोऽपदेशः । [जयधवल पु. १ पृ. २११]
३. "सापेक्षा नयसंहृतिः फलवति संजायते नान्यथा: । [पद्मनन्दि-पंचविंशति श्लोक १५७ चौथा चरण]

जो नय पदार्थों के दुर्नय रूप एकान्त पर आरूढ है, परस्पर विरुद्ध दो धर्मों में से एक को मानकर दूसरे का सर्वथा निषेध करते हैं, वे स्वेच्छा प्रवृत्त हैं। स्वार्थिक होने से वे नय विपरीत हैं क्योंकि वे दूषित नय हैं अर्थात् नयाभास हैं।

नय के भेद :

नयों के दो मूल भेद हैं (१) निश्चयनय (२) व्यवहारनय

णिच्छयववहारणया मूलमभेयो णयाणसव्वाणं ।
णिच्छयसाहणहेओ वव्वयपज्जत्थिया मुणहं ।।४।। [आलापपद्धति]

अर्थ—सम्पूर्ण नयों के निश्चयनय और व्यवहारनय ये दो मूल भेद हैं। निश्चय नय का हेतु द्रव्यार्थिक नय है और साधन अर्थात् व्यवहारनय का हेतु पर्यायार्थिक नय है।

श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने भी समयसार गाथा ५६ की टीका में कहा है—"व्यवहारनयः किल पर्यायाश्रितत्वात्, निश्चयनयस्तु द्रव्याश्रितत्वात्।" अर्थात् व्यवहारनय का विषय पर्याय है और निश्चयनय का विषय द्रव्य सामान्य है।

"अभेदानुपचारतया वस्तु निश्चीयत इति निश्चयः। भेदोपचारतया वस्तु व्यवह्रियत इति व्यवहारः।" [आलापपद्धति] भेद और उपचार से रहित अर्थात् अखण्ड निरुपधि वस्तु को ग्रहण करने वाला निश्चय नय है। भेद और उपचार सहित अर्थात् वस्तु में गुण पर्याय आदि के भेद सहित अथवा दूसरे द्रव्य के सम्बन्ध से होने वाले औपाधिक भाव सहित वस्तु को ग्रहण करने वाला व्यवहार नय है।

निश्चय नय का पक्ष है कि जीव कर्म व नोकर्म से बद्ध-स्पृष्ट नहीं है और व्यवहारनय का पक्ष है कि जीव कर्म नोकर्म से बद्ध-स्पृष्ट है इस प्रकार इन दोनों नयों के विषयों में परस्पर विरोध है। अनेकान्तवादी किसी अपेक्षा से जीव को कर्म-नोकर्म से बद्ध-स्पृष्ट मानता है और किसी अपेक्षा से अबद्ध-अस्पृष्ट मानता है। जीव अनादि काल से पौद्गलीक कर्म-नोकर्म से बद्ध-स्पृष्ट है, क्योंकि यदि यह जीव कर्म-नोकर्म से बद्ध-स्पृष्ट न होता तो इसके केवलज्ञान आदि और अमूर्त आदि स्वभावों का घात कैसे होता तथा शरीर का सम्बन्ध होकर उसमें कैसे रुकता। यह पौद्गलीक कर्मों की अचिंत्य शक्ति है जो जीव के केवलज्ञान आदि स्वभाव का घात कर देते हैं।[1] जीव संसार अवस्था में परतंत्र होरहा है इससे भी सिद्ध होता है कि जीव कर्मों से बंधा हुआ है, क्योंकि जैसे बेड़ी जीव को परतंत्र करती है वैसे ही कर्म भी जीव को परतन्त्र करते हैं।[2] यदि यह कहा जाय कि क्रोधादिक जीव परिणामों ने इस जीव को

---

१ का वि अउव्वा दीसदि पुग्गल दव्वस्स एरिसी सत्ती। केवलणाणसहावो विणासिदो जाइ जीवस्स ।।२११।। [स्वामिकार्तिकेय]

२. जीवं परतन्त्री कुर्वन्ति. सः परतन्त्रीक्रियते वा यैस्तानि कर्माणि। तानि च पुद्गल परिणामात्मकानि जीवस्य पारतन्त्र्यनिमित्तत्वात् निगडादिवत् [आप्त परीक्षा]

परतन्त्र कर रखा है सो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जीव के क्रोधादि परिणाम स्वयं परतन्त्रता रूप हैं किन्तु परतन्त्रता के कारण नहीं हैं ।[१] अतः व्यवहारनय की अपेक्षा बद्धस्पृष्टपना भूतार्थ है सत्यार्थ है । जीव का स्वभाव पुद्गल के स्पर्शने योग्य नहीं है अतः निश्चय-नय की अपेक्षा जीव का पुद्गल कर्म-नोकर्म से बद्धस्पृष्टपना असत्यार्थ है ।[२] नाम कर्म अपने स्वभाव से जीव स्वभाव का पराभव करके जीव को मनुष्य तिर्यंच नारक देव इन पर्यायों रूप परिणमाता है ।[३] नाना पर्यायों की अपेक्षा जीव नाना है, क्योंकि मनुष्य तिर्यंच आदि का स्वभाव भिन्न-भिन्न है अतः व्यवहार नय से जीव का अन्य अन्यपना सत्यार्थ है तो भी सब पर्यायभेदों में एक चैतन्याकार आत्मा ही है । अतः निश्चय नय से जीव का अन्य-अन्यपना असत्यार्थ है ।[४]

निरपेक्ष निश्चयनयावलम्बी :—कोई जीव सापेक्ष निश्चयनय नय को न जानते हुए व्यवहार से निरपेक्ष निश्चय नय का अवलम्बन लेकर अपने आपको अर्थात् अपनी आत्मा को सिद्ध समान शुद्ध अनुभव करे है तब अनेकान्ती उस निश्चयाभासी को समझावे है कि "तू प्रत्यक्ष में रागी द्वेषी अशुद्ध संसारी है, भ्रमकरि आपको सिद्ध समान शुद्ध माने है सो मिथ्या है । आगम में सब जीवों को द्रव्यदृष्टि से समान कहा है किन्तु पर्याय अपेक्षा समान नहीं कहा गया है । यद्यपि मनुष्यपने की अपेक्षा राजा और भिखारी समान हैं तथापि ऐश्वर्य वैभव आदि की अपेक्षा दोनों में महान् अन्तर है । इसी प्रकार जीवत्व की अपेक्षा संसारी और सिद्ध दोनों समान हैं तथापि वीतरागता ज्ञान सुख आदि की अपेक्षा दोनों में महान् अन्तर है । सिद्धों में कर्मक्षय हो जाने से पूर्ण वीतरागता केवलज्ञान और अतीन्द्रिय अव्यवाध सुख है और तुझ संसारी में कर्मोदय के कारण इन्द्रियजनित मतिज्ञान, इन्द्रियसुख, और राग द्वेष है । आगम में सर्वजीव के वीतरागता केवलज्ञान और अतीन्द्रिय सुख जो स्वभाव कहा है वह शक्ति अपेक्षा कहा है । सब जीवों में केवलज्ञानादि रूप होने की शक्ति है कर्मक्षय होने पर व्यक्त होंगे ।"

कोई मात्र निश्चनयावलम्बी ऐसा माने है कि शुद्धात्मा के चिंतवन से तो संवर निर्जरा होय है और गुणस्थान आदि अथवा पुद्गल आदि का चिंतवन किये आस्रव बंध होय है इसलिये गुणस्थान आदि के विचारते पराङ्मुख रहे है सो यह भी सत्य श्रद्धान नहीं है, क्योंकि शुद्धरूप स्व का या अन्य का चित-

१. क्रोधादिभिर्व्यभिचार इति चेत्, न, तेषां जीवपरिणामानां पारतन्त्र्य स्वरूपत्वात् । पारतन्त्र्यं हि जीवस्य क्रोधादिपरिणामो न पुनः पारतन्त्र्यनिमित्तम् [आप्त परीक्षा]
२. आत्मनोनादिबद्धस्पृष्टत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां बद्धस्पृष्टत्वं भूतार्थमप्येकांततः पुद्गला स्पृश्य-मात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थं [समयसार गाथा १४ टीका]
३. कम्मं णामसमक्खं स्वभावमध अप्पणो सहावेण । अभिभूयनरं तिरियं णेरइयं वा सुरं कुणदि ॥११७॥ [प्रवचनसार]
४. आत्मनो नारकादिपर्यायेणानुभूयमानतायामन्यत्वं भूतार्थमपि सर्वतोप्यस्खलंतमेकमात्म स्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थं । [समयसार गा. १४ टीका]

वन करो, यदि वीतरागता रूप भाव है तो संवर निर्जरा होय है और यदि कषायरूप भाव है तो आस्रव बंध होय है। लोक में समस्त पदार्थ धर्म व शुक्ल ध्यान के विषय हो सकते हैं मात्र निज आत्म का शुद्ध रूप चिंतवन ही धर्म व शुक्ल ध्यान का विषय हो ऐसा नहीं है।

आलंबरोहि भरियो लोगो ज्झाइदुमणस्स खवगस्स।
जं जं मणसा पेच्छइ तं तं आलंबणं होई ॥[1]

यह लोक ध्यान के आलम्बनों से भरा हुआ है। ध्यान में मन लगाने वाला क्षपक श्रेणी में मनसे जिस जिस वस्तु को देखता है वह वह वस्तु ध्यान का आलम्बन होती है।

बारह अनुप्रेक्षायें, उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी पर आरोहण विधि, तेईस पुद्गल-वर्गणायें, पांच परिवर्तन, स्थिति अनुभाग प्रकृति प्रदेश बंध आदि में सब ध्यान करने योग्य अर्थात् ध्येय होते हैं।[2]

किं बहुसो सव्वं वि य जीवादिपयत्थ वित्थरो वेयं।
सव्वणय – समूहमयं ज्झायज्जो समयसब्भावं ॥[3]

बहुत कहने से क्या लाभ, यह जितना जीवादि पदार्थों का विस्तार कहा है और सर्व नयसमूह ध्यान करने योग्य है। ये सब धर्म ध्यान के विषय भी हैं और शुक्ल ध्यान के विषय भी हैं, क्योंकि दोनों ही ध्यानों में विषय की अपेक्षा कोई भेद नहीं है।[4]

इस प्रकार एकांतनिश्चयावलम्वी का आस्रव बंध संवर निर्जरा तत्त्वों के विषय में भी अयथार्थ श्रद्धान है। जिनका तत्त्वों के विषय में अयथार्थ श्रद्धान है वे सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकते हैं वे एकान्त निश्चयावलम्वी तो मिथ्यादृष्टि हैं।

प्रत्येक नय का प्रतिपक्षीनय है। जैसे नियति नय का प्रतिपक्ष अनियत नय है। अग्नि की उष्णता नियत है किन्तु जल की उष्णता अनियत है, क्योंकि जल को अग्नि आदि के संयोग का कोई काल क्षेत्र आदि नियत नहीं है। जब कभी भी जहां पर अग्नि आदि का संयोग जिस जल को मिल जायगा तो वह जल उष्ण हो जायगा अन्यथा नहीं।*

स्वभाव नय का प्रतिपक्ष अस्वभाव नय है। कांटा स्वभाव से तीक्ष्ण है किन्तु सूची (सूंई)

---

१. भगवति–आराधना गा. १८७६।

२. वारस अणुपेक्खाओ उवसमसेडिचडणविहाणं तेवीस वग्गणाओ पंचपरियट्टाणि ट्ठिदि-अणुभाग पयडिपदेसादि सव्वं पि ज्झेयं होदि त्ति दट्ठव्वं। एवं ज्झेयपरूवणागदा। [धवल पु १३ पृ. ७०]

३. धवल पु. १३ पृ. ७३।

४. दोण्णं पि ज्झाणाणं विसयं पडि भेदाभावादो। [धवल पु. १३ पृ. ७४]

* प्रवचनसार टीका का परिशिष्ट।

स्वभाव से तीक्ष्ण नहीं है किन्तु संस्कार द्वारा तीक्ष्ण की जाती है। जिस समय तीक्ष्ण करने योग्य संस्कारों का संयोग मिल जायगा, यदि संस्कार का संयोग नहीं मिलेगा तो तीक्ष्ण नहीं होगी।*

इसी प्रकार काल नय का प्रतिपक्ष अकाल नय है। ×जो मृत्यु अपने नियत समय पर होती है अर्थात् आयु कर्म की स्थिति पूर्ण होने पर होती है वह काल नय है किन्तु जिस मृत्यु का समय निश्चित नहीं है, बाह्य शस्त्र प्रहार आदि का संयोग मिलने पर आयु स्थिति की उदीरणा द्वारा हो जाती है वह अकाल मृत्यु है, क्योंकि यदि शस्त्र प्रहारादि का निमित्त न मिले तो मरण नहीं होगा अथवा निमित्त मिल जाने पर भी यदि यथावत उपचार होगया तो मरण नहीं होगा।[१]

दैवनय का प्रतिपक्ष पुरुषार्थ नय है इसी प्रकार अन्य नयों के विषय में भी कथन है।

अनेकान्त—स्वरूपसम्बोधन का मंगलाचरण करते हुए श्री अकलंकभट्ट कहते हैं कि परमात्मा मुक्त भी है अमुक्त भी है अर्थात् परमात्मा ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों से, रागादि भाव कर्मों से व शरीर रूप नोकर्मों से मुक्त हैं किन्तु क्षायिक सम्यग्दर्शन, केवल ज्ञान, क्षायिक चारित्र आदि स्वभाविक गुणों से अमुक्त हैं।[२] वह परमात्मा प्रमेयत्वादिक धर्मों की अपेक्षा अचेतन रूप भी है और ज्ञान दर्शन की अपेक्षा चेतनरूप भी है। अर्थात् वह परमात्मा मात्र चेतन स्वरूप भी नहीं और मात्र अचेतन स्वरूप भी नहीं है किन्तु चेतनाचेतनात्मक है।[३]

कल्पित अनेकांत—अनेकांत के यथार्थ स्वरूप से अनभिज्ञ जैनाभासी अनेकांत मिथ्यात्व रूप दोष के भय से अनेकांत का स्वरूप इस प्रकार कल्पित करता है कि परमात्मा मुक्त है अमुक्त नहीं है, चेतन स्वरूप है अचेतन स्वरूप नहीं है और यह युक्ति देता है कि इस अनेकांत में, मुक्त धर्म की अस्ति और अमुक्त धर्म की नास्ति तथा चेतन धर्म की अस्ति और अचेतन धर्म की नास्ति, इस प्रकार अस्ति नास्ति दो विरोधी धर्म स्वीकार हो जाते हैं। उस जैनाभासी को यह ज्ञात नहीं कि परमात्मा में मुक्त धर्म तथा चेतन धर्म की विवक्षा थी। मुक्त धर्म का प्रतिपक्ष अमुक्त धर्म है और चेतन धर्म का प्रतिपक्ष अचेतन धर्म है किन्तु इस कल्पित अनेकांत के स्वरूप में परमात्मा में किसी भी अपेक्षा से अमुक्त धर्म तथा अचेतन धर्म स्वीकार नहीं किये गये अपितु "परमात्मा अमुक्त नहीं है अचेतन नहीं है" यह कहकर मुक्त और चेतन धर्म के विरोधी अमुक्त धर्म व अचेतन धर्म को अस्वीकार किया गया है। अतः जैनाभासियों का यह कल्पित अनेकांत वास्तव में अनेकांत नहीं है किन्तु एकांत ही है।

---

* प्रवचनसार टीका का परिशिष्ट।

× प्रवचनसार टीका का परिशिष्ट।

१. श्लोक वार्तिक अ. २ सूत्र ५३ की टीका।

२. मुक्तऽमुक्तैकरूपो यः कर्मभिः संविदादिना। अक्षयं परमात्मानं ज्ञानमूर्तिं नमामि तम्।

३. प्रमेयत्वादिभिर्धर्मैरचिदात्मा चिदात्मकः। ज्ञानदर्शनतस्तस्माच्चेतनाचेतनात्मकः ।।३।।

[स्वरूप संबोधन]

स्याद्वाद—प्रत्येक वस्तु अनेकान्तमयी अर्थात् अनेक धर्मात्मक है, किन्तु समस्त धर्मों का युगपत् कथन असम्भव है, क्योंकि भारती क्रमवर्तिनी होती है। जिस समय विवक्षित धर्म का कथन हो रहा है उस समय अविवक्षित धर्मों का अभाव नहीं है किन्तु गौण है। अविवक्षित धर्मों का अभाव न समझा जावे तथा विवक्षित धर्म किसी अपेक्षा से कहा जारहा है इस बात को प्रकट करने के लिये 'स्यात्' शब्द का प्रयोग होना चाहिये। स्यात् शब्द का अर्थ 'कथंचित्' अथवा 'अपेक्षा सहित' है। 'स्यात्' शब्द के प्रयोग से सर्वथा अर्थात् एकांत का निषेध होता है जो आगम 'स्यात्' पद से मुद्रित है वही जैन आगम हो सकता है।

परसमयाणं वयणं मिच्छं खलु होदि सव्वहावयणा।
जइणाणं पुण वयणं सम्मं खु कहंचि वयणादो।। [प्रवचनसार परिशिष्ट]

पर समयो (जैनेतर मतों) का वचन सर्वथा कहा जाने से वास्तव में मिथ्या है और जैनों का वचन कथंचित् (स्यात्) कहा जाने से वास्तव में सम्यक् है।

'सर्वथा' पद विवक्षित धर्म के विरोधी धर्म का निषेध करता है अतः मिथ्या है किन्तु 'स्यात्' पद विवक्षित धर्म के साथ साथ विरोधी धर्म को भी स्वीकार करता है अतः 'स्यात् अर्थात् कथंचित्' पद सम्यक् अर्थात् समीचीन है। 'स्यात्' पद वस्तु के समस्त धर्मों का अर्थात् वस्तु के यथार्थ स्वरूप का प्रकाश है इसीलिये स्याद्वाद अर्थात् अनेकांत व केवल ज्ञान में वस्तु तत्त्व प्रकाशन की अपेक्षा अन्तर नहीं है।

स्याद्वादे-केवलज्ञाने सर्वतत्त्व-प्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत्।।१०५।। [आप्तमीमांसा]

स्याद्वाद और केवलज्ञान दोनों सब तत्त्वों के प्रकाशक हैं। दोनों के प्रकाशन में मात्र साक्षात् और असाक्षात् का अन्तर है। इन दोनों के द्वारा प्रकाशित नहीं है वह अवस्तु है।

अनेकान्तवाद और केवलज्ञान की समानता को देखते हुए श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने अनेकांत को मंगलरूप से नमस्कार किया है। अतः अनेकांत का शरण ही कल्याणकारी है।

श्री कुंद-कुंदाचार्य की महत्ता

(डा० लालबहादुरजी शास्त्री साहित्याचार्य M. A., Ph. D देहली)

कुन्द-कुन्द युग प्रतिष्ठापक थे इस नाते कुन्दकुन्द की महत्ता का बढ़ जाना स्वाभाविक है अतः बाद के आचार्यों ने उन्हें बड़ी श्रद्धा और भक्ति के साथ स्मरण किया है। कुन्दकुन्द के नाम से मूल संघ का नामान्तर ही कुन्दान्वय हो गया था। उपलब्ध शिलालेखों में हमें स्थान स्थान पर कुन्द कुन्दान्वय के दर्शन होते हैं।[1] अब तक भी प्रतिमाओं पर उत्कीर्ण लेखों में मूलसंघे कुन्दकुन्दान्वये आदि शब्द का प्रयोग मिलता है जिस प्रकार विक्रम के पहले चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक जैसे शक्तिशाली सम्राटों के रहने पर भी विक्रम राजा के नाम से संवत् का प्रचलन होना विक्रम की महत्ता का द्योतक है उसी प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द से पूर्व और बाद में अनेक समर्थ आचार्यों के होने पर भी कुन्दकुन्द के नाम से कुन्दकुन्दान्वय की प्रवृत्ति होना उनकी विशेष महत्ता का द्योतक है। मूलसंघ की परंपरा में होने वाले अधिकांश आचार्यों ने अपने को कुन्दकुन्दान्वय का कहने में गौरव अनुभव किया है। मूलसंघ की स्थापना यद्यपि कुन्दकुन्दान्वय से पहले हो गई थी और उसका मुख्य कारण संभवतः दिगम्बर और श्वेताम्बर रूप में श्रमण संघ का बट जाना था फिर भी अनुमान है कि दिगम्बर श्रमणों में भी कई मतभेद पैदा हो गये थे। दिगम्बर शास्त्रों में पांच जैनाभासों का नाम आता है, वे पांच नाम इस प्रकार हैं:—गोपुच्छक, श्वेतपट, द्राविड़ यापनीय, तथा निःपिच्छक[2]। इसमें श्वेतपट तो आज भी विद्यमान हैं। यापनीयों का केवल साहित्य

---

१. शब्दाम्भोरूह भास्करः प्रथिततर्कग्रन्थकारः प्रभाचन्दाख्यो मुनिराज-पण्डितवरः श्री कुन्द-कुन्दान्वयः। चन्द्रगिरि शक सं० १०८५ श्री मत्कोण्डकुन्दान्वय गगन मार्तण्डरू विदितो दण्ड कुस्म माण्डसं देशिगण पुस्तकगच्छ कोण्डकुन्दान्वय श्रीमत् त्रिभुवनराग गुरु भानुचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ति गलु ....। विध्यगिरि। शक सं० १०९९। स्वस्ति श्री मूलसंघ देशीगण पुस्तक गच्छ कोन्डकुन्दान्वय श्री त्रैविघ देवा ....। विध्यगिरि शक १२३८।
स्वस्ति श्री मूलसंघ देशीगण पोस्तक गच्छद् कोण्डकुन्दान्वय सिद्धेश्वर........। शक सं० ११७०
श्री मूलसंघ देशीगण पुस्तकगच्छ कोण्डकुन्दान्वय ......चन्द्रगिरि शक १२३५ आसीत्तोरणा-
चार्यः कोण्डकुन्दान्वयोद्भव......... शक् ७१९.
कोण्ड कुन्दान्वयोदायो गणोभूत् भुवन स्तुतः शक ७२४
श्री कुन्दकुन्दान्वय मूलसंघे कारूणगणेगच्छ सुतिन्त्रणीके ......शक ९९७
कोण्ड कुन्दान्वय विख्यात मलवारि देवर.........शक १०५५

२. गोपुच्छकः श्वेतवासः द्राविडो यापनीयकः।
निःपिच्छिकश्च पंचैते जैनाभासाः प्रकीर्तिताः ॥

उपलब्ध है। किन्तु गोपुच्छक सुरा गाय की पूंछ की पिच्छिका रखने वाले द्राविड और नि:पिच्छक: बिना पीछी के रहने वाले इनका कहीं पता नहीं है और इनके मुख्य मुख्य सिद्धान्त क्या थे इसकी भी चर्चा जैन शास्त्रों में नहीं है। अत: ये अत्यन्त प्राचीन ही प्रतीत होते हैं। यापनीय साहित्य की रचना देखकर वे कुन्दकुन्द के बाद के प्रतीत नहीं होते इसलिए जब ये तथाकथित जैनाभास प्राचीन है तब इनसे अपने आपको अलग करने के लिए ही मूलसंघ की स्थापना की गई होगी[1] और भगवान महावीर के मूलधर्म में आस्था रखने वाले ही मूलसंघी कहलाये होंगे। इन्द्रनन्दिकृत नीतिसार में सिंहसंघ, नन्दिसंघ सेनसंघ और देवसंघ का निर्माण नैमित्तक गुणी अर्हद्बलि आचार्य द्वारा होना बतलाया है[2]। और लिखा है कि इनके प्रवज्या आदि कर्म में कोई मतभेद नहीं है। इनमें चार संघों के अतिरिक्त मूलसंघ नाम का कोई पांचवा संघ नहीं है। अत: इस मूल संघ को ही आचार्य अर्हद्वलि ने चार संघों में विभक्त किया था ऐसा प्रतीत होता है। हमारे इस कथन की पुष्टि विन्ध्यगिरि के मुद्रित शिला-लेखों में १०५ नम्बर के शिलालेख से भी होती है उसमें लिखा है:—

"अर्हद्बलिस्संघ-चतुर्विधं स: श्री कोण्डकुन्दान्वयमूलसंधम्।
कालस्वभावादिह जायमानं द्वेषेतराल्पी करणाय चक्रे ।।२६।।

इसका आशय है कि काल स्वभाव से बढ़ते हुये द्वेष को कम करने के लिए अर्हद्वलि आचार्य ने कुन्दकुन्दान्वय मूलसंघ को चार संघ में विभक्त कर दिया।

इस प्रकार यद्यपि मूल संघ पहले से ही चला आ रहा था पर मूल संघ की स्थिति को दृढ़ करने में जो प्रयत्न आचार्य कुन्द-कुन्द का रहा वह किसी का भी नहीं रहा। मूलसंघ की परम्परा में अनेक आचार्यों के चले आने पर भी कुन्दकुन्द को ही मूलसंघ का अग्रणी माना जाता रहा है जैसा कि निम्न श्लोक से प्रकट है:—

"श्रीमतो वर्द्धमानस्य वर्द्धमानस्य शासने,
श्री कोण्डकुन्दनामाभून्मूल संघाग्रिणी गणी।

अर्थात् वर्धमान जिनेन्द्र के बढ़ते हुवे शासन में मूल संघ के अग्रणी कुन्दकुन्द नाम के आचार्य हुवे।

इसके अतिरिक्त मूलसंघ के साथ कुन्द कुन्द का नाम इतना अधिक जुड़ गया है कि आगे चलकर केवल मूलसंघ लिखने से ही लोगों को संतोष नहीं हुआ किन्तु उसके साथ कुन्दकुन्दान्वय भी जोड़ना

---

१. सितांबरादौ विपरीतरूपे खिले विसंघे वितनोतु भेदम्।
तन्सेननंदि त्रिदिवेशसिंह संघेषु यस्तं मनुते कुदृक्स: ।।विन्ध्यगिरि ।१०५।।

२. अर्हद्वलि गुरूश्चक्रे संघ संघटनं परम्
सिंहसंघो नंदिसंघ: सेनसंघो महाप्रभ:
देव संघ इतिस्पष्टं स्थानस्थितीविशेषत: । नीतिसार

प्रामाणिकता के लिए आवश्यक समझा गया। कहीं कहीं तो मूल संघ के पहले कुन्दकुन्दान्वय लिखा हुआ मिलता है। जैसा कि विन्ध्यगिरी के शिलालेख नम्बर १०५ में श्री कोन्डकुन्दान्वय-मूलसंघम् लिखा है। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि यदि मूल संघ में आचार्य कुन्दकुन्द न होते तो मूलसंघ की स्थिति और प्रमाणिकता आज किसी दूसरे रूप में ही होती, और सच तो यह है कि दिगम्बर श्रमण संघ भी एक इतिहास की वस्तु होता। यह आचार्य कुन्द-कुन्द की महत्ता है कि आज दिगम्बर परम्परा जीवित है।

परवर्ती शिलालेखों पट्टावलियों और आचार्यों ने जो कुन्दकुन्द का गुणगान किया है उससे भी आचार्य कुन्दकुन्द की महत्ता का पता चलता है। चन्द्रगिरि पर्वत के शिलालेख प्रायः उनकी प्रशंसा से भरे पड़े हैं। उनमें से कुछ का दिग्दर्शन कराना अनुचित न होगा साथ ही उससे कुन्द-कुन्द के इतिहास पर भी कुछ प्रकाश पड़ेगा। शक संवत् १०८५ के शिला लेख में भगवान महावीर के बाद की परम्परा का उल्लेख करते हुये लिखा है :—

"तदन्वये भू-विदिते वभूव यः पद्मनन्दि प्रथमाभिधानः।
श्री कोंडकुन्दादि-मुनीश्वराख्य-स्तत् संयमादुद्गत चारणर्द्धिः॥

भगवान महावीर गौतम गणधर भद्रबाहु श्रुतकेवली तथा उनके शिष्य चन्द्रगुप्तकी प्रसिद्ध परम्परा में पहले जिनका नाम पद्मनन्दि था ऐसे कुन्दकुन्द नाम के मुनीश्वर हुए निर्दोप संयमके पालन करने से जिन्हें चारण ऋद्धि प्राप्त थी।

यद्यपि चन्द्रगुप्त और कुन्दकुन्द के अंतराल में अनेक समर्थ आचार्य हुये हैं फिर भी उन सब का नाम छोड़कर कुन्दकुन्द का नामांकित करना कुन्द-कुन्द के विशेष प्रभाव का द्योतक है।

शिला लेख नम्बर ४१ शक संवत् १२३५ में लिखा है :—

"श्री पदमनंदीत्यनवद्यनामा ह्याचार्य-शब्दोत्तर-कोन्डकुन्दः।
द्वितीयमासीदभिधानमुद्यच्चारित्र-संजातसुचारणर्द्धिः।

नंदिगण में पद्मनंदि जिनका निर्दोष नाम था और बाद में जो कुन्दकुन्दाचार्य कहलाये पैदा हुये समीचीन चारित्र के पालने से इन्हें चारणऋद्धि (आकाश में चार अंगुल ऊंचे चलना) प्राप्त हो गई थी।

"वन्द्यो विभुर्भुवि न-कैरिह कोन्डकुन्दः
कुन्दप्रभाप्रणयकीर्ति विभूषिताशः।
यश्चारु-चारण-कराम्बुज-चंचरीक—
श्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम्॥

शक संवत १०५० नम्बर ५४

कुन्द पुष्प के समान अपनी निर्मलकीर्ति से दिशाओं को भूषित करने वाले, चारण ऋद्धि सम्पन्न साधुओं के कर कमलों के लिये भ्रमर आचार्य कुन्दकुन्द को कौन वंदना नहीं करता ? जिन्होंने इस भरत क्षेत्र में श्रुत की प्रतिष्ठा की । इसमें कुन्दकुन्द को सर्वजन वंद्य कहकर उनकी प्रशंसा की है और उन्हें भरत क्षेत्र में श्रुत का प्रतिष्ठापक बतलाकर समर्थ आचार्य के रूप में प्रदर्शित किया है ।

"श्रीमान् कुम्भो विनीतो हलधर वसु-देवाचलो मेरु-धीरः ।
सर्वज्ञ सर्व गुप्तो महिधरधनपालौ महावीर-वीरौ ।।
इत्याद्यानेकसूरिष्वथ सुपदमुवे तेषु दीव्यत्तपस्या ।
शास्त्राधारेषु पुण्या दजनि स जगतां कोण्डकुन्दो मुनीन्द्रः ।।

कुम्भ, हलधर, वासुदेव, सर्वगुप्त, मेरुधर, धनपाल आदि अनेक आचार्य उन्नतपद के धारी हुये जो शास्त्राधार से तपस्या आदि करते थे । उनमें जगत् के भाग्योदय से कुन्द-कुन्द यतियों में श्रेष्ठ हुए । इसमें कुन्द-कुन्द को यतीन्द्र पद से पुरस्कृत किया है और उनकी उत्पत्ति को जगत के पुण्य का फल माना है ।

इसी के बाद दूसरा श्लोक इस प्रकार है :—

"रजोभिरस्पष्टतमत्वमन्तर्बाह्योऽपि संव्यञ्जयितुं यतीशः
रजः पदं भूमितलं विहाय चचारमन्ये चतुरंगुलं सः ।

यतियों में श्रेष्ठ कुन्दकुन्द अन्तरंग रज रागद्वेष और बहिरंग रज परिग्रहादि रहित थे, यही व्यक्त करने के लिये मानो रजः पूर्ण पृथ्वी को छोड़कर वे चार अंगुल ऊपर विहार करते थे । इसमें आचार्य कुन्दकुन्द की अंतरंग पवित्रता और बाह्य निर्ग्रन्थता को स्वीकार किया है ।

विन्ध्यगिरि के शिलालेख में जो शक संवत् १३५५ का है आचार्य परम्परा देते हुए कुन्द-कुन्द की इस प्रकार स्तुति की है :—

"तदीयावंशाकरतः प्रसिद्धादभूददोषा यदि रत्नमाला ।
वमौ यदन्तर्मणिवन्मुनीन्द्रस्सकुण्डकुन्दोदितचण्डदण्डः ।।"

भद्रबाहु के शिष्य आचार्य चन्द्रगुप्त की वंशरूपी खान में अनेक निर्दोष यति रूपी रत्नों की माला उत्पन्न हुई जिसके मध्य मुनीन्द्र कुन्दकुन्द मणि की तरह सुशोभित हुए जिनका दण्ड प्रायश्चित बड़ा कठोर होता था ।

यहां आचार्य चन्द्रगुप्त के बाद और कुन्द-कुन्द के पहले के आचार्यों को रत्न स्वीकार किया है और उनमें कुन्दकुन्द को मणि बतलाया है । इससे पूर्ववर्ती आचार्यों की अपेक्षा कुन्दकुन्द की श्रेष्ठता सिद्ध होती है । साथ ही यह भी लिखा है कि वे कठोर प्रायश्चित देते थे । यहां यह स्मरण रखना चाहिये कि

दिगम्बर शास्त्रों में आचार्य का एक अवपीडकत्व गुण स्वीकार किया गया है अर्थात् उसका शिष्य पर इतना प्रभुत्व होना चाहिये कि वह अपने अपराध को आचार्य के सामने उसी तरह उगल दे जिस प्रकार सिंह के सामने दूसरा हिंस्र पशु मांस उगल देता है। "उदित चण्ड दण्ड" इसी अर्थ में यहां प्रयुक्त हुआ है। इससे संघ संचालन में कुन्द-कुन्द की पूर्ण क्षमता प्रकट होती है। अभिप्राय यह है कि कुन्दकुन्द सिद्धान्त प्रतिष्ठापक ही नहीं थे, किन्तु कुशल संघ के नेता भी थे।

आगे १३२० शक संवत् के शिलालेख में श्रुत मुनि की प्रशंसा करते हुए प्रसंगवश आचार्य कुन्दकुन्द को अध्यात्म सर्वश्रेष्ठ माना है:—

"शब्दे श्री पूज्यपादः सकलविमतजित्तर्कतन्त्रे सुदेवः।
सिद्धान्ते सत्यरूपे जिनवरगदिते गौतमः कोन्डकुन्दः॥
अध्यात्मे वर्द्धमानो मनसिजमथने वारिमुक् दुःखवन्हा—
वित्येवंकीर्तिपात्रं श्रुतमुनिवदभूत भूत्रये को विपश्चित्॥

जो व्याकरण शास्त्र में आचार्य पूज्यपाद, सम्पूर्ण वादियों को जीतने वाले न्यायशास्त्र में अकलंक जिनेन्द्र महावीर द्वारा कथित सत्य सिद्धान्त के प्रतिपादन में गौतम गणधर, अध्यात्म शास्त्र में आचार्य कुन्द-कुन्द कामदेव को जीतने वाले दुःखाग्नि को शमन करने में वर्धमान तीर्थङ्कर थे ऐसे श्रुत मुनि की तरह तीन भुवन में कीर्ति का पात्र कौन हुवा है ? अर्थात् कोई नहीं।

यहां श्रुत मुनि के लिए लिखा है कि अध्यात्म के प्रतिपादन में वे कुन्दकुन्द थे। अर्थात् कुन्दकुन्द संपूर्ण जैन परम्परा में अध्यात्म के एक मात्र प्रवक्ता और प्रणेता थे। वस्तुतः उनका समयसार ग्रन्थ जिसके बारे में आगे लिखा जायेगा तथा नियमसार आदिक इसी कोटि के ग्रन्थ हैं। यहां यह कहने की आवश्यकता नहीं कि दिगम्बर परम्परा में तत्वजिज्ञासु मुमुक्षुजन आज भी कुन्द-कुन्द के इन अध्यात्म ग्रन्थों का बड़ी रुचि और श्रद्धा के साथ अधिक संख्या में स्वाध्याय करते हैं। तथा इन ग्रन्थों के आधार पर अनेक व्यक्तियों ने दिगम्बर धर्म स्वीकार किया है।

कृत्यगुरु के शक संवत् ९९७ के लेख में कुन्दकुन्द को श्रुत का पारंगत लिखा है:—

श्रुत पारगरनवघर, चतुरंगुल चारणर्द्धि सम्पन्नरस्स हृत।
कुमुत तत्व रेनि सिडर। अतर्क्य गुणजलधि कुन्दकुन्दाचार्यर्।

श्रुत के सर्वश्रेष्ठ वक्ता, पवित्र चतुरंगल अन्तरिक्ष में चलने वाले परवादियों का खन्डन करने वाले अतर्क्य गुणों के समुद्र आचार्य कुन्दकुन्द भद्रबाहु यति के बाद हुये।

इस लेख में कुन्दकुन्द के पाँच विशेषण दिये हैं। इनमें चारण ऋद्धि का विशेषण तो प्रायः सर्वत्र आया है किन्तु चार विशेषण विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। श्रुत पारण, अनवद्य, हतकुमत तत्व, अतर्क्य गुणजलधि।

पहले दो विशेषण कुन्दकुन्द के ज्ञान और चारित्र की विशेषता तथा श्रेष्ठता बतलाते हैं। तीसरे विशेषण में उन्हें वाग्मी स्वीकार किया है। चौथा विशेषण उनके प्रभावक व्यक्तित्व का द्योतक है।

आचार्य देवसेनकृत दर्शनसार में जिसका निर्माणकाल विक्रम संवत ९९० है। पद्मनन्दि आचार्य की जो कुन्दकुन्द का ही नामान्तर है इस प्रकार स्तुति की है:—

जइ पउमणंदिणा हो सीमंधरसामि दिव्वणाणेण,
न विवोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति ।

यदि पद्मनंदि आचार्य कुन्दकुन्द: सीमंधर स्वामी के दिव्य ज्ञान से बोध न देते तो श्रमण सुमार्ग को कैसे प्राप्त होते।

यह पहले लिखा जा चुका है कि कुन्दकुन्द के तत्कालीन प्रत्येक विवादस्थ विषय जैसा प्रवज्या स्त्रीमुक्ति, कवलाहार, सर्वज्ञता, साधु, आर्यिका और उत्कृष्ट श्रावक के निश्चित वेष वंद्यवंदकता रत्नत्रय की यथार्थता आदि पर अपनी सबल और असंदिग्ध लेखनी चलाई। इससे श्रमणों की विगत आस्था फिर लौट आई और उन्हें वास्तविक मार्ग के दर्शन हुए। देवसेनाचार्य ने कुन्दकुन्द की प्रशंसा में इसी तथ्य की ओर संकेत किया है। एक बार कुन्दकुन्द द्वारा मार्ग निश्चित कर देने पर फिर तो अनेक आचार्यों ने उस मार्ग को अपनाया प्रतिपादन किया। कुन्दकुन्दान्वय चलने का यही बीज है। अत: दर्शनसार का उपर्युक्त उल्लेख केवल प्रशंसा नहीं है किन्तु साधार सत्य है।

समयसार की तात्पर्याख्य वृत्ति में आचार्य जयसेन ने निम्नप्रकार से कुन्द-कुन्द के विषय में लिखा है:—

"जयउ रिसि पउमणंदि जेण महातच्च पाहुणसयेसु,
बुद्धि-सरेणु-द्धरिरो समधिओ भव्व लोयस्स,"

वे पद्मनंदि ऋषि जयवंत हों जिन्होंने महातत्व अमृत रूप पर्वत को अपनी बुद्धि रूपी वाण से उदधृत कर भव्यलोक को समर्पित किया।

इस प्रकार कुन्द कुन्द की महत्ता को प्रदर्शित करने वाले जैन शास्त्रों में अनेक उल्लेख उपलब्ध हैं ऐसा शायद ही कोई उत्कीर्ण लेख हो जिससे भगवान महावीर की परम्परा में आने वाले आचार्यों में कुन्द-कुन्द का नाम न हो। शास्त्र वाचन के प्रारम्भ में जो मंगलाचरण किया जाता है उसमें जिस शास्त्र का वाचन होता है उसकी प्रामाणिकता के लिये उस शास्त्र की मूल परंपरा सर्वज्ञ देव से जोड़ी जाती है तथा बाद में शास्त्र कर्त्ता का नाम लिया जाता है। यदि कर्त्ता का नाम अज्ञात या विस्मृत हो तो वह कुन्द कुन्द की आम्नाय में विरचित है ऐसा कहा जाता है।

शास्त्र प्रवचन करने वाले को यह आवश्यक है कि या तो वह ग्रन्थकर्त्ता के नाम की घोषणा करे या फिर उसे कुन्दकुन्द की आम्नाय से रचित होने की प्रतिज्ञा करे। दोनों बातों के अभाव में सभा

के अन्दर शास्त्र प्रवचन करने का निषेध है। इससे कुन्दकुन्द की न केवल महत्ता किन्तु सर्वज्ञ, गणधर और प्रतिगणधर के साथ उनके नाम ग्रहण की अनिवार्यता भी सिद्ध होती है यही कारण है कि उसी मंगलाचरण के अंत में जिन को मंगलस्वरूप बताया है उनमें भगवान् महावीर गौतम गणधर और जैन धर्म के साथ कुन्दकुन्द के नाम का उल्लेख है।

इस तरह हम देखते हैं कि मूल संघ दिगम्बर श्रमण परंपरा के महान् नेता थे। यही कारण है कि आज भी उन्हें भगवान् महावीर गौतम गणधर की तरह प्रतिदिन स्मरण किया जाता है।
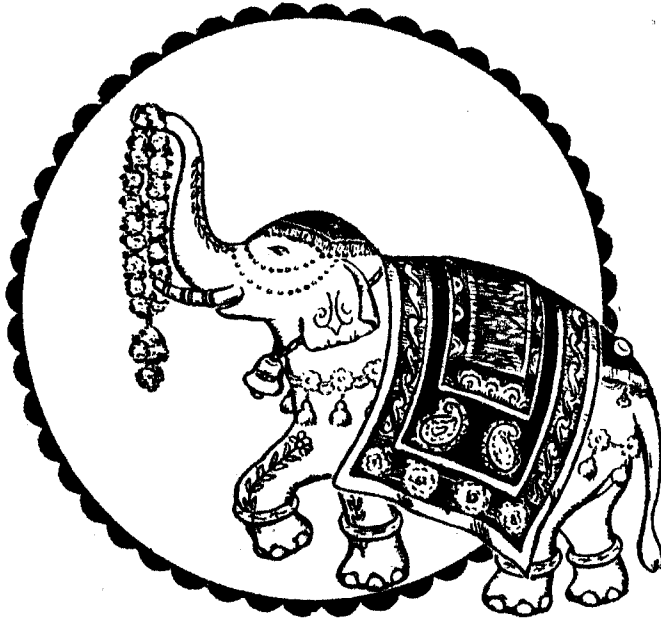
शब्द ब्रह्म की महिमा

श्री अजितवीर्य शास्त्री साहित्याचार्य आयुर्वेदाचार्य M. A. ज्योतिषतीर्थ

अर्हं बीज वर्ण शब्द ब्रह्म कहलाता है । नित्य पूजा के प्रारम्भ में यह श्लोक मिलता है "अर्हं-मित्यक्षरं ब्रह्म वाचकं परमेनिष्ठनः, सिद्धचक्रस्य सद्बीजं सर्वतः प्रणमाम्यहं ।। 'अर्हं' यह वर्ण ब्रह्म है, परमेष्ठियों का वाचक है अर्थात् परमेष्ठियों का वाचक बीज ब्रह्म बीज होता है । 'ॐ' बीज ब्रह्म है क्योंकि ॐ कार में पंच परमेष्ठी गर्भित हैं यथा,

अरहंता असरीरा: आइरिया उवज्झायया मुणिणो ।
पढमक्खरणिप्पण्णो ॐ कारो पंच परमेट्ठी ।

अरहंत का अ, अशरीर यानी सिद्धों का अ, आचार्य का आ, उपाध्याय का उ इस प्रकार ओ हुआ—मुनियों का आधा म् मिलकर ॐ बनता है । इस प्रकार ॐ कार में पंच परमेष्ठी आ जाते हैं—अतः ॐ कार ब्रह्म बीज है । इस प्रकार 'ॐ अर्हं' ये ब्रह्म बीज हैं । ये शब्द ब्रह्म के मूल आधार हैं ।

'अर्हं' शब्द में वर्ण माला के सभी अक्षर गर्भित हो जाते हैं ऋषि मंडल स्तोत्र के प्रारंभ में 'अर्हं' बीज का अर्थ लिखा गया है ।

"आद्यन्त-वर्ण-प्रविवृद्ध-शोभं, सर्वोत्तमव्यापक-मव्ययंच ।
वरं-वृहद्भानुशिखावदातं-सनादविंदु शुभरेखयाढ्यं ।।

अर्थ—वर्ण माला के आदि अ और अंत का ह इन दो अक्षरों को लेना चाहिये. अग्नि की ज्वाला के समान दैदीप्यमान 'र्' को हकार के ऊपर लिखकर अर्ध चन्द्र विंदु लगाना चाहिये । इस प्रकार अर्हं बीज निष्पन्न होता है 'यह जिनेश्वर का बीज है' यह बीज सर्वोत्तम है व्यापक, अव्यय है पापों की शान्ति के लिये इनका ध्यान करना चाहिये । निरन्तर ध्यान करने से साधक अरहंत का प्रतिबिम्ब अपने मस्तक पर देख लेता है तब उस साधक की साधना पूर्ण हो जाती है । उसको इस प्रकार ध्यान करना चाहिये—

ऊर्जस्वलं हव्यभुजार्चिषा वाक्रान्तं नितातं सकलं सुकान्तं ।
हृदम्बुजे तत्पदमाशु नौमि मनो मलोन्मूलनबद्धकक्षम् ।।

अर्थ —'अर्हं' इस पद को हृद कमल की कर्णिका में लिख कर उसके आठ दल बनाना चाहिये । प्रत्येक दल में क्रमशः "अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः (१) क ख ग घ

क (२) च छ ज झ ञ (३) ट ठ ड ढ ण (४) त थ द ध न (५) प फ ब भ म (६) य र ल व (७) श ष स ह (८) लिखना चाहिये—यहां पर इतना और समझना चाहिये प्रत्येक वर्ग से एक बीजाक्षर बन जाता है यथा—षोडष स्वरों से ह पिंड बीज, कवर्ग से म पिंड बीज, चवर्ग से म पिंड बीज, टवर्ग से 'र' पिंड बीज, तवर्ग से घ पिंड बीज, पवर्ग से झ पिंड बीज, अन्तस्थों से स पिंड बीज, और ऊष्माक्षरों से 'ख' पिंड बीज बनता है ।। ये आठ पिंड बीज पिंड बीजों में मुख्य हैं इनकी शक्ति अप्रतिहत है। ये बीज डाकिनी शाकिनी यक्ष राक्षस, भूत-प्रेत पिशाच आदि दुष्टात्माओं के निग्रह करने में पूर्ण समर्थ हैं। ये रोग शोक के विघातक हैं तथा अणिमा महिमा गरिमा आदि अष्ट सिद्धियों के दाता और त्रिभुवन को वश्य करने वाले हैं। ये रजो गुण, सत्वगुण, तथा तम गुण वाले हैं। जिस प्रकार इनका ध्यान किया जाय वैसा ये फल प्रदान करते हैं। अहं बीज में ब्रह्मा विष्णु महादेव स्वरूप है। इन बीजों के संमिश्रण से अनेक बीज बनते हैं जो कि सभी कार्य करने में समर्थ होते हैं। ह्रीं, क्लीं ऐं", श्री आदि बीज भी मुख्य हैं इनका ज्ञान मंत्र शास्त्र के व्याकरण से करना चाहिये। जब ये बीज वर्ण 'मन्त्र्यन्ते गुप्तं भाषते उपासकैः, इति मंत्राः पृष्ठ १३३ जयसेन प्रतिष्ठा पाठ। तब इनको मन्त्र कहा जाता है। मन्त्री या साधक इन वर्णों की सहायता से सभी कार्यों को साध लेता है। संसार में अप्रतिहत शक्ति वाला साधक होता है। साधक बलशाली हो जाता है और अन्त में मुक्ति को प्राप्त करते हैं" मन्त्रों की सिद्धि के लिये साधक को विशेष नियम पालन करने पड़ते हैं। साधक के अनुसार की साधना होती है। अतः साधक के निम्नलिखित साधन के लक्षण होने चाहिये।

साधक के लक्षण

(१) निर्जितमदनाटोपः प्रशमितकोपोविमुक्तविकथालापः ।।
देव्यार्चनानु-रक्तो जिन-पदभक्तो भवेरमन्त्री ।।

अर्थ—जिसने कामदेव को जीत लिया हो, शान्त क्रोध वाला, विकथाओं का त्यागी, जिनेन्द्र के चरणों का भक्त, देवी की पूजा करने में सदा अनुरक्त वही मन्त्र का साधक हो सकता है (भै. प. क.)

(२) कृतस्नानेन सद्ब्रह्म-चारिणा चैक-भोजिना ।
साधकेन सदा भाव्यं विजने भूमिशायिना ।

(ह्रीकार कल्प) साधक को स्नान कर मन्त्र का साधन करना चाहिये उसको पूर्ण ब्रह्मचारी, तथा एक बार भोजन करना चाहिये और एकान्त में भूमि शयन करना चाहिये।

स्वल्पभुक् स्वल्पकोपश्च स्वल्पनिद्रो महोद्यमी ।
निर्मायो निर्मदो दक्षः प्रभु-मारद्धुमर्हति ।।

अर्थ—थोड़ा भोजन करने वाला, अल्पक्रोध वाला, अल्प निद्रावाला बहुत परिश्रमी, माया से रहित, अभिमान रहित चतुर पुरुष ही श्री पार्श्व प्रभु की आराधना कर सकता है। मन्त्रों की साधना में

इन्द्रियों की विजय अत्यन्त आवश्यक है। आलस्य विहीन, बीजों का ठीक ठीक उच्चारण करने वाला तथा देव शास्त्र गुरु का श्रद्धालु ही मन्त्रों को सिद्ध कर सकता है। यदि इन लक्षणों से हीन पुरुष मन्त्रों की साधना करेगा तो विद्या तथा मन्त्रों की सिद्धि उसे नहीं होगी प्रत्युत उसको अनर्थ की प्राप्ति होगी। मन्त्रों की सिद्धि में विपरीत क्रिया करने वाले लोक में पागल तथा विक्षिप्त चित्त देखे जाते हैं। शब्द ब्रह्म का स्वरूप समझ कर अपनी आदतों पर पूर्ण नियन्त्रण रखने वाला ही साधक होता है। विशेष मन्त्रों की साधना में विशेष भोजन आवश्यक होता है जितना भोजन शरीर में आलस्य न लावे उतना ही पर्याप्त है। आलस्य आने से निद्रा, निद्रा से अशुद्ध उच्चारण, अशुद्ध उच्चारण से बीजाक्षरों का उल्टा फल होता है। मन्त्र एक प्रकार का शस्त्र है जो कि साधक रक्षा तथा उन्नति के लिये मिलता है। यदि मन्त्र का साधक विवेकी नहीं होगा तो मन्त्र साधक को भी नष्ट कर सकता है। जिस प्रकार ताम्र पात्र में दूध कडुआ हो जाता है उसी प्रकार कुपात्र में दिया गया मन्त्र कुफल देता है। अतः पात्र को बुद्धिमान् चतुर भक्तिमान्, विवेकी, अष्ट कर्मों के स्थान को चुनने में प्रवीण होना चाहिये मामूली बातों में विद्या का प्रयोग करने से विद्या का दुरुपयोग होता है जिस प्रकार आत्मरक्षा के लिये प्रयुक्त होने वाली पिस्तोल क्रोध में अपना घात कर सकती है। उसी प्रकार अपनी विद्या का प्रयोग भी उचित कार्य में करे। शास्त्र में सब प्रकार के मन्त्र हैं। उपयुक्त समय देखकर उनका प्रयोग करना चाहिये। मन्त्रों का प्रयोग धर्म की थिरता, धर्म प्रभावना, कष्ट निवारण, रोग निवारण, भूतोच्चाटन आदि कार्यों में करना चाहिये। दुःखितों के दुःख निवारण में मन्त्रों का प्रयोग करना एक सुन्दरतम कार्य है। मन्त्रों को ग्रहण करते समय राज्य पद प्राप्ति से भी ज्यादा अपने को समझना चाहिये। सिद्धचक्र मन्त्र और यन्त्रों की कितनी पूज्यता दुर्लभता शास्त्र में बतलाई गई है उनकी अनर्घता निम्न श्लोकों से मालूम पड़ती है।

राज्यं देयं, शिरो देयं देयं सर्वसंपत्तिरुत्तमा।
चक्रवर्तिपदस्थापि न देयं सिद्धचक्रकं॥
विनीताय सु शान्ताय ब्रह्मचर्य-युताय च।
निज-शिष्य-विशिष्टाय देयं तथापि चावृतं॥
यदि निःशीलताभाजे ह्यविनीताय दीयते।
तदापि मृत्युमाप्नोति—निरये घोरवेदनाम्॥ जप. प्र. मृ. १२६।

अर्थ—राज्य दे देना, मस्तक भी दे देना और चक्रवर्ती की सम्पदा भी दे देनी, परन्तु वृहत्सिद्ध चक्रमंत्र तथा मन्त्र नहीं देना। जो अपना शिष्य है अर विनयवान है अर शान्त परिणामी है और ब्रह्मचर्य संयुक्त है उसको गुप्त तौर से प्रतिज्ञा कराके देना। जो कदाचित् अविनीत कुशीलवान को दे देवे तो देने वाली की अपमृत्यु हो और वह नरक में घोर वेदना को प्राप्त करता है। अतः यंत्र मंत्रों को देते तथा ग्रहण करते समय बहुत सावधानी बरतनी चाहिये।

मन्त्रों की सिद्धि किस प्रकार करनी चाहिये

१—योगोपदेश दैवत सकलीकरणोपचारजपहोमान् ।
दिक्कालादीन् मंडलमक्षर–संज्ञाश्च विज्ञेया: ।।

अर्थ—योग, उपदेश, देवता, सकलीकरण, उपचार, जप, होम और जप के साधक दिशा काल आदि व पृथ्वी आदि मंडल शांति आदि संज्ञा, मंत्र के साधन के समय विचार करके मंत्र की सिद्धि करनी चाहिये ।

२—दिक्कालमुद्रासनपल्लवानां भेदं परिज्ञाय जपेत्समंत्री ।
न चान्यथा सिद्धयति तस्य मन्त्र: कुर्वन् सदा तिष्ठतु जाप्यहोम: ।।

अर्थ—दिशा, काल, मुद्रा, आसन, पल्लवों का भेद जानकर ही मंत्र की साधना करनी चाहिये । अन्यथा उसका मंत्र सिद्ध नहीं होता; सदा जाप होम वह करता रहे ।

३—परिज्ञायाशकं पूर्वं साध्यसाधकयोरपि ।
मंत्रं निवेदयेत्प्राज्ञ:—व्यर्थं तत्फलमन्यथा ।।

अर्थ—बुद्धिमान् पुरुष मंत्र और मंत्री के अंशों को जानकर ही मंत्र को बतलावे अन्यथा वह मंत्र व्यर्थ होता है ।

योग का स्वरूप

साधकाख्यादिमंत्रादि वर्णौ भतारयोरपि ।
तद्राश्योश्च तयोश्चानुकूल्यं योग इति स्मृत: ।।१।।

साधक अपने नाम के प्रथम अक्षर से नक्षत्र तारा की अनुकूलता मंत्र के आदि अक्षर से मिलावे यदि विरोध न हो तो समझना चाहिए कि मन्त्र सिद्ध हो जायगा ।

साध्यसाधकयोर्नामानुस्वारं व्यंजनं स्वरम्
प्रथक् कृत्वा क्रमात् स्थाप्यं मूर्ध्वाधो प्रविभागत: ।।२।।

अर्थ-मन्त्र-और मन्त्री के नाम के अनुस्वार व्यंजन और स्वरों को प्रथक् प्रथक् करके ऊपर मंत्र के और नीचे मन्त्री के नाम लिखे ।

साध्यनामाक्षरं गन्यं साध्यकाह्लयवर्णत: ।
नपुंसकं परित्यज्य कुर्यात् तद्वेदमाजितम् ।।३।।

मन्त्री के नाम के अक्षरों से मन्त्र के नाम के अक्षरों को ऋ ॠ ऌ ॡ को छोड़ गिने । और उनको जोड़कर चार का भाग दे ।

आयो भागोद्घटितं तं चाद्यं स्थापयेत्क्रमाद्धीमान् ।।
एक द्वि चतुर्णां सिद्धं साध्यं सुसिद्धमरिम् ।।४।।

अर्थ—फिर भागफल में भाग देकर निकले हुए शेष को बुद्धिमान् आदि में एक पंक्ति में लिखे। यदि वह एक हो तो सिद्ध, दो हों तो साध्य, तीन हो तो सुसिद्ध और चार अर्थात् शून्य हो तो शत्रु जानना चाहिये।

सिद्ध-सुसिद्धं ग्राह्यं साध्यं शत्रुं च वर्णयेत्धीमान् ।
सिद्ध-सुसिद्धं फलदं, विफलं साध्यै-रिवापाये ॥५॥

इनमें से बुद्धिमान् सिद्ध और सुसिद्ध को ग्रहण करले और साध्य शत्रु को छोड़ देवे। क्योंकि सिद्ध, सुसिद्ध फल को देते हैं तथा साध्य और शत्रु हानि करते हैं।

फलदं कतिपय दिवसैः सिद्धं चेत्साध्यमपि दिनै बहुभिः ।
झटिति फलदं सुसिद्धं प्राणार्थविनाशनः शत्रुः ॥६॥

सिद्ध कुछ दिनों में ही सिद्ध हो जाता है। साध्य बहुत दिनों में सिद्ध होता है। सुसिद्ध शीघ्र फल देता है। शत्रु प्राण और प्रयोजन दोनों का ही नाश करता है॥

उपदेश

मन्त्रो गुरूपदिष्टः स्यात् सफलस्तदिह पुस्तके ।
प्रकटं लिखितोऽपि गुरोरेव ग्राह्यं न च स्वयम् ॥

मन्त्र गुरु से उपदिष्ट होता है। मन्त्र पुस्तक में लिखे रहते हैं तो भी मन्त्र विधि जानने वाले गुरु से अवश्य विधिवत् लेना चाहिये जिससे कि किसी प्रकार का सन्देह न रहे। इससे मन्त्रों के साधन में सभी बाधायें समाप्त हो जाती हैं। क्योंकि गुरु ने उस मन्त्र की क्रियात्मक साधना की है। वह सब क्रियायें शिष्य के सामने करके उसको भलीभांति सिखला सकता है। संदेह का निवारण, बीजाक्षरों का उच्चारण, दीपन पल्लव सम्पुट रोध ग्रथन, विदर्भण आदि सभी मन्त्र शास्त्र की क्रियाओं को गुरुमुख से सीखना चाहिये।

मन्त्र ग्रहण करते समय गुरु शिष्य से इस प्रकार कहे—

भवतोऽस्माभिः दत्तोमंत्रोऽयं गुरुपरंपरायातः
साक्षीकृत्य हुताशनरविशशितारामम्बरादिगणान् ॥

तुमको मैं यह गुरु परम्परा से चला हुआ मन्त्र अग्नि, सूर्य, चंद्र, नक्षत्र और आकाश की साक्षी पूर्वक देता हूं

भवताऽपि न दातव्यः सम्यक्त्वविवर्जिताय पुरुषाय ।
किन्तु गुरु-देवसमये भक्तिमते गुणसमेताय ॥

तुम भी इसको सम्यक्त्व से रहित पुरुष को न देना। किन्तु देव शास्त्र और गुरु में भक्ति रखने वाले गुणी पुरुष को देना ।।

लोभादथवा स्नेहाद्दास्यसि चेदन्यसमयभक्ताय ।
बालस्त्रीमुनिगोवधपापं यत् तत्भविष्यतीति ।।

यदि तुम लोभ या प्रेम से अन्य मतावलम्बी को दोगे तो तुमको बाल हत्या, स्त्री हत्या, मुनि हत्या और गो हत्या का पाप लगेगा ।।

इत्येवं श्रावयित्वा तं सन्निधौ गुरुदेवयोः
मंत्री समर्पयेत् मंत्रं, मंत्र–साधनयोगतः

मन्त्री शिष्य को इस प्रकार गुरु और देवता के सामने शपथ देकर मन्त्र साधन के विधान के अनुसार मन्त्र देदे ।। इस प्रकार से ग्रहण किया गया मन्त्र शीघ्र सिद्ध होता है। शास्त्रों में एक महामन्त्र का मिलना राज्य संपदा के मिलने से भी ज्यादा उत्कृष्ट कहा गया है। मन्त्र के मिलने से मनुष्य जन्म सार्थक होता है उसका जीवन लोकोत्तर हो जाता है।

दैवत

शुद्ध सम्यग्दृष्टि चौवीस तीर्थंकरो में से किसी का भी जप करे तो उसके सेवक यक्ष या यक्षिणी उस साधने वाले की मनोवांछित सिद्धि के सहायक होते हैं ।।

मन्त्रों में तीन देवता प्रधान होते हैं। प्रथम अरहंत देव, ऋद्धिधारी मुनि, मन्त्र का अधिष्ठाता देव। भक्तामर, कल्याणमन्दिर आदि स्तुति मन्त्रों में प्रथम भगवान् ऋषभ देव का स्तुति परक काव्य, गणधर के ऋद्धिधारियों की ऋद्धि, अन्त में मन्त्र के अधिष्ठाता देव का मन्त्र। दृष्टान्त के लिये भक्तामर स्तोत्र के मन्त्रों को ही लेना चाहिए। इन मन्त्रों का जाप स्तोत्र, ऋद्धि तथा मन्त्र सहित होता है।

ऋद्धि "ॐ ह्रीं अर्हं णमो अरिहंताणं, णमो जिणाणं, ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः अ सि आ उ सा अप्रतिचक्रे फट् विचक्राय झ्रौं झ्रौं स्वाहा ।।"

मन्त्र-ह्रां-ह्रीं श्रीं क्लीं ब्लूं क्रों ॐ ह्रीं नमः ।। यह मन्त्र भक्तामर स्तोत्र के प्रथम काव्य का है। इसकी सिद्धि के लिये स्तोत्र, ऋद्धि और मन्त्र-इन तीनों को मिलाकर जाप करना चाहिये इस यन्त्र का अधिष्ठाता देव-चक्रेश्वरी देवी है। जैसा कि अप्रतिचक्रे फट् विचक्राय" इन पदों से ज्ञात होता है। इस देवताधिकार में मन्त्र के अधिष्ठाता देव का ज्ञान होना चाहिये। कि वह 'अ सि आ, उ सा, और ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः इन बीजाक्षरों से युक्त है। इस प्रकार उसकी पूजा तथा ध्यान करना चाहिए। गणधरवलय यन्त्र का मूल मन्त्र यह है। ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः अ सि आ उ सा अप्रतिचक्रे फट् विचक्राय झ्रौं झ्रौं स्वाहा।

इस मन्त्र में अप्रतिचक्रे फट् विचक्राय यह चक्रेश्वरी देवी के वास्ते आया है। पंच परमेष्ठी की भक्ति में सम्बद्ध देवता चक्रेश्वरी की पूजा आदि करने में सम्यक्दृष्टि को सम्यक् दर्शन के विधान का दोष नहीं लगता। और भी ज्वालामालिनी स्तोत्र में लिखा है—

चंद्रप्रभजिणनाथं चन्द्रप्रभ इन्द्रणंदि महिमानं।
भक्त्या किरीटि मध्ये विभ्राणां स्वोत्तमाङ्गेन।

इन्द्रों के द्वारा पूजनीय भगवान् चन्द्रप्रभु की मूर्ति को अपने मस्तक में मुकुट के भीतर धारण करने वाली ज्वालामालिनी साधक की रक्षा करे। अतः जिस देवता का मन्त्र हो उस देवता की पूजा भक्ति करने से विद्या तथा मंत्र सिद्ध होते हैं।

सकलीकरण

सिसाधयिषुणा विद्यामविघ्नेष्ट सुसिद्धये।
यत्स्वस्य क्रियते रक्षा सा भवेत् सकलीक्रिया॥

विद्या साधने की इच्छा वाले को निर्विघ्न इष्ट कार्य की सिद्धि के लिये जो अपनी रक्षा करना है वह सकलीकरण क्रिया है।

स्नात्वा पूर्वं मन्त्री प्रक्षालितरक्तवस्त्रपरिधानः।
सम्मार्जितप्रदेशे स्थित्वा सकलीक्रियां कुर्यात्॥

मंत्री पहिले स्नान करके धुले हुए लाल वस्त्र पहिनकर लिपे पुते साफ स्थान में बैठकर सकलीकरण क्रिया करे।

ह्रां वामकरांगुष्ठे तर्जन्यां ह्रीं च मध्यमायां ह्रूं।
ह्रौं पुनरनामिकायां कनिष्ठकायां च ह्रः स्यात्॥

बांए हाथ के अंगूठे में ह्रां तर्जनी में ह्रीं मध्यमा में ह्रूं अनामिका में ह्रौं और कनिष्ठा में ह्रः बीज को स्थापित करे।

पंचनमस्कारपदैः प्रत्येकं प्रणवपूर्वहोमान्तैः।
पूर्वोक्तपंच-शून्यैः परमेष्ठि पदाग्रविन्यस्तैः॥
शीर्षं वदनं हृदयं नाभिं पादौ च रक्ष रक्षेत्येवम्।
कुर्यादेतैः मंत्री प्रतिदिवसं स्वाङ्गविन्यासं॥
ॐ णमो अरहंताणं ह्रां मम शीर्षं रक्ष रक्ष स्वाहा।
ॐ णमो सिद्धाणं ह्रीं मम वदनं रक्ष रक्ष स्वाहा।

ॐ णमो आइरियाणं ह्रूं मम हृदयं रक्ष रक्ष स्वाहा ।

ॐ णमो उवज्झायाणं ह्रौं मम नाभिं रक्ष रक्ष स्वाहा

ॐ णमो लोए सव्व साहूणं ह्रः मम पादौ रक्ष रक्ष स्वाहा ।।

द्वि चतुःषष्ठ चतुर्दश कलाभिरन्त्य स्वरेण विंदु प्रतैः ।

कुटैर्दिग्बिन्यस्तैः दिशासु दिग्बंधनं कुर्यात् ।।

ॐ आं ईं ऊं ओं अः क्षां क्षीं क्षूं क्षौं क्षः पूर्वादिदिग्बंधनं करोमि इन मन्त्रों से दश दिशाओं का बंधन करे ।

हेममयं प्राकारं चतुरस्त्रं चिंतयेत् समुत्तुंगं ।

विंशति हस्त्वं मन्त्री सर्वस्वरसंपुटैः शून्यैः ।।

इसके बाद मन्त्री ह हा हि ही हु हू ह्र ह्रृ ह्ल ह्लृ हे है हो हौ हं हः इन बीजों से स्वर्णमय बड़े ऊंचे बीस हाथ चौकोर प्राकार का चिंतवन करे ।

सर्वस्वरसंपूर्णैः कूटैरपि खातिका कृतिंध्यायेत् ।।

निर्मलजलपरिपूर्णां अतिभीषणजलचराकीर्णां ।।

तदनन्तर क्ष क्षा क्षि क्षी क्षु क्षू क्षृ क्षॄ क्ष्लृ क्ष्लॄ क्षे क्षै क्षो क्षौ क्षं क्षः बीजों से निर्मल जल से परिपूर्ण भयानक जलचरों से भरी हुई खाई के आकार का ध्यान करे ।

ज्वलदोङ्काररकारज्लालादग्धं स्वमग्नि-पुरसंस्थं ।

ध्यात्वाऽमृत मंत्रेण स्नानं पश्चात् करोत्वमुना ।।

तदनंतर अग्नि मण्डल में बैठे हुए अपने आपको जलते हुये ॐ और रकार की लपटों से जला हुआ ध्यान करके ॐ अमृते अमृतोद्भवे अमृतं वर्षणि अमृतं स्त्रावय स्त्रावय सं सं क्लीं क्लीं ब्लूं ब्लूं द्रां द्रां द्रीं द्रावय द्रावय सं हं झ्वीं क्ष्वीं हंसः ह्रीं स्वाहा इस अमृत मन्त्र से मन्त्र स्नान करे ।

निजोत्तमाङ्गामर-भूधराग्रे संस्नापितः पार्श्व-जिनेन्द्रचंद्रः

क्षीराब्धिदुग्धेन सुरेन्द्रवृंदैः संचितयेत् तज्जलशुद्धमंत्रं ।

अपने मस्तक को सुमेरु पर्वत की पाण्डुक शिला की कल्पना करे । उस पर देवताओं के समूह के द्वारा क्षीरसागर के दुग्ध के समान जल से स्नान कराये हुए श्री पार्श्वनाथ भगवान् के अभिषेक जल से अपने को शुद्ध शरीर वाला कल्पना करे ।

शुद्धेनामृतमंत्रेण वेष्ट्यं तच्छुद्धियंत्रकं ।

न्यस्यं शुद्धजले स्नायाद्येनामृतपदं स्मरेत् ।।

शुद्ध जल से अमृत मन्त्र को पढ़कर मन्त्र स्नान करे।

एवं स्नानपवित्राङ्गो धौतवस्त्रपरिग्रहः।
स्थित्वा संमार्जितैकान्तप्रदेशे देशसंयमी ॥

इस प्रकार जल स्नान मंत्र स्नान करके शुद्ध धुले हुए वस्त्र पहन शुद्ध एकांत स्नान में ब्रह्मचर्यादि पांच श्रावक व्रतों को पालता हुआ भूमि शुद्ध करके पद्मासन से बैठे।—

परमात्मानमात्मानं प्राति-हार्यै-रलंकृतं।
ध्यायेत् स्वापादयुग्मावं नम्र-मूर्धा-चराचरम् ॥

साधक इस प्रकार से विचार करे कि अपना आत्मा ही अरहंत परमात्मा है ऐसी पृथ्वी धारणा आदि पांच धारणाओं से अपने को शुद्ध चिंतवन करे।

इत्थं संकीर्तितामेनां विधाय सकलीक्रियां।
पंचोपचारविधिना यजेन्मन्त्राधिदेवतां ॥

इस प्रकार सकली क्रिया करके पंचोपचार विधि से मन्त्र के अधिष्ठाता देवता की पूजा करे।

पंच उपचार

पंचाह्वानन स्थापन साक्षात्करणार्चना विसर्गाः स्युः।
मंत्राधिदेवतानामुपचाराः कीर्तितास्तज्ज्ञैः ॥

मंत्र स्वामी देवता के पांच उपचार इस प्रकार हैं—

आह्वानन,स्थापन, साक्षात्करण, अष्ट द्रव्य से पूजन, विसर्जन।

आह्वाननं पूरकेण स्यात् रेचकेण विसर्जनं।
शेषकर्माणि योज्यानि कुंभकेन प्रयत्नतः ॥

पूरक से आह्वानन, रेचक से विसर्जन, और बाकी के कर्म कुंभक प्राणायाम से करे।

पर्यंकासनसंस्थः समीपतरवर्तिपूजनद्रव्यः।
दिग्वनितानां तिलकं स्वस्य च कुर्यात्सुचंदनतः ॥

पर्यङ्कासन से बैठकर अपने समीप में पूजन द्रव्य रखकर चन्दन से अपना तिलक करे।

जप

सर्वेषामपि मंत्राणां मनसा जिह्वया शनैः।
उच्चैरपि जपेद् भक्त्या विहितो मन्यते क्रमात् ॥

मन्त्रों को मन से जीभ से धीरे धीरे बोलता हुआ जपे यदि जोर जपे तो भक्ति से जपे।

जपादविकलो मन्त्रः स्वशक्ति लभते परां ।
होमार्चनादिभिस्तस्य तृप्तास्यादधिदेवता ॥

जप से मन्त्र अपनी शक्ति को प्राप्त होता है और होम पूजा आदि से उसका देवता तृप्त होता है ।

माला मंत्र जोर से भक्ति से पढ़ना चाहिये तथा मंत्र धीरे जाप करना चाहिये । मंत्रों की संख्या मंत्रों की सिद्धि में कही जाती है । मंत्र कम से कम सवा लाख जपना चाहिये । कुछ मंत्र तीन लाख, सात लाख तथा दस लाख तक भी जपे जाते हैं । साधक को बीजाक्षर शुद्ध पढ़ने चाहिये, मंत्र पूर्ण ही जपना चाहिये । जाप को अनवच्छिन्न विधान के अनुसार एक आसन से जपना चाहिये आसन, चोकी आदि सभी द्रव्य एक ही स्थान पर रहने चाहिये । जाप के आसन का, चौकी, पाटा आदि का बदलना मंत्र की शक्ति को समाप्त करता है । प्रथम कार्य का संकल्प पंचरत्न तथा सुवर्णरजत आदि को रख कर अमुक पुरुष अमुक कार्य के लिये अमुक मंत्र अमुक संख्या में करता हूं । फिर मंत्र का जाप करे । मंत्रों में क्षेत्रपालार्चन तथा दिग्पालार्चन भी आवश्यक है । शास्त्रों को देखकर उनको भी तृप्त करना चाहिये क्योंकि उनके मंत्रों से सभी विघ्न शांत होते हैं । साधक को जाप करते समय माला, अंगुली आसन आदि का ज्ञान होना भी आवश्यक है ।

स्फटिकप्रवालमुद्रा चामीकर पुत्रजीवकृतमणिभिः ।
अष्टोत्तरशतजाप्यं शान्त्याद्यर्थे करोतु बुधः ॥

शांति कर्म में स्फटिक मणि की माला, वशीकरण में प्रवाल (मूंगा) मणि की, पौष्टिक कर्म में मोती की, स्तंभन कर्म में स्वर्ण की तथा शेष कर्मों में पुत्र जीवमणि की माला (काली) प्रयोग करना चाहिये ।

मोक्षाभिचारशांतक-वश्याकर्षेषु योजयेत् क्रमशः ।
अंगुष्ठाद्यंगुलिका मणयः अंगुष्ठेन चाल्यंते ॥

उपरोक्त मालाओं को मोक्षाभिलाषी को अंगूठे से, अभिचार कर्म में तर्जनी, शांतिक पौष्टिक कर्म में मध्यमा, वशीकरण में अनामिका, आकर्षण कर्म में कनिष्ठा से अंगूठे को लगाकर करना चाहिये । जप के बाद होम करना चाहिये ।

एकस्तावद्वह्निः पुनरपि पवनाहतो न किं कुर्यात् ।
एको मंत्रः पुनरपि जपहोमयुतस्य किं साध्यम् ॥

एक तो स्वयं अग्नि फिर जो पवन (हवा) की सहायता मिल जाय तो क्या नहीं कर सकती ? सब कुछ कर सकती है इसीसे पहिले तो मंत्र फिर भी जपहोम सहित हो तो क्या नहीं कर सकता सब कुछ कर सकता है ।

होमादिषु संख्या स्यात् दशभागाः मूलमंत्रसंख्यायाः ।
अंगादेरपि संख्या मंत्रस्य तथैव बोद्धव्या ।।

अर्थ—मूल मंत्र की संख्या से दशवां भाग होम करते समय आहूति मंत्र की संख्या है अर्थात् हजार बार मंत्र जपा हो तो सौ बार उसी मंत्र को होम के समय बोले इस प्रकार आहूति मंत्र की संख्या का हिसाब लगाना चाहिये । जप पूरा होने के बाद होम करे ।

चतुरस्त्रं त्रिकोणं च वृत्तं चेति त्रिधाविदुः ।
कुंडानि गार्हपत्याद्याः पूज्यंते यत्र पावकाः ।।
होम कुंड तीन प्रकार के होते हैं, चतुष्कोण, त्रिकोण, गोल ।
मारणाकृष्टिवश्येषु त्र्यस्त्रं कुंडं प्रशस्यते ।
विद्वेषोच्चाटयोर्वृत्तमन्येषुचतुरस्त्रकं ।।

मारण, आकर्षण, वश्यकर्म इन तीनों में तिकोना कुंड होता है । विद्वेषण उच्चाटन इन दो कर्मों में गोल कुंड, शांतिक पौष्टिक स्तंभन कर्म में चौकोर कुंड कहा गया है ।

तेषां हस्तावगाढे च विस्तारे च प्रमा मता ।
प्रथक् प्रथक् स्मृतास्तिस्त्रो मेखलास्त्रिषु मंत्रिभिः ।।
आरभ्य तासामाद्यायाः विस्तृता उच्छ्रुतावपि ।
अंगुलानि प्रमा पंच चत्वारि त्रीणि च क्रमात् ।।

उन होम कुंडों की गहराई चौड़ाई एक हाथ प्रमाण कही है और उसकी तीन कटनी कही गई हैं । पहिली कटनी का विस्तार व ऊंचाई पांच अंगुल दूसरी का चार व तीसरी का तीन अंगुल प्रमाण है ।

सकलीक्रियाविशुद्धः परिधाय क्षौममक्षतं नूनं ।
क्षौममयमुत्तरीयं बिभ्राणो ब्रह्म–सूत्रधरः ।।

होम क्रिया करने वाला सकली क्रिया से शुद्ध मन करके नवीन धोती दुपट्टा पहर जनेऊ धारण कर पद्मासन लगाकर इष्ट सिद्धि के लिये होम क्रिया करे । होम क्रिया पंचकलश और पंचदीपक तथा अखंड दीपकी स्थापना कर करनी चाहिये । विशेष होम विधि शास्त्र से जानना चाहिये ।

पलाशस्य समिन्मुख्या स्यादमुख्याः पयस्तरोः ।
विधानमेतत्संग्राह्यं विशेषवचनादृते ।।

होम में पलाश (ढाक) की लकड़ी मुख्य मानी जाती है । यदि वह न मिले तो दूध वाले वृक्ष की सूखी लकड़ी लेनी चाहिए । यह सामान्य रीति है । विशेष कार्य के लिए विशेष शास्त्र का वचन देखना चाहियें ।

प्रस्थः क्षीरस्य मानं स्यात् घृतस्य च तथा भवेत् ।
होम द्रव्यंविभिन्नं च मानं प्रस्थद्वयं भवेत् ।।

होम में एक सेर दूध एक सेर घी तथा अष्टाङ्ग धूप आदि में मिली हुई होम द्रव्य दो सेर होना चाहिये ।

वधविद्वेषोच्चाटेषु अष्टौ पुष्पौ मता नव शांतौ ।
आकृष्टिवशीकृत्यो द्वादश समिधः प्रमांगुलयः ।

वध विद्वेषण उच्चाटन कर्म में आठ अंगुल लम्बी, पुष्टि कर्म में नौ अंगुल लम्बी, शांति, आकर्षण, वशीकरण स्तंभन में बारह अंगुल लम्बी लकड़ी होनी चाहिये ।

अशुभैः होमं कुर्यात् क्रुद्धमनाः क्षुद्रकर्म सर्वमपि ।
कर्म शुभं विदधीत प्रसन्नचित्तः शुभैः द्रव्यैः ।।

अशुभ खोटे कार्य मारणादि में क्रोध सहित अशुभ द्रव्यों से होम करे और शुभ कार्य शांतिक आदि में उत्तम सामिग्री से प्रसन्न चित्त होकर होम करे ।

वार्गंधाक्षतपुष्पौघैः दीपधुपफलैः क्रमात्
स्वं स्वं मंत्रं जपेन्मन्त्री सप्तार्चिषमथार्चयेत् ।।

जल चंदन आदि आठ द्रव्यों से महामंत्र जपता हुआ अग्नि की पूजा करे ।

तस्मिन् प्रथमं त्रिमधुरयुक्तामेकां समिधं स्वहस्तेन ।
मंत्री जुहुयादाज्यैश्चाहुतिमेकां स्तवेन ततः ।।

प्रथम दूध घी गुड़ सहित एक लकड़ी को अपने हाथ से होम कुंड में रखे फिर अग्नि संधुक्षण-मंत्र द्वारा अग्नि को प्रज्वलित करे ।

तत्वावृतं नाम विलिख्य पत्रे तद् होमकुण्डे त्रिखने त्रिकोणे ।
स्मरेषु पंचभिरामिवेष्ट्यं बाह्ये पुनर्लोक पति प्रवेष्ट्यं ।।

एक ताम्र पत्र पर नाम को ह्रीं से वेष्टित करके उसके चारों ओर काम देव के पांच वाण 'द्रां द्रीं क्लीं ब्लूं सः' को लिखकर वाहिर ह्रीं से वेष्टित करे इस यंत्र को त्रिकोण कुंड में रखे। सिद्ध मंत्रों के लिए होम कुंड में साधक अपना नाम लिख रखे । फिर मधुर त्रिक सम्मिश्रित गुग्गुल कृत चणक मात्र वटिका को घी दूध और शर्करा से मिश्रित गुग्गुलु की चने की बराबर गोलियां बनाकर जापके मंत्र से दशमांश गोलियों से होम करना चाहिये ।

होमकालेतु स्वाहा शब्दं नियोजयेत् ।
होम के समय नमः के स्थान में 'स्वाहा' शब्द को लगाना चाहिये ।

मंत्र शास्त्र में आठ कर्म करने का विधान मिलता है, बीजाक्षरों में अचित्य शक्ति है। मंत्र के अधिष्ठाता देवता के पास जाकर उससे साधक की इच्छानुसार कार्य कराते हैं। साधक बीजाक्षरों के बल पर सभी कार्य सिद्ध करता है। वे कर्म आठ हैं शांतिक, पौष्टिक, वश्य, आकृष्टि, स्तंभन, विद्वेषण, उच्चाटन एवं प्रतिषेध।

दिक्कालमुद्रासनपल्लवानां भेदं परिज्ञाय जपेत् स मन्त्री।
न चान्यथा सिध्यति तस्य मंत्रः कुर्वन्सदा तिष्ठतु जाप्यहोमं।

उपरोक्त श्लोक से मंत्र शास्त्र की वैज्ञानिकता स्पष्ट सिद्ध होती है। जैसी दिशा, काल, मुद्रा पल्लव आदि होंगे वैसा ही कार्य होगा। मंत्र शास्त्र पंच भूतों ह्नि के मंडल तथा दिग्पालकों के अनुसार, बीजाक्षरों से बना है तदनुसार कार्य करता है। जल मंडल में रखा मंत्र शांति करता है। अग्नि मंडल में निक्षिप्त वही यंत्र मंत्र रजोगुण को प्राप्त कर संसार को वश करता है। तमो गुण से युक्त होकर वायु मंडल में प्राप्त वही मंत्र संसार का नाशकारी हो जाता है। जैसी भावना से मंत्र जपा जायगा जैसे द्रव्यों से मन्त्र का देवता तृप्त होगा वैसा ही मंत्र कार्य करेगा। एक ही मन्त्र साधक के सभी कार्य सिद्ध करता है। साधक को अष्ट कर्म करने का अभ्यास होना चाहिये।

शांतिक कर्म

उपद्रवों की शांति के लिए शांति कर्म किया जाता है। वायुमण्डल में जब सूर्य के उत्ताप से गर्मी हो जाती है तब मेघ बरसते हैं और जगत् में शांति होती है उसी प्रकार जल मण्डल में सिद्ध यंत्र रखकर मंत्र जपे जाते हैं तब शांति होती है। शांतिकर्म—पश्चिम दिशा, आधीरात का समय, ज्ञान-मुद्रा पद्मासन, नमः पल्लव, सफेद वस्त्र, श्वेतपुष्प, (चमेली आदि के फूल) पूरक योग, स्फटिक मणि की माला, दाहिना हाथ, मध्यमा अङ्गुलि, जलमण्डल।

नीरजभूषितवदनं कलशाकारं चतुर्वकारयुतं।
चेहज्जलबीजयुतं जलमण्डलमाहुराचार्याः ॥

कमल से भूषित मुखवाले कलश के आकार वकार तथा जल बीज प को चारो तरफ लिखना जल मण्डल कहलाता है। उपरोक्त जल मण्डल अपतत्त्व रूप श्वेत है अतः साधक के वस्त्र माला आदि उसके अनुसार होना चाहिये। पश्चिम दिशा का स्वामी वरुण है वह जल देवता है अतः साधक का मुख पश्चिम दिशा की तरफ रखा गया। सभी ग्रह पूर्व दिशा में उदय होते हैं और पश्चिम में जाकर अस्त एवं शांत हो जाते हैं। अतः पश्चिम दिशा शांति कर्म के लिए उपयुक्त रखी गई है। आधीरात का समय शांति का समय है। अतः साधक के परिणाम भी शांत रहेंगे। सभी प्रकार की शांति के लिए आधीरात का समय रखा गया है। परमेष्ठि चक्र में ह्रींकार की सिद्धि में इस प्रकार लिखा है—

प्रथम श्वेत बीज अप तत्वरूप ब्रह्माधिष्ठित अश्विनी नक्षत्र में पश्चिम दिशा में मुखकर बैठे। प्रथम गोमय से शुद्धि करे। भूमि पर सफेद चंदन से स्वस्तिक करके उज्वल वस्त्र श्वेत वस्त्र सूत्र से घट की स्थापना करे। उस पर मंत्र की स्थापना करे। श्वेत पुष्प १०८ लाकर उनमें कपूर चंदन लगाकर परमेष्ठी चक्र की पूजा करे पूजन के समय अखंड धूप जलावे। १०८ जापकर १०८ पुष्पों से ध्यान करे तत्पश्चात् नैवेद्य सुपारियों से पंचोपचार विधि से पूजा करे 'ॐ ह्रीं शुक्ल-ध्यानेन कर्मक्षयं कुरु कुरु, इस का जाप करे। श्वेत वस्त्र को धारण कर श्वेत यज्ञोपवीत को धारण करे स्फटिक माला से ॐ ह्रीं नमः इस मंत्र को एक हजार जपे। एक बार भोजन, भूमि शयन, ब्रह्मचर्य को पाले। इस प्रकार दश दिन विधि करे पश्चात् हस्त नक्षत्र में रात्रि में होम करे। पूर्णचंद्र वर्तुलाकार कुण्ड को बारह अंगुल सम वृत्ताकार बनावे इतना ही नीचा होना चाहिये।

दस हजार श्वेत पुष्प लाकर घृत, दुग्ध, दधि शर्करा, गुड़ यह पंचामृत एकत्र करे पश्चात् एक हजार वेल के पत्ते लावे। एक वेल के पत्ते पर पंचामृत रखकर मंत्रोच्चारण पूर्वक होम करे। पूर्णाहुति पर नारियल में घी भर कर होम करे। होम में पीपल काष्ठ की समिधा होनी चाहिये। होम में "ॐ ह्रीं दुष्कर्म छेदय छेदय स्वाहा।" इस मंत्र से होम करना चाहिये। इस प्रकार श्वेत ह्रींकार की सिद्धि होती है। ह्रींकार की सिद्धि के बाद पुनः अन्य मंत्र सिद्ध होते हैं।

शान्ति विधान करने से रोग शोक, अपमृत्यु, लोकोत्पात आदि उपद्रव शांत होते हैं। शान्ति विधान में भगवान् शान्तिनाथ के मंत्रों की प्रधानता है। शांति के सीधे मंत्र शास्त्र में लिखे हैं। रोग के लिये मृत्युंजय मंत्र का जाप तथा नीराजना आदि किया शास्त्रों में मिलती है, उनको करावे। जिनेन्द्रदेव का एक सौ आठ या एक हजार आठ कलशों के अभिषेक से शांति होती है। विषबेल गंडमाला क्षयरोग आदि के लिये महामृत्युजंय जप के साथ भगवान् पार्श्वनाथ के महामंत्र का जाप करना चाहिये। प्रतिदिन भगवान पर शीतल औषध द्रव्यों का लेपन करने के बाद छोटी शांति धारा करने से सर्व उपद्रवों की शांति होती है। क्योंकि भगवान् के संसर्ग से और मंत्रों के उच्चारण से उन द्रव्यों में अचिंत्य शक्ति आ जाती है उनसे पूर्ण शान्ति होती है।

शान्ति होम की विधि शास्त्रों से जानकर होम करना चाहिये। शांति होम में द्वात्रिंशत् इन्द्र, पंच दश तिथि देवता, दश दिग्पाल, तथा नव नवग्रह आदि शान्त किये जाते हैं। और शांति होम के प्रधान देव भगवान् शांतिनाथ हैं शांति के लिये ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः ये बीजाक्षर लिये जाते हैं।

पौष्टिक कर्म

शांति के बाद पुष्टि की आवश्यकता होती है जिस प्रकार कृश व्यक्ति को रसायनों द्वारा पुष्ट किया जाता है उसी प्रकार पुष्टि के मंत्रों द्वारा साधक पौष्टिक कर्म करता है। पौष्टिक कर्म से धन की प्राप्ति, स्वस्थ शरीर, धन धान्य की समृद्धि अतुल वैभव को साधक प्राप्त करता है। पौष्टिक कर्म—

नैऋत दिशा, प्रभात काल, ज्ञान मुद्रा, पद्मासन, नमः पल्लव, श्वेतवस्त्र, श्वेत पुष्प, पूरक योग, स्फटिकमणि की माला, दाहिना हाथ मध्यमांगुलि, जल मंडल । पुष्टि के साधन सभी कारण कलाप जुटाये गये हैं। उपरोक्त सभी कार्य करने से पुष्टि होती है । ऋषि मंडल मंत्र का जाप तथा स्तोत्र का पाठ पूजा करने से सर्व उपद्रवों की शान्ति होकर धन धान्य की वृद्धि होती है । जैसा कि ऋषि मंडल स्तोत्र में लिखा है।

प्राप्नोति लक्ष्मी रहितश्च लक्ष्मीं चेतोहरामप्रतिमोऽपि विद्यां ।

हिरण्यकामोऽपि हिरण्यराशि' लेभे नरः संस्मृति मात्रतोऽस्य ।।

पौष्टिक कार्य में चतुष्कोण कुंड, पलाश की समिधा, कुंदरु तथा गुग्गुल का होम करना चाहिये । पुष्टि कर्म के लिये, सिद्धचक्र, चिन्तामणि त्रैलोक्य चिंतामणि, गणधर बलय मंत्र तथा यंत्रों की पूजा तथा जाप देनी चाहिये । समाप्ति के बाद विधिवत् दशमांश होम करना ठीक है ।

वश्य मंत्र

वश्य मंत्रों का अपर नाम संमोहन विद्या है । इन मंत्रों के साधक को मंत्र विद्या का पूर्ण ज्ञानी होना चाहिये । काम विकार से रहित साधक इस विद्या को सीख सकता है । वश्य मंत्रों के जाप से सभी पुरुष, स्त्री, हाथी, सिंह आदि सभी जन वशीभूत होते हैं कहा भी है—

प्रत्यहं विधिना समं जपतोऽरुणप्रसवैर्भृशं ।

तस्य पादसरोजषट्पदसन्निभं भुवनत्रयम् ।।१।।

वश्य मंत्र का लाल कनेर के पुष्पों से विधिवत् जप करने वाले के चरण कमलों में भौंरे के समान जगत् लोटा लोटा फिरता है ।

त्रैलोक्यक्षोभणं यन्त्रं सर्वदा पूजयेदिदं ।

हस्ते बद्धं करोत्येवं त्रैलोक्यजनमोहनम् ।।

इस तीन लोक को क्षोभित करने वाले यन्त्र का प्रतिदिन पूजन करके इसको हाथ में बांधने से यह तीन लोक को मोहित करता है ।

वर्णान्तः पार्श्वजिनो यो रेफस्तलगतः सः धरणेन्द्रः ।

तुर्यस्वरः सबिन्दुः स भवेत्पद्मावती संज्ञः ।।

वर्णों का अन्तिम अक्षर 'ह्' पार्श्वनाथ भगवान् का है नीचे लगने वाला 'र' धरणेन्द्र का है और 'ई' पद्मावती देवी का है ।

त्रिभुवनजनमोहकरी विद्येयं प्रणवपूर्वहोमान्ता ।

एकाक्षरीति संज्ञा जपतः फल-दायिनी नित्यं ।।

यह 'ॐ ह्रीं नमः, एकाक्षर मंत्र तीन लोक को मोहित करने वाला और जपने से सदा फल देने वाला है ।

सान्तं विद्वद्धं रेफं वहिरपि विलिखेदायताष्टाब्जपत्रम् ।
दिक्ष्वै श्रीं सा स्मरेशो द्विपवशकरणं क्रौं तथाक्लें पुनर्व्यूं ।।
वाह्ये ह्रीं नमोऽर्हं हं दिशि लिखत चतुर्वीजकं होमयुक्तं ।
मुक्तश्रीवल्लभोऽसौ भुवनमपि वशं जायते पूजयेद् यः ।।

एक अष्ट दल की कर्णिका में 'हं' लिखकर उसके पूर्व आदि दिशाओं के दलों में क्रमशः ऐं श्रीं ह्रीं और क्लीं लिखे । तथा विदिशाओं के दलों में क्रौं, क्रौं, क्लें, तथा व्यूं लिखे । उसको वाहिर इस मंत्र से वेष्टित करे—

ॐ ह्रीं नमो अर्हं ऐं श्रीं क्लीं स्वाहा

जो व्यक्ति इस चिन्तामणि नाम के यन्त्र का पूजन करता है उसके वश में सम्पूर्ण लोक के साथ-साथ मुक्ति रूपी स्त्री भी हो जाती है ।

वश्य कर्म—उत्तर दिशा, प्रातः काल, कमल मुद्रा, स्वस्तिकासन, वषट् पल्लव, लाल वस्त्र, लाल पुष्प, पूरक योग, प्रवाल मणि की माला, वामहस्त, अनामिका, अग्निमंडल ।

कुर्याद् वा वामहस्तेन वश्याकर्षण-मोहनम् ।
वामहस्त से वश्य—आकर्षण मोहन कर्म करे ।
त्रिस्वस्तिकं त्रिकोणं यान्ते कोणेषु वह्निबीजयुतं ।
ज्वालायुतमरुणाभं तन्मण्डलमाहुराग्नेयं ।।

त्रिकोना आकार बनाकर उसके कोने में स्वस्तिक वाहर की तरफ खींच कर कोने के अन्दर 'र' बीज तथा बीच में 'ॐ' लिखे यह लाल वर्ण वाला अग्नि मण्डल है । रजोगुण युक्त होने से वश्य कर्म में लाल रंग का प्रयोग होता है । अथ द्वितीय रक्त बीज अग्नि तत्व रूप विष्णु के द्वारा अधिष्ठित माय बीज की सिद्धि—मृग शिर नक्षत्र में रविवार उत्तर दिशा में बैठना चाहिये ।

गोमय से भूमि शुद्धि करे । उस पर कुंकुम से स्वस्तिक बनाकर लाल वस्त्र से वेष्टित यंत्र स्थापन करे । रक्त कणवीर १०८ लावे । सिंदूर कर्पूर चंदन से पूजा करे । १०८ मंत्र पूर्वक रक्त पुष्पों से ध्यान करके रक्त पुष्पों से पूजा करे । पंचोपचार विधि से पूजा करे । 'ॐ ह्रीं आकृष्टि विश्ववश्यं कुरु-कुरु वषट्' इति पूजा मंत्रः । रक्त वस्त्र पर बैठे रक्त वस्त्र परिधान करे रक्त सूत्र तंतुओं से यज्ञोपवीत कंठ में धारण करे । मूंगा की, तथा लाल चंदन की माला से एक हजार माया वीज 'ह्रीं' का जाप करे । एक बार भोजन, भूमि शयन, ब्रह्मचर्यादि सभी व्रतों का पालन करे । इस प्रकार दश दिन तक करे । पश्चात् मूल नक्षत्र में रात्रि में हवन 'त्रिकोण कुण्ड—एक कोण अष्टाङ्गुल प्रमाण द्वादशाङ्गुल निम्न करना । एक सहस्र लाल पुष्प लाकर पंचामृत मिश्रित कर एक हजार विल्वपत्र को होमे ।

इस प्रकार एक हजार आहूति देवे अन्त में १०८ गोली गुग्गुल की बनाकर होमे। पूर्णाहुति जमीर फल तथा कपास काष्ठ की देवे। इस प्रकार ह्रीं कार की सिद्धि करने पर वश्य मंत्र बहुत शीघ्र सिद्ध होते हैं ॥

संमोहन विद्या का प्रयोग तान्त्रिक मत में भी होना है। और साधक पर भी प्रयोग किये जा सकते हैं अतः वश्यमंत्र, मंत्र तत्रों का ज्ञान होना बहुत आवश्यकीय है। यदि इस प्रकार के मंत्रों का प्रयोग साधक पर हो—तो पर विद्याच्छेदन के मंत्रों द्वारा उन सबको दूर करना चाहिये।

कलिकुण्ड के मंत्र पर विद्याच्छेदन के लिये प्रसिद्ध हैं अतः उनको शास्त्र से जानकर प्रयोग करना चाहिये।

आकर्षण कर्म

आकर्षण कर्म वश्य मंत्र के बाद होता है। आकृष्टि नाम बुलाने का है। आकर्षण कर्म–दक्षिण दिशा, प्रातकाल, अंकुश मुद्रा, दण्डासन, वौषट् पल्लव, रक्त वस्त्र, लाल पुष्प, पूरक योग, प्रवाल मणि की माला, कनिष्ठिका अंगुली, वामहस्त, वाम वायु, अग्नि मंडल। आकर्षण कर्म रजो-गुण युक्त, अग्नि तत्त्व से व्याप्त है अतः सभी लाल वस्तुयें साधक के लिये आवश्यकीय हैं। आकर्षण, लक्ष्मी, विद्या, पुरुष, स्त्री, सिंह, गज, सर्प, आदि का होता है। आकर्षण विद्या साध्य के विचार को बदलती है। साधक को अप्रतिहत शक्ति प्रदान करती है। हजारों मीलों की दूरी पर बैठा हुआ पुरुष तत्क्षण साधक के पास आ जाता है। मंत्र विद्या से भूत प्रेत पिशाच नाग गंधर्व आदि सभी आकृष्ट होते हैं।

स्तंभन कर्म

स्तंभन कर्म मंत्र शास्त्र में प्रधान माना गया है। इससे साधक अपने ईप्सित कर्म को सिद्ध करता है और हिंसा भी नहीं करता। यह साध्य की गति, मति, विद्या, तुला, अग्नि, जल, सर्प, वाणी, क्रोध का स्तंभन करता है। शास्त्र में लिखा है—

> श्रीकारं चिंतयेत्वक्त्रे विवादे प्रतिवादिनाम्।
> त्रां वा रेफं ज्वलंतं वा स्वेष्टसिद्धिप्रदायकम् ॥

प्रतिवादियों से शास्त्रार्थ के समय अपनी इच्छित शक्ति को देने वाले श्रीं वा त्रां या जले हुये रेफ् (रं) बीज का ध्यान करे। इससे साधक शास्त्रार्थ में प्रतिवादी के मुख का स्तंभन करने में समर्थ होता है। जैसे कि श्री पार्श्वनाथ स्तोत्र में लिखा है कि—"ग्लौं क्ष्मं ठं दिव्य जिह्वागतिमतिकुमतिस्तम्भनं संविधेहि।"

स्तंभन कर्म—पूर्व दिशा, प्रभातकाल, शंख मुद्रा, वज्रासन, ठ ठ पल्लव, पीत वस्त्र, पीला पुष्प, कुम्भक योग, स्वर्ण की माला, कनिष्ठिका अंगुलि, दक्षिण हस्त, दक्षिण वायु, सीधा स्वर, पृथ्वी मंडल।

पृथ्वी मंडल का स्वरूप—

अन्योन्यवज्रविद्धं पीतं चतुरस्रमवनिबीजयुतं ।
कोणेषुरान्तयुक्तं भूमण्डल-संज्ञकं ज्ञेयं ॥

चौकोण पीला पृथ्वी बीज ल चारों कोनों में लिखने से पृथ्वी मंडल हो जाता है उसमें यंत्र मंत्र लिखकर स्थापन करना । स्तंभन यंत्र गंधक, हरताल, हल्दी आदि पीले द्रव्यों से लिखे जाते हैं । ग्लौं, क्ष्मं, ठं ल बीज स्तंभन कर्म में प्रधान माने गये हैं ।

अथ तृतीय बीज पीत वर्ण पृथ्वी तत्व रूप माया बीज साधन विधि—

पुष्य नक्षत्र, रविवार पूर्व दिशा, में बैठना चाहिये । गोमय के द्वारा भूमि शुद्ध करे । भूमि पर कुंकुंम से स्वस्तिक बनाकर उस पर यंत्र की स्थापना करना । चंपकादि पीत पुष्प १०८ लावें । कर्पूर कुंकुम चंदन से १०८ मंत्र का जाप करने के उपरांत पीत पुष्पों से ध्यान करके धूप दीप पंचोपचार विधि से पूजा करें । 'ॐ ह्रीँ श्रीं' कमला लक्ष्मीं कुरु कुरु इति पूजा मंत्र से पूजा करें । पीतवर्ण के आसन पर बैठे । पीत वस्त्र का परिधान कर पीत सूत्रतंतुओं का यज्ञोपवीत धारण करे । पीत माला से पुखराज की माला से एक हजार मंत्र का जाप करें । यह विधि दश दिन तक करें । एकाशन भूमि-शयन ब्रह्मचर्यादि धारण करें । पश्चात् मूल नक्षत्र में रात्रि में हवन करे । बारह अंगुल चतुरस्र षोडषांगुल निम्न कुण्ड करना चाहिये । एक हजार चंपक पुष्प लाना चाहिये । पंचामृत में मिलाकर एक सहस्र बिल्व पत्रों पर एक पुष्प रख कर होम करें । इस प्रकार एक हजार मंत्र की आहूति देवें । पश्चात् गोरोचन खंडाग्नि १०८ करके हवन करें । पूर्णाहुति पर एक नारियल को होम करे । इस कर्म में पलाश की समिधा काम में लाना चाहिये 'ॐ ह्रीँ श्रीं' कमला भव भव स्वाहा । इससे पीत माया बीज ह्रीं की सिद्धि होती है ।

अग्नि, जल का स्तंभन, के मंत्र शास्त्रों में भरे पड़े हैं यथा :—

ॐ थंभोई अमुकस्य जलं जलणं चितय मंत्रेण पंच णमो आरो । अरि मारि चोर राऊल घोरपसग्गं विणासेई स्वाहा ।

क्रोध गति सेना जिह्वा के स्तंभक यंत्र मंत्रों का ज्ञान मंत्र शास्त्रों से करना चाहिये ।

विद्वेषण कर्म

दो मित्रों में परस्पर द्वेष करा देना विद्वेषण कर्म कहलाता है । विद्वेषण कर्म से मित्र शत्रु हो जाता है । राजनीति शास्त्र में भेद नीति प्रसिद्ध है मंत्र शास्त्र में विद्वेषण कर्म प्रसिद्ध है । विद्वेषण कर्म में—आग्नेय दिशा, मध्याह्न काल, प्रवाल मुद्रा, कुक्कुटासन, हूं पल्लव, धूम्र वस्त्र, धूम्र पुष्प, रेचक योग, पुत्र जीवी (काली) मणि की माला, तर्जनी अंगुलि, दक्षिण हस्त वायु मंडल ।

वायु मंडल का स्वरूप—

वह्निबिंदुवक्ररेखं वृत्ताकारं चतुर्यंकार-युतं ।
कृष्णं मारुतबीजं वायव्यं मंडलं प्राहुः ॥

गोल आकार बनाकर वायु बीज य तथा स्वा उसके अन्दर लिखना यह काला वायुमंडल है। वायु मंडल तमोगुण वाला होने से विद्वेषण कर्म में सब काले पदार्थ, वस्त्रादिक रखे गये हैं।

विद्वेषण कर्म की कृपा से सहोदर भी आपस में द्वेष करने लगते हैं विद्वेषण बीजों से दो सहोदर भी आपस में बैरी हो जाते हैं चित्तकी वृत्ति को बदल देना ही मंत्र शास्त्र का कार्य है। इस कर्म में सभी अशुद्ध पदार्थ काम में आते हैं। दो विद्वेषी जीवों के बालों को लिया जाता है जैसाकि—

हुं स्थाने मांत मालिख्य सरेफं-नाम-संयुतं।
विभीतकफलके यन्त्रं द्वयोरपि मर्त्ययोः ॥

उपरोक्त यंत्र हुं के स्थान में विद्वेष कराये जाने वाले दोनों व्यक्तियों के नाम सहित 'यं' बीज को दो भिन्न-भिन्न बहड़े के तख्तों पर लिखे।

वाजीमहिषकेशैश्च विपरीत मुखस्नयोः।
आवेष्ट्य स्थापयेत्भूम्यां विद्वेषं कुरुते तयोः ॥

फिर उन दोनों यंत्रों को घोड़े और भैसों के बालों से लपेटकर भूमि में उलटाकर विपरीत मुख कर गाड़ने से दोनों व्यक्तियों में विद्वेष हो जाता है इन उद्धरणों से मालूम पड़ता है कि साधक मंत्र विद्या की कृपा से भेद नीति से अप्रतिहत शक्ति वाला हो जाता है।

उच्चाटन कर्म

शत्रु या अन्य किसी व्यक्ति को अपने स्थान से हटाने को उच्चाटन कहा जाता है। उच्चाटन में साध्य की बुद्धि विपरीत हो जाती है। उसको किसी स्थान पर शान्ति नहीं मिलती। वह स्थानभ्रष्ट, पथ-भ्रष्ट हो जाता है। बीजाक्षरों के प्रभाव से साध्य यत्र तत्र घूमा करता है। उच्चाटन कर्म—वायव्य दिशा, अपराह्न काल, प्रवाल मुद्रा, कुक्कुटासन, फट् पल्लव, धूम्रवस्त्र, काले पुष्प, रेचक योग, काले मणि की माला, तर्जनी अंगुलि, दक्षिणहस्त, वायुमंडल। उच्चाटन में वायु मंडल नील वर्ण है। उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र रविवार को वायव्यदिशा में मुख करें। गोमय से भूमि शुद्ध करें उस पर नील वस्त्राच्छादित घट स्थापित करें। उस पर यन्त्र की स्थापना करें जाति पुष्पों को नीला करें फिर एक सौ आठ सामान रख कर नीला ध्यान करे। कर्पूर जंगाल से चन्दन से पूजा करें। प्रथम नीला ध्यान करके यन्त्र की पूजा करें तदुपरान्त धूप दीप मंत्रोपचार विधि से पूजा करें। "ॐ ह्रीं मातंगिनी शत्रुणामुच्चाटनं कुरु कुरु" यह पूजा मंत्र है। नील वस्त्र के आसन पर बैठे। एक बार भोजन, भूमि शयन, ब्रह्मचर्यादि क्रिया करनी चाहिये। इस प्रकार दस दिन यही विधि करनी चाहिये। पश्चात् श्रवण नक्षत्र में रात्रि में होम करे, षोडषांगुल विस्तीर्ण अष्टादश अंगुल प्रमाण द्वादशाङ्गुल निम्न कुण्ड बनावें। तत्पश्चात् एक सहस्त्र नील पुष्प, जाति के लावे, उसको पंचामृत में मिलाकर रखे। पश्चात् एक हजार विल्व पत्र लाकर पंचामृत नील पुष्पों में रखकर मंत्र पूर्वक होम करे। पश्चात् १०८ मृगमद के खण्डों से मन्त्रोच्चारण पूर्वक होम करें। पूर्णाहुति पर केले से होम करे। 'ॐ ह्रीं मातंगिनी शत्रूणां उच्चाटय उच्चाटय स्वाहा" इति होम मन्त्रः।

उच्चाटन अशुद्ध क्रिया है अतः अशुद्ध द्रव्य तथा अशुभ शोडष भावों की आवश्यकता पड़ती है। यह कर्म दण्ड व्यवस्था के लिये किया जाता है जैसे राज्य बिना दण्ड के नहीं चल सकता। उसी प्रकार बिना उच्चाटन व्यवस्था के मन्त्र क्रिया नहीं चल सकती। यह लोक दुष्ट जनों से संकीर्ण है, दुष्ट जन धर्म, तथा समाज पर समय समय पर आक्रमण करते हैं अतः उनकी रक्षा के लिये इस कर्म का प्रयोग किया जाता है। बिना दण्ड के साधक के प्रभाव का ज्ञान दुष्टों को नहीं होता अतः इन कर्मों की आवश्यकता पड़ती है। इस कर्म के बाद दुग्ध की धारा समान शुक्ल ध्यान करके शान्ति कर्म करने से उच्चाटन कर्म के उपद्रव शान्त हो जाते हैं।

मारण कर्म

जिस प्रकार राज्य की स्थिति के लिये, सेना, कोष तथा दण्ड की आवश्यकता होती है। बिना दण्ड व्यवस्था के राज्य में उच्छृंखलता बढ़ती है और राज्य नियमानुसार नहीं चलने पाता उसी प्रकार दुष्टों को नष्ट करने के लिये मंत्र शास्त्र में मारण कर्म की व्यवस्था की गई है। इस कर्म से दुष्ट जन धर्म, मन्दिर, समाज तथा सज्जनों पर आक्रमण नहीं कर सकते। मंत्र शास्त्र आततायी, हिंसक जीवों का विनाश करता है। युग के आदि काल से युद्ध के बिना राज्य की प्राप्ति नहीं हुई है। यदि राज्य अस्त्र शस्त्र सुसज्जित है तो परचक्र राज्य पर चढ़ नहीं सकता। उसी प्रकार मारण कर्म है। बिना भय के प्रीति नहीं होती अतः मन्त्र शास्त्र में यह दण्ड व्यवस्था की गई है। इस कर्म की व्यवस्था के लिए बहुत विचार की आवश्यकता है। हर एक व्यक्ति इस कर्म को नहीं करता। जो इस कर्म को बिना विचारे करता है उसको अनंत काल तक नरक की यातना भोगनी पड़ती है।

मारण कर्म— ईशान दिशा, सन्ध्या काल, वज्र मुद्रा, भद्रासन, घे घे पल्लव, काला वस्त्र, काले पुष्प, रेचक योग, पुत्र जीव मणि की काली माला, तर्जनी अंगुलि, दक्षिण हस्त, वायुमण्डल। वायुमंडल इस कर्म में काला माना गया है। कृष्णा माय बीज आकाश तत्व स्वरूप रुद्र के द्वारा विनाश रूप की सिद्धि इस प्रकार है। विशाखा नक्षत्र, रविवार के दिन ईशान दिशा को मुख कर बैठे। गोमय से भूमि शुद्ध करें। भूमि पर कोयला को पीस कर स्वस्तिक करें। उस पर कृष्ण वस्त्रों से आच्छादित घट स्थापित कर उसके सामने यन्त्र की स्थापना करें। पश्चात् कृष्ण राई गिरिकर्णिका के दिव्य पुष्पों को लावे। कज्जल कपूर से यन्त्र की पूजा करें। प्रथम १०८ मन्त्र के द्वारा काला ध्यान करके १०८ पुष्पों से पंचोपचार कर पूजा करे "ॐ ह्रीं ज्वाला मालिनी शत्रूणां मारय मारय" यह पूजा मन्त्र है। कृष्ण वस्त्र के आसन पर बैठना चाहिये कृष्ण वस्त्रों का परिधान कर कृष्ण तंतुओं से यज्ञोपवीत को धारण करें। काली माला रीठे की तथा कमल गट्टे की बनावे। उससे एक हजार माय बीज 'ह्रीं' का जाप करें। एक बार भोजन भूमि शयन, ब्रह्मचर्यादि सभी क्रिया पालन करें। पश्चात् रेवती नक्षत्र में रात्रि में होम करें। अर्द्ध चन्द्र (गोल) कुण्ड दश अंगुल विस्तीर्ण चतुर्दशांगुल निम्न करना चाहिये। पश्चात् एक सहस्र

गिरिकर्णिका के काले पुष्प लाकर उनमें पंचामृत भरकर एक हजार विल्वपत्रों को लावे । पश्चात एक विल्वपत्र काले पुष्प पंचामृत सहित होम करे । अर्थात् मन्त्र की आहूति देवें । "ह्रीं सः सः ज्वाला मालिनी शत्रूणां मारय मारय घे घे स्वाहा" यह हवन मन्त्र है । माया बीज की सिद्धि के बाद अन्य मारण मन्त्र सिद्ध होते हैं ।

पूजा के प्रारम्भ में निम्न श्लोक पाया जाता है—

विघ्नौघाः प्रलयं यांति शाकिनीभूतपन्नगाः ।
विषं निर्विषतां याति स्तूयमाने जिनेश्वरे ।।

अर्थात् जिनेश्वर भगवान की स्तुति से सब विघ्न दूर होते हैं शाकिनी भूत और पन्नग यानी सर्प नष्ट होते हैं, अति विष निर्विष हो जाता है ।

शाकिनी—यह एक स्त्री ग्रह है । यहां पर शाकिनी ग्रह उप लक्षण है । अतः इससे स्त्री ग्रह समस्त ग्रहण करना चाहिये अर्थात् डाकिनी, चौसठ योगिनी, पिशाची, यक्षणी आदि सभी स्त्री ग्रह आ जाते हैं एवं भूत शब्द से सब पुरुष ग्रह आते हैं । पन्नग शब्द से अष्ठ नागों के सभी सर्प, विष स्थावर जंगम कृत्रिम विष सभी ग्रहण करना चाहिये—ये सब जिनेश्वर की स्तुति से दूर हो जाते हैं ।

रति कामा, वलि कामा निहंति कामा प्रगह्णन्ति मनुजं ।
रति, पूजा, मारने की इच्छा से मनुष्य को ग्रहण करते हैं ।
तेऽपि ग्रहाः द्विधा स्युः दिव्यादिव्यग्रहप्रभेदेन ।
दिव्याश्चापि द्विधा पुरुष–स्त्री–ग्रह–प्रभेदेन ।।

वे ग्रह दिव्य, अदिव्य भेद से दो प्रकार के हैं । दिव्य ग्रह स्त्री पुरुष के भेद से दो प्रकार के हैं ।

देवो, नागो यक्षो गंधर्वः ब्रह्मराक्षसश्चैव ।
भूतो व्यंतरनामेति सप्त–पुरुष–ग्रहाः ते स्युः ।।

देव, नाग, यक्ष, गंधर्व, ब्रह्मराक्षस, भूत, व्यंतर ये सप्त पुरुष ग्रह हैं ।

देवः सर्वत्र शुचिः नागः शेते भनक्ति सर्वाङ्गं ।
क्षीरं पिवति च नित्यं, यक्षो रोदिति हसति वहुधा ।।

देव सदा पवित्र रहता है, नाग से ग्रहीत पुरुष सोता है सर्वाङ्ग को तोड़ता है और नित्य दूध पीता है । यक्ष से ग्रहीत पुरुष रोता है और अनेक प्रकार से हँसता है ।

गंधर्वो गायति सुस्वरेण, ब्रह्मराक्षसः सन्ध्यायां ।
जपति च वेदान् पठति स्त्रीष्वनुरक्तः सगर्वश्च ।।

गन्धर्व से ग्रहीत पुरुष अच्छे स्वर से गाता है, ब्रह्म राक्षस से ग्रहीत पुरुष सन्ध्या में वेदों का पाठ करता है और सदा स्त्रियों में अनुरक्त तथा अभिमानी होता है ।

नेत्रे विस्फारयति जृंभति हसति च भूतः ।
मूर्च्छति रोदिति धावति बहुभोजी व्यंतरस्तथा भुवि पतति ।।

नेत्रों को फाड़ता है जंमाई लेता है भूत से गृहीत पुरुष हंसता हे । व्यंतर बहुत खाने वाला और पृथ्वी पर गिरता है ।

काली कराली कंकाली काल राक्षसी जंघी ।
प्रेताशनी च यक्षी वैताली क्षेत्र वासिनीचेति ।।

काली, कराली, कंकाली, काल राक्षसी, जंघी, प्रेताशनी, यक्षी, बैताली क्षेत्र-वासिनी ये स्त्री ग्रह हैं।

स्तंभन-स्तोभन-ताडन-मांध्यप्रेषरण-दहन-भेदनं-बंधाः ।
ग्रीवाभंगं गात्र-छेदन-हनन-माप्यायनं ग्रहाणां कुर्यात् ।।

ग्रहों को दूर करने के लिये स्तंभन, स्तोभन, ताडन, आंध्यकरण, प्रेषरण, दहन, भेदन, बंधन, ग्रीवा भग, गात्रच्छेदन, हनन, आप्यायन ये बारह क्रिया करें ।

स्तम्भन—हा निरोध शून्यं स्वरो द्वितीयश्चतुर्थ षष्टौ च ।
ॐ कारो बिन्दुयुतो विसर्जनीयश्च पंचकला ।।
ॐ कूटपिंडपंचस्वरसंयुतकूटपंचकं सनिरोधं,
दुष्टग्रहाणां तथा हि द्विस्तम्भमन्त्र इति फट् घे घे ।
इन मन्त्रों से स्तम्भन क्रिया करें ।
शृंखला मुद्रा ।[1] ।।

स्तम्भन क्रिया से ग्रह गण स्तम्भित हो जाते हैं । आवेश के लिए सुगमता होती है । इसलिये प्रथम ग्रहों को स्तंभन किया जाता है ।

ॐ शून्य पिंड पंचस्वर युत ह् बीज पंचक सनिरोधं ।
स्तोभनमन्त्रः सर्वग्रहान् अथाकर्षय संवौषट् ।।२।।

यह ग्रहों का स्तोभन मन्त्र है इससे ग्रहों का आकर्षण होता है और तब आवेश हो जाता है । शिखि मुद्रा है ।

भक्तिम पिंडो आं आीं आूं औं अः सन्निरोध सहितं च ।
दुष्टग्रहमथ ताडय हुं फट् घे घे इति ताडन मंत्रः ।।
यह ताडन मंत्र है और गद मुद्रा है ३।।

विनयादि म पिंडो आं आीं आूं औं अः स्तथैव सं निरोधः ।
हुं फट् घे घे सर्वं ग्रहनाम्ना वज्रमयशृंख्याः ।

अक्षीणि विस्फोटय द्वितयैव हूँ फट् घे घे ।

अक्षिस्फोटनमंत्रो मुद्राप्यस्यापि भंजनी नामा ।।

अक्षि स्फोटन मंत्रः । सूचीमुद्रा ।।४।।

मरुत्यादि वायु पिंडो य य य य याः या :

ग्रहानथ समस्तान् । द्वि प्रेषय घे घे ऊँ जः जः जः प्रेषण मंत्रः

प्रेषण मंत्रः । छुरिका मुद्रा । ५।।

वामादि रग्नि पिंड : शिखिमद् देवि ज्वल द्वयं र र र र रां रां ।

प्रज्वल ऊँ धक् युग धूँ धूँ धूमांधकारिणी ज्वलनशिखे ।।

देवान् नागान् यक्षान् गंधर्वान् ब्रह्मराक्षसान् भूतान् ।

शत कोटि देवतास्ताः सहस्रकोटि-राजानां ।।

दह दह पदं प्रतिपदं घे स्फोटय मारयेति युगलं च ।

दहनाक्षि प्रलय धग् धगिति मुखी ज्वालिनी ह्रां ह्रीं ।।

ह्रूँ ह्रौं ह्रः सर्वग्रह हृदयं दह दहेति मंत्र पदं ।

दह दह हाः हाः फट् घे घे होममंत्रः दहन मंत्रश्च ।।

यह ग्रहों के जलाने का मंत्र है तथा होम मंत्र भी है ।

अग्नि त्रिकोण कुंडे, मधुरमय सर्वधान्य सर्षपलवणैः ।

राजपलाशशमीतरुकाष्ठैः कुर्याद् बुधो होमं ।।६।।

त्रिकोण कुंड में घृत शर्करा दूध से मिश्रित-सर्व धान्य सरसों और नमक से होम करें—ढाक, शमी वृक्ष की समिधा होम में होनी चाहिये ।

प्रणवन घ पिंड पंचकलायुत घकार निरोधं घं घं

खं खं खड्गं रावण सद् विद्ययाथ घातय युगलं ।।७।।

सच्चंद्रहासेन विच्छेदय भेदय द्वि फं फं कं,

खं खं हं सं फट् घे घे मंत्रोऽयं जठर भेदि स्यात् ।।

उदर भेदि मंत्रः खड्गं रावण मुद्रा ।।७।।

प्रणवन सहित भ्र पिंडो गुप्तोच्चरितः स्ववायुनिर्गमतः ।।

हाः पूर्णेन्दु समेतः सन्मुष्टिग्रहणमंत्रोऽयम् ।

पिंडेन विना हा फट्. घे घे मंत्रेण तत्र चान्यस्मिन् ।

कुर्याद् ग्रह सुकामं, मुष्टि विमोक्षणं समन्त्री ।

पिंड स एव विनयादिक स्वपंच तत्वान्वितं सनिरोधः ।

सर्वेषां ग्रह नाम्ना कुरु, सनिग्रहौं स्तथा हुँ फट् घे घे । ८।।

यह दुष्ट निग्रह कर्म मंत्र होने पर दुष्ट मुद्रावाला तथा ईप्सित कर्म मंत्र होने पर तर्जनी मुद्रा वाला होता है । ८।।

ॐ कांत पिंड पंच, स्वरयुत तल रे फ सहित क परं च।
हाः फट् घे घे सर्वग्रहगलभंगं कुरु युगं घे घे ।।
इस मंत्र से ग्रहों का गल भंग होता है। खलिन मुद्रा ।।६।।
मरुयादि चांत पिंड, पंचकला रेफ युक्त चांत निरोधः।
सर्वेषां ग्रह नाम्ना अंत्राणि छिंद फट् फट् घे घे ।।१०।।

यह अंत्र छेदन मंत्र है तथा अंत्र छेदन मुद्रा।

मक्तिसहितेन्द्रपिंड क्लीं हाः सर्वग्रहास्तु पाषाणैः।
ताडय ताडय भूमौ द्विपातय हूं युगं च फट् फट् घे घे ।।

यह हनन मंत्र है इसकी विद्युत् मुद्रा।

विनयस्थ पिंडस्तदीय, पभतत्व पंचकं निरोधः।
सर्वेषां ग्रह नाम्ना कुरु, सर्व-निग्रहं सुफट् घे घे ।।

यह सर्व कामिक मंत्र है तर्जनी मुद्रा है।

विनयो निर्विष पिंड, स्वपंचतत्वं निरोधसहितं च।
सर्वग्रहान् समुद्रे द्वि मज्जय हूं तथैव फट् फट् घे घे ।।

यह ग्रहों का मज्जन मंत्र है, मज्जन मुद्रा।

निर्विष पिंडः सं तं वं मं हं फं ग्रहान् अन्य समस्तान्।
उत्थापय द्वयं नट नृत्यं द्वितयं तथा स्वाहा।

यह आप्यायन मंत्र, आप्यायन मुद्रा है।

सर्व्व निरोधे वाप्यायन मंत्रेणानेन साक्षतं।
सलिलं अभिमंत्र्य ताड़येत् क्षालयेच्च कृत निग्रहं स्यात्।

इस आप्यायन मंत्र द्वारा अक्षत तथा जल को अभिमंत्रित कर ग्रह से पीड़ित मनुष्य पर क्षालित तथा ताड़ित करने पर ग्रह निग्रहीत हो जाता है। अर्थात् मंत्रवादी को बलवान् समझकर ग्रह पुरुष को छोड़ कर चले जाते हैं।

विषमफणि विषमशाकिनि विषमग्रह विषममानुषाः सर्वे।
निर्विषतां गत्वाते वश्याः स्युः क्षोभमेति जगत् ।।

विषम सर्प, विषम शाकिनी, विषम मनुष्य—वे सब निर्विष होकर मंत्रवादी के वश हो जाते हैं और जगत् क्षोभित होता है।

शब्दांकुशचरणैः हय नागाश्चोदिता यथा यांति बुधैः।
दिव्यादिव्याः सर्वे, नृत्यंति तथैव संबोधनतः ।।

जिस प्रकार कोड़े शब्द तथा अंकुश से घोड़े हाथी चलते हैं उसी प्रकार सभी दिव्य अदिव्य ग्रह मंत्रवादी साधक के संबोधन से नाचते और चलते हैं।

जिनेश्वर की स्तुति करने से विष निर्विष हो जाता है। गारुड़ विद्या के अधीश्वर जिनेन्द्र भगवान् हैं जिनका बीज 'अर्हं, है जो कि शब्द ब्रह्ममय हैं।

गारुड़ विद्या

गारुड़ विद्या के आठ अंग हैं—संग्रह, अंगन्यास, रक्षा, स्तोभ, स्तम्भन, विष नाशन, संचोध, खटिकफरिणदशन।

दष्ट पुरुष को जीवित या मृत जानने के उपाय को संग्रह कहते हैं। दष्ट पुरुष के शरीर के अवयवों में बीजों की स्थापना को अंगन्यास कहते हैं। शरीर की रक्षा करने को रक्षा कहते हैं। दष्ट पुरुष के जगाने को स्तोभ, विष को रोकने को स्तंभन कहते हैं। विष दूरने को विष नाशन कहते हैं। सर्प से क्रीड़ा करने तथा इधर उधर भेजने को संचोद्य कहते हैं। खटिका के नाग में सर्प के काटने की शक्ति तरने को खटिका फरिण दशन कहते हैं।

संग्रह—

सम विषमाक्षरभाषिरिण शशिदिनकरौ च वहमानौ ।।

दष्टस्य जीवितव्यं तद्विपरीते मृतिं विद्यात् ।।

सर्प के काटने का समाचार लाने वाला दूत चंद्र स्वर में सम अक्षर कहे और सूर्य स्वर में विषमाक्षर कहे तो दष्ट पुरुष जीवित है अन्यथा विपरीत स्वर चलने पर दष्ट की मृत्यु कहनी चाहिये—

अथवा

यू-हां वं क्षः इस मंत्र से जल पढ़कर दष्ट पुरुष के ऊपर डालने से यदि वह कांपने लगे या नेत्र हिलाने लगे तो उसको जीवित अन्यथा मृतक समझना चाहिये।

अंग न्यास—क्षिप ॐ स्वाहा वीजानि विन्यसेत्पादनाभिहृत्मुखशीर्षे।

पीत सित कांचनासित सुरचापनिभानि षरिपाट्या ।।

'क्षि प ॐ स्वाहा' इन पांच वीजों को क्रम से, क्षि—बीज पृथ्वी तत्व का है दोनों पैरों में, प जल बीज नाभि में, ॐ अग्नि बीज स्वर्ण सदृश हृदय में, स्वा, वायु कृष्ण (बीज) वर्ण का मुख में 'हा' बीज (आकाश) इन्द्र धनुष के समान शिर में स्थापित करे। यह अंग न्यास क्रम है।

रक्षा—

पद्मं चतुर्दलोपेंत भूतांतं नामसंयुतं।

दलेषु शेषभूतानि मायया परिवेष्टितम् ।।

एक चतुर्दल कमल की करिणका में नाम सहित 'हा' लिखकर उसके चारो दलों में 'क्षि प, ॐ स्वा, बीज लिखकर ह्रीं से वेष्टित और क्रों से निरोध करे-इस यंत्र को चन्दन तथा सुगंधित द्रव्य से लिखकर दष्ट पुरुष के गले में बांधना चाहिये। इस यंत्र से दष्ट पुरुष की रक्षा होती है। विष ज्यादा फैल नहीं सकता।

स्तोभन—

वह्नि जल भूमि पवन व्योमाग्रे दहदह पच द्वयं योज्यं ।
स्तोभय युगलं स्तोभं मध्यमिका चालनाद् भवति ।।

'ॐ प क्षि स्वाहा दह दह पच पच स्तोभय स्तोभय' इस मन्त्र को मध्यमा अंगुलि के साथ जपने से दष्ट पुरुष कुछ जागने लगता है ।

स्तंभन

आद्यन्ते भू बीजं, मध्ये जलमारुतं योज्यं ।
स्तंभय युगलं स्तंभो वामकरांगुष्ठचालनतः ।।

"क्षि प ॐ स्वाहा स्तंभय स्तंभय क्षि" इस मंत्र को बांये हाथ के अंगूठे के साथ जपने से विष का स्तंमन होता है ।

विषनाशन

जल भूमि वह्नि मारुत् गगनैः संप्लावयद्वयोपेतैः ।
भवति च विषापहारा तर्जन्या चालनादचिरात् ।।

"पक्षि ॐ स्वाहा संप्लावय, संप्लावय" इस मंत्रको वायें हाथ की तर्जनी द्वारा चलाने से विष शीघ्र दूर हो जाता है ।।

संचोध विधान में

मरुदग्निवारिधात्री, व्योमपदं संक्रमद्वितयम् ।
चालनया ऽ नामिकया नितरां विषसंक्रमो भवति ।।

स्वा ॐ प क्षि हा संक्रम संक्रम व्रज व्रज व्रज । इस मंत्र को अनामिका द्वारा चलाने से विष संक्रमण हो जाता है ।

व्योमजलवह्निपवनक्षितियुतमंत्रात् भवत्यथावेशः ।
संक्षिपहः पक्षिपहः पठनेन कनिष्ठिकाभिचालनतः ।।

'हा प ॐ स्वा क्षि संक्षिपहः पक्षिपहः ।। इस मंत्र को वायें हाथ की कनिष्ठा द्वारा जपने से दष्ट पुरुष के शरीर में नाग आवेश करता है ।।'

भूजलमरुन्नभोसर मंत्रेण घटाम्बु मंत्रितं कृत्वा ।
पादादिविहितधारा निपातनाद्भवति विषनाशः ।। १३

'क्षि प स्वाहा इस मंत्र से घड़े के जल को मंत्रित करके सिर से पैर तक डालने से विष नष्ट होता है ।

ॐ मंत्रेणानेन फणि-विष-मुक्तो भवति जल्पितेन शनैः ।
अपहरति निजपाददर्शितेऽपि विषं न संक्रमते ।।

'ॐ नमो भगवते पार्श्वतीर्थंकराय हं सः महाहंसः पद्महंसः शिवहंसः को हंसः भ्ररेज्जहंसः पक्षि महाविषं भक्ष हूं फट् स्वाहा ।'

इस मंत्र को धीरे धीरे जपने से सर्प का विष अपने स्थान से इस प्रकार दूर हो जाता है कि फिर सर्प के काट लेने पर भी विष नहीं चढ़ता । यह मंत्र गंडमाला विषबेल नासूर दष्ट-व्रण को भी नष्ट करता है । और बहुत शक्तिशाली है ।

उपरोक्त प्रकार से जिनेन्द्र भगवान की स्तुति करने से विष दूर होता है । मंत्र शास्त्रों में निमित्त मंत्रों की कमी नहीं है । निमित्त मंत्र दर्पण, अंगुष्ठ, दीप पर भूत भविष्यत वर्तमान समाचार जानने के लिए किये जाते हैं । शास्त्र से जानकर उन मंत्रों से लाभ उठाना चाहिये ।

सदाचार ही सबसे बड़ी आवश्यकता

श्री पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्री कटनी संपादक 'जैन संदेश'

वर्तमान युग भौतिक युग है। भौतिक उन्नति इस युग में चरम सीमा पर है। तार-रेल-मोटर साइकल हवाई जहाज जल जहाज रेडियो तथा विविध प्रकार के यंत्रों द्वारा उपयोगी सामग्री का अधिक से अधिक मात्रा में निर्माण और युद्ध के विनाशकारी शस्त्र अस्त्रादिक उनके प्रयोग में सहायक अन्य सामग्री इस युग की विशिप्ट देन हैं।

इस भौतिक उन्नति को दो भागों में बांटा जा सकता है एक तो वह जो हमारे सुख साधन भूत हैं, दूसरे हमारे सुखसाधन के विरोधी को समाप्त करने के साधन हैं। शास्त्रीय शब्दों में ये साधन या तो कुत्सित राग वृद्धि के कारण हैं, या हमारे सम्पदि वाधक व्यक्तियों के विनाश या विद्वेष के कारण हैं। और इसका सुन्दरतम नाम है, वर्तमान युग की "उन्नति"

नवीनतम प्रयोग वर्तमान में चन्द्रलोक की यात्रा है। उन्नति शील राष्ट्र इस पर होड़ लगाए हैं, कि कौन आगे बढ़कर वहां अपना प्रमुत्वस्थापित कर सकता है। इस खोज द्वारा विश्व के विज्ञान में वृद्धि हुई है–इसमें सन्देह नहीं, पर उद्देश्य में यह भी निहित है कि हमारा प्रमुत्व सर्वोपरि हो। विनाशकारी साधनों में भी 'अणुवम' जैसे शस्त्रों का निर्माण इसी उद्देश्य से है।

जहां तक भौतिक शोध खोज का प्रश्न है वहां तक उस विज्ञान से कोई विरोध नहीं है, यदि उसका उपयोग जनजीवन के उपयोग के लिए होता। पर वह ऐसा न होकर एक वर्ग द्वारा पर वर्ग के शोषण के लिए हो रहा है, यह दुःख की बात है।

किसी भूखण्ड के निवासी परस्पर अपने को गठित करके उन्हें स्वदेशवासी तथा अन्य भूखण्ड में रहने वालों को परदेशी मानकर उनके साथ समुदाय रूप से (वर्गपद्धति से) विरोध की भावना रखते हैं और वर्तमान में उपलब्ध या अपने विविध प्रयोगों द्वारा उपार्जित सांसारिक सुखसाधनों का उपयोग अपने लिए सीमित रख कर अन्य वर्ग को पराजित करना चाहते हैं। इस में पर के शोषण की भावना का प्राबल्य है।

इस प्रवृत्ति में संघर्ष अनिवार्य है, और इसके फलस्वरुप पारस्परिक महायुद्धों का जन्म भी अनिवार्य है। वर्तमान संसार जहां खड़ा है वहां जब तक आग न भड़के, तब तक सांस ले लीजिये। एक चिनगारी के उड़ते ही यह सारा विश्व उसकी समस्त भौतिक उन्नतियां और उसके सब साधन भस्मीभूत हो जायंगे। फलतः हमारी भौतिक उन्नति हमारे सर्वस्व नाश की सामग्री है।

जिसका फल सर्वनाश हो उसे हम 'उन्नति का युग कहें' या हमारी "अवनति की पराकाष्ठा" का युग कहें। यह बुद्धिमानों को विचारणीय है।

वर्तमान संसार के युगान्तरकारी पुरुषों का ध्यान जब तक 'अध्यात्मवाद' की ओर न जायगा तब तक यह विनाश रुक नहीं रूकता। यह आवश्यक है कि हम यह जानलें कि जिसे हम 'हम' शब्द द्वारा सम्बोधित करते हैं वह शरीर से अतिरिक्त कोई वस्तु है जिसके निकल जाने पर यह देह मृतदेह मात्र रह जाती है।

जब तक उस 'हम शब्द' द्वारा वाच्य वस्तु का ठीक ठीक विज्ञान न हो तब तक उसे सुखी बनाने के उपायों में भूल रहेगी और हम सभी भ्रष्ट होंगे। पूर्व के दो महादुह, हिरोशिमा में प्रयुक्त अणु-बम, तथा भविष्य के लिए संचित प्रलयंकारी शस्त्रास्त्र सामग्री 'आत्मविज्ञान' के अभाव के परिणाम हैं।

यह पूरा संसार दोवस्तुओं के मेल से बना है। जड़ और चेतन। यदि हम इन दोनों के जुदे-जुदे स्वरूप को समझलें तो हमें ज्ञात होगा कि चेतन का स्वरूप पदार्थों के जानने तक सीमित है। जड़ का संपर्क संसार में उसके साथ है वह उसके लिए बाधक ही है साधक नहीं है। इस जड़ के संपर्क में उसके संचय में हम हमें भुला देते है और अपने जैसे सजातीय सचेजनों के प्रांति भी न्याय नहीं बरतते। यह जो हमारी कुप्रवृत्ति है यही हमारा मिथ्याचार है।

आज सम्यगाचार की सबसे बड़ी आवश्यकता है। संसार की सुख शांति और समुन्नति का उपाय एकमात्र सदाचार है। सदाचार का सरल अर्थ यह है कि हम यदि अपने उपद्रव अर्थात् अनैतिक आचार बन्द कर लें तो संसार सुख का सागर बन जायगा। हम आज की दुनियां में सर्वत्र यही आवाज सुनते हैं कि शांति हो, आज का ससार शांति चाहता है, पर चाह कर भी तो राह नहीं पा रहे हैं। एक बार गम्भीरता से विचार करिए कि वर्तमान की अशांति का कारण क्या है? यदि हम कारणों पर विचार करें तो हमें अनुभव आयगा कि इसके मूलकारण हमारे ही दुराचार हैं, अन्य कुछ नहीं। शांति-शांति की रट लगाने वालो ने कभी इस बात पर ध्यान दिया है कि जिन कदाचारों द्वारा हम पीड़ित हैं वे हमारे भीतर तो नहीं हैं ? यदि हैं तो अशांति के कारणों में एक कारण हमारे दुष्कार्य भी तो हैं, और इस नाते अपनी अशांति के जिम्मेदारों में हम स्वयं भी एक हैं। हो सकता है कि हम अकेले जिम्मेवार न हों अन्य अनेक भी हों, जिन्हें सुधार ने का हम ठेका लेते हैं। तथापि यह एक प्रश्न है कि जब हम अपने असदाचारों पर स्वयं विजय प्राप्त करने में असमर्थ है, कायर हैं, तब दूसरों को सुधारने में हम कहां तक सफल होंगे ? मदिरा मांस का सेवन अभक्ष्यका भक्षण चोर बाजारी परस्त्री सेवन अनैतिक मार्ग से धनसञ्चय कलह और युद्ध ये सब अनाचारही तो हमारी अशांति के बीज हैं। धन लिप्सा इन सब अनर्थों की जड़ है। यह सही है कि यह अर्थ युग है, इसमें अर्थ के बिना कोई कार्य सम्पन्न नहीं होते।

धार्मिक सामाजिक और गार्हस्थिक प्रत्येक कार्य को धन आवश्यक है। पर हमारी संचयवृत्ति यदि आवश्यकता की पूर्ति तक सीमित रहे तो भी उचित मानली जाय, वह तो तृष्णा के गढ्ढे को भरने के लिए अनावश्यक रूप से भी (वृत्ति) बढ़ती जा रही है। अनैतिक कार्य तो उसी के लिए अधिकतर करना पड़ते हैं। इसलिए यह आवश्यकता है कि हम अपनी जरूरतों को कम करें, और जरूरत से अधिक तृष्णा के वशीभूत हो अनावश्यक संचय से बचें। यदि हम ऐसा कर सके तो अनेकों अनर्थों और असदाचारों का जन्म ही न होगा और जीवन में सुख और शांति का मार्ग प्रशस्त होगा।

जैन धर्म ने तो सदाचार को ही एकमात्र धर्म माना 'चारित्तम् खलुधम्मो' भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य का यह मूल्यवान् वाक्य इसका प्रबलसाक्षी है। धर्म का प्रारम्भ सम्यग्दर्शन से होता है। इसे धर्म की जड़ कहा है। जैसे जड़बिना वृक्ष नहीं होता उसी तरह सम्यग्दर्शन के बिना न तो ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान होता और न चारित्र सम्यग्चारित्र होता, फलतः इन तीनों के अभावमें शाश्वत सुख (मुक्ति) की भी प्राप्ति नहीं होती। वर्तमान काल में बढ़ती हुई विलासिता और तत्प्रसाधक सामग्री के प्रति बढ़ता हुआ अनुराग हमारी सम्यक्त्व हीनता का परिणाम है। आत्मा की यथार्थ श्रद्धा के बिना उसके हित की कल्पना भी कैसे की जा सकती है। आज का संसार तन-धन को ही आत्म-स्वरूप मानकर चल रहा है अतः उसकी साज सम्हालमें ही हित देखना है पर विपरीत मार्ग चलने पर यथार्थ हित तो नहीं हो सकता।

आत्मा के अस्तित्व मानने पर ही पर लोक की प्रसिद्धि है। परलोक प्रसिद्धि से ही कृतकर्म का शुभाशुभ भोग प्रसिद्ध है। शुभाशुभ कर्म भोग की स्थिति ही पाप से बचाकर जीव को उत्तम मार्ग में लगाती है फलतः श्रेष्ठ मार्ग की प्रसिद्धि के लिए आत्माका अस्तित्व स्वीकार करना अत्यावश्यक है। यही सच्ची आस्तिकता है। यह मूल है सम्पूर्ण धर्म का, इसके बिना न उपदेश सम्भव है, न आचार को ही कोई स्थान है, और बिना सदाचार के जो परिस्थिति सामने है वह प्रत्यक्षगोचर है।

यह चर्चा सामान्य जनोपयोगी सदाचार की है। संसार के सुख दुख से भिन्न आत्मिक सुख प्राप्त करने के लिए मुक्ति की जो प्राप्ति है उसकी दृष्टि से जो चारित्र का स्वरूप है वह इससे बहुत ऊंचा है।

मन वचन काय की बाह्याभ्यन्तर क्रियाएं कर्मास्रव के लिए कारण भूत हैं, और उनमें यह जीव अनादि से कर्म बन्धन से बद्ध चला आ रहा है। अतः कर्म बन्धन जो जीव की संसारी दशा के लिए निमित्त भूत है उससे छुटकारा पाना आवश्यक है। जैन-धर्म की आध्यात्मिक प्रक्रिया के अनुसार अपनी आत्मा को अपने ज्ञान स्वभाव में स्थित करना ही मुक्ति का हेतु है। राग क्रोध आदि भाव कर्मोदय में होने वाले नैमित्तिक भाव हैं जो कि विकारी भाव माने गए हैं वे आत्मा के स्वभाव भाव नहीं है अतः विकारी भाव रागादि में अपने को रखना ही असदाचार और रागादि रहित स्वभाव में स्थिरता ही सदाचार है।

परन्तु इस प्रकार निश्चयचारित्र की भूमिका के लिए व्यवहार चारित्र धारण करना आवश्यक है। बिना सच्चे व्यवहार चारित्र के निश्चय की प्राप्ति नहीं होती। व्यवहार चारित्र का सीधा अर्थ है कि उस परम निश्चयचारित्र की प्राप्ति को लक्ष्य में रखकर तदुन्मुख जो महाव्रतादि क्रियाएं हैं भले ही वे शुभ योग रूप पुण्यास्रव में भी कारण भूत पड़ती हों परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव शुभाशुभ योग से भी ऊपर जो शुद्ध भूमिका है उसकी प्राप्ति के लक्ष्य से प्रारम्भ में पाप क्रियाओं को छोड़ता है और शुभ क्रियाओं में अगला प्रवेश करता है। वही व्यवहार चारित्र है।

श्री आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने लिखा है—

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्तीय जाण चारित्तम्।

वद समिति गुत्ति रूवं, ववहारणया दु जिणभणियम् — द्रव्य संग्रह

अर्थात् अशुभ से निवृत्ति चारित्र है, फलतः शुभ प्रवृत्ति चारित्र है जो व्रत समिति गुप्ति रूप है और जिनेन्द्र ने उसे व्यवहार नयसे चारित्र संज्ञा दी है।

यद्यपि शुभ योग से पुण्यास्रव और शुभ राग से पुण्यबंध होता है परन्तु सम्यग्ज्ञानी का लक्ष्य शुभ में 'अटकने का नहीं है वह तो उससे ऊपर शुद्ध परणति चारित्ररूप को प्राप्त करना चाहता है तथापि मार्ग तो यहीं से है अतः मार्ग को मार्ग मानकर उसे बुद्धि पूर्वक तत्काल साधन भूत मानकर ग्रहण करता है और उसके द्वारा भोगादि निदान बंध न करके मुक्ति की साधना ही करता है। इसी कारण से वे सब क्रियाएं शुभ रूप होकर भी चारित्र संज्ञा को व्यवहारतः प्राप्त होती हैं।

पांच पापों का त्याग—पंचाणुव्रत या पंच महाव्रतों का स्वीकार—व्रत-रक्षा को पंच समिति जो दयारूप हैं उनका स्वीकार तथा अनशनादि बाह्य तथा प्रायश्चित्तादि अन्तरंग तपों का स्वीकार सम्यग्ज्ञानी को अवश्य होता है तथा अपने मन वचन काय को संयमन मे रखने का सतत प्रयत्न करता है, इसके लिए ध्यान करता है यह सब कार्य उसे उस परम ध्यान रूप निश्चय चारित्र तक पहुंचने में साधन भूत होने से तत्काल उपादेय रूप हैं। शुद्ध चारित्र की प्राप्ति पर बाह्य शुभाचरण स्वयं छूट जाता है उसे छोड़ने का उपदेश नहीं देना पड़ता। यहां उदाहरण से स्पष्ट करना आवश्यक है—जैसे देहली यात्रा का लक्ष्य रखने वाले को पहिले लक्ष्य बांधना होगा पश्चात् वहां पहुंचने के साधनों का अवलम्बन करना होगा। उसे आवलम्बन करने का उपदेश भी दिया जायगा, जिससे वह देहली की तरफ अग्रसर हो, वह टिकट लेता है देहली की दिशा को उन्मुख जो रेल उसी पर सवार होता है अन्य रेलों पर नहीं। पर देहली स्टेशन आ जाने पर बिना किसी के उपदेश व प्रेरणा के रेल छोड़ देगा, टिकट दे देगा और अपने इष्ट स्थान को पहुंच जायगा। क्योंकि वह लक्ष्य देहली का बांधकर चला था।

इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव प्रथम मुक्ति प्राप्त को लक्ष्य बनाता है पश्चात् अपनी वर्तमान प्रवृत्तियों में परिवर्तन कर शुभाचारों को शुद्धाचार के प्राप्ति के लक्ष्य से अवलम्बन करेगा और शुद्धाचार

की प्राप्ति पर शुभाचार स्वयं छूट जायेंगे ऐसा जीव मुक्ति अवश्य प्राप्त करेगा। हां, जो शुभाचार छोड़ अशुभाचार की भूमिका में जाते हैं वे अवश्य ही नरक निगोद के पात्र बनते हैं।

फलतः प्रारम्भ अवस्था में शुद्धाचार की प्राप्ति का अर्थात् शुभाशुभ की भूमिका से ऊंचा उठने का लक्ष्य लेकर सम्यग्दृष्टि जीव अपनी अशुभ (पापमय) प्रवृत्तियों का त्याग करता है और पूर्ण निवृत्ति की असमर्थता से शुभ प्रवृत्ति को (लक्ष्य की प्राप्ति न होने तक) स्वीकार करता है तथापि पुण्योदय से प्राप्त पंचेन्द्रिय विषयों में अटक कर अपने उपयोग को अशुभ नहीं बनाता किन्तु अपने शुभोपयोग को शुद्धोपयोग का साधन बनाता है अतः प्रथम व्रतादि रूप आचरण आवश्यक हो जाता है। द्रव्यसंग्रह की उपान्त्य गाथा में आचार्य श्री ने यही बात लिखी है।

तव सुदवदवं चेदा झाणसह धुरंधरो हवे जम्हा।
तम्हा पयत्त चित्ता यूयं झाणं समब्भसह।

क्योंकि व्रत समिति तप को आलम्बन करने वाले ही परम ध्यान की प्राप्ति करते हैं, अन्य नहीं, अतः इनका पालन करना चाहिए।

हम संसार में भी शान्ति के साथ जीवनयापन करना चाहते हैं तो सदाचार का हमें आलंबन करना चाहिए। वह जब संसार के समस्त दुख के छेदने का उपाय है तब जीवन के दुख को छेदने में समर्थ क्यों नहीं होगा। सारांश यह है कि वर्तमान युग में निज शांति और विश्वशांति का उपाय एक मात्र सदाचार है उसके अभाव में ही देश की व समाज की दुर्दशा है और दुख की परम्पराएं हैं। यदि समाज सदाचार को अपनावे तो स्वयं को तथा वर्तमान संसार को भी सुखी बना सकता है।

पुण्यकर्म-देवपूजा : विकास और विधि

डा० नेमिचंद शास्त्री, ज्योतिषाचार्य M A., Ph. D. D., Lit, आरा

उत्थानिका

वैदिक संस्कृति में यज्ञ का महत्त्वपूर्ण स्थान है, देवपूजा का नहीं। देवपूजा मूलतः श्रमणों की उपासना पद्धति है वैदिक आर्योंकी नहीं। हमारे इस कथन की पुष्टि अनेक ऐतिहासिक शोध खोजों से होती है। यह सार्वजनीन सत्य है कि वैदिक आर्य अग्नि के उपासक थे। यतः वे अग्निमें हविष्यका हवनकर नाना देवताओंको प्रसन्न करते थे। उनका विश्वास था कि देवताओं की प्रसन्नता ही समस्त मनोकामनाओं की पूर्ति का साधन है। अग्नि चयन एवं अग्नि सम्बन्धी अन्य विधियों का वर्णन वैदिक साहित्य में विशेष रूपसे आया है। इस वाङ्मय में अग्नि के दो प्रकार माने हैं—स्मार्ताग्नि और श्रौताग्नि। स्मार्ताग्नि को गृह्याग्नि कहा है और इसमें क्रियमाण यज्ञको पाकयज्ञके नाम से अभिहित किया है। श्रौताग्नि में श्रौत-यज्ञों के करने का विधान वर्णित है। इसके गार्हपत्य, आह्वनीय, दक्षिणाग्नि और सभ्याग्नि ये चार भेद बताये है इन अग्नियों में प्रतिदिन प्रातः और सायंकाल गोदुग्ध, यवागु, तण्डुल दधि धृत आदि पदार्थो द्वारा अग्निहोत्र सम्पन्न किया जाता था। दर्श–पौर्णमास्य, चातुर्मास्य, निरूढपशु, सौत्रमणि, वाजपेय, राजसुय अश्वमेध आदि अनेक अहिंसक और हिंसक यज्ञ भी विशेषावसरों पर सम्पादित होते थे। यज्ञविधियों को अवगत करने तथा उनके अनुष्ठानों को निर्धारित करने के हेतु कर्मकाण्ड मूलक ब्राह्मण साहित्य लिखा गया। अतः स्पस्ट है कि वैदिक आर्य संस्कृतिका सम्बन्ध यज्ञके साथ है, जिसका अवशेष रूप हवन है। हवन का प्रचार ही इस बातका द्योतक है कि यह प्रथा पण्डितों और पुरोहितों तक ही सीमित है। साधारण जनता हवन क्रिया से प्रायः विमुख है।

यज्ञसे **इज्य**: की निष्पत्ति अवश्य हुई है, पर आरम्भिक अवस्था में इस शब्द का अर्थ वेदाध्यापक था। रघुवंश महाकाव्य में **इज्य**: या **इज्या** शब्दका प्रयोग यज्ञ के अर्थ मे उपलब्ध होता है। यथा— **जगत् प्रकाश तदशेषमि-ज्यया** "(३।४८), "**सोऽहमिज्या विशुद्धात्मा**" (१।६८),. "**लवणेन विलुप्तेज्या**" १५।२) में इज्या शब्द यज्ञार्थबोधक है।

जैन-साहित्य में इज्या शब्दका प्रयोग पूजाके अर्थमें उपलब्ध होता है। इस शब्दकी निष्पत्ति √यज्+क्यप्+टाप् से हुई है। आचार्य जिनसेन द्वितीय ने "**प्रोक्ता पूजाऽर्हतामिज्या सा चतुर्धा**" (आदि-पुराण ३८।२६) में इज्याका प्रयोग पूजाके लिये किया है। पण्डित आशाधरने भी **इज्यायै वार्टिकाद्यपि** (सागार० २।८०) में उक्त अर्थमें इज्या शब्दका व्यवहार किया है। अतः सिद्ध होता है कि इज्या शब्द मूलतः वैदिक था, पर जैनाचार्यों ने इसका प्रयोग पूजा के अर्थ में किया है।

पूजा शब्द की व्युत्पत्ति

पूजा शब्द चुरादिगणी पूज् पूजायाम् + अ + टाप् से निष्पन्न है। पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में "तु पश्यपश्यताऽहैः पूजायाम्" (८।१।३९) : "पूजायां नान्तरम्" (८।१।३७) तथा "पूजनात्पूजितमनुदात्तं काष्ठादिभ्यः" (८।१।६७) सूत्रों में पूजा शब्द का प्रयोग किया है। अतएव यह मानना असंगत नहीं है कि पाणिनि के समय में पूजा शब्द प्रचलित था और संस्कृत भाषा में इसका प्रयोग देव पूजा के अर्थ में होने लगा था।

भाषा विज्ञान एवं आर्य भाषा में समाहित अन्य जातीय भाषाओं के शब्दों का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि पूज् धातु मूलतः संस्कृत की नहीं है। यतः इस धातु का सद्भाव पाणिनि के पूर्व संस्कृत भाषा में उपलब्ध नहीं होता और न यूरोपीय जर्मन परिवार की अन्य किसी भाषा में ही यह शब्द पाया जाता है। अन्वेषण और अध्ययन के आधार पर यह मानना युक्ति सङ्गत है कि पूजा शब्द आर्येतर भाषा का है। जब आर्यों का सम्बन्ध इस देश की मूलनिवासी जातियों से अधिक बढ़ा तो आर्य भाषा में द्रविड एवं औष्ट्रिक जाति के शब्दों का सम्मिश्रण हुआ। फलतः द्रविड़ संस्कृति या श्रमण संस्कृति में प्रचलित अनेक शब्द आर्य भाषा में मिश्रित हो गये। पूजा शब्द भी इसी प्रकार का है। जिसका मूलरूप संस्कृत में नहीं द्रविड भाषामें पाया जाता है। द्रविड √पू + √जे से उक्त शब्दकी निष्पत्ति सम्भव है। 'पू' का अर्थ है पुष्प और √जेका अर्थ है करना। इस प्रकार द्रविड 'पूजे' का अर्थ है पुष्पकर्म। यज्ञको वैदिक साहित्य में भी 'पशुकर्म' कहा जाता है, पर पूजाको कोषकारों ने भी पुष्पकर्म के रूप में स्वीकृत किया है।

कारपेण्टर ने पूजा शब्दकी व्युत्पत्ति द्रविड धातु √पुस् से मानी है। इसका अर्थ है लेपन। लेपनका अभिप्राय मूर्त्ति या प्रतिमा के चरणों पर चन्दनलेपन कर ही पूजा सम्पन्न की जाती थी। इस कथन की पुष्टि अर्चन या अर्चा शब्द से भी होती है। अर्चन का मूलतः अर्थ अलंकृत करना है और यह अलङ्करण का कार्य चन्दन, केशर आदि सुगन्धित पदार्थों से सम्पन्न किया जाता था। अतः कारपेण्टर द्वारा लिखित पूजाकी व्युत्पत्तिभी कुछ सीमातक युक्तिसङ्गत प्रतीत होती है। भाषा विज्ञान में अर्थोत्कर्ष एक सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार 'लेपन' शब्द विकसित होकर अभिषेक के रूप को प्राप्त हुआ है। पूजनके प्रारम्भ में अभिषेक क्रिया सम्पन्न की जाती थी। यह क्रिया चन्दन लेपनका प्रतिनिधित्व करती है। अभिषेक में चन्दन, केशर, दुग्ध, घृत आदि पदार्थों का प्रयोग भी उक्त अनुमान का समर्थक है। जैन सम्प्रदाय में प्रचलित 'पञ्चामृताभिषेक' और वैदिक सम्प्रदायमें प्रचलित रुद्राभिषेक क्रिया और विधिकी दृष्टि से एक हैं। दोनों में प्रयुक्त सामग्री एवं कलशोंका प्रमाण प्रायः तुल्य है।

अतः चन्दन लेपनका विस्तार अभिषेक तक मानलेना तर्कसङ्गत है। जब भक्ति आध्यात्मिकता की ओर अधिक बढ़ने लगी तो अभिषेककी सामग्री और विधिमें परिवर्तन हुए।

पूजा प्रथा श्रमण परम्परा की देन है, यह पहले ही लिखा जा चुका है। इस विधिमें वैदिक धार्मिक विधि-विधान मूलतः निहित नहीं हैं। जब आर्य श्रमणों के साथ मिश्रित हो गये तो संन्यास और पूजाविधि ये दोनों ही धार्मिक अनुष्ठान आर्य संस्कृति में भी प्रतिष्ठित हो गये। इस तथ्यसे सभी अवगत हैं कि वर्तमान हिन्दु धर्म वैदिक धर्मकी अपेक्षा श्रमण धर्मसे अधिक प्रभावित है। पौराणिक धर्म तो मूलतः श्रमण धर्म है, केवल कतिपय संशोधन और परिवर्तन ही किये गये है। यही कारण है कि पौराणिक धर्म में न तो वैदिक देवी देवता ही परिलक्षित होते है और न यज्ञ विधियाँ ही।

भक्ति या पूजा पद्धति का प्रादुर्भाव श्रमणों द्वारा हुआ, इसका एक सबल प्रमाण श्रीमद्भागवत में उपलब्ध होता है। भागवत में भक्ति की आत्म-कथा पद्मपुराण के उत्तर खण्डमें वर्णित, आवृत की गयी है। इस कथा से स्पष्ट है कि दक्षिण भारत जो कि श्रमण संस्कृति का केन्द्र रहा है, में भक्ति की उत्पत्ति हुई है। जब आर्यो की यज्ञ विधियां आत्मतुष्टि का साधन न रह सकीं, तो वैदिक आर्यों ने श्रमणों से भक्ति या पूजा विधि ग्रहण की। बताया है—

उत्पन्ना द्राविडे साहं वृद्धिं कर्णाटके गता।
क्वचित्क्वचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता ॥[1]

अर्थात् भक्ति नारद से कहती है—मेरा जन्म द्रविड देश में हुआ, कर्णाटक में मैं बड़ी हुई, महाराष्ट्र देश में कुछ काल तक वास किया और गुजरात में आकर मैं बूढ़ी हो गयी हूं।

भक्ति का प्रतिफल पूजा परम्परा है, जो कि द्रविड देश में प्रचलित हुई। श्रमण संस्कृति का व्यापक प्रसार दक्षिण भारत में था। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय में बारह वर्ष के दुष्काल के अवसर पर बृद्धमुनि संघ को दक्षिण भारत में ले जाने का साहस तभी सम्भव था जब दक्षिण भारत में श्रमणों का अस्तित्व पहले से रहा हो। एकाएक नये स्थान पर इतने बड़े समुदाय को लेकर जाना कभी सम्भव नहीं है। द्रविड, औष्ट्रिक मुण्डा प्रभृति भारत की मूल निवासी जातियों में श्रमण धर्म व्याप्त था। श्री डॉ० रामधारीसिंह 'दिनकर' ने श्रमणों का अस्तित्व वैदिक आर्यो से पूर्व सिद्ध करते हुए लिखा है—

धर्म का नेतृत्व करने वाले ब्राह्मण गृहस्थ थे, किन्तु उनके साथ साथ वैदिक युग में श्रमणों की संख्या भी काफी थी, और अनुमान यह होता है, कि श्रमण संस्कृति आर्यों के आगमन के पूर्व इस देश में विद्यमान थी। ये श्रमण अवैदिक होते थे। ब्राह्मण यज्ञ पात्र को मानते थे, श्रमण उन्हें अनुपयोगी समझते थे[2]।

---

१ श्रीमद्भागवत महापुराण गीताप्रेस गोरखपुर चतुर्थ संस्करण माहात्म्य, अध्याय १ श्लोक ४८
२ संस्कृति के चार अध्याय, राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली, प्रथम संस्करण पृ० १०३

स्पष्ट है कि संस्कृति का अस्तित्व वैदिक आर्यों से पूर्ववर्ती है। वैदिक आर्य यज्ञ सम्पादन करते थे और श्रमण पूजा। उत्तराध्ययन सूत्र में यज्ञ विधियों[1] का जो अहिंसा-परक अर्थ किया है और जो आध्यात्मिक सङ्केत प्रस्तुत किये हैं, उन से ऐसा प्रतीत होता है कि श्रमण आध्यात्मिकता द्वारा वैदिक आर्यों से समन्वय करने का प्रयास कर रहे थे। उत्तराध्ययन में श्रमण और वैदिक आर्यों के संघर्ष और समन्वय के अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं। इन तथ्यों से भी यह निष्कर्ष निकलता है कि श्रमण पूजा विधि के समर्थक थे।

पुण्य कर्म सिद्धि

पूजन पुण्य कर्म है, इसका समर्थन समस्त भारतीय वाङ्मय से होता है; पर हम यहाँ केवल जैन साहित्य के उद्धरण प्रस्तुत कर ही पूजन को पुण्य कर्म सिद्ध करने का प्रयास करेंगे।

जैन वाङ्मय में पूजन विधान का वर्णन प्रतिष्ठा पाठ, श्रावकाचार एवं आराधना सम्बन्धी वाङ्मय में पाया जाता है। पुष्पों द्वारा पूजन विधि सम्पादित की जाती थी, इसका प्रमाण आज की पूजा विधि भी है। पूजन का आरम्भ और अन्त पुष्पों से ही होता है। मध्य में भी पुष्प क्षेपण किये जाते हैं। पुष्पों में सर्वश्रेष्ठ पुष्प कमल होता है। अतः कमल द्वारा पूजन करने का विधान रविषेणाचार्य के पद्मपुराण में पाया जाता है। यथा—

जातरूपमयैः पद्मैः रजतादिमयैस्तथा।
मणिरत्नशरीरैश्च पूजा विरचिता परा[2] ॥

स्वर्ण रजत एवं मणि-रत्न आदि से निर्मित कमलों द्वारा श्री जिनेन्द्रदेव की उत्कृष्ट पूजा की गयी।

---

१. सुसंवुडा पंचहिं, संवरेहिंइह जीवियं अणवकं खमाणा। वोसट्ठकाया सुइचत्तदेहा, महाजयं जयइ जन्नसिट्ठं ॥ १२।४२ अर्थात् जो पाँच संवरों से संवृत्त इस जन्म में संयमरहित जीवन की इच्छा न रखने वाले और परीषहों को सहन करते हुए जिन्होंने शरीर के ममत्त्व को त्याग दिया है, वे ही पवित्र हैं और वे ही जीव कर्मों के जय करने वाले श्रेष्ठ यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं।

तवो जोई जीवो जोइठाणं, जोगा सुधा सरीरं कारिसंगं।
कम्मेहा संजम जोग सन्ती, होमं हुणामि इसिणं पसत्थं ॥ १२।४४॥

अर्थात् तपरूप अग्नि है, जीव अग्नि का स्थान है, तीनों योग स्रुव हैं, शरीर करीषांग है, कर्म एध-इन्धन है और संयम व्यापार शान्ति पाठ है, इस प्रकार के होम से-चारित्र रूप यज्ञानुष्ठान से मैं अग्नि को प्रसन्न करता हूं जिस को ऋषियों ने प्रशस्त माना है, वा जो ऋषियों के लिए प्रशस्त है।

२. पद्मपुराण ज्ञानपीठ संस्करण, ६८/१८

पद्मपुराण में एक सन्दर्भ आता है जिस में बताया है कि अङ्गदादि योद्धा पुष्पाञ्जलि विकीर्णित करते हुए शान्तिनाथ जिनालय में प्रविष्ट होते हैं। इस आख्यान के अध्ययन से यह अनुमान सहज में लगाया जा सकता है कि पूजन में पुष्प कर्म की प्रधानता थी। यथा—

प्राप्ताश्च शान्तिनाथस्य भवनं मुदमुद्वहत्।
कुसुमाञ्जलिभिः साकं विमुञ्चन्तो जयस्वनम् [1]॥

नित्य पूजन में अनादि मूलमन्त्र को पुष्पाञ्जलि समर्पित करने के उपरान्त चत्वारि मङ्गल-पाठ-स्वस्तिवाचन, परमर्षि स्वस्तिवाचन मण्डलाष्टक प्रभृति में पुष्पकर्म का विधान है। स्थापना, सन्निधि-करण, विसर्जन और शान्ति पाठ भी पुष्पों द्वारा सम्पादित किये जाते हैं।

जब सचित्त अचित्त का विचार होने लगा और पूजा पद्धति में आरम्भ जनित दोषों पर विचार विनिमय होने लगा तो पुष्पों की व्याख्या में परिवर्तन हुआ। बेला, चमेली और मालती के पुष्पों के स्थान पर केशर रञ्जित अक्षत एवं सुवर्ण रजत के पुष्प उपयोग में लाये जाने लगे। आरम्भ में विभिन्न प्रकार के पुष्पों का ही प्रयोग होता था।

प्रतिमा शुद्धि और प्रतिष्ठा विधि में पुष्प कर्म की ही प्रधानता है। सहजातिशय, आकार शुद्धि, सौराज्यप्राप्ति, देवोपनीत भोग, अनन्त चतुष्टय, देवकृत अतिशय, केवल ज्ञानजन्य अतिशय प्रभृति क्रियाओं का सम्पादन पुष्पक्षेपण द्वारा ही किया जाता है। इन्द्र यजमान देवियां लौकान्तिक देव आदि की प्रतिष्ठा भी पुष्पों द्वारा होती है। प्रतिष्ठा विधि के सम्पादन में यदि एक सामग्री का ही उपयोग किया जाय तो वह सामग्री पुष्प ही हो सकती है। विभिन्न वर्ण के पुष्पों से नाना तरह की क्रियाएें सम्पादित की जाती हैं। यहां उदाहरणार्थ कुछ विधियों का निर्देश किया जाता है। दश अतिशय स्थापना के हेतु प्रतिष्ठाचार्य पुष्पों को अभिमन्त्रित करता है और इन अभिमन्त्रित पुष्पों द्वारा प्रतिमा में जन्मकालीन दश अतिशयों की स्थापना की जाती है। यों तो केशर चन्दन आदि के अर्चन से भी अतिशयों की स्थापना की जा सकती थी, पर पुष्पकर्म का प्राधान्य दिखलाने के लिए ही उक्त क्रिया पुष्पों के प्रयोग द्वारा सम्पन्न की गयी है। प्रतिष्ठाचार्य निम्नलिखित पद्यों को पढ़ता हुआ मन्त्रित पुष्पों का क्षेपण प्रतिष्ठेय मूर्ति के ऊपर करता है—

[2]निःस्वेदत्वमनारतं विमलता संस्थानमाद्यं शुभम्।
तद्वत्संहननं भृशं सुरभिता सौरूप्यमुच्चैः परम्॥
सौलक्षण्यमनन्तवीर्यमुदितिः पथ्याप्रियासूक्य यः।
शुभ्रं चातिशया दशेह सहजाः सन्त्वर्हदंगानुजाः॥
सनवव्यञ्जनशतैरष्टाग्रशतलक्षणैः।
विचित्रं जगदानन्दि यज्जिनाङ्गं तदस्त्विदम्॥

---

१. वही ७१/४२।
२. आशाधर-प्रतिष्ठासारोद्धार, बम्बई संस्करण, वि० सं० १९७४, ४/३५-३६ पृ० ९१

सहजदशातिशयस्थापनार्थं प्रतिमोपरि दशपुष्पीमावयेत् । "पीठस्थप्रतिमां सर्वतः कुङ्कुमरञ्जित पुष्पाक्षतं विकिरत्[2] ।" "आकारशुद्धिविधानख्यापनार्थं तीर्थोदकाप्लुतपुष्पाणि प्रतिमोपरि निदध्यात्[3] ।" इन्द्रयजमानादिषु तत्तदिन्द्रादिभावस्थापनाय सौधर्मः पुष्पाक्षतं क्षिपेत्[4] ।" "अनन्तज्ञानादिचतुष्टयप्रतिष्ठार्थं प्रतिमोत्तमाङ्गे चतुःपुष्पीमारोपयेत्[5] ।" "घातिक्षयजदशातिशयस्थापनार्थं पीठिकायां दशपुष्पाणि क्षिपेत्[6] ।" 'समवशरणस्थापनार्थं प्रतिमायाः समन्तात् पुष्पाक्षतं क्षिपेत्[7] ।"; "चतुर्दशदेवोपनीतातिशय-स्थापनार्थं पीठिकायां चतुर्दशपुष्पाणि क्षिपेत्[8] ।"; "अष्टमहाप्रातिहार्यस्थापनाय पीठिकायामष्टपुष्पीः क्षिपेत्[9]"; "सिंहासने पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्[10]"; "भामण्डले पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्[11]"; "सरस्वत्यां पुष्पा-ञ्जलिं क्षिपेत्[12]"; "चामरधारियक्षयोः पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्[13]"; "रक्ताशोके पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्[14]" "छत्रत्रये पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्[15]"; 'दुन्दुभौ पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्[16]"; "मालाविद्याधरयोः पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्[17]"; लाञ्छने पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्[18]"; "यक्षोपरि पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्[19]"; "शासनदेवतोपरि पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्[20]" "तथा "एतत्पञ्चकं पठित्वा कल्याणः पञ्चकस्थापनाभिव्यक्तये प्रतिमायां पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्[21]।।"

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि जैन प्रतिष्ठा विधि पुष्पकर्म पर अवलम्बित है । पुष्पार्चन के अभाव में इस विधि को पूर्ण नहीं किया जा सकता ।

जैन वाङ्मय में पुष्पकर्म के समर्थन में अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं ही, पर महाभारत से भी पुष्पार्चन विधि का पूर्ण समर्थन होता है । महाभारत में बताया गया है कि जो मनुष्य पवित्र होकर देव-ताओं को पुष्प समर्पित करता है, उसके ऊपर सभी देवता प्रसन्न होते हैं तथा उसे सभी प्रकार की पुष्टियां प्रदान करते हैं[22] । देवताओं को अच्छी गन्ध वाले पुष्प अधिक प्रिय होते हैं और बुरी गन्ध वाले अप्रिय[23]। जिन वृक्षों में कांटे नहीं होते, उनमें जो अधिकांश श्वेतवर्ण वाले हैं, वे पुष्प देवताओं को सदैव प्रिय होते

---

२. वही, पत्र ९१ उ० ३. वही पत्र ९१ उ० ४. वही पत्र ९२ उ० ५. वही पत्र ११३ पू०, ६. वही पत्र ११३ उ० ७. वही पत्र ११४ पू० ८. वही, पत्र ११४ उ० ९. वही पत्र ११४ उ० १०. वही पत्र ११४ उ० ११. वही पत्र ११४ उ० १२. वही पत्र ११४ उ० १३. वही पत्र ११५ पू० १४. वही पत्र ११५ पू० १५. वही पत्र ११५ पू० १६. वही पत्र ११५ पू० १७. वही पत्र ११५ पू० १८. वही पत्र ११५ उ० १९ वही पत्र ११५ उ० २०. वही पत्र ११५ उ० २१. वही पत्र ११६ पू०

२२. देवताभ्यः सुमनसो यो ददाति नरः शुचिः ।
तस्य तुष्यन्ति वै देवास्तुष्टाः पुष्टिं ददत्यपि ।। महा० अनुशासनपर्व. ९८/२१.

२३. द्विविधो हि स्मृतो गन्ध इष्टोऽनिष्टश्च पुष्पजः ।
इष्टगन्धानि देवानां पुष्पाणीति विभावय ।। वही० अनु० ९८/२७

हैं[1]। जल से उत्पन्न होने वाले कमल आदि पुष्पों से गन्धर्वों, नागों और यक्षों की अर्चा करनी चाहिये[2]। श्रीकृष्ण को कुमुद, करबीर, चम्पक, चमेली, जुही, मालती आदि विशेष प्रिय हैं। इन पुष्पों से जो पूजन विधि सम्पादित करता है, उसकी समस्त मनोकामनाएं सम्पन्न हो जाती[3] हैं।

पूजन का विकास क्रम

श्रमण परम्परा में पूजन पद्धति का विकास एकाएक नहीं हुआ है। स्तुतियां स्तोत्र रूप में आराध्य को प्रसन्न करने की परम्परा भारतीय वाङ्‌मय में ऋग्वेद से ही उपलब्ध होती है। यह सत्य है कि श्रमण परम्परा में स्तोत्र पढ़ते हुए पुष्प क्षेपण द्वारा भक्त क्रिया को सम्पन्न किया जाता था। पूज्य-पाद की दश भक्तियां इस बात का प्रमाण हैं कि आराधक आराध्य के गुणों का स्मरण कर अपनी आत्मा को पवित्र बनाता है। यह सिद्धांत है कि अनादि कर्ममल से मलिन आत्मा विभाव परिणति रूप परिणमन कर रही है। जब आत्मा का परिणमन स्वभावरूप हो जाता है, और कर्ममल हटने लगता है, तो यह आत्मा परमात्म-पद की ओर अग्रसर हो जाती है। आत्मा की परम विशुद्ध अवस्था का नाम ही परमात्मा है। यह परमात्मा वीतरागी सर्वज्ञ और हितोपदेशी है। यह किसी की स्तुति अथवा निन्दा से प्रसन्न अथवा अप्रसन्न नहीं होता, पर इतना सत्य है कि निन्दा या स्तुति करने वाला स्वयं ही पाप या पुण्य को प्राप्त कर लेता है। आचार्य समंतभद्र ने उक्त तथ्य का स्पष्टीकरण करते हुए बताया है कि जिनेन्द्र के पुण्य गुणों का स्मरण आत्मा को पाप परिणति से छुड़ाकर पवित्र बनाता है यथा—

न पूजयाऽर्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ ! विवान्त- वैरे।
तथापि ते पुण्य-गुण-स्मृतिर्नः पुनाति चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ।।[4]

वास्तव में परमात्मा की पूजा भक्ति करने, उनके गुणों में अनुराग बढ़ाने और उनका भजन या चिन्तन करने से जीवात्मा पापों से निवृत्ति प्राप्त करता है और पुण्योपार्जन करता है। जो व्यक्ति परमात्मा की पूजा, भक्ति और उपासना नहीं करता, वह अपने आत्मीय गुणों से पराङ्‌मुख और आत्म लाभ से वञ्चित रहता है।

पद्मपुराण में जिनपूजा और जिनभक्ति का माहात्म्य अनेक पद्यों में वर्णित है। यहां उदाहरणार्थ कतिपय पद्य प्रस्तुत किये जाते हैं:-

---

१. अकंटकानां वृक्षाणां श्वेतप्रायाश्च वर्णतः।
तेषां पुष्पाणि देवानामिष्टानि सततं प्रभो ।। वही० अनु० ९८/२८

२. जलजानि च माल्यानि पद्मादीनि च यानि वै।
गन्धर्वनागयक्षेभ्यस्तानि दद्याद् विचक्षणः ।। वही० ९८/२९

३. शृणुष्वावहितो राजन् पुष्पाणि प्रियकृन्ति मे।
कुमुदं करवीरं च चणकं चम्पकं तथा ।। वही० आश्व० ९२ अध्याय पृ० ६३४१.

४. श्री वासुपूज्य जिनस्तवन पद्य २।

जिनबिम्बं जिनाकारं जिनपूजां जिनस्तुतिम् ।
यः करोति जनस्तस्य न किञ्चिद् दुर्लभं भवेत् ।।[1]

× × ×

मनुष्यत्वं समासाद्य दुर्लभं तत्परायणैः ।
महेशानस्य कर्त्तव्यं जिनस्य समुपासनम् ।।[2]

× × ×

वन्दनं यो जिनेन्द्राणां त्रिकालं कुरुते नरः ।
तस्य भावविशुद्धस्य सर्वं नश्यति दुष्कृतम् ।।[3]

× × ×

कर्मभक्त्या जिनेन्द्राणां क्षयं भरत गच्छति ।
क्षीणकर्मा पदं याति यस्मिन्ननुपमं सुखम् ।।[4]

उपर्युक्त पद्यों से अवगत होता है कि जिनपूजा से भावविशुद्ध होने के कारण दुष्कृति का विनाश होता है। पुण्योपार्जन होने से सांसारिक वैभव आदि भी उपलब्ध होते हैं।

मूलाराधना की विजयोदया टीका में अर्हत् पूजा को शुभोपयोग का कारण माना है। बताया है कि जिस प्रकार अर्हन्त आदि परमेष्ठी शुभोपयोग उत्पन्न होने में कारण होते हैं उसी प्रकार उनके प्रतिबिम्ब भी शुभोपयोग उत्पन्न करने में सहायक हैं। बाह्य पदार्थ के आश्रय से जीव में शुभ या अशुभ परिणाम उत्पन्न होते हैं और इष्टानिष्ट पदार्थों का सान्निध्य होने से राग द्वेष की उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार अपने पुत्र के समान किसी अन्य व्यक्ति के पुत्र का अवलोकन करने से अपने पुत्र की याद हो आती है, उसी प्रकार अर्हदादि के प्रतिबिम्बका दर्शन करने से अर्हन्त आदि परमेष्ठियों के गुणों का स्मरण हो जाता है। इस स्मरण से नवीन अशुभ कर्म का संवर होता है और नवीन शुभ कर्मों का आगमन। जो शुभ प्रवृतियां बन्धको प्राप्त हुई हैं उनके स्थिति और अनुभाग में परमेष्ठी के गुणों के स्मरण से वृद्धि होती है, तथा अशुभ प्रकृतियों के स्थिति और अनुभाग में हीनता आती है। इस प्रकार प्रतिबिम्ब पूजा और उपासना इष्ट पुरुषार्थ की सिद्धि में विशेष सहायक है—

"यथा वीतरागद्वेषास्त्रिलोकचूडामणयोऽर्हदादयो भव्यानां शुभोपयोगकारणतामुपयान्ति। तद्वदेतान्यपि तदीयानि प्रतिबिम्बानि। बाह्यद्रव्यालम्बनो हि शुभोऽशुभो वा परिणामो जायते। यथात्मनि मनोज्ञामनोज्ञविषयसान्निध्याद्रागद्वेषौ स्वपुत्रसदृशदर्शनं पुत्रस्मृतेरालम्बनं। एवमर्हदादिगुणानुस्मरण निबन्धनं प्रतिबिम्बं। तथानुस्मरणं अभिनवा शुभप्रकृतेः संवरणे प्रत्यग्रशुभकर्मादाने गृहीतशुभप्रकृत्यनुभव-स्फारीकरणे, पूर्वोपात्ताशुभप्रकृतिपटलरसापहासे च क्षममिति सकलाभिमतपुरुषार्थसिद्धिहेतुतया उपासनीयानीति।"[5]

१. पद्मपुराण १४।२१३। २. वही १४।२६०। ३. वही ३२।१५८। ४. वही ३२।१८३।
५. मूलाराधना, विजयोदया टीका, शोलापुर, सन् १९३५, आ० १ पृ० १६०

सिद्ध है कि आरम्भ में गुण स्मरण और स्तवन के रूप में भक्ति भावना प्रचलित थी। अष्ट द्रव्यरूप पूजन का प्रचार उसके पश्चात् ही हुआ है। खारवेल के शिलालेख से ज्ञात होता है कि नन्द के समय में पूजन पद्धति का प्रचार था। कलिङ्ग जिननायक मूर्त्ति को नन्द उडीसा से पटना उठा लाये थे। और सम्राट् खारवेल ने मगध पर चढ़ाई कर शताब्दियों के बाद अपने पूर्वजों की मूर्त्तिको घर ले जाकर पुनः प्रतिष्ठित किया था[1]। खारवेल को जिन पूजक के रूप में भी उल्लिखित पाया जाता है[2]।

आचार्य समन्तभद्र के निम्नलिखित पद्य से भी यह सिद्ध है कि आरम्भ में स्तवन ही भक्ति का मूल रूप था—

स्तुतिः स्तोतुः साधोः कुशलपरिणामाय स तदा
भवेन्मा वा स्तुत्यः फलमपि ततस्तस्य च सतः।
किमेवं स्वाधीन्याज्जगति सुलभे श्रायसपथे
स्तुयान्नत्वा विद्वान्सततमभिपूज्यं नमिजिनम्[3]॥

अर्थात् स्तुति के समय स्तुत्य वर्तमान रहे अथवा न रहे, फलप्राप्ति उसके द्वारा होती हो, अथवा न होती हो, पर भक्तिभावपूर्वक स्तुति करने वाले को शुभोपयोग के कारण पुण्य की प्राप्ति होती है। स्तुति करने से श्रेयोमार्ग सुलभ हो जाता है।

उपासना सम्बन्धी साहित्य का अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि दर्शन और स्तवन के पश्चात् पूजन की विधि आती है। पद्मनन्दिपञ्चविंशति में दर्शन पूजन के अनन्तर स्तवन का निर्देश आया है। इस निर्देश से ऐसा अनुमान होता है कि दर्शन के पश्चात् पूजन सामग्री का समर्पण और तदनन्तर गुणानुवाद रूप स्तवन करना विधेय अनुष्ठान है। बताया है—

---

१ ………मगधानं च विपुलं भयं जनेनो हथी सुगंगीय [०] पाययनि [।] मागधं च राजानं वहसतिमितं पादे वंदापयति नन्दराजनीतं च कालिङ्गजिनं संनिवेसं………गह-रतनान पडिहारेहि अंगमागधवसुं च नेयानि [।]— प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री पृ० २५२

२. ………गुणविसेसकुसलो सवपासण्डपूजको सवदेवायतन संकारकारको [अ] पति-हत-चकिवाहि-निबलो चकधुरो गुनचको पवन-चको राजसि वस-कुल-विनिसितो महाविजयो राजा खारवेल-सिरि। वही० पृ० २५४

३. वृहत्स्वयम्भूस्तोत्र, नमिजिनस्तवन, श्लोक १.

ये जिनेन्द्रं न पश्यन्ति पूजयन्ति स्तुवन्ति न ।
निष्फलं जीवितं तेषां धिक् च गृहाश्रमम् ।। [1]

× × ×

प्रपश्यन्ति जिनं भक्त्या पूजयन्ति स्तुवन्ति ये ।
ते च दृश्याश्च पूज्याश्च स्तुत्याश्च भुवनत्रये ।। [2]

धर्मसंग्रह श्रावकाचार में स्पष्टतः कृत्रिम अकृत्रिम प्रतिमाओं के पूजन का निर्देश आया है । जो परमात्मस्वरूप का अभ्यास करना चाहता है वह दर्शन गुणानुवाद एवं द्रव्य समर्पण रूप पूजन का सम्पादन कर अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है । बताया है—

भक्त्यार्ऽर्हत्प्रतिमा पूज्या कृत्रिमाऽकृत्रिमाः सदा ।
यतस्तद्गुणसंकल्पात्प्रत्यक्षं पूजितो जिनः ।। [3]

अतएव यह निष्कर्ष निकालना सहज है कि गुणानुवाद गुणस्मरण स्तुतिस्तवन के पश्चात् अष्टद्रव्ययुक्त पूजन का प्रचार हुआ । मुनि या साधु सर्वसावद्य के त्यागी होने के कारण गुणानुवाद रूप भक्ति करते थे, पर जब गृहस्थों के विधेय कर्तव्य में पूजन को परिगणित किया गया तो द्रव्यरूप पूजा का विकास हुआ । पूजनविधि में द्रव्यों की जो विकास स्थिति है उससे भी यह सिद्ध होता है कि पूजन सामग्रियों का विकास शनैः शनैः हुआ है ।

पूजन सामग्री का विकास क्रम

पूजन सामग्री के विकास की एक सुनिश्चित परम्परा हमें जैन वाङ्मय में उपलब्ध होती है । आरम्भ में पूजन विधि केवल पुष्पों द्वारा सम्पन्न की जाती थी, पर क्रमशः पुष्पों के पश्चात् धूप चन्दन और नैवेद्य द्रव्यों का विकास हुआ । पद्मपुराण, हरिवंशपुराण एवं जटासिंहनन्दि के वराङ्गचरित से हमारे उक्त कथन का सम्यक् समर्थन होता है । पद्मपुराण में बताया है कि राजा श्रीकण्ठ अपनी रानी पद्नाभा के साथ नन्दीश्वर द्वीप में पूजन करने के लिए जाने लगा, पर जब मानुषोत्तर पर्वत से आगे न जा सका तो वह विलाप करता हुआ कहने लगा कि मैंने नाना प्रकार के पुष्प, धूप और मनोहारी गन्ध से भगवान् की पूजा करने का सङ्कल्प किया था, पर वह पूरा न हो सका । यथा—

---

१. पद्मनन्दि पंचविंशति, शोलापुर संस्करण, सन् १९६२, उपासक संस्कार, ६/१५
२. वही, ६/१४
३. धर्मसंग्रह श्रावकाचार ६/४२

पूजां च विविधैः पुष्पैर्धूपगन्धैश्च हारिभिः ।
नमस्कारं च शिरसा धरासंसक्त मौलिना ।। [1]

रावण स्नानकर धौतवस्त्र पहन स्वर्ण और रत्ननिर्मित जिनबिम्बों की नदी के तट पर पूजा करने लगा। इस अवसर पर उसके द्वारा प्रयुक्त पूजा सामग्री में धूप, चन्दन, पुष्प और नैवेद्य का ही उल्लेख आया है, अन्य द्रव्यों का नहीं। अतः स्पष्ट है कि प्रचलित अष्टद्रव्यों द्वारा पूजन करने की प्रथा कुछ समय के पश्चात् ही प्रचलित हुई होगी।

स्थापयित्वा घनामोदसमाकृष्टमधुव्रतैः ।
धूपैरालेपनैः पुष्पैर्मनोज्ञैर्बहुभक्तिभिः ।।[2]

विधाय महतीं पूजां सन्निविष्टः पुरोऽवनौ ।
सगर्भं वदनं चक्रे पूतैः स्तुत्यक्षरैश्चिरम् ।।[3]

जटासिंहनन्दि के वराङ्गचरित में जिन पूजन सामग्रियों का उल्लेख आया है उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि संसार के जितने उत्तम पदार्थ हैं, वे सभी पूजन सामग्री में व्यवहृत होते थे। जल, दुग्ध दधि, तण्डुल, सिद्धार्थक, तिल, घृत, फल सुगन्धित द्रव्य, लावा एवं पुष्प आदि सामग्रियां पूजन में चढाई जाने का उल्लेख है। बताया है—

आपः पयः पुष्पफलानि गन्धा यवाज्यसिद्धार्थकतण्डुलाश्च ।
लाजाक्षताः कृष्णतिलाः सदर्भाः अर्घ्याणि दध्ना रचितानि तत्र ।।
आपो हि शान्त्यर्थमुदाहरन्ति आप्यायनार्थं हि पयो वदन्ति ।
कार्यस्य सिद्धिं प्रवदन्ति दध्ना दुग्धात्पवित्रं परमित्युशन्ति ।।
दीर्घायुराप्नोति च तण्डुलेन सिद्धार्थका विघ्नविनाशकार्याः ।
तिलैर्विवृद्धिं प्रवदन्ति नृणामारोग्यतां याति तथाक्षतैस्तु ।।
यवैः शुभं वर्णवपुर्घृतेन फलैस्तु लोकद्वयभोगसिद्धिः ।
गन्धास्तु सौभाग्यकरानराणां लाजैश्च पुष्पैरपि सौमनस्यम् ।।[4]

हरिवंशपुराण में प्रथम जिनसेन ने जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य का उल्लेख किया है। इस उल्लेख में अष्ट द्रव्यों का क्रम यथावत् नहीं है और न जलका पृथक् निर्देश ही है। अभिषेक में दुग्ध इक्षुरस, घृत, दधि एवं जलका निर्देश है, पर पूजन सामग्री में जल का कथन नहीं आया है। यथा—

---

(१) पद्मपुराण ६।१४६. (२) वही १०।८९. (३) वही. १०।९०,
(४) वरांगचरित, माणिकचन्द्रग्रन्थमाला बम्बई १९३८ २३।१८–२१

हरिचन्दनगन्धाढ्यैर्गन्धशाल्यक्षताक्षतैः ।
पुष्पैर्नानाविधैरुद्धं धूपैः कालागुरूद्भवैः ॥
दीपैर्दीप्रशिखाजालैर्नैवेद्यैर्निरवद्यकैः ।
तावानर्चतुरर्चां तामर्चनाविधिकोविदैः ॥

—हरिवंशपुराण, ज्ञानपीठ संस्करण २२।२२-२३

अष्टद्रव्यों का विकास शनैः शनैः हुआ है, इस कथन की पुष्टि अमितगतिश्रावकाचार से भी होती है। इस ग्रन्थ में गंध, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और अक्षत इन छः द्रव्यों का उल्लेख उपलब्ध होता है। 'आदि' शब्द के प्रयोग से भी अष्ट संख्या का निर्धारण नहीं माना जा सकता है। जटासिंहनंदि ने अपने समय में प्रचलित समस्त मंगल द्रव्यों से पूजन करने का निर्देश किया है, तथा उनके द्वारा प्रयुक्त द्रव्यों की नामावली से भी अष्ट संख्या की सिद्धि नहीं होती है।

पूजन सम्बन्धी जैन-अजैन वाङ्मय के आलोडन से भी यह प्रतीत होता है कि पुष्प द्रव्य के पश्चात् ही अन्य द्रव्यों का प्रयोग हुआ है। द्रव्यों की आठ संख्या अष्टगुण या अष्ट अंग के आधार पर निश्चित की गयी होगी। पूजाप्रकाश नामक ग्रन्थ में लिखा है—

"पुष्पाभावे फलं शस्तं फलाभावे तु पल्लवम् ।
पल्लवस्याप्यभावे तु सलिलं ग्राह्यमिष्यते ॥
पुष्पाद्यसम्भवे देवं पूजयेत्सिततण्डुलैः । पूजाप्रकाश पृ० ६५ पर उद्धृत

पुष्प, पल्लव, माला दीप और धूप को माङ्गलिक द्रव्य माना गया है, इसकी पुष्टि प्राचीन पुरातत्त्वावशेषों से भी होती है। खजुराहो के आदिनाथ और पार्श्वनाथ मन्दिर के द्वारों पर पुष्पशाखा, पल्लवशाखा, किन्नरशाखा, मिथुनशाखा ये चार मुख्य शाखायें तथा इनकी पुनरावृत्तियां होने से पञ्च, सप्त और अष्टशाखा उपलब्ध होती हैं। पुष्पमालाओं का व्यवहार प्रत्येक धार्मिक और लौकिक कृत्य में किया गया है। नारियल, कमल, माला और लतायें मंगल प्रतीकों के रूप में प्रयुक्त हैं। अतएव पूजन के अष्ट द्रव्यों की संख्या छठवीं शती के पश्चात् ही निर्धारित हुई मालूम पड़ती है।

अमितगति का छः द्रव्य सम्बन्धी पद्य निम्न प्रकार है। इस पद्य में प्रयुक्त 'आदि' शब्द अन्य द्रव्यों का आधायक अवश्य है, पर अष्ट संख्या बोधक नहीं है। यथा—

गन्धप्रसूनसान्नाद्यदीपधूपाक्षतादिभिः ।
क्रियमाणाथवा ज्ञेया द्रव्यपूजाविधानतः ॥

—अमितगति श्रा० सूरत संस्करण वि० सं० २०१५ परि० १२ प० १२

पद्मपुराण,[1] पद्मनन्दिपञ्चविंशति,[2] आदिपुराण, हरिवंशपुराण, वसुनन्दिश्रावकाचार आदि ग्रन्थों से अष्टद्रव्यों का फलादेश भी ज्ञात होता है। द्रव्यों द्वारा पूजन करने से ऐहिक और पारलौकिक अभ्युदयों की प्राप्ति होती है। भावसंग्रह में भी अष्टद्रव्यों का पृथक्-पृथक् फलादेश बताया गया है।[3]

पूजन विधि और पूजन के भेद

दन्तधावन, स्नानक्रिया आदि के द्वारा पवित्र होकर शुद्धवस्त्र धारण करे। अनन्तर मुख पर वस्त्र लगाकर मौन पूर्वक जिनेन्द्रदेव की पूजा में प्रवृत्त होना चाहिये। उपासकाध्ययन में आचार्य सोमदेव ने बताया है—

> अन्तःशुद्धि बहिःशुद्धि विदध्याद्देवतार्चने।
> आद्या दौश्चित्यनिर्मोक्षादन्या स्नानाद्यथाविधिः ॥४६२॥
> आप्लुतः संप्लुतस्वान्तः शुचिवासो विभूषितः।
> मौनसंयमसम्पन्नः कुर्याद्देवार्चनाविधिम् ॥४७२॥

---

१. सामोदैर्भूजलोद्भूतैः पुष्पैर्यो जिनमर्चति।
विमानं पुष्पकं प्राप्य सक्रीडति यथेप्सितम् ॥

—पद्मपुराण ज्ञानपीठ संस्करण ३२/१५९–१६३

२. जातिर्जरामरणमित्यानलत्रयस्य जीवाश्रितस्य बहुतापकृतो यथावत्।
विध्यापनाय जिनपादयुगाग्रभूमौ धारात्रयं प्रवरवारिकृतं क्षिपामि ॥

—पद्मन० सोलापुर संस्करण जिनपूजाष्टक १९।१–८

३. पसमइ रयं असेसं जिणपयकमलेसु दिण्णजलधारा।
भिंगारणालणिग्गय भमंतभिंगेहि कब्बुरिया ॥
चंदणसुअंधलेओ जिणवरचलणेसु जो कुणइ भविओ।
लहइतणू विक्किरियं सहावसुयंधयं अमलं ॥
पुण्णाणं पुज्जेहि य अक्खयपुंजेहि देवपयपुरओ।
लब्भंति णवणिहाणे सुअक्खए चक्कवट्टित्तं ॥
अलिचुंबिएहिं पुज्जइ जिणपयकमलं च जाइमल्लीहिं।
सो हवइ सुरवरिंदो रमेइ सुरतरुवरवणेहिं ॥

—भावसंग्रह, माणिकचन्द दि० जैन ग्रन्थमाला ४७०-४७७

तोयैः कर्मरजः शान्त्यै गन्धैः सौगन्धसिद्धये।
अक्षतैरक्षयावाप्त्यै पुष्पैः पुष्पशरच्छिदे ॥
चरुभिः सुखसंवृध्द्यै देहदीप्त्यै प्रदीपकैः।
सौभाग्यावाप्तये धूपैः फलैर्मोक्षफलाप्तये ॥

—वामदेव पंडित विरचित भावसंग्रह पद्य ४८८-८९

दन्तधावनशुद्धास्यो मुखवासोचिताननः ।
असंजातान्यसंसर्गः सुधीर्देवानुपाचरेत् ।।४७३।।

अर्थात् देवपूजन करने के लिए अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग शुद्धि करनी चाहिये । चित्त से बुरे विचारों को दूर करने से अन्तरङ्ग शुद्धि और विधिपूर्वक स्नान आदि क्रियायें करने से बहिरङ्ग शुद्धि होती है । स्नान कर शुद्ध वस्त्र एवं आभूषण धारण करे तथा मन को वश में कर मौन एवं संयमपूर्वक जिनेन्द्र-देव का पूजन करना चाहिये । दतौन से मुख शुद्ध कर और मुख पर वस्त्र धारण कर तथा अन्य व्यक्तियों के सम्पर्क से पृथक् रहकर जिनेन्द्र देव के पूजन में प्रवृत्त होना चाहिये । पूजन के लिये छः कर्तव्य कर्मों का सम्पादन करना परमावश्यक है ।

प्रस्तावना पुराकर्म स्थापना सन्निधापनम् ।
पूजा पूजाफलं चेति षड्विधं देवसेवनम् ।।५२९।। —उपासकाध्ययन

(१) प्रस्तावना, (२) पुराकर्म, (३) स्थापना, (४) सन्निधापन, (५) पूजा और (६) पूजाफल

पूजक सर्वप्रथम जिनेन्द्र भगवान् के अभिषेक का संकल्प कर उत्तर दिशा की ओर मुंह कर जिनेन्द्र बिम्ब को पूर्व दिशा की ओर स्थापित करे । इस प्रकार पूजन के समय जिनेन्द्र प्रतिमा के अभिषेक की तैयारी करने का नाम प्रस्तावना है ।[1] जिस स्थान पर प्रतिमा को स्थापित कर अभिषेक करना है, उस स्थान की शुद्धि करके जलादिक से भरे हुए कलशों को चारों ओर कोणों में स्थापित करना पुराकर्म है ।[2] इन कलशों के मध्यवर्ती स्थान में रखे हुए सिंहासन पर जिनबिम्ब को स्थापित करना स्थापना है[3] ये वही जिनेन्द्र हैं, वही सुमेरुगिरि है, वही सिंहासन है, यह क्षीर सागर का जल है और मैं साक्षात् इन्द्र बनकर भगवान का अभिषेक कर रहा हूं, इस प्रकार की कल्पना करके प्रतिमा के समीपस्थ होना सन्निधा-

---

१. यः श्री जन्मपयोनिधिर्मनसि च ध्यायन्ति यं योगिनो-
येनेदं भुवनं सनाथममरा यस्मै नमस्कुर्वते
यस्मात्प्रादुरभूच्छ्रुतिः सुकृतिनो यस्य प्रसादाज्जना ।
यस्मिन्नैष भवाश्रयो व्यतिकरस्तस्यारभे स्नापनाम् ।।

—उपासकाध्ययन ५३० । इतिप्रस्तावना

२. रत्नाम्बुभिः कुशकृशानुभिरात्तशुद्धौ भूमौ भुजङ्गमपतीनमृतैरुपास्य ।
कुर्मः प्रजापतिनिकेतनदिङ्-मुखानि दूर्वाक्षतप्रसवदर्भविदर्भितानि ।।५३३।।
पाथः पूर्णान्कुम्भान्कोणेषु सुपल्लवप्रसूनार्चान् ।
दुग्धाब्धीनिव विदधे प्रवालमुक्तोल्वणांश्चतुरः ।।५३४।। इति पुराकर्म

३. तीर्थोदकैर्मणिसुवर्णघटोपनीतैः पीठे पवित्रवपुषि प्रतिकल्पितार्थे ।
लक्ष्मी श्रुतागमनबीजविदर्भगर्भे संस्थापयामि भुवनाधिपतिं जिनेन्द्रम् ।।५३६।। —इति स्थापना

पन है ।[1] आरती उतारना, अभिषेक करना अष्ट द्रव्य से अर्चा करना, स्तोत्र पाठ करना, चंवर ढोरना, गीत, नृत्य आदि से भगवद्भक्ति करना पूजा है ।[2] जिनेन्द्र प्रतिमा के पास स्थित होकर इष्ट प्रार्थना करना पूजाफल है ।[3]

उपर्युक्त पूजन विधि वर्तमान में प्रचलित पूजन विधि से भिन्न है । आचार्य सोमदेव की उक्त विधि एक प्रकार से पञ्चामृत अभिषेक की समस्त क्रियाओं में ही समाहित है । पञ्चामृत अभिषेक के समय प्रस्तावना, पुराकर्म, स्थापना सन्निधापन, पूजा और पूजाफल ये विधियां आचरित की जाती हैं । रुद्राभिषेक के साथ तुलना करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त विधि इस अभिषेक में प्रयुक्त होने वाली क्रियाओं से भिन्न नहीं है ।

वर्तमान समय में पूजन में प्रयुक्त आह्वानन, स्थापन, सन्निधिकरण, पूजन और विसर्जन रूप पञ्चोपचार की क्रिया का प्रारम्भ कब और किस प्रकार हुआ, यह विचारणीय प्रश्न है ? प्रतिष्ठापाठों में आह्वानादि का विधान पाया जाता है । पं० आशाधर जी ने ग्रहों और अन्य देवों के पञ्चोपचार के साथ तीर्थंकर पूजा में भी आह्वानादि का प्रयोग किया है ।[4] आचार्य देवसेन ने भावसंग्रह में[5] पूर्व आह्वान

---

१. सोऽयं जिनः सुरगिरिर्ननु पीठमेतदेतानि दुग्धजलधेः सलिलानि साक्षात् ।
इन्द्रस्त्वहं तव सवप्रतिकर्मयोगात्पूर्णा ततः कथमियं न महोत्सवश्रीः ।।५३७।।
—इति सन्निधापनम् ।

२. अम्भश्चन्दनतन्दुलोद्गमहविर्दीपैः सधूपैः फलै—
र्चित्वा त्रिजगद्गुरुं जिनपतिं स्नानोत्सवानन्तरम् ।
तं स्तौमि प्रजयामि चेतसि दधे कुर्वे श्रुताराधनं
त्रैलोक्यप्रभवं च तन्महमहं कालत्रये श्रद्दधे ।।५५६।।
यज्ञैर्मुदावभृथभाग्भिरुपास्य देवं पुष्पाञ्जलिप्रकरपूरितपादपीठम् ।
श्वेतातपत्रचमरीरुहदर्पणाद्यैराराधयामि पुनरेनमिनं जिनानाम् ।।५६०।। —इतिपूजा

३. भक्तिर्नित्यं जिनचरणयोः सर्वसत्त्वेषु मैत्री ।
सर्वातिथ्ये मम विभवधीर्बुद्धिरध्यात्मतत्त्वे ।
सद्विद्येषु प्रणयपरता चित्तवृत्तिः परार्थे
भूयादेतद्भवति भगवन्धाम यावत्त्वदीयम् ।।५६१।।
धर्मेषु धर्मनिरतात्मसु धर्महेतौ धर्मानवाप्त महिमास्तु नृपोऽनुकूलः ।
नित्यं जिनेन्द्रचरणार्चनपुण्यधन्याः कामं प्रजाश्च परमां श्रियमाप्नुवन्तु ।।५६३।।
—इति पूजाफलम्

४. स्वामिन् संवौषट् कृतावाहनस्य द्विष्टांतेनोट्टंकितस्थापनस्य ।
स्वं निर्नेक्तुं ने वषट्कार जाग्रत् सान्निध्यस्य प्रारमेयाष्टधेष्टिम् ।।
ॐ ह्रीं अर्हं श्री परमब्रह्म अत्रावतरावतर संवौषट्……/—आशाधर प्रतिष्ठासारोद्धार,
बम्बई, सं. १९७४ पृ. ४६

५. आवाहिऊण देवे सुरवइसिहि कालणेरिए वरुणे ।
पवणे जरवे ससूली सपिय सवाहणे ससत्थेय ।।—भावसंग्रह गा० ४३९
झाणं झाऊण पुणो मज्झाणियवंदणत्थ काऊणं ।
उवसंहरिय विसज्जउ जे पुव्वावाहिया देवा ।।—वही, गा० ४८१

देवों के विसर्जन का विधान किया है, अतः आह्वान, स्थापन और सन्निधिकरण का समावेश भी हो जाता है। पर यह सत्य है कि ये आह्वान, स्थापनादि उपचार इन्द्रादि देवताओं के लिए किये गये हैं। तीर्थंकर के सम्बन्ध में पञ्चोपचार का स्पष्ट निर्देश १३ वीं शती के ग्रन्थ वर्धमान कवि के वरांगचरित में पाया जाता है।[1] हमारा अनुमान है कि पुराण सम्मत वैदिक धर्म की द्रव्य संख्या प्रधान पञ्चोपचार दशोपचार,[2] षोडशोपचार,[3] अष्टादशोपचार[4] एवं द्वात्रिंशदुपचार पूजा के सम्पर्क से दशवीं शती के आस पास उक्त पञ्चोपचार पूजा का प्रचार हुआ होगा। उपचार शब्द उप+चर+घञ् से निष्पन्न है। इसका अभिधा जन्य अर्थ सम्मान और शिष्टता पूर्वक सत्कार प्रकट करना है। अर्थोत्कर्ष से यह शब्द श्रद्धाञ्जलि-अर्पित करने एवं पूजन करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। अतः अर्थ विकास के क्रम में प्रार्थना, विधिविशेष (श्रद्धा समर्पित करने की), सम्मान सूचक उक्ति, चाटुकारिता, अनुष्ठान, पूजन के अंग या द्रव्य के अर्थ में प्रयुक्त था। यह अर्थ गुप्तकाल के अनन्तर ग्रहण किया गया है। जाबालि ने ध्यान, आह्वान, भक्ति निवेदन, नीराजन और प्रमाण को पञ्चोपचार कहा है।[5] आचार चिन्तामणि और विश्वामित्र संहिता में गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य समर्पण को पञ्चोपचार कहा है।[6] रघुवंश,[7] कुमार-सम्भव प्रभृति काव्य ग्रन्थों में उपचार शब्द उत्सव, पूजा और पूजाङ्गों के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। अत एव इस शब्द के अर्थ विकास के इतिहास का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट होता है कि गुप्त काल के अनन्तर पूजनाङ्ग और पूजन द्रव्य के अर्थ में उपचार शब्द प्रयुक्त होने लगा। जैन प्रतिष्ठा ग्रन्थों में दिक्पाल, नवग्रह प्रभृति पूजन का विधान किया गया है। अतः पञ्चोपचार पूजन के पञ्चांगों के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा, और षट्कर्म—प्रस्तावना, पुराकर्म ने आह्वान, स्थापन, सन्निधिकरण, पूजन और विसर्जन का स्थान प्राप्त किया।

---

१. पञ्चोपचारपूजां कर्त्तु .... / वरांगचरित्र १२/१३

२. अर्घ्यं पाद्यं तथाचामः स्नानं गन्धञ्च पुष्पकम्।
धूपदीपनैवेद्यानि नमस्कारञ्च ते दश ॥—देव पूजा और कुण्ड निर्माण विधान
श्र० प्रह्लादजी महाराज गौड़, सुरेका भवन, बनारस, सन् १९५५ पृ० ५

३. आसनं स्वागतं पाद्यमर्घ्यमाचमनीयकम्।
मधुपर्काचमन स्नानं वसनाभरणानि च ॥
सुगन्धिसुमनोधूपदीपनैवेद्यवन्दनाम्।
प्रपूजयेदर्चनायामुपचारस्तु षोडश ॥—वही पृ० २

४. आसन, स्वागत, प्रश्न, पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, स्नान, वस्त्र, यज्ञोपवीत, आभूषण, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, अन्न, तर्पण, माला, अनुलेपन, नमस्कार और विसर्जन/—वही पृ० ६

५. विशेष जानने के लिए देखें—देवपूजा और कुण्ड निर्माण विधि, बनारस १९५५ ई, पृ० ५

६. गन्धादिका नैवेद्य पूजा पञ्चोपचारिकी—वही पृ०५

७. प्रकीर्णाभिनवोपचारम्—रघुवंश ७/४ 'सन्मङ्गलोपचाराणाम्' रघुवंश १०/७७;
तस्योपकार्यारचितोपचारा, रघुवंश ५/४१।

धर्मसंग्रहश्रावकाचार[1] और लाटी संहिता[2] प्रभृति १५-१६ वीं शती के ग्रन्थों में पञ्चोपचार का स्पष्ट निर्देश आता है। प्रतिष्ठादीपक ग्रंथ में बताया है कि निराकार पूजा में आह्वानन, स्थापन, सन्निधिकरण और विसर्जन क्रियाएं सम्पन्न की जाती हैं, पर साकार जिनेन्द्रबिम्ब पूजा में केवल पूजा विधि रूप एक ही उपचार सम्पन्न किया जाता है यथा—

साकारादिनिराकारा, स्थापना द्विविधा मता ।
अक्षतादिनिराकारा, साकारा प्रतिमादिषु ॥१॥
आह्वाननं प्रतिष्ठानं, सन्निधीकरणं तथा ।
पूजा विसर्जनं चेति, निराकारे भवेदिति ॥२॥
साकारे जिनबिम्बे स्यादेक एवोपचारकः ।
सचाष्टविध एवोक्तं जलगन्धाक्षतादिभिः ॥ ३॥
—प्रतिष्ठादीपक, नामकरणाध्याय

वसुनन्दिश्रावकाचार में स्थापना दो प्रकार की बतलायी गयी है—[3] सद्भावस्थापना और असद्भावस्थापना। आकारवान् वस्तु में अरहन्त आदि के गुणों का आरोप करना सद्भावस्थापना और अक्षत, कमलगट्टा लवंग आदि में अरहन्त आदि के गुणों का आरोपण करना असद्भाव स्थापना है। सद्भाव स्थापना प्रतिमा में ही की जाती है। इस पञ्चमकाल में असद्भाव अतदाकार स्थापना नहीं करनी चाहिए। अतएव प्रतिमा के सम्मुख पूजन करते समय पूर्वोक्त षट्कर्म विधि की आवश्यकता है, पञ्चोपचार की नहीं। पञ्चोपचार उसी स्थिति में विधेय है, जब उस तीर्थंकर की प्रतिमा वहाँ विराजमान न हो, जिनकी पूजा करना अभीष्ट है।

---

१. जिनानाहूय संस्थाप्य सन्निधीकृत्य पूजयेत् ।
पुनर्विसर्जयेन्मन्त्रैः संहितोक्तैर्गुरुक्रमात् ॥५६॥
—धर्मसंग्रहश्रावकाचार, पृ० २१६

२. अस्त्यत्रपञ्चधा पूजा मुख्याह्वानमात्रिका ।
प्रतिष्ठापनसंज्ञाऽथ सन्निधीकरणं तथा ॥१७४॥
ततः पूजनमत्रास्ति ततो नाम विसर्जनम् ।
पञ्चधेयं समाख्याता पञ्चकल्याणदायिनी ॥१७५॥
—लाटी संहिता, माणिकचन्द ग्रंथमाला, बम्बई, वि. सं. १९८४, पृ. ११

३. सब्भावासब्भावा दुविहा ठवणा जिणेहि पण्णत्ता ।
सायारवंतवत्थुम्मि जं गुणारोवणं पढमा ॥
अक्खयवराडओवा अमुगो एसोत्ति णिययबुद्धीए ।
संकप्पिऊण वयणं एसा विइया असब्भावा ॥
हुंडावसप्पिणीए विइया ठवणा ण होदि कायव्वा ।
लोए कुलिंग मइमोहिए जदो होइ संदेहो ॥
—वसुनन्दि श्रावकाचार, भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण, गाथा ३८३-३८५ पृ. १२२

पूजन के मूलत: दो भेद हैं—भाव पूजा और द्रव्य पूजा। अमितगति के अनुसार मन को रोक कर जिनेन्द्र के गुणानुराग में लगाने को भाव पूजा एवं वचन और शरीर की क्रिया को रोककर भगवद् भक्ति करना द्रव्य पूजा है।[1] इनके मतानुसार जिनेन्द्र भगवान के गुणों का बार-बार स्मरण करना भाव पूजा और[2] अष्ट द्रव्यों से पूजन करना द्रव्य पूजा है।[3] आशय यह है कि जिन बिम्ब के समक्ष अष्ट-द्रव्यों से पूजन करना द्रव्य पूजा और स्तोत्रपाठ भक्तिपाठ आदि के द्वारा भगवान् के गुणों का स्मरण करना भाव पूजा है।

वसुनन्दिश्रावकाचार में नाम पूजा, स्थापना पूजा, द्रव्यपूजा भावपूजा, क्षेत्र पूजा और काल पूजा ये छः भेद किये गये हैं। अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं साधु इन पञ्च परमेष्ठियों का नामोच्चारण कर विशुद्ध प्रदेश में पुष्पक्षेपण करना नाम पूजा है। जिन प्रतिमा की स्थापना कर पूजन करना स्थापना पूजा और जल, चन्दन, अक्षत, आदि द्रव्यों से जिनबिम्बादि द्रव्य की पूजा करना द्रव्य पूजा है। जिन भगवान के पञ्चकल्याणकों की भूमि में पूजा करना क्षेत्र पूजा एवं भक्ति भाव पूर्वक जिनेन्द्र भगवान् के गुणों का उल्लेख करते हुए त्रिकाल वन्दन करना भावपूजा है। णमोकार मन्त्र का जाप, ध्यान, स्तोत्र, पाठ, एवं गुणाख्यान भी भावपूजा के अन्तर्गत हैं।[4]

---

१. वचो विग्रह संकोचो द्रव्यपूजा निगद्यते।
तत्र मानससंकोचो भावपूजा पुरातनैः ॥-अमितगतिश्रावकाचार-सूरत संस्करण १२/१२

२. व्यापकानां विशुद्धानां जिनानामनुरागतः।
गुणानां यदनुध्यानं भावपूजेयमुच्यते ॥—वही १२/१४

३. वही १२/१३

४. णाम-ट्ठवणा-दव्वे खित्ते काले वियाण भावे य।
छव्विहपूया भणिया समासओ जिणवरिंदेहिं ॥ वसुनन्दिश्राव० गा० ३८१, पृ० १२१
उच्चारिऊण णामं अरुहाईणं विसुद्धदेसम्मि।
पुप्फाणि जं खिविज्जंति वण्णिया णामपूया सा ॥ वही, गा० ३८२ पृ० १२२
दव्वेण य दव्वस्स य जा पूजा जाण दव्वपूजा सा।
दव्वेण गंधसलिलाइपुव्वभणिएण कायव्वा। वही, गा० ४४८ पृ० १२९
जिणजम्मण-णिक्खमणे णाणुप्पत्तीए तित्थचिण्हेसु।
णिसिहीसु खेत्तपूजा पुव्वविहाणेण कायव्वा ॥ गा० ४५२ पृ० १३०
गब्भावयार-जम्माहिसेय-णिक्खमण-णाण-णिव्वाणं।
जम्हि दिणे संजादं जिणण्हवणं तद्दिणे कुज्जा ॥ वही, गा० ४५३ पृ० १३०
णंदीसरट्ठदिवसेसु तहा अण्णेसु उचियपव्वेसु।
जं कीरइ जिणमहिमं विण्णेया कालपूजा सा ॥ वही, गा० ४५५ पृ० १३०
काऊणाणंतचउट्ठयाइगुणकित्तणं जिणाईणं।
जं वंदणं तियालं कीरइ भावच्चणं तं खु ॥ वही, गा० ४५६ पृ० १३१

आचार्य जिनसेन द्वितीय के आदिपुराण के ३८वें पर्व एवं वामदेव के भावसंग्रह में पूजा के चार भेद बतलाये गये हैं—(१) नित्यपूजा (२) चतुर्मुख पूजा, (३) कल्पद्रुम पूजा और (४) अष्टान्हिका पूजा[1]। पं० आशाधरजी ने अपने सागारधर्मामृत में उक्त चारों पूजाओं का प्रतिपादन किया है। प्रतिदिन अपने घर से गन्ध, पुष्प, अक्षत आदि लेकर जिनालय में अर्हन्त देव का पूजन करना, प्रतिष्ठा करना, मन्दिर निर्माण करना, मन्दिर व्यवस्था के लिए ग्राम, खेत आदि का दान करना नित्यपूजा है। महामुकुटबद्ध राजाओं के द्वारा की जाने वाली पूजा चतुर्मुख या सर्वतोभद्र है। किमिच्छक दान द्वारा संसार के समस्त प्राणियों के मनोरथों को पूर्ण कर चक्रवर्तियों के द्वारा जो पूजा की जाती है, वह कल्पद्रुम कहलाती है। अष्टाह्निका व्रत में की गयी पूजा आष्टाह्निका कहलाती है। भावसंग्रह में इन्द्रध्वज पूजा का भी नाम आया है। अकृत्रिम चैत्यालयों और पञ्चकल्याणक स्थानों में देवों द्वारा जो पूजा की जाती है, वह इन्द्रध्वज कहलाती है[2]।

पूजन और श्रावकाचार

पूजा का समावेश श्रावक के किस व्रत में होता है? यह विचारणीय प्रश्न है। रत्नकरण्डश्रावकाचार में स्वामी समन्तभद्र ने पूजन का अन्तर्भाव वैयावृत्य नामक शिक्षाव्रत में किया है बताया है—

देवाधिदेवचरणे परिचरणं सर्वदुःखनिर्हरणम्।
कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयादादृतो नित्यम्॥ रत्न० प० ११६

पद्मपुराण में पूजा का अन्तर्भाव अतिथिसंविभाग नामक शिक्षाव्रत में किया है। बताया गया है—

संविभागेऽतिथीनां च तेषामुक्तो जिनाधिपैः।
यज्ञाख्यावस्थितास्तस्मिन् भेदैः पात्रादिभिर्युतैः॥

पद्मपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण ११/४०

जिनेन्द्र भगवान् ने गृहस्थों का एक व्रत अतिथिसंविभाग बतलाया है, जो पात्रादि के भेद से अनेक प्रकार का है। पूजा का अन्तर्भाव इसी अतिथिसंविभाग व्रत में होना है।

आचार्य सोमदेव ने अपने उपासकाध्ययन में पूजन को सामायिक व्रत कहा है। उन्होंने बताया है कि पूजन करने के उपदेश को समय कहते हैं और उसमें उसके इच्छुकजनों के जो-जो कार्य बतलाये गये हैं, उन्हें सामायिक कहते हैं।

---

१. प्रोक्ता पूजार्हतामिज्या सा चतुर्धा सदार्चनम्।
चतुर्मुखमहः कल्पद्रुमाश्चाष्टाह्निकोऽपि च॥
आदिपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ प्रथम संस्करण ३८/२६

२. वामदेव विरचित संस्कृत भावसंग्रह पद्य ५५५—५६०

आप्तसेवोपदेशः स्यात्समयः समयार्थिनाम् ।
नियुक्तं तत्र यत्कर्म तत्सामायिकमूचिरे ।।

उपासकाध्ययन, भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण, पद्य ४६० पृ० २१२

देवसेन ने भावसंग्रह में देवपूजा को पदस्थ ध्यान के अन्तर्गत वर्णित किया है । उनका अभिमत है :—

देवच्चरणविहाणं जं कहियं देसविरयठाणम्मि ।
होइ पयत्थं झाणं कहियं तं वरजिणिंदेहि ।।

—भाव० गाथा ६२६

प्राकृत भावसंग्रह के अनुसरणकर्त्ता वामदेव ने अपने संस्कृत भावसंग्रह में जिनपूजा को भद्र-ध्यान के अन्तर्गत रखा है । गृहस्थ भद्रधर्मध्यान के द्वारा अपने अर्जित अशुभकर्मों की निर्जरा करता है । बताया है—

जिनेज्यापात्रदानादिस्तत्र कालोचितो विधिः ।
भद्रध्यानं स्मृतं तद्धि ग्रहधर्माश्रयाद्बुधैः ।।

—संस्कृत भावसंग्रह पद्य ५५२

इसमें सन्देह नहीं कि पूजन द्वारा भगवान् के गुणों में अनुरक्ति उत्पन्न होने से उत्तम भद्रध्यान की प्राप्ति होती है । वीतरागी जिनेन्द्रदेव के गुणों का स्मरण होने से क्लेश, कषाय का अभाव होता है और आत्मा में निर्मल परिणति उत्पन्न होती है ।

आदिपुराण में द्वितीय जिनसेन ने देवपूजा को कुलधर्म माना है और इज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम एवं तप इन षट् क्रियाओं को जीवनोत्थान के लिए आवश्यक बताया है । यथा—

इज्यां वार्तां च दत्तिं च स्वाध्यायं संयमं तपः । श्रुतोपासक सूत्रत्वात् स तेभ्यः समुपादिशत् ।।
कुलधर्मोऽयमित्येषाम् अर्हत्पूजादिवर्णनम् । तदा भरतराजर्षिः अन्ववोचदनुक्रमात् ।।

—आदि० भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण ३८/२४-२५

कुछ आचार्यों ने मुनियों के समान गृहस्थों के लिए भी षट् आवश्यक का नियमन किया है । आचार्य पद्मनन्दि ने बताया है—

देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः ।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने-दिने ।।

पद्मन० शोलापुर संस्करण ६/७ पद्य क्र० ४०३

श्रावक के षड् आवश्यकों में देव पूजा को प्रथम स्थान दिया गया है । पं० आशाधरजी ने भी गृहस्थ की दिनचर्या में 'पूजन' को प्रमुखता प्रदान की है ।

उपसंहार :

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि श्रावक के लिए देवदर्शन, देवपूजन और देवस्तवन करना परमावश्यक हैं। प्रारम्भ में देवपूजा पुष्पों द्वारा सम्पादित की जाती थी। उत्तरकाल में गन्ध, दीप, धूप और अक्षत द्रव्यों का विकास हुआ। पुष्पों के अनन्तर गन्ध और अक्षत द्रव्य प्रयुक्त हुए। गन्ध के सहयोगी धूप और दीप रहे तथा अक्षत की सहयोगिता नैवेद्य ने प्राप्त की। अर्घ्य का अर्थ प्रारम्भ में केवल जल प्रदान था, किन्तु कालक्रम से जल के साथ पुष्प और अक्षत का भी प्रयोग होने लगा। 'नीराजना' के आविर्भाव के साथ दीप और धूप भी अर्घ्य में समाविष्ट हो गये। इस प्रकार अष्ट-द्रव्यों का समवाय 'अर्घ्य' पद को प्राप्त हुआ।

पूजन का प्रारम्भिक रूप 'बृहद् अभिषेक' ही था, जिसमें प्रस्तावना, पुराकर्म, स्थापना, सन्निधीकरण, पूजा और पूजाफल ये छह अंग समाहित थे। सोमदेव के उपासकाध्ययन के समान उक्त छः अंग आशाधर के 'नित्यमहोद्योत' में भी उपलब्ध होते हैं। सागारधर्मामृत के षष्ठ अध्याय में जो उपासना विधि वर्णित है, उससे भी उक्त कथन स्पष्ट होता है। पूजनफल में जयमाला, स्तोत्र या अन्य प्रकार से अर्हन्त के गुणों का स्मरण समाहित था। आशाधर ने लिखा है—

> आश्रुत्य स्नपनं विशोध्य तदिलां, पीठ्यां चतुष्कुम्भयुक्।
> कोणायां सकुशश्रियां जिनपतिं, न्यस्यान्तमाप्येष्टदिक् ॥
> नीराज्याम्बुरसाज्यदुग्धदधिभिः, सिक्त्वा कृतोद्वर्तनम्।
> सिक्तं कुम्भजलैश्च गन्धसलिलैः, सम्पूज्य नुत्वा स्मरेत् ॥—सागार० ६/२२

अभिषेक के सम्बन्ध में जब समालोचनात्मक चिन्तन प्रारम्भ हुआ और पूजन द्रव्यों पर भी सचित्त-अचित्त सम्बन्धी समीक्षा आरम्भ हो गयी तो अभिषेक की सीमा टूट गयी तथा उक्त षट् विधेयों की भी अवहेलना होने लगी। इधर जब पौराणिक धर्म का प्रभाव बढ़ने लगा, तो पञ्चोपचार पूजाविधि का प्रवेश हुआ। दशवीं शती के अनन्तर इस विधि को इतना महत्त्व प्राप्त हुआ, जिससे पूर्व प्रचलित विधि गौण हो गयी। प्रतिमा के समक्ष रहने पर भी आह्वानन, स्थापन, सन्निधीकरण, पूजन और विसर्जन क्रमशः पञ्चकल्याणकों की स्मृति के लिए व्यवहृत होने लगे। पूजा को वैयावृत्य का अंग माना जाने लगा तथा एक प्रकार से इसे 'आहारदान' के तुल्य स्थान प्राप्त हुआ। पूजा की सामायिक या ध्यान का मूलभावना में परिवर्तन हुआ और पूजा को अतिथि संविभाग व्रत का अंग मान लिया गया।

जैन दर्शन का उद्गम

श्री पं० कैलाशचंदजी शास्त्री सिद्धांताचार्य बाराणसी संपादक 'जैन संदेश'

इस युग में जैनधर्म के आदि प्रवर्तक भगवान ऋषभदेव थे और अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान महावीर थे। इन दोनों के बीच में बाईस तीर्थङ्कर और हुए। जिनमें भगवान् पार्श्वनाथ तेईसवें तीर्थङ्कर थे। यह भगवान महावीर के पूर्वज थे। महावीर के माता-पिता भगवान् पार्श्वनाथ के अनुयायी थे। महावीर की माता त्रिशला लिच्छवि गणतन्त्र के अधिनायक वैशाली-अधिपति चेटक की पुत्री थी। चेटक भी जैन धर्मानुयायी था। उसके आठ कन्याएं थीं, जो उस समय के प्रसिद्ध राजघरानों में विवाही गई थीं। मगधाधिपति बिम्बसार ने जो जैन साहित्य में श्रेणिक के नाम से अत्यन्त प्रसिद्ध है, चेटक की सबसे छोटी पुत्री चेलना के रूप पर मुग्ध होकर चेटक से उसकी याचना की थी। किन्तु उस समय राजा बिम्बसार जैन धर्मावलम्बी नहीं था, अतः चेटक ने उसके साथ अपनी कन्या का विवाह करना अस्वीकार कर दिया था। तब बिम्बसार के बड़े पुत्र अभयकुमार ने कौशल से चेलना का हरण करके अपने पिता की इच्छा पूर्ण की थी। चेलना ने बिम्बसार को जैनधर्मावलम्बी बना लिया था और फिर तो वह भगवान महावीर की उपदेश सभा का प्रधान श्रोता बन गया था।

१. प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् स्व० डॉ० याकोबी ने लिखा है—

There is nothing to prove that parshva was the founder of jainism. Jain tradition is unanimous in making Rishabha the first Tirthankara (as its founder) there may be something historical in the tradition which makes him the first Tirthankara. — Indian Antiquary Vol. IX P. 163.

अर्थात्—इसमें कोई भी सबूत नहीं है कि पार्श्वनाथ जैनधर्म के संस्थापक थे जैन परम्परा प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव को जैनधर्म का संस्थापक मानने में एक मत है। इस मान्यता में एतिहासिक सत्य की संभावना है।

प्रसिद्ध दार्शनिक सर राधाकृष्णन् कुछ विशेष जोर देकर लिखते हैं—

There is evidence to show that so far back as the first century B. C. there were people who were worshipping Rishabhadeva, the first Tirthankara. There is nodoubt that jainism prevailed even before Vardhamana or parshvanath. The

Yajurveda mentions the names of three Tirtchankaras–Rishabha. Ajitanath and Aristanemi. The Bhagavate puran endorses the View that Rishabha was the founder of jainism-Indian Philosophy. Vol. I. P. 287.

भगवान महावीर बुद्ध के समकालीन थे। बौद्ध साहित्य में निर्ग्रन्थ नातपुत्त के नाम से उनका उल्लेख पाया जाता है। स्व० डा० याकोवी ने जैन सूत्रों की अपनी प्रस्तावना में लिखा है—'इस बात से अब सब सहमत हैं कि नात्तपुत्त जो महावीर अथवा वर्धमान के नाम से प्रसिद्ध हैं, बुद्ध के समकालीन थे। बौद्ध ग्रन्थों में मिलने वाले उल्लेख हमारे इस विचार को दृढ़ करते हैं कि नातपुत्त से पहले भी निर्ग्रन्थों का, जो आज जैन अथवा आर्हत के नाम से अधिक प्रसिद्ध हैं, अस्तित्व था। जब बौद्ध धर्म उत्पन्न हुआ तब निर्ग्रन्थों का सम्प्रदाय एक बड़े सम्प्रदाय के रूप में गिना जाता होगा। बौद्ध पिटकों में कुछ निर्ग्रन्थों का बुद्ध और उसके शिष्यों के विरोधी के रूप में और कुछ का बुद्ध के अनुयायी बन जाने के रूप में वर्णन आता है। उसके ऊपर से हम उक्त अनुमान कर सकते हैं। इसके विपरीत इन ग्रन्थों में किसी भी स्थान पर ऐसा कोई उल्लेख या सूचक वाक्य देखने में नहीं आता कि निर्ग्रन्थों का सम्प्रदाय एक नवीन सम्प्रदाय है और नातपुत्त उसके संस्थापक है। इसके ऊपर से हम अनुमान कर सकते हैं कि बुद्ध के जन्म से पहले अति प्राचीन काल से निर्ग्रन्थों का अस्तित्व चला आता है।"

जैन साहित्य[1] में ऐसा वर्णन मिलता है कि जब बुद्ध सत्य की खोज में घर से निकले तो उन्होंने पिहितास्रव नाम के जैनाचार्य से प्रव्रज्या ग्रहण की थी। यह पिहितास्रव मुनि भगवान् पार्श्वनाथ के तीर्थकाल के साधु थे क्योंकि उस समय तक महावीर ने धर्मतीर्थ का प्रवर्तन प्रारम्भ नहीं किया था। बौद्ध जातकों में भी ऐसा उल्लेख मिलता है जिसमें बुद्ध अपने को एक समय पाणि-पात्र भोजी और केशलोंच करने वाला वतलाते हैं। ये दोनों क्रियाएं जैन साधुओं में ही प्रचलित हैं। किन्तु तपस्या की कटोर साधना मे बुद्ध को कुछ तथ्य दिखाई नहीं दिया। अतः उन्होंने उस मार्ग को छोडकर एक मध्यम मार्ग निकाला। यह मध्यम मार्ग ही बौद्ध धर्म है।

एक तीर्थङ्कर का प्रवर्तन प्रारम्भ करने के बाद जब तक दूसरा तीर्थङ्कर धर्मतीर्थ का प्रवर्तन नहीं करता तब तक वह काल उसी तीर्थङ्कर का तीर्थकाल माना जाता है। अतः जब तक महावीर ने धर्मतीर्थ का प्रवर्तन प्रारम्भ नहीं किया तब तक तो पार्श्वनाथ का तीर्थकाल था। उसके बाद का काल महावीर का तीर्थकाल कहलाता है। और इस काल विभाग की दृष्टि से वर्तमान में प्रचलित जैन दर्शन के मूल मन्तव्यों के उपदेष्टा भगवान महावीर कहे जाते हैं, क्योंकि हमें वे मन्तव्य उन्हीं के द्वारा प्राप्त हुए हैं।

---

१. सिरि पासणाह तित्थे सरयूतीरे पलासणयरत्थो।
पिहियासवस्स सिस्सो महासुदो बुद्ध कि तीमुणी॥
तिथिपूरणासणेहि अहिगए पवज्ज ओ परिब्भट्ठो।
रत्तंवरं धरित्ता पवट्टियं तेण एयंतं॥ ८॥ —दर्शनसार।

अत: जब तीस वर्ष की अवस्था में समस्त परिग्रह को त्यागकर भगवान महावीर ने जिन दीक्षा ली और बारह वर्ष की कठोर साधना के बाद उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। तब वे जिन अर्हंत और तीर्थङ्कर कहलाए।

'जिन' हो जाने के पश्चात् भगवान् महावीर ने ६६ दिन तक मौन पूर्वक बिहार किया; क्योंकि तब तक उन्हें कोई गणका-संघका धारक गणधर नहीं मिला था, जो भगवान् के उपदेशों को स्मृति में रखकर उनका संकलन कर सकता। बिहार करते करते महावीर मगधदेश की राजधानी राजगृही में पधारे और उसके बाहर विपुलाचल पर ठहरे। उस समय राजगृही में राजा विम्बसार रानी चेलना के साथ राज्य करता था।

वहीं पर आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा के दिन[1] इन्द्रभूति नामका वेद वेदांग में पारंगत, शीलवान गौतम गोत्रीय ब्राह्मण जीव-अजीव विषयक सन्देह को दूर करने के लिए भगवान् महावीर के पास आया और सन्देह दूर होते ही उसने महावीर के पादमूल में जिनदीक्षा ले ली। वह उनका प्रधान गणधर बन गया। उसके बाद ही श्रावण[2] कृष्णा प्रतिप्रदा के ब्रह्म मूहुर्त में भगवान की प्रथम देशना हुई।

श्वेताम्बर साहित्य में उक्त कथन से थोड़ासा मत भेद पाया जाता है और वह स्थान तथा समय के सम्बन्ध में है। उसके अनुसार केवलज्ञान होने के पश्चात् जब महावीर ने देखा कि उस समय मध्यमा नगरी (वर्तमान पावापुरी) में सोमिलार्य ब्राह्मण के यहां यज्ञ विषयक एक बड़ा भारी धार्मिक प्रकरण चल रहा है, जिसमें देश-देशान्तरों के बड़े बड़े विद्वान् आमन्त्रित होकर आए हुए हैं तो उन्हें यह प्रसंग अपूर्व लाभकर जान पड़ा। और उन्होंने यह सोच कर कि यज्ञ में आए हुए ब्राह्मण प्रतिबोध को प्राप्त होंगे और मेरे धर्मतीर्थ के आधार स्तम्भ बनेंगे, वे मध्यमा नगरी के महासेन नामक उद्यान में पहुचे, जहां प्रात: काल से ही समवसरण की रचना हो गई।

उस समम आकाश में सर्वत्र 'जय' 'जय' शब्द सुनकर यज्ञ में उपस्थित विद्वानों ने समझा कि यह सब हमारे इस यज्ञ का प्रभाव है। किन्तु बाद में उन्हें ज्ञात हुआ कि पास में ही किसी सर्वज्ञ सर्वदर्शी का समवसरण हुआ है। उसकी पूजा के लिए जनसमूह चला जाता है। यह सुनकर इन्द्रभूति नाम के ब्राह्मण विद्वान् को बड़ा रोष आया। वह सोचने लगा—मुझे छोड़कर लोग उसके पादमूल में क्यों जाते हैं ? क्या वह मुझ से भी अधिक ज्ञानी है ? मैं अभी जाकर सबके सामने उसे अपने प्रश्नजाल में उलझाकर क्षणभर में हतप्रभ किए देता हूं और उसकी सब सर्वज्ञता निकाले देता हूं।

१. 'गोत्तेण गोदमो विप्पो चाउव्वेय—सडंग वि।
णामेण इन्दभूदित्ति सीलवं बम्हणुत्तमो ।।' धवला १ खं० पृ० ६५।
२. 'वासस्स पढममासे पढमे पक्खम्हि सावणे बहुले।
पाडिवद पुव्व दिवसे तित्थुप्पत्ती दु अभिजिम्हि ।।' धवला १ खं० पृ० ६३।

यह सोचकर इन्द्रभूति समवसरण में पहुंचा और महावीर के प्रभावशाली व्यक्तित्व से प्रभावित हो भौंचक्कासा खड़ा रह गया। भगवान ने उसे देखकर उसका नाम लेकर पुकारा। वह विचारने लगा—'ओः यह तो मेरा नाम भी जानते हैं ! अथवा मुझे कौन नहीं जानता ? यदि यह मेरे हृदय गत संशय को जान लें, या उसे दूर कर सकें तो अवश्य आश्चर्य की बात होगी।' इतने में ही भगवान बोले—हे गौतम : तुझे जीव के अस्तित्व में संशय है कि जीव है अथवा नहीं है ? किन्तु तेरा यह संशय अनुचित है ?

जीव का अस्तित्व सिद्ध करते ही गौतम का संशय दूर हो गया और उसने अपने पांच सौ शिष्यों के साथ भगवान महावीर के पादमूल में जिनदीक्षा ले ली। इन्द्रभूति को दीक्षित हुआ सुनकर उसके भाई अग्निभूति को बड़ा रोष आया। 'उस श्रमण को पराजित करके मैं अभी अपने भाई को लौटा कर लाता हूं। उसे छल से छल लिया गया है अथवा वह कोई इन्द्रजालिया मालूम होता है, जो उसने मेरे भाई के मन को भी भ्रम में डाल दिया।' यदि वह मेरी बात का उत्तर देगा तो मैं उसका शिष्य हो जाऊंगा।'

यह सोचता हुआ अग्निभूति महावीर के समवसरण में पहुंचा। सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान ने उसका नाम लेकर पुकारा। उसने भी सोचा कि मुझे कौन नहीं जानता। यदि यह मेरे हृदयगत संशय को दूर करदें तो मुझे अवश्य आश्चर्य होगा।

इतने में भगवान् बोले—'हे अग्निभूति ! तुझे यह संशय है कि कर्म का अस्तित्त्व है या नहीं है ? किन्तु तेरा यह संशय अनुचित ही है।'

इस तरह भगवान् के द्वारा कर्म की सत्ता सिद्ध किये जाने पर अग्निभूति का संशय दूर हो गया और वह भी अपने पांच सौ शिष्यों के साथ महावीर के पादमूल में प्रव्रजित होकर साधु बन गया।

इन्द्रभूति और अग्निभूति को प्रव्रजित हुआ सुनकर तीसरे विद्वान् वायुभूति को यह विश्वास हो गया कि श्रमण महावीर अवश्य ही सर्वज्ञ है, अतः उसके पादमूल में जाने से मेरे पाप नष्ट हो जायेंगे। वह तुरन्त ही समवसरण में पहुंचा। उसे यह संशय था कि यह शरीर ही जीव है या जीव शरीर से भिन्न है ? संशय दूर होते ही उसने भी अपने शिष्यों के साथ जिनदीक्षा धारण करली।

इसी तरह चौथा विद्वान् समवसरण में पहुंचा। उसे पंच भूतों के अस्तित्व में सन्देह था। सन्देह दूर होते ही उसने भी दीक्षा ले ली। पांचवे को यह सन्देह था कि जो इस भव में जैसा है वह पर भव में भी वैसा ही होता है या उससे विलक्षण होता है ? छठे को बन्ध और मोक्ष के अस्तित्व में सन्देह था। सातवें को देवों के अस्तित्व में सन्देह था। आठवें को नारकियों के अस्तित्व में सन्देह था। नौवें को पुण्य-पाप के अस्तित्व में सन्देह था। दसवें को परलोक के अस्तित्व में सन्देह था और ग्यारहवें को निर्वाण के विषय में सन्देह था। महावीर ने सब का सन्देह दूर कर दिया और वे सब उनके पादमूल में प्रव्रजित होकर भगवान् के गणधर बन गये-जिनमें प्रधान इन्द्रभूति थे।

भगवान् महावीर के उक्त जीवन से पता चलता है कि ईस्वी पूर्व छठी शती में जीव, कर्म, शरीर, पंचभूत, सदृश उत्पत्ति, बन्ध मोक्ष, देव, नारकी, पुण्य-पाप, परलोक तथा निर्वाण के सम्बन्ध में विभिन्न विचार धारायें प्रवाहित हो रही थीं और उनको लेकर विद्वानों में उहापोह, विचार-विमर्श, तर्क वितर्क हुआ करता था। और जो विषयों पर समुचित प्रकाश डाल सकता था अच्छे अच्छे ब्राह्मण विद्वान् उसके अनुयायी बन जाते थे।

जैन और बौद्ध साहित्य के अवलोकन से यह भी पता चलता है कि उस समय यद्यपि ब्राह्मणों का प्राधान्य था किन्तु वैदिक क्रियाकाण्ड के प्रति लोगों की अरुचि हो चली थी और उपनिषदों के प्रति भी वैसा आदर भाव नहीं रहा था। इसका एक कारण यह था कि भगवान् महावीर से लगभग तीन सौ वर्ष पहले वाराणसी नगरी में जैनों के तेईसवें तीर्थङ्कर भगवान् पार्श्वनाथ का जन्म हो चुका था और उन्होंने अपनी कुमार अवस्था में ही गंगा के किनारे पंचाग्नि तप तपने वाले तापसों को प्रबोध देकर इस प्रकार के अज्ञान मूलक तप का घोर विरोध किया था। तथा प्रव्रजित होकर घोर तपश्चरण के बाद अहि क्षेत्र नामक स्थान पर, जो उत्तर प्रदेश के बरेली जिले में एक प्रसिद्ध स्थान है, केवलज्ञान को प्राप्त करके ७० वर्ष तक स्थान स्थान पर विहार करके अपने धर्म का उपदेश दिया था। इसी काल में उपनिषदों की रचना हुई, क्योंकि कोरे क्रियाकाण्ड से लोगों की रुचि हटने लगी थी और यज्ञ वगैरह से मिलने वाला स्वर्ग स्थायी नहीं था अतः उस आत्यन्तिक सुख जिसका उपदेश भगवान् पार्श्वनाथ देते थे। इच्छुक मनुष्यों की तृप्ति उससे नहीं होती थी।

उपनिषदों ने वैदिक धर्म के प्रति बढ़ती हुई अरुचि को रोका तो जरूर, किन्तु उपनिषदों की स्थिति वेदों के अनुकूल नहीं थी। एक और वे वेद की मौलिकता स्वीकार करते थे तो दूसरी ओर वे कहते थे कि वैदिक ज्ञान उस सत्य देवी परिज्ञान से बहुत ही हीन है और उससे हमें मुक्ति नहीं मिल सकती। माण्डूक्य उपनिषद में लिखा है—'दो प्रकार की विधाएं अवश्य जाननी चाहिए—एक ऊंची दूसरी नीची। नीची विद्या वह है जो वेदों से प्राप्त होती है किन्तु उच्च विद्या वह है जिससे अविनाशी ब्रह्म मिलता है।

इस प्रकार[१] उपनिषदों ने आध्यात्मिक सिद्धान्त का प्रतिपादन तो किया किन्तु वैदिक क्रियाकाण्ड का विरोध नहीं किया। वलिक वैदिक क्रियाकाण्ड को ऊंचे अध्यात्मवाद से जोड़ने का प्रयत्न किया। फलतः तत्कालीन पीढ़ी ने उसमें बिल्कुल अभिरुचि नहीं दिखाई। भला-उपनिषदों का ब्रह्मवाद और वेदों का बहुदेवतावाद, उपनिषदों का आध्यात्मिक जीवन और वेदों का क्रियाकाण्ड, उपनिषदों का मोक्ष और संसार तथा वेदों का स्वर्ग और नरक, यह तर्क विरुद्ध संयोग अधिक दिनों तक कैसे चल सकता था। श्रमण परम्परा के अध्यात्म और ब्राह्मण परम्परा के क्रिया काण्ड की संगति भला कैसे बैठ सकती थी! फलत;

१. इंडियन फिलोसोफी (सर राधाकृष्णन्) भा० १, पृ० २६४–६५।

विद्वानों का भी उपनिषदों के तत्त्वज्ञान के प्रति आदर भाव नहीं रहा। ऐसे ही समय में श्रमण परम्परा में महावीर और बुद्ध का उदय हुआ।

महावीर ने ग्यारह प्रकाण्ड ब्राह्मण विद्वानों का संशय दूर करके उन्हें अपना अनुयायी बनाया और बुद्ध ने कौण्डिल्य आदि पंचवर्गीय भिक्षुओं को प्रथम धर्मोपदेश देकर अपना अनुयायी बनाया। दोनों के जीवन की यह महत्वपूर्ण घटना आषाढी पूर्णिमा को ही घटी।

इन्द्रभूति गौतम के महावीर स्वामी का शिष्यत्व स्वीकार करने के पश्चात् ही श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के प्रातः ब्राह्म मुहुर्त में भगवान महावीर की देशना हुई और उसे अवधारण करके गौतम गणधर ने बारह अंगों में निबद्ध किया और इस तरह जैन दर्शन का उद्गम हुआ।

भगवान महावीर ने पूर्ण-ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् तीस वर्ष तक काशी, कोशल, पंचाल, कलिंग, कुरुजांगल कम्बोज, वाल्हीक, सिन्धु, गान्धार आदि देशों में बिहार करके धर्मोपदेश दिया। अन्त में वे पावानगरी (बिहार) में पधारे। और वहाँ से कार्तिक कृष्णा अमावस्या के प्रातः काल में ईस्वी पूर्व ५२७ में उन्होंने मुक्ति प्राप्त की। जैन उल्लेखों के अनुसार उन्हीं की स्मृति में दीपावली का आयोजन किया गया था।

अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान महावीर के प्रधान गणधर गौतम गोत्रीय इन्द्रभूति ने भगवान् के उपदेशों को अवधारण करके द्वादशांग श्रुत की रचना की थी। जो इस द्वादश श्रुत के पारगामी होते थे वे श्रुत केवली कहे जाते थे। जैन परम्परा में ज्ञानियों के दो ही पद सबसे महान् गिने जाते हैं–प्रत्यक्ष ज्ञानियों में केवलज्ञानीका और परोक्ष ज्ञानियों में श्रुतकेवली का। जैसे केवलज्ञानी समस्त चराचर जगत् को प्रत्यक्ष जानते और देखते हैं, वैसे ही श्रुतकेवली द्वादशांग श्रुत में वर्णित प्रत्येक विषय को स्पष्ट जानते हैं।

भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् तीन निबद्ध केवल ज्ञानी हुए—इन्द्रभूति, सुधर्माचार्य और जम्बूस्वामी। भगवान महावीर ने इन्द्रभूति को उपदेश दिया। इन्द्रभूति ने उसे द्वादशांग श्रुत में निबद्ध करके आचार्य सुधर्मा को उसका व्याख्यान किया। और सुधर्माचार्य ने जम्बूस्वामी को द्वादशांग का व्याख्यान किया। इसके पश्चात् ये तीनों क्रम से केवलज्ञानी होकर मुक्त हो गये।

जम्बूस्वामी के मुक्त हो जाने पर क्रमशः पांच श्रुत केवली हुए जिनमें से अन्तिम श्रुत केवली भद्रबाहु थे। भगवान् महावीर के तीर्थ में होने वाले आरातीय पुरुषों में भद्रबाहु ही एक ऐसे व्यक्ति हैं, जिन्हें दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्परायें अपना धर्मगुरु मानती हैं। भद्रबाहु के समय में उत्तर भारत में बारह वर्ष का दुर्भिक्ष पड़ने का उल्लेख दिगम्बर और श्वेताम्बर साहित्य में मिलता है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार भद्रबाहु ने इस संकट के समय में संघ के नीति-नियमों का भंग होने की सम्भावना से

मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के साथ अपने संघ को लेकर दक्षिण की ओर प्रस्थान किया। और वहां कटवप्र नाम के पर्वत पर, जो वर्तमान में चन्द्रगिरि कहलाता है और मैसूर राज्य के श्रवणबेलगोला नामक स्थान में है, उनका स्वर्गवास हो गया। इधर संभूत विजय के :शिष्य स्थूलभद्र ने उत्तर भारत में रहकर जिस किसी तरह संघ का रक्षण किया। दुष्काल का समय बीतने पर दक्षिण की ओर गया संघ लौटकर मगध में आया। उन्होंने देखा कि जो जैन संघ मगध में रह गया था उसमें शिथिलाचार आ गया है, उसने वस्त्र परिधान कर लिया है जबकि महावीर ने अचेलक (निर्वस्त्र) रहने का नियम बनाया था।

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार मगध में दुर्भिक्ष पड़ने पर भद्रबाहु नेपाल की ओर चले गये थे। जब दुर्भिक्ष समाप्त हुआ तो साधुसंघ पाटलीपुत्र में एकत्र हुआ। और सबकी स्मृति के आधार पर ग्यारह अंगों का सङ्कलन किया गया। किन्तु बारहवें दृष्टिवाद अंग का सङ्कलन न हो सका। तब भद्रबाहु के बुलाने के लिए दो मुनियों को भेजा गया किन्तु उन्होंने कहला दिया कि मैं ध्यान की साधना में लगा हूं अतः नहीं आ सकता। इस उत्तर से संघ बहुत असन्तुष्ट हुआ और उसने उन्हें संघ बाह्य कर देने का विचार किया। अन्त में भद्रबाहु स्वामी ने यह स्वीकार किया कि संघ उनके पास कुछ बुद्धिमान् शिष्यों को भेजे तो वे उन्हें दृष्टिवाद की वाचना देदेंगे। तब संभूति विजय के शिष्य स्थूल भद्र ने भद्रबाहु स्वामी के पास जाकर चौदह पूर्वों का अभ्यास किया। किन्तु भद्रबाहु ने प्रथम दस पूर्वों के सिवा शेष पूर्वों का शिक्षण देने का निषेध कर दिया। अतः उस समय जो आगमिक साहित्य संकलित किया गया वह पूर्ण नहीं था, किन्तु खण्डित था। और उस संकलन में भद्रबाहु स्वामी सम्मिलित नहीं हुए थे। भद्रबाहु को मानकर भी श्वेताम्बर अपनी स्थविर परम्परा को भद्रबाहु के नाम से न चलाकर उनके समकालीन संभूति विजय स्थविर के नाम से चलाते हैं।

इससे इतना सुनिश्चित प्रतीत होता है कि भद्रबाहु श्रुत केवली के समय में कोई ऐसी घटना अवश्य घटी जिसने आगे जाकर स्पष्ट संघ भेद का रूप ले लिया और भगवान् महावीर के समय तक अविभक्त निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय दिगम्बर और श्वेताम्बर के भेद से विभक्त हो गया।

यह विभाग आरम्भ में केवल साधुओं के वस्त्र परिधान को लेकर हुआ था। अतः आगे भी इसका क्षेत्र केवल व्यवहार धर्म तक ही सीमित रहा और दार्शनिक क्षेत्र में न कोई नया सम्प्रदाय खड़ा हुआ और न कोई ऐसा महत्वपूर्ण अन्तर ही पड़ा जो उल्लेखनीय हो। जहां बौद्ध दर्शन में सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार और माध्यमिक जैसे परस्पर विरोधी दर्शनों का प्रादुर्भाव हुआ, वहां जैन दर्शन में इस तरह के सम्प्रदाय भेद नामकी कोई वस्तु खड़ी नहीं हो सकी। ईश्वर, जीव, जगत्, मुक्ति, प्रमाण, नय, निक्षेप, स्याद्वाद, सप्तभंगी आदि सभी दार्शनिक मन्तव्यों में दोनों की एक ही आवाज आज तक भी गूंजती हुई सुनाई पड़ती है। हाँ, उत्तरकालीन कुछ दार्शनिकों ने सम्प्रदाय भेद के मुख्य आधार सवस्त्र मुक्ति, स्त्री मुक्ति और केवलिमुक्ति की परीक्षा और समीक्षा अपने अपने दार्शनिक ग्रन्थों में अवश्य की है

और इस धार्मिक विवाद को सिद्धान्त तथा तर्क की कसौटी पर कसकर अपने अपने पक्ष का समर्थन किया है। इसके सिवा प्रायः सभी विषयों में सर्वत्र ऐकमत्य है और वीर हिमाचल से निकली हुई जिन-वाणी रूपी गंगानदी की एक ही धारा सर्वत्र प्रवाहित दृष्टि गोचर होती है, जिसके दोनों तटों को अनेक महान् आचार्य रूपी मरालों ने सुशोभित किया है, जिनकी सरस ध्वनि का पान आज भी उनके ग्रन्थों के द्वारा किया जा सकता है।

अज्ञान बड़ा भारी अभिशाप है

शक्यो वारयितुं जलेन हुतभुक, छत्रेण सूर्यातपो,
नागेन्द्रो निशितांकुशेन समदो, दंडेन गौगर्दभौ।
व्याधिर्भेषजसंग्रहैश्च विविधैर्मंत्रप्रयोगैर्विषं,
सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्रविहितं मूर्खस्य नास्त्यौषधम् ॥

अग्नि को जल से बुझाया या शांत किया जा सकता है, सूर्य की गरमी छत्ते से हटाई जा सकती है, मतवाला हाथी सीखे अंकुश (भाले) से वश में किया जा सकता है, लकड़ी या डंडे से बैल गधे आदि भगाये जा सकते हैं, नाना प्रकार की औषधियों से अनेक रोग मिटाये जा सकते हैं। विविध प्रकार के मंत्र-प्रयोगों से सर्पादि का विष उतारा जा सकता है। वास्तव में सबके इलाज शास्त्रों में लिखे हैं. परन्तु मूर्खता की कोई औषधि (इलाज) नहीं है।

एक कवि ने तो यहां तक कहा है कि:—

इतर दुःख शतानि निजेच्छया वितर तानि सहे चतुरानन।
अरसिकेषु रसस्य निवेदनं शिरसि मा लिख मा लिख ॥

हे भगवान्! मुझे और और सैंकड़ों दुःख दे दीजिये, जितनी भी इच्छा हो। मैं उन्हें सह लूंगा परन्तु अरसिकों (उस विषय के अज्ञानी लोगों) में उस रसका निवेदन करना मेरे भाग्य में मत लिख मत लिख।

इन्द्रलाल शास्त्री

जैन-दर्शन की विशेषता

श्री पं० नन्हेंलालजी शास्त्री सिद्धांतरत्न, आचार्य जैन महाविद्यालय, राजाखेड़ा

वस्तु के स्वभाव को धर्म कहा गया है यह स्वभाव रूप धर्म चेतन अचेतन आदि सभी पदार्थों में पाया जाता है और वह अनादि अनन्त है। जब स्वभाव अनादि अनन्त है तो वस्तु का अनादि अनन्त होना स्वाभाविक है। प्रत्येक वस्तु अपने अपने स्वभावों से परिपूर्ण है,उसका प्रदर्शन जैन धर्म है। जैनधर्म यानी आत्मा का त्रैकालिक स्वभाव, इसमें जो एक समय के लिये विकारी पर्याय आ जाती है उसके लक्ष्य को गौण करके अखण्ड परिपूर्ण स्वभाव का दर्शन जिसके द्वारा होता है, उसे ही दर्शन के नाम से कहा जाता है। दर्शन में आत्मा परमात्मा संसार मोक्ष आदि क्या है जगत का कर्ता कोई है या नहीं आदि समस्याओं के सुलझाने का उपदेश है जो विचाराश्रित है, विचार का नाम ही दर्शन है। दर्शन और धर्म का गहरा सम्बन्ध है दर्शन का प्रभाव धर्म पर गहरा पड़ता है और वह वस्तु स्वभाव रूप धर्म में ही गर्भित हो जाता है प्रत्येक मत अपना-अपना एक दर्शन स्वीकार करता है, जैनियों का भी एक दर्शन है जिसे जैन दर्शन कहते हैं और वह दर्शन अपनी अपूर्व विशेषता रखता है।

अनेकान्त और स्याद्वाद जैन दर्शन के प्राण हैं। जैन दर्शन अनादिकाल से प्रचलित है क्योंकि वस्तु स्वरूप अनादि संसार में जितने भी पदार्थ हैं उनके विषय में कोई भी तात्त्विक दृष्टि अनेकान्तात्मक होना अनिवार्य है क्योंकि प्रत्येक पदार्थ में अनेक रूपता स्वभावता समाई हुई है। मूल में प्रत्येक वस्तु सामान्य और विशेष रूप मिलती है। अनुवृत्ताकार को सामान्य और व्यावृत्ताकार को विशेष कहते है। सामान्य भी तिर्यक् सामान्य और ऊर्ध्वता सामान्य के भेद से दो प्रकार का है "एक काल में अनेक व्यक्तिगत सामान्य, तिर्यक् सामान्य अर्थात् एक काल में अनेक व्यक्तियों में रहने वाला सामान्य तिर्यक् सामान्य है और अनेक काल में एक व्यक्तिगत सामान्य ऊर्ध्वता सामान्य अर्थात् अनेक काल में एक व्यक्ति में रहने वाला सामान्य ऊर्ध्वता सामान्य है।

तिर्यक् सामान्य अनेक पदार्थों में अभेद का और व्यतिरेक विशेष एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ में भेद का बोधक है। ऊर्ध्वता सामान्य भी प्रत्येक पदार्थ के ध्रुवत्व का और पर्याय विशेष उसके उत्पाद और व्यय भाव का ज्ञापक है इस कथन से इतना तो सिद्ध हो जाता है कि प्रत्येक पदार्थ किसी अपेक्षा दूसरे के समान है और किसी अपेक्षा दूसरे से विलक्षण है एवं किसी अपेक्षा ध्रुव रूप है और किसी अपेक्षा उत्पाद व्यय रूप है इसी तरह हर एक पदार्थ में सदृशत्व विसदृशत्व धर्म पाये जाते हैं। इसी तरह जगत्

का प्रत्येक पदार्थ एक और अनेक रूप भी है। एक द्रव्य में जितने गुण हैं वे सब सत् रूप हैं इस दृष्टि से सब गुण एक हैं किन्तु कुछ गुण ऐसे भी हैं जिनसे एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से पृथक् है. इस दृष्टि से गुण अनेक हैं अतः इन गुणों से युक्त द्रव्य भी एक अनेक रूप है। सामान्य विशेष की अपेक्षा गुण अनेक हैं इनमें अस्तित्व, वस्तुत्व द्रव्यत्व प्रमेयत्व प्रदेशत्व आदि सामान्य गुण हैं अस्तित्व गुण नित्य है और वह सब द्रव्यों में पाया जाता है इस दृष्टि से प्रत्येक द्रव्य पदार्थ नित्य हैं किन्तु अस्तित्व गुण के समान सब द्रव्यों में व्यत्व भी पाया जाता है, जिससे सब पदार्थों में परिणमन होता है इस दृष्टि से पदार्थ अनित्य भी है। प्रत्येक द्रव्य में जिस तरह नित्यत्व अनित्यत्य एकत्व अनेकत्व आदि धर्म सिद्ध हैं उसी तरह अनादि गुणों में भी ये धर्म पाये जाते हैं ज्ञान सामान्य रूप से नित्य और विशेष रूप से अनित्य है इसके अलावा ज्ञान जब अपने को जानता है तब वह ज्ञान भी ज्ञेय हो जाता है। प्रत्येक ज्ञेय अनेक धर्मात्मक है ही इस दृष्टि से ज्ञान भी अनेक धर्म रूप है। अथवा स्वपर पदार्थ का प्रकाशन करने वाला ज्ञान ही प्रमाण है ज्ञान रूप प्रमाण में सभी पदार्थ प्रतिभासित होते हैं। किन्तु सभी पदार्थों के धर्म पदार्थों में ही हैं ज्ञान में नहीं। ज्ञान तो अपने स्वकीय धर्मों से युक्त है पर पदार्थों के धर्मों से तो अयुक्त (रहित) ही है। किन्तु पर पदार्थों के ज्ञान से वह अयुक्त नहीं है क्योंकि आत्मा के ज्ञान में सभी पदार्थ प्रतिभासित हैं। इसी विवक्षा से ज्ञान को मिलित कहा है इस तरह शून्य नय से आत्मा पर पदार्थों से खाली और अशून्य नय से उन पदार्थों से भरा हुआ मालूम होता है जैसे समुद्र में तैरता हुआ जहाज उसमें बैठे हुए मनुष्यों से वह भरा है किन्तु किनारे पर खड़े हुये मनुष्यों से खाली है इस कथन से यह निर्विवाद सिद्ध है कि आत्मा अपने में विद्यमान अनन्त धर्मों से भरा है किन्तु वाह्य पर पदार्थों या उनके धर्मों से भरा हुआ नहीं है परन्तु उनके ज्ञान से वह खाली नहीं है अतः ज्ञान के स्वपर प्रकाशक स्वभाव में लोक के समस्त पदार्थ प्रतिभाषित होते हैं यद्यपि पदार्थ ज्ञान में नहीं चले जाते और न ज्ञान ही पदार्थों में चला जाता है किन्तु यह सब ज्ञान की निर्मलता का ही परिणाम है जैसे दर्पण की स्वच्छता के कारण दर्पण के सामने रक्खे हुए पदार्थ उसमें प्रतिबिम्बित होते हैं। इसके अतिरिक्त प्रमाण का विषय गुण पर्यायस्वरूप अखण्ड द्रव्य है यदि पदार्थों को अनेक धर्मात्मक न माना जायगा तो संसार से प्रमाण शब्द ही लुप्त हो जायगा क्योंकि अनेक धर्म स्वरूप कोई वस्तु तो है ही नहीं फिर प्रमाण किसको ग्रहण करेगा इस तरह सब पदार्थों पर अनेकत्व की छाप लगी हुई है। इतना ही नहीं बल्कि पदार्थों को भी जैनदर्शन नित्यानित्य रूप स्वीकार करता है। कहा है—

क्रमवर्तिनो ह्यनित्याः अथ च व्यतिरेकिणश्च पर्यायाः।
उत्पाद व्यय रूपा अपिच ध्रौव्यात्मका कथञ्चिच्च ॥

प्रत्येक द्रव्य प्रति समय परिणमनशील है परिणमन दो तरह का है एक समयवर्ती परिणमन और भिन्न समयवर्ती परिणमन। एक समय वर्ती परिणमन की अपेक्षा भिन्न समय वर्ती परिणमन में कुछ समानता भी है और कुछ असमानता भी है जैसे ५ वर्ष के बालक को हम जैसा आज देखते हैं वैसा

ही प्रतिदिन भी देखते हैं इसका कारण सदृश परिणमन ही है जो सदृश अंश हैं वे सूक्ष्म हैं मालूम नहीं पड़ते। सदृश परिणमन अनेक समयों में एकसा होता है इसी दृष्टि से कहा जाता है कि स्थूल पर्याय चिर स्थायी है अतः इस अपेक्षा से पर्याय को भी कथंचित् ध्रौव्य स्वरूप कहा जाता है स्थूल पर्यायों में यद्यपि सूक्ष्म पर्यायें गर्भित हो जाती हैं तथापि लक्षण भेद से वे भिन्न हैं। इस तरह विश्व का प्रत्येक पदार्थ अनेकान्तात्मक है इस अनेकान्त को समझने के लिये अपेक्षावाद की जरूरत है अपेक्षा का नाम ही स्याद्वाद है। स्याद्वाद वाचक है और अनेकान्त वाच्य है। परस्पर विरुद्ध से मालूम पड़ने वाले नित्य अनित्य एक अनेक विधि निषेध सत् असत् आदि धर्म एक ही वस्तु में अपेक्षा से प्रतीत होते हैं परस्पर विरोधी दो धर्मों की मान्यता इसी की देन है। सापेक्ष दृष्टि के अपनाने पर उक्त विरोध मालूम ही नहीं पड़ता है जैसे पशु के शिर पर दांया और बांया सींग का कोई विरोध नहीं है स्याद्वाद वस्तु की वास्तविक तह तक पहुंचाने का अनन्य साधन है।

परमतावलम्बी जिन दार्शनिक विद्वानों ने स्याद्वाद के मानने में हिचकिचाहट की है इससे उनका उस तत्त्व तक न पहुंचना ही कारण है स्याद्वाद किसी भी वस्तु को एक दृष्टि से निश्चय करने का उपदेश नहीं देता है यदि हम किसी व्यक्ति को केवल पिता ही मान बैठे तो हमारा मानना सर्वथा असत्य है क्योंकि जिस व्यक्ति को पिता मान लिया गया है वह सर्वथा पिता ही नहीं अपने लड़के की अपेक्षा ही पिता है किन्तु अपने पिता की अपेक्षा वह पुत्र भी तो है इसी प्रकार मामा, भानजा, चाचा, मौसा आदि भी तत्तत् सम्बन्धियों की अपेक्षा से हैं विश्व की कोई वस्तु एक धर्म रूप नहीं है। रुपया को ही ले लीजिए हस्ततल पर रखा हुआ रुपया पूरा नहीं दीखता है ऊपर का या आजू बाजू का भाग ही दीखता है नीचे का नहीं अतः रुपया भी अनेक अंशों से विभक्त है तभी तो उसमें देखना और न देखना पाया जाता है। इसी तरह प्रत्येक वस्तु को समझना चाहिये वह अपने चतुष्टय यानि अपने द्रव्य क्षेत्र काल भाव से है परके चतुष्टय से नहीं है वस्तुतः प्रत्येक पदार्थ का चतुष्टय भिन्न भिन्न है अपने चतुष्टय का मतलब है द्रव्य, द्रव्यांश गुण गुणांश। अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड द्रव्य है उसके जितने निरंश अंश हैं वही उस द्रव्य का क्षेत्र है क्योंकि वह अखण्ड द्रव्य उन्हीं अपने अंशों में रहता है पर वस्तु में नहीं क्योंकि वह उसका क्षेत्र नहीं है वह तो पर वस्तु का क्षेत्र है उस अखण्ड पिण्ड रूप में जितने गुण पाये जाते हैं वे ही उस द्रव्य के भाव हैं और उनका काल क्रम से जो परिणमन है वही काल है इन्हीं भाव और काल को गुण और गुणांश कहते हैं दृष्टान्त पूर्वक यों समझना चाहिये जैसे, सोंठ, मिर्च पीपल, हर्र, बहेरा आदि सौ चीजों को लेकर कूट पीस कर एक पिण्ड बना लिया जाय उसे द्रव्य के स्थानमें समझना चाहिये उस गोलेकीचने प्रमाण गोली बनाली जाय जितनी गोली हैं वे गोलियां ही उसका क्षेत्र हैं क्योंकि वह अखण्ड गोला उन गोलियों में ही रह रहा है। प्रत्येक गोली में जो सौ-सौ दवाओं के गुण मौजूद हैं वे ही उसके गुण हैं और गोलियों में कालक्रम से जो स्वादभेद है वही उनका काल है इस तरह प्रत्येक द्रव्य अपने चतुष्टय से है पर वस्तु के चतुष्टय से वह नहीं भी है यदि दोनों के चतुष्टय को एक साथ कहा जाय तो कोई ऐसा शब्द नहीं है जो

दोनों को युगपत् कह सके इस दृष्टि से वह वस्तु वचन का विषय न होने से अवक्तव्य है अतः एक वस्तु स्वचतुष्टय से है पर चतुष्टय से नहीं है एवं एक साथ दोनों धर्म किसी भी शब्द द्वारा नहीं कहे जा सकते अतः वह वस्तु अवाच्य या अवक्तव्य है। इस तरह एक वस्तु में ३ धर्म तो सिद्ध हैं ही इन तीनों धर्मों को मिला कर दो संयोगी और तीन संयोगी भी स्वतन्त्र ४ धर्म और हो जाते है। प्रथम और द्वितीय भंग को एक बार क्रम से मुख्यपने से विवक्षित करने पर चौथा भंग कथञ्चित् अस्ति नास्ति हो जाता है इसी तरह अवक्तव्यभंग में पर भाव को गौण और स्वभाव को मुख्य रीति से कहने पर एवं उसी अवक्तव्य में स्वभाव को गौण और भाव को मुख्यपने से विवक्षित करने पर पांचवा और छठा भंग कथञ्चित् अस्ति अवक्तव्य और कथञ्चित् नास्ति अवक्तव्य बन जाता है इसी प्रकार उसी अवक्तव्य में स्वभाव और परभाव को क्रम से एक बार ही मुख्य विवक्षा से प्रतिपादन किया जाय तो सातवा भंग कथञ्चित् अस्ति नास्ति अवक्तव्य हो जाता है ये सातों भंग अस्ति नास्ति और अवक्तव्य के ही विशेष हैं। इन तीनों के योग से ७ भंग हो जाते हैं यदि हमारे पास सोंठ, मिर्च, पीपल तीन चीजें हैं तो इनके भिन्न भिन्न स्वादवाले ७ चूर्ण बन सकते हैं जैसे सोंठ, मिर्च, पीपल को पृथक् पृथक् पीस लिया जाय तो ३ चूर्ण स्वाद वाले हो जायेंगे इसी तरह सोंठ, मिर्च सोंठ, पीपर और मिर्च पीपल को पीस लेने पर दो-दो के संयोग से ३ चूर्ण और हो जायेंगे और तीनों चीजों को मिलाकर पीस लेने पर एक चूर्ण और बन जायगा। इस तरह भिन्न भिन्न स्वाद वाले ७ चूर्ण तैयार हो जाते हैं भंग निकालने का क्रम यह है कि प्रथम द्वितीय तृतीय भंग को विखेर कर यानि विरलन कर प्रत्येक के ऊपर दो दो का अंक दे दिया जाय उन दो दो को परस्पर गुणा कर लिया जाय गुणा करने पर जो गुणनफल आवे उसमें से एक अंक निकाल दिया जाय, इस तरह ७ भंग हो जाते हैं। जैसे—

$\frac{२}{१} \times \frac{२}{१} \times \frac{२}{१}$=८—१=७=नित्य अनित्य, एक अनेक, भेद अभेद आदि को लेकर एक-एक वस्तु में न जाने कितनी सप्त भंगी हो जाती हैं।

जिन मतमतान्तरों ने एकान्त पक्ष के दुराग्रह रूपी पल्ले को पकड़ रक्खा है वे वास्तविक वस्तु-तत्व को नहीं समझ सके हैं। जगत् का व्यवहार भी अपेक्षावाद को लिये हुये है। इस अपेक्षावाद और अनेकान्तवाद को लेकर ही जैन दर्शन का उदय हुआ है। अतः जैन दर्शन अपनी एक अपूर्व विशेषता रखता है।

महाकवि रइधू भक्त कुछ नगर सेठ

प्रो० डा० राजारामजी जैन M A., Ph. D. शास्त्राचार्य, आरा

●

भारत के प्राचीन एवं मध्यकालीन विद्या तथा संस्कृति के केन्द्रों में गोपाचल का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण रहा है। वहां के भट्टारकों कवियों, राजाओं एवं नगरसेठों ने मिलकर जो अद्भुत कार्य किये महाकवि रइधू के शब्दों में "गोपाचल" उनसे "पावन तीर्थ स्थल" बन गया। यहां उपर्युक्त सभी विषयों की चर्चा विस्तारभय के कारण सम्भव नहीं। हाँ, वहाँ के रइधूकालीन नगरसेठों के विषय में संक्षिप्त चर्चा मात्र ही यहाँ की जा रही है। इससे यह ज्ञात हो सकेगा कि गोपाचल की पुण्यभूमि में लक्ष्मी एवं सरस्वती ने अपने जन्मजात बैर में किस प्रकार सामञ्जस्य स्थापित किया। राजनीति का साहित्य, धर्म दर्शन, कला एवं संस्कृति के समन्वय का ऐसा अभूतपूर्व आदर्श उदाहरण अन्यत्र दुर्लभ ही होगा।

तोमर कुलदीपक महाराज डूंगरसिंह के राज्य में एक नगर सेठ अग्रवाल कुलोत्पन्न श्री साहू हरिसिंह निवास करते थे। वे लक्ष्मीपुत्र होने के साथ साथ शास्त्र-स्वाध्याय प्रेमी भी थे। महाकवि रइधू का अनन्य स्नेह उन्हें प्राप्त था और वे महाकवि को अपने यहाँ प्रायः निमन्त्रित कर उनसे कविता-पाठ सुना करते थे। महाकवि की इन भावभीनी सस्वर कविताओं ने साहू को इतना मंत्रमुग्ध बना दिया कि वे कल्पना लोक में विचरने लगे। एक बार उनकी इच्छा हुई कि स्वाध्याय करने हेतु महाकवि रइधू उनके लिये भी "बलभद्दचरिउ" (रामायण) नामक एक सरसकाव्य लिख दें, जिसका स्वाध्याय करने के कारण उनका नाम "चन्द्र विमान" में लिखा जा सके। उन्होंने कवि से निवेदन किया:—

> महुसाणुराव तहु मित्त जेण। विण्णत्ति मज्झु अवहारि तेण।
> महुणामु लिहहि चंद हो विमाणु। सुय वयणु सुद्धणिय चित्ति ठाणु।।

अर्थात् हेमित्र, मुझ पर अनुरागी बनकर मेरी बिनती सुन लीजिये एवं मेरे द्वारा इच्छित बलभद्र चरित नामक सरस काव्य ग्रन्थ लिखकर मेरा नाम "चन्द्रविमान" में अंकित करा दीजिये।

महाकवि रइधू यदि साहू के आग्रह से तत्काल ही "बलभद्रचरित" की रचना कर देते तो सम्भवतः उसकी गहनता को साहू साहब अनुभव नहीं कर पाते। अतः कवि ने मनोवैज्ञानिक ढंग से उसको महत्व बढ़ाने के लिये ही अपनी असमर्थता निम्न प्रकार से व्यक्त की।

> घंडएण भरइ को उवहि तोउ। को फणि सिरमणि पयडइ विणोउ।।
> पंचाणण मुहि को खिवइ हत्थु। विणु सुत्तें महि को रयइ वत्थु।।
> विणु बुद्धिएतह कव्वहं पसारु। विरएप्पिणु गच्छमि केम पारु।।

अर्थात् हे भाई, "बलभद्र चरित" का लिखना सरल कार्य नहीं । उसके लिखने के लिये महान् साधना, क्षमता एवं शक्ति की आवश्यकता है । आप ही बताइये कि भला घड़े में समस्त समुद्र जल को कौन भर सकता है ? साँप के सिर से मणि को कौन हटा सकता है प्रज्वलित पंचाग्नि में कौन अपना हाथ डाल सकता है ? बिना धागे से रत्नों की माला को कौन गूंथ सकता है ? उसी प्रकार बिना दैवी प्रतिभा के उस विशाल काव्य की रचना कर सकने में मैं कैसे पार पा सकूंगा ?

कवि ने जब साहू की भावुकता को अच्छी तरह समझ लिया तब कहीं उक्त ग्रन्थ की रचना की । यह रचना बड़ी विशाल है इसमें ११ सन्धियां एवं २४० कडवक (अथवा लगभग १३०० श्लोक) हैं । तोमर कालीन साहित्य का यह एक अनूठा ग्रन्थरत्न है जिसमें वर्ण्य-विषय के साथ साथ गोपाचल के प्रामाणिक इतिहास एवं संस्कृति पर भी सुन्दर प्रकाश डाला गया है । यह ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है ।

उसी युग के एक दूसरे धनिक श्रेष्ठ थे श्री साहू खेमसी (खेमसिंह) अग्रवाल । वे अत्यन्त भावुक एवं उदार सज्जन थे । उनके यहां परदेश से आने वाले भव्य जनों को सदा निमन्त्रण प्राप्त रहता था । गरीबों एवं संकट ग्रस्तों के दुःख देखकर वे रोने लगते थे । महाकवि रइधू के वे परमभक्त थे । उन्होंने कवि से अपने स्वाध्याय हेतु एक महाकाव्य के प्रणयन की प्रार्थना की । कवि ने जब उनकी प्रार्थना स्वीकार करली तब खेमसी ने उसके प्रति जो अपने उद्‌गार व्यक्त किये वे उसीके शब्दों में सुनिये:—

णियगेहि उवण्णउ कप्परुक्खु । तहु फलु को णउ वंछइ ससुक्खु ।।
पुण्णेण पत्तु जइ काम धेणु । कोणिस्सायइ पुणु विगयरेणु ।।
तह पंइं पुण महु किउ सइं पसाउ । महु जम्मु सयलु भो अज्जजाउ ।।
तुहुं धण्णु जासु एरिसउ चित्तु । कइयण गुणु दुल्लहु जेण पत्तु ।।

अर्थात् हे कविवर अपने ही घर में उत्पन्न हुए कल्पवृक्ष के सुखद फल को कौन नहीं खाना चाहेगा ? पुण्य से प्राप्त कामधेनु को कौन शीघ्र ही नहीं दुहना चाहेगा ? आपने काव्य रचना की स्वतः ही स्वीकृति देकर मुझ पर जो महती कृपा की है, उससे मेरा समस्त जीवन ही सफल हो गया है । आप धन्य हैं, जिन्हें कविजनों को दुर्लभ ऐसा सुन्दर एवं सरस हृदय प्राप्त हुआ है ।

इतना ही नहीं, जब कवि ने उक्त महाकाव्य लिखकर उसे समाप्त किया और खेमसी को समर्पित किया, तब वह उसे सिर पर रखकर अत्यन्त हर्षित होकर पागलों की तरह नाचने गाने लगे । उसने कवि के चरण स्पर्श किये तथा उसे द्वीप-द्वीपान्तरों से मंगवाये हुए बेशकीमत वस्त्राभूषणादि उपहार स्वरूप भेंट किये और जीवनभर उसका उपकार माना ।

खेमसिंह अग्रवाल गोपाचल (ग्वालियर) के एक समृद्ध व्यापारी एवं राजा डूंगरसिंह के राज दरबार में सम्मान प्राप्त नगरसेठ थे। बहुत सम्भव है कि उनका व्यापार विदेशों में विशेषतया भारत के पश्चिमोत्तर एवं दक्षिण पूर्व के विदेशों में रहा हो और महत्वपूर्ण सामग्रियों के आयात-निर्यात से उन्होंने गोपाचल की समृद्धि को वृद्धिगत किया हो।

गोपाचल के अन्य गौरवशाली नगरसेठ थे संघपति कमलसिंह अग्रवाल, जो धनकुबेर तो थे ही राजनेता भी उच्चकोटि के थे तथा सम्भवतः महाराजा डूंगरसिंह की मंत्रिपरिषद के एक अत्यन्त विश्वस्त सदस्य भी। डूंगरसिंह की उन पर बड़ी कृपा थी। कमलसिंह साहित्यरसिक एवं धर्मात्मा भी थे। उनके दैनिक कार्यक्रमों में प्रातःकालीन २-३ घंटे का समय शास्त्र स्वाध्याय एवं पूजा अर्चा में नियमित रूप से व्यतीत होते थे। महाकवि रइधूका स्नेह उन्हें सहज सुलभ था। उनकी कवित्व शक्ति से प्रभावित होकर उन्होंने एक दिन कवि से निवेदन किया कि वे उसे एक सरस, सुन्दर एवं सरल काव्य कथा ग्रन्थ लिख दें जिसका स्वाध्याय करके वे प्रसन्नचित रह सकें। कमलसिंह के इस निवेदन में आग्रह अनुरोध, हृदय का रुदन, भौतिक सुखों से उपेक्षा, प्रार्थना की गहनता एवं आत्मविश्वास दर्शनीय है। वे कहते हैं:- "हे कविश्रेष्ठ, शयनासन, हाथी घोड़े, ध्वजा, छत्र, चमर, सुन्दर सुन्दर रानियां, रथ, सेना, सोना-चांदी, धन-धान्य, भवन, सम्पत्ति, कोष, नगर, देश, ग्राम, बन्धु-बान्धव, सुन्दर सन्तान, भाई आदि सभी मुझे उपलब्ध हैं। सौभाग्य से किसी प्रकार की भौतिक सामग्री की मुझे कमी नहीं है, किन्तु इतना सब होने पर भी मुझे एक चीज का अभाव निरन्तर खटकता रहा है और वह यह कि मेरे पास काव्य रूपी एक भी सुन्दर मणी नहीं है। इसके बिना मेरा सारा ऐश्वर्य फीका-फीका लगता है। हे काव्य रूपी रत्नों के सागर, तुम तो मेरे स्नेही बालमित्र हो, तुम्हीं हमारे सच्चे पुण्य सहायक हो, मेरे मनकी इच्छा पूर्ण करने वाले हो, इस नगर में यद्यपि बहुत से विद्वज्जन निवास करते हैं, किन्तु मुझे आप जैसा कोई भी अन्य सुकवि नहीं दीखता अतः हे महाकवि मैं अपने हृदय की गांठ खोलकर सच-सच कहता हूं कि आप एक काव्य की रचना करके मुझ पर अपनी महती कृपा कीजिये।"

महाकवि के पारदर्शी नेत्रों ने प्रार्थी कमलसिंह की अन्तरात्मा को शीघ्र ही पढ़ लिया एवं उसकी विनम्र प्रार्थना को स्वीकार कर उत्तर दिया:—

"हे भाई कमलसिंह, तुम अपनी बुद्धि को स्थिर करो। तुमने जो विचार प्रकट किये हैं वे तुम्हारे ही अनुरूप हैं; अब चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। प्रसन्नचित्त बनो। मैं इच्छानुसार तुम्हें काव्यरचना कर दूंगा। जन्म-जन्मान्तर में इसी प्रकार स्वर्ण, धन धान्य एवं रत्नों से युक्त बने रहो तथा दुर्लभता से प्राप्त इस धर्म एवं मानव-जीवन में हितकारी उच्च कार्यों को निरन्तर करते रहो।"

महाकवि रइधू ने कमलसिंह की प्रार्थना स्वीकार करली अवश्य, किन्तु उसके मन में कुछ शंका होने लगी कि इस महान् कार्य में कुछ दुर्जन लोग आकर विघ्न बाधा उपस्थित करें तब ? उस स्थिति में

कमलसिंह का उत्साह, प्रेरणा एवं साहस भरा आश्वासन देखिये। वे कहते हैं:—"हे कवि श्रेष्ठ, सुनिये, दुर्जन-सज्जन तो अपने-अपने स्वभाव से होते हैं। वे अवगुणों एवं सद्गुणों के बल पर ही जीवित रहते हैं। रवि एवं शशि एक ही आकाश में रहकर अपनी उष्णता एवं शीतलता का क्या परित्याग कर देते हैं? धूलि के कणों से आच्छादित हो जाने पर भी क्या चन्द्रमा अपने प्रकाश को देना छोड़ देता है? यदि राहु के द्वारा ग्रस्त हो जाने पर क्या सूर्य अपनी तेजस्विता को छोड़ देता है? चोर साहूकार की उपस्थिति को न चाहें तो क्या वह संसार में रहना ही छोड़ दे? यदि जुआरी व्यक्ति किसी वस्तु को दाव पर लगादे तो क्या उससे वह वस्तु अप्रशस्त हो जाती है तथा इससे दूसरा कोई अन्य सज्जन व्यक्ति उसकी चाह करना भी छोड़ दे! अतः हे कविवर आप निश्चिन्त मन होकर अपनी काव्य रचना करें।

कवि उक्त आश्वासन से आश्वस्त हो गया और सुन्दर एवं सरस "सम्मत्तगुण णिहाणकव्व" नामक कथा ग्रन्थ की रचना की। कमलसिंह का उक्त उत्तर विद्वत्ता से परिपूर्ण है। एक सेठ भी उच्च-कोटि का विचारक चिन्तक, एवं अपनी सम्पत्ति के प्रति अनासक्त होकर महान् साहित्यरसिक एवं एक कवि का इतना श्रद्धालु भक्त बन सकता है। यह अपनी श्रेणी का एक अनुपम आदर्श प्रमाण है।

गोपाचल की पुण्य स्थली पर वहां के मध्यकालीन नगर सेठों की साहित्यिक रसिकता के ये अत्यन्त संक्षिप्त रूप में कुछ नमूने मात्र ही यहां प्रस्तुत हैं। गोपाचल का मध्यकालीन इतिहास ही वस्तुतः अग्रवालों, जैन साहित्यकारों, जैन कला एवं मूर्तियों का प्रामाणिक इतिहास है। इस काल के अप्रकाशित साहित्य विशेषतः महाकवि रइधू के उपलब्ध विशाल साहित्य के प्रकाशन की तत्काल आवश्यकता है उसके प्रकाशन से जैन साहित्य एवं कला के एक नवीन अध्याय का प्रारम्भ होगा।

जैनाभिमत अनुमान का प्राचीन मूल रूप

श्री पं० बरबारीलालजी जैन कोठिया एम० ए०, न्यायाचार्य
काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय, वाराणसी

आचार्य गृद्धपिच्छ ने आगम में वर्णित मत्यादि पाँच ज्ञानों को दो प्रमाणों में विभक्त किया है—[1] (१) प्रत्यक्ष और (२) परोक्ष। मति और श्रुत इन दो को उन्होंने परोक्ष कहा है तथा अवधि, मनःपर्यय और केवल इन तीन ज्ञानों को प्रत्यक्ष बतलाया है। जिन्हें परोक्ष प्रतिपादन किया है वे पराधीन ज्ञान हैं—इन्द्रिय, मन आदि पर की सहायता से वे उत्पन्न होते हैं। पर जिन्हें उन्होंने प्रत्यक्ष कहा है वे इन्द्रिय आदि पर की अपेक्षा से उदित नहीं होते। वे केवल आत्मा की अपेक्षा से ही आत्मा में आविर्भूत होते हैं। गृद्धपिच्छने यह भी बताया है[2] कि मति (अवग्रहादि रूप अनुभव) स्मृति, संज्ञा, (प्रत्यभिज्ञान) चिन्ता (तर्क) और अभिनिबोध ये पांच ज्ञान इन्द्रियों अथवा मन की सहायता से[3] उत्पन्न होने के कारण मतिज्ञान के ही पर्याय हैं। इनमें आद्य चार ज्ञान अन्य दर्शनों में भी प्रसिद्ध हैं—भले ही उन्हें प्रमाण या अप्रमाण माना गया हो। परन्तु **'अभिनिबोध'** संज्ञक ज्ञान उन दर्शनों में प्राप्त नहीं है तथा चार्वाक को छोड़ कर शेष सभी दर्शनों में स्वीकृत और सबसे अधिक प्रसिद्ध अनुमान प्रमाण उक्त पाँच ज्ञानों में दृष्टि गोचर नहीं होता। अतः विचारणीय है कि जैन परम्परा में अनुमान को माना गया है या नहीं ? यदि माना गया है तो **आ० गृद्धपिच्छ** ने तत्त्वार्थसूत्र में स्मृति आदि ज्ञानों का निरूपण करते समय उसका कथन क्यों नहीं किया ? साथ ही यह भी चिन्तनीय है कि जैनागमों में उसका प्रतिपादन है या नहीं ? इन महत्वपूर्ण प्रश्नों पर चिन्तन एवं अन्वेषण करने के पश्चात् जो तथ्य उपलब्ध हुए हैं, उन्हें हम प्रस्तुत कर रहे हैं—

(१) जैन परम्परा में अनुमान प्रमाण को स्वीकार किया गया है। तत्त्वार्थसूत्र में यद्यपि **'अनुमान'** शब्द प्राप्त नहीं होता। पर उसका निर्देश **'अभिनिबोध'** शब्द के द्वारा किया गया है। यह

---

१. मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्।
तत्प्रमाणे। आद्ये परोक्षम्। प्रत्यक्षमन्यत्॥
—तत्वार्थ सू० १। ६, १०, ११, १२।

२. मतिः स्मृतिः संज्ञाचिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्।
—वही, १। १३।

३. तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्।
—वही, १।१४

'अभिनिबोध' ही अनुमान का प्राचीन मूल रूप है और उसे परोक्ष प्रमाण के अन्तर्गत परिगणित किया गया है ।

(२) 'अभिनिबोध' अनुमान का प्राचीन रूप है, यह हमें अकलङ्क, विद्यानन्द और श्रुतसागर प्रभृति व्याख्याकारों की व्याख्याओं से अवगत होता है। अकलङ्क ने लघीयस्त्रय में उसकी एक कारिका की व्याख्या-प्रसंग में 'अभिनिबोध' का व्याख्यान 'अनुमान' किया है—

अविसंवादस्मृतेः फलस्य हेतुत्वात् प्रमाणं धारणा। स्मृतिः संज्ञायाः प्रत्यवमर्शस्य। संज्ञा चिन्तायाः तर्कस्य। चिन्ता अभिनिबोधस्य अनुमानादेः।[1]

यहां अकलङ्क ने स्पष्ट तया अभिनिबोध का अर्थ अनुमान दिया है।

विद्यानन्द तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में 'अभिनिबोध' शब्द की व्युत्पत्ति द्वारा उसका अनुमान अर्थ फलित करते हैं और आगम में 'अभिनिबोध' शब्द मतिज्ञान सामान्य के अर्थ में प्रयुक्त होने से उत्पन्न सिद्धान्त-विरोध का वे परिहार भी करते हैं। यथा

तत्साध्याभिमुखो बोधो नियतः साधनेन यः।
कृतोऽनिन्द्रिययुक्तेनाभिनिबोधः स लक्षितः ॥[2]

इस वार्तिक की व्याख्या में उन्होंने लिखा है कि साध्याविनाभावी साधन से जो शक्य, अभिप्रेत और अप्रसिद्ध रूप साध्य का ज्ञान होता है वह अनुमान है। और यह अनुमान ही अभिनिबोध का लक्षण (स्वरूप) है; क्योंकि साध्य कोटि में प्रविष्ट और नियमित अर्थ के मन सहित साधन द्वारा होने वाले अभिबोध (ज्ञान) को अभिनिबोध कहा जाता है। यद्यपि आगम में 'अभिनिबोध' मतिज्ञान सामान्य के अर्थ में आया है, स्वार्थानुमानरूप मतिज्ञान-विशेष के अर्थ में नहीं, तथापि प्रकरण विशेष और शब्दान्तर के संनिधान आदि से सामान्य शब्द की प्रवृत्ति विशेष में भी देखी जाती है। जैसे 'गो' शब्द श्यामा, कृष्णा आदि गौ विशेष में प्रयुक्त होता हुआ देखा जाता है। तात्पर्य यह है कि 'अभिनिबोध' शब्द मतिज्ञान सामान्य वाची होते हुए भी वह स्वार्थानुमान रूप मतिज्ञान विशेष का बोधक है।

विद्यानन्द इसी ग्रन्थ में[3] आगे और भी स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

यः साध्याभिमुखो बोधः साधनेनानिन्द्रियसहकारिणा नियमितःसोऽभिनिबोधःस्वार्थानुमानमिति।

अर्थात् मनःसहकृत साधन द्वारा जो साध्याभिमुख एवं नियमित बोध होता है वह अभिनिबोध है और यह अभिनिबोध स्वार्थानुमान है।

---

१. लघीय० स्वोपज्ञवृत्ति का० १०।
२. तत्वार्थश्लोक वा० १।१३।१२२; पृष्ठ १६७, १६८।
३. तत्त्वा० श्लो० वा १।१३॥

यहां आ० विद्यानन्द द्वारा एक महत्वपूर्ण शङ्का-समाधान भी प्रस्तुत किया गया है। शङ्काकार[1] शङ्का करता है कि इन्द्रिय और मन दोनों से होने वाला नियमित और स्वविषयाभिमुख बोध ही अभिनिबोध प्रसिद्ध है, न कि केवल मनसहकृत लिङ्ग से होने वाला लिङ्गी का नियमित बोध अभिनिबोध है, अन्यथा स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क ये अभिनिबोध नहीं हो सकेंगे। ऐसी स्थिति में अपरिहार्य सिद्धान्त-विरोध आता है ? इसका समाधान करते हुए विद्यानन्द कहते हैं कि हम अभिनिबोध का यह व्याख्यान नहीं कर रहे कि लिङ्गजन्य ही बोध अभिनिबोध है, अपितु हम यह कह रहे हैं कि शब्द योजना से रहित लिङ्ग जन्य बोध अभिनिबोध ही है। इस प्रकार के कथन से लिङ्गजन्य बोध को अलग प्रमाण नहीं मानना पड़ेगा और सिद्धान्त का संग्रह भी हो जायेगा। इन्द्रिय और मन दोनों से ही होने वाला स्वविषयाभिमुख एवं नियमित बोध अभिनिबोध है,ऐसा सिद्धान्त नहीं है, अन्यथा स्मृति आदि अभिनिबोध नहीं माने जा सकेंगे,क्योंकि वे मन से ही उत्पन्न होते हैं। अतः मनसे भी उत्पन्न होने वाला बोध अभिनिबोध सिद्धान्त सम्मत है।

विद्यानन्द के इस विस्तृत एवं विशद विवेचन से स्पष्ट है कि तत्वार्थसूत्र में मतिज्ञान के पर्यायनामों में पठित अभिनिबोध' से स्वार्थानुमान का ग्रहण अभिप्रेत है। विद्यानन्द बलपूर्वक यह भी कहते हैं कि यदि लिङ्गज बोध—स्वार्थानुमान को अभिनिबोध नहीं माना जायगा तो उसका स्मृति प्रत्यभिज्ञा और तर्क में अन्तर्भाव न होने से उसे अलग प्रमाण स्वीकार करना पड़ेगा। अतः हमने लिङ्गज बोध को अभिनिबोध का अर्थ व्याख्यान किया है। इससे उसे प्रमाणान्तर नहीं मानना पड़ेगा और इसमें सिद्धान्त का कोई विरोध भी नहीं है।

विद्यानन्द ने यही प्रतिपादन अतिसंक्षेप में प्रमाण परीक्षा में[2] भी किया हैं। इतना विशेष है कि वहां परार्थअनुमान को श्रोत्रमतिज्ञानपूर्वक होने के कारण श्रुतज्ञान 'अक्षर और अनक्षर' दोनों बतलाया है। तथा वचनात्मक पदार्थ अनुमान की मीमांसा की है। उसे उपचार से ही उन्होंने परार्थ अनुमान कहा है।

श्रुत सागर सूरि ने[3] भी अपनी तत्त्वार्थवृत्ति में अभिनिबोध का अर्थ अनुमान किया है।

---

१. 'इन्द्रियानिन्द्रियाभ्यां नियमितः कृतः स्वविषयाभिमुखो बोधोऽभिनिबोधः प्रसिद्धो न पुनरनिन्द्रिय सहकारिणा लिङ्गेन लिङ्गिनियमितः केवल एव .... सत्यं स्वार्थानुमानं नहि .... इति व्याचक्ष्महे। किं तर्हि लिङ्गजो बोध ....।'

—त० श्लो० १।१३।३८७, ३८८, पृ० २१६।

२. तदेतत्साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानं स्वार्थमभिनिबोधलक्षणं विशिष्टमतिज्ञानम्, साध्यं प्रत्यभिमुखान्नियमितात्साधनादुपजातबोधस्य तर्कफलस्याभिनिबोध इतिसंज्ञा प्रतिपादनात्। पदार्थमनुभानमनक्षरश्रुतज्ञानं अक्षरश्रुतज्ञानं च, तस्य श्रोतमतिपूर्वकस्य च तथात्वोपपत्तेः।

—प्रमाणपरी० पृ० ७६

३. धूमादिदर्शना दग्न्यादिप्रतीतिरनुमानमभिनिबोध अभिधीयते।

—तत्त्वा० वृ० १/१३; पृ० ६१; भारतीय ज्ञानपीठ काशी,

इन व्याख्याकारों के अनुसार स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्र में 'अभिनिबोध' शब्द स्वार्थानुमान का प्रतिनिधि है।

(३) धवला (षट्खण्डागम-टीका) कार वीरसेन ने अभिनिबोध की दो स्थानों पर व्याख्या प्रस्तुत की है। हम दोनों स्थानों की व्याख्याएं यहाँ दे रहे हैं :—

अहिमुह-णियमिय-अत्थावबोहो आभिणिबोहो। थूल-वट्टमाण-अणंतरिद-अत्था अहिमुहा। चक्खिदिए रूवं णियमिदं, सोदिंदिए सद्दो, घाणिंदिए गंधो, जिब्भिंदिए रसो, फासिंदिए फासो, णोइंदिए दिट्ठसुदाणुभूदत्था णियमिदा। अहिमुह-णियमिदट्ठेसु जो बोधो सो अहिणिबोधो[1]।

अभिमुख और नियमित अर्थ के अवबोध को अभिनिबोध कहते हैं। स्थूल, वर्तमान, और अनन्तरित अर्थात् व्यवधान रहित अर्थों को अभिमुख कहते हैं। चक्षुरिन्द्रिय में रूप नियमित है, श्रोत्रेन्द्रिय में शब्द, घ्राणेन्द्रिय में गन्ध, जिह्वेन्द्रिय में रस, स्पर्शनेन्द्रिय में स्पर्श और नोइन्द्रिय अर्थात् मन में दृष्ट, श्रुत और अनुभूत पदार्थ नियमित हैं। इस प्रकार के अभिमुख और नियमित पदार्थों में जो बोध होता है वह अभिनिबोध है।

दूसरे स्थान पर अभिनिबोध की व्याख्या इस प्रकार उपलब्ध होती है—

तत्थ अहिमुह-णियमिदत्थस्स बोहणमाभिणिबोहियं णाम णाणं। को अहिमुहत्थो ? इंदिय-णोइंदिय गहणपाओग्गो। कुदोतस्स णियमो ? अण्णत्थ अप्पवत्तीओ। अत्थिंदियालोगुवजोगेहिंतो चेव माणुसेसु रूवणाणुप्पत्ती। अत्थिंदिय-उवजोगेहिंतो चेव रस-गंध-सद्दफासणाणुप्पत्ती। दिट्ठ-सुदाणुभूदट्ठ-मणेहिंतो णोइंदियणाणुप्पत्ती। एसो एत्थ णियमो। एदेण णियमेण अभिमुहत्थेसु जमुप्पज्जदि णाणं तमाभिणिबोहियणाणं णाम[2]।

इसका तात्पर्य यह है कि अभिमुख और नियमित अर्थ का जो ज्ञान होता है उसे आभिनिबोधिक ज्ञान कहते हैं। अभिमुख का अर्थ है इन्द्रिय और नोइन्द्रिय के द्वारा ग्रहण करने योग्य अर्थ और नियमित का मतलब है अभिमुख को छोड़कर अन्यत्र इन्द्रिय और नोइन्द्रिय की प्रवृत्ति न होना। अर्थात् अर्थ, इन्द्रिय, आलोक और उपयोग के द्वारा ही मनुष्यों के रूप ज्ञान की उत्पत्ति होती है। अर्थ, इन्द्रिय और उपयोग के द्वारा ही रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श ज्ञान की उत्पत्ति होती है। दृष्ट, श्रुत और अनुभूत अर्थ तथा मन के द्वारा नोइन्द्रिय ज्ञान उत्पन्न होता है, यह यहां नियम है—नियमित का अर्थ है। इस नियम के अनुसार अभिमुख अर्थों का जो ज्ञान होता है वह आभिनिबोधिक ज्ञान है।

अभिनिबोध की इन दोनों व्याख्याओं में यद्यपि स्वार्थानुमान अर्थ दिखाई नहीं देता तथापि यह स्पष्ट है कि दृष्ट, श्रुत और अनुभूत अर्थ का मन द्वारा जो ज्ञान होता है वह भी अभिनिबोध

१. धवला १, ९, १, १४; वीरसेन; अमरावती संस्करण, १९४३

२. धवला ५/५/२१: पृ० २०९,२१०।

है। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान (स्वार्थ) ये चारों ज्ञान यतः दृष्ट, श्रुत और अनुभूत अर्थ में ही मन द्वारा होते हैं, अतः इन सब ज्ञानों को अभिनिबोध कहा जा सकता है। अकलङ्क देव ने[1] इन ज्ञानों को मनोमतिज्ञान अथवा अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष कहा है। तथ्य यह है कि उन्होंने ज्ञान विशेष के अर्थ में ही अभिनिबोध को दिया है और इसी से अकलङ्क ने स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क इनके स्वतन्त्र निर्देश के साथ अभिनिबोध का भी स्वतन्त्र निर्देश करके उन सभी को अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष अथवा मनोमति प्रतिपादन किया है। उनका अभिप्रेत वह ज्ञान विशेष स्वार्थानुमान ही सम्भव है। वीरसेन द्वारा अभिनिबोध का मतिज्ञान सामान्य अर्थ किया जाना स्वाभाविक है; क्योंकि वे उस षट्खण्डागम के व्याख्याकार हैं जिसमें सर्वत्र अभिनिबोध (आभिनिबोधिक) शब्द मतिज्ञान सामान्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। निष्कर्ष यह कि मतिज्ञान विशेष—अभिनिबोध विशेष (स्वार्थानुमान) भी अभिनिबोध सामान्य का अर्थ लिया जा सकता है। गो-शब्द से जैसे गो-विशेष-श्यामा आदि का बोध किया जाता है।

(४) वीरसेन ने इसी धवला में श्रुत ज्ञान का भी व्याख्यान दो स्थलों पर किया है। वह भी द्रष्टव्य है—

(क) तत्थ सुदणाणं णाम इंदिएहि गहिदत्थादो तदो पुधभूदत्थग्गहणं, जहा—सद्दादो घडादीणमुवलंभो, धूमादो अग्गिस्सुवलंभो वा[2]।

अर्थात् इन्द्रियों से ग्रहण किये गये पदार्थ से उससे पृथक्भूत पदार्थ का ग्रहण करना श्रुतज्ञान है[3]। जैसे शब्द से घट आदि पदार्थों का जानना, अथवा धूम से अग्नि का ग्रहण करना।

(ख) मदिणाणेण गहिदत्थादो जमुप्पज्जदि अण्णेसु अत्थेसु णाणं तं सुदणाणं णाम। धूमादो उप्पज्जमाण अग्गिणाणं, णदीपूरजणिद उवरिविट्ठि-विण्णाणं, देसंतरसंपत्तीए जणिद-दिणयरग-मणविसयविण्णाणं, सद्दादो सद्दत्थुप्पण्णणाणंच सुदणाणमिदि भणिदं होदि[4]।

अर्थात् मतिज्ञान के द्वारा ग्रहण किये गये अर्थ के निमित्त से जो अन्य अर्थों का ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान है। धूम के निमित्त से उत्पन्न हुआ अग्नि का ज्ञान, नदीपूर के निमित्त से उत्पन्न हुआ ऊपरी भाग में वृष्टि का विज्ञान, देशान्तर की प्राप्ति के निमित्त से उत्पन्न हुआ सूर्य का गमन विषयक विज्ञान और शब्द के निमित्त से उत्पन्न हुआ शब्दार्थ का ज्ञान श्रुतज्ञान है।

श्रुतज्ञान की इन दोनों व्याख्याओं में जो उसके उदाहरण दिये गये हैं वे ही सब अनुमान का स्वरूप समझाने के लिए भी दिये जाते हैं। धूम से अग्नि का ज्ञान, नदीपूर से ऊपरी भाग में वर्षा का

१. लघीय० का, ६१ तथा ६६ की स्वोपज्ञवृत्ति।

२. धवला १/६/१/१४; पृ० २१।

३. गोम्मटसार जीवकाण्ड गा० ३१४।

४. धवला ५/५/२१; पृ० २१०।

ज्ञान, देशान्तर प्राप्ति से सूर्य में गति का ज्ञान अनुमान से ही किया जाता है, यह प्रसिद्ध है। श्रुतज्ञान की इन व्याख्याओं से अनुमान प्रमाण श्रुतज्ञान के अन्तर्गत आता है, वीरसेन का यह स्पष्ट अभिप्राय जान पड़ता है। यही कारण है कि अभिनिबोध सम्बन्धी उनकी व्याख्याओं में अनुमान या स्वार्थानुमान अर्थ उपलब्ध नहीं होता।

(५) षट्खण्डागम में श्रुतज्ञान के इकतालीस[1] पर्याय शब्द दिये गये हैं। इनमें उसका एक पर्याय नाम 'हेतुवाद' है। इस 'हेतुवाद' का व्याख्यान आचार्य वीरसेन ने निम्न प्रकार दिया है—

हेतुः साध्याविनाभावि लिङ्गं अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणोपलक्षितः। स हेतुर्द्विविधः साधनदूषण भेदेन। तत्र स्वपक्षसिद्धये प्रयुक्तः साधनहेतुः। प्रतिपक्ष निर्लोहनाय प्रयुक्तो दूषण हेतुः। हिनोति गमयति परिच्छिनत्त्यर्थमात्मानं चेति प्रमाणपञ्चकं वा हेतुः। स उच्यते कथ्यतेऽनेनेति हेतुवादः श्रुतज्ञानम्[2]।

साध्य के अभाव में न होने वाले लिङ्ग को हेतु कहते हैं। और वह अन्यथानुपपत्तिरूप एक लक्षण से युक्त होता है। वह दो प्रकार का है— (१) साधन हेतु और (२) दूषण हेतु। इनमें स्वपक्ष की सिद्धि के लिए प्रयुक्त हेतु को साधन हेतु और प्रतिपक्ष का खण्डन करने के लिए प्रयुक्त हेतु को दूषण हेतु कहते हैं। अथवा हेतु शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार जो अर्थ और अपना ज्ञान कराता है उस प्रमाण-पञ्चक को हेतु कहा जाता है। यहां प्रमाणपञ्चक से वीरसेन का अभिप्राय मत्यादिपांच ज्ञानों को ग्रहण करने का प्रतीत होता है। उक्त प्रमाणपञ्चक रूप हेतु जिसके द्वारा अभिहित हो वह हेतुवाद रूप श्रुत-ज्ञान है।

वीरसेन के इस हेतुवाद-व्याख्यान से असंदिग्ध अवगत होता है कि यहां हेतुवाद के अन्तर्गत वह हेतु विवक्षित है जो साध्याविनाभावि लिङ्ग से होने वाले साध्यज्ञान—अनुमान में प्रयुक्त होता है और जिसके बल पर उसे (अनुमान को) लिङ्गज या लैङ्गिक कहा जाता है। हेतुवाद शब्द का प्रयोग अनुमान के अर्थ में हमें अन्य दर्शनों में भी मिलता है। निष्कर्ष यह कि वीरसेन अनुमान को श्रुतज्ञान मानते हैं, उसे मतिज्ञान मानने की ओर उनका झुकाव प्रतीत नहीं होता।

यहां हम उनका महत्त्वपूर्ण उद्धरण और दे देना आवश्यक समझते हैं। इस उद्धरण से स्पष्ट हो जायेगा कि वीरसेन अनुमान को श्रुतज्ञान के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं। यथा—

सुदणाणं दुविहं—सद्दलिंगजं असद्दलिंगजं चेदि। धूमलिंगादो जलणावगमो असद्दलिंगजो। अवरो सद्दलिंगजो। किं लक्खणं लिंगं ? अण्णहाणुववत्तिलक्खणं। पक्षधर्मत्वं सपक्षे सत्त्वं विपक्षे चासत्त्व-मिति एतैस्त्रिभिर्लक्षणैरुपलक्षितं वस्तु किं न लिङ्गमिति चेत्, न व्यभिचारात्। तद्यथा—पक्वान्याम्र-

१. पावयणं पवयणीयं पवयणट्ठो.......... हेदुवादो णयवादो पवरवादो मग्गवादो सुदवादो पर-वादो लोइयवादो लोगुत्तीरीयवादो.......... चेदि।

—षट्खण्डागम, भूतबली-पुष्पदन्त; भेलसासंस्करण; ई० सन् १९५५; ५/५/५० पृ० २८०।

२. षट्खण्डागम टीका धवला ५/५/५०; पृ० २८०।

फलान्येकशाखा प्रभवत्वादुपयुक्ताफलवत्, स श्यामः त्वत्पुत्रत्वादितरपुत्रवत्, ······ ·· इत्यादीनि साधनानि त्रिलक्षणान्यपि न साध्यसिद्धये भवन्ति । विश्वमनेकान्तात्मकं सत्त्वात् ······ ···इत्यादीनि साधनानि अत्रिलक्षणान्यपि साध्यसिद्धये प्रभवन्ति । ततः इदमन्तरेण इदमनुपपन्नमिति तीदमेव लक्षणं लिङ्गस्येति प्रत्येतव्यम्[1] ।

यहां श्रुतज्ञान वर्णन के प्रसङ्ग में उसके दो भेद बतलाये हैं—(१) शब्दलिङ्गज और (२) अशब्दलिङ्गज । अशब्द लिङ्गज श्रुतज्ञान का उदाहरण है—धूमके निमित्त से अग्नि का ज्ञान होना । आगे लिङ्ग का लक्षण वही दिया गया है जो अनुमान-प्रकरण में उसका कहा जाता है । इससे वीरसेन का स्पष्ट मत है कि अनुमान अशब्द लिङ्गज श्रुतज्ञान है, मतिज्ञान नहीं ।

(६) वीरसेन का यह मत षट्खण्डागमपर आधृत है । षट्खण्डागम में आचार्य भूतबली-पुष्पदन्त ने ज्ञानमार्गणा की अपेक्षा जिन पांच सम्यग्ज्ञानों और तीन मिथ्याज्ञानों का निरूपण किया है उनमें प्रथम सम्यग्ज्ञान का नाम 'आभिनिबोधक' है, मतिज्ञान नाम नहीं है । मति तो उसके चार पर्यायों में परिगणित तीसरे ज्ञान का नाम है । यथा—

सण्णा सदी मदी चिंता चेदि ।[2]

संज्ञा, स्मृति, मति और चिन्ता ये आभिनिबोधिक ज्ञान के पर्याय हैं ।

यहां सूत्र में आभिनिबोधिक ज्ञान के पर्यायनामों को गिनाते हुए जहां अनुमान के अव्यवहित पूर्व में आवश्यक रूप से रहने वाले मति आदि का निर्देश है वहां अनुमान का अनुमान शब्द से या उसके बोधक किसी अन्य शब्द से कोई उल्लेख नहीं है । इससे प्रकट है कि षट्खण्डागम में अनुमान को आभिनिबोधिकज्ञान नहीं माना । इसका कारण यह ज्ञात होता है कि आभिनिबोधिक ज्ञान इन्द्रियव्यापार या मनोव्यापार पूर्वक उत्पन्न होते हैं । चाक्षुष आदि इन्द्रिय प्रत्यक्ष इन्द्रिय व्यापार से और स्मृति, संज्ञा तथा चिन्ता ये तीनों अनिन्द्रिय ज्ञान मनोव्यापार से पैदा होते हैं । अतः ये ज्ञान तो 'इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्' के अनुसार आभिनिबोधिक हैं । पर अनुमान सीधे मनोव्यापार या इन्द्रियव्यापार से उत्पन्न न होकर साध्याविनाभावी साधन से उत्पन्न होता है । जैसे धूम से अग्नि का ज्ञान होता है । यह सत्य है कि साधन में इन्द्रिय और मन सहायक हैं; क्योंकि उनके बिना साधन का दर्शन और व्याप्ति का स्मरण नहीं हो सकता । पर वे साध्य ज्ञान के उत्पादक नहीं हैं—उसका उत्पादक तो साधन ज्ञान है । ऐसी स्थिति में अनुमान आभिनिबोधिक ज्ञान न होकर श्रुतज्ञान होगा, क्योंकि एक अर्थ से दूसरे अर्थ का बोध कराने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान कहा गया है । धूम के निमित्त से अग्नि का ज्ञान करना नदीपूर से ऊपरी भाग में वृष्टि का ज्ञान करना देशान्तर प्राप्ति से सूर्य में गति का ज्ञान करना. ये सब श्रुतज्ञान के उदाहरण हैं । जान पड़ता है कि इसीसे षट्खण्डागम में अनुमान को आभिनि-

२. धवला ५।५।४३, पृ० २४५ ।

१. षट्खण्डागम ५।५।४१, पृ० २४४ ।

बोधिक ज्ञान के पर्यायतामों में वर्णित नहीं किया। किन्तु श्रुतज्ञान के इकतालीस एकार्थवाची शब्दों में दत्त 'हेतुवाद' शब्द द्वारा उसका श्रुतज्ञान में संग्रह अथवा अन्तर्भाव किया है। अतः षट्खण्डागम के व्याख्याकार वीरसेनाचार्य का उपर्युक्त मत व्याख्यान साधार और मूल षट्खण्डागम के अनुरूप है।

(७) अब प्रश्न है कि आगम की जब ऐसी प्ररूपणा है तो आचार्य गृद्धपिच्छ ने तत्त्वार्थसूत्र में आगमोक्त आभिनिबोधिक ज्ञान के स्थान में मतिज्ञान नाम और उसके पर्यायनामों में पहले से अनुपलब्ध 'अभिनिबोध' शब्द क्यों[1] रखा ? उनके इस परिवर्तन का कारण क्या है ?

हमारा विचार है कि तत्त्वार्थसूत्रकार उस दर्शन युग में हुए हैं जब प्रमाण शास्त्र की चर्चा बहुलता से होने लगी थी और प्रत्येक दर्शन के लिए आवश्यक था कि वह स्वकीय प्रमाणों का निर्धारण करे। चार्वाक के सिवाय अन्य सभी भारतीय दर्शनों ने अनुमान को स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में मान लिया था और उसका मूलरूप 'वाकोवाक्यम्' एवं 'आन्वीक्षिकी' विद्या में खोज निकाला था। आर्हतदर्शन की अपनी विशिष्ट परम्परा रही है। वह ऐसे समय पर मौन नहीं रह सकता था। उसे भी अपनी ओर से यह निर्णय करना आवश्यक था कि वह कितने प्रमाण मानता है और वे कौन-कौन से हैं तथा वह अनुमान को मानता है या नहीं ? यद्यपि षट्खण्डागम, प्रवचनसार और श्वेताम्बर अनुयोगद्वार, स्थानाङ्ग तथा भगवती आदि आगमग्रन्थों में ज्ञानमीमांसा तथा प्रमाणमीमांसा विस्तार के साथ निरूपित एवं चर्चित थी। विषय-निरूपण में हेतुवाद का भी आश्रय लिया जाता था। पर ये सभी ग्रन्थ प्राकृत-भाषा में निबद्ध थे और युग था संस्कृत के माध्यम से दार्शनिक विषयों (प्रमेयों) के निरूपण का। अतः तत्त्वार्थसूत्रकार ने संस्कृत के माध्यम से आर्हत-दर्शन के प्रायः सभी विषयों का प्रतिपादन करने के लिए तत्त्वार्थसूत्र की रचना की। यह जैन परम्परा के संस्कृत सूत्र-ग्रन्थों में आद्य संस्कृत सूत्र-ग्रन्थ है। इसमें धर्म और दर्शन दोनों का निरूपण है। उनका गहन कार्य था—आगमिक विषयों को दर्शन द्वारा प्रस्तुत करना। निःसन्देह इस कार्य में उन्हें अभूतपूर्व सफलता मिली। अन्य दर्शनों की तरह उन्होंने भी निःश्रेयस, निःश्रेयस मार्ग का ज्ञान इस ग्रन्थ में निरूपित किया। आगमानुसार ज्ञानमीमांसा भी प्रस्तुत की। मति शब्द की अपेक्षा आभिनिबोधिक शब्द उन्हें कुछ जटिल लगा और इसलिए आभिनिबोधिकज्ञान के स्थान में मतिज्ञान को रखकर उसे उन्होंने सरल बना दिया और उसके पर्यायनामों से अभिनिबोध को भी सम्मिलित कर लिया। यह अभिनिबोध शब्द भी आभिनिबोधक की अपेक्षा सुगम है। इस शब्द को रखकर उन्होंने अनुमान के संग्रह की ओर संकेत किया। इस परिवर्तन में कोई मौलिक सिद्धान्त भेद या सिद्धान्त विपरीतता भी नहीं है। फलतः अकलङ्क, विद्यानन्द जैसे मूर्धन्य मनीषी विचारक उनके उस परिवर्तन से प्रभावित हुए और उससे प्रकाश पाकर उन्होंने 'अभिनिबोध' की व्याख्या 'अनुमान' प्रस्तुत की। सिद्धान्त

१. अत्थादो अत्थंतर मुवलंभंतं भणंति सुदणाणं ।
आभिनिबोहिय पुव्वं णियमेणिह सद्दजं पमुहं ।।
—गो० जी० ३१५, आ० नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ।

विरोध की बात उठने पर विद्यानन्द ने 'सामान्य शब्द भी विशेष वाची होते हैं' कहकर इस विरोध का परिहार भी किया। विद्यानन्द ने अकलङ्क का आशय[1] ग्रहण करके यह भी कह दिया[2] कि अभिनिबोधात्मक ज्ञान शब्द योजना से पूर्व अर्थात् शब्द योजना रहित दशा में स्वार्थानुमान है। पर शब्द योजना से विशिष्ट हो जाने पर वह अभिनिबोधपूर्वक होने वाला श्रुतज्ञान है जिसे परार्थानुमान कहा जाता है[3]। तात्पर्य यह कि मतिज्ञान के पर्यायनामों में पठित 'अभिनिबोध' से स्वार्थानुमान का ग्रहण अभिप्रेत है और आगम में आये हेतु वाद से जो श्रुतज्ञान के पर्याय शब्दों में समाहित है, परार्थानुमान का ग्रहण विवक्षित है। निष्कर्ष यह कि स्वार्थानुमान का प्राचीन मूल रूप अभिनिबोध है और पदार्थानुमान का मूलरूप हेतुवाद है। इस तरह जैन अनुमान अभिनिबोध और श्रुत दोनों का प्रतिनिधि है। इसमें तत्त्वार्थसूत्रकार और उनके व्याख्याकारों तथा षट्खण्डागम और धवला के व्याख्यानों एवं निरूपणों में कोई विरोध नहीं है।

(१) लघीय. का. १०, ११।

(२) प्रमाणपरी. पृ०७६; तथा त. श्लो. वा. १।१३।३८८; पृ० २१६।

(३) तदेतत्साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानं स्वार्थमभिनिबोधलक्षणं विशिष्टमतिज्ञानम्, साध्यं प्रत्यभिमुखान्नियमितात्साधनादुपजातबोधस्य तर्कफलस्याभिनिबोध इतिसंज्ञा प्रतिपादनात्। पदार्थमनुमानमनक्षरश्रुतज्ञानं अक्षरश्रुतज्ञानं च तस्य श्रोत्रमतिपूर्वकस्य च तथात्वोपपत्तेः।
—प्रमा० परी पृ० ७६।

भगवान ऋषभदेव की सार्वभौमिकता

"स्वतंत्र" जैन

भगवान् ऋषभदेव युग के आदि में उत्पन्न हुए थे। इनके आदिनाथ ऋषभनाथ भी नाम हैं। जैन इतिहास और जैन मान्यता के अनुसार ये युग के आदि तीर्थङ्कर थे इसलिए इनको आदिनाथ भी कहते हैं।

जब भोगभूमि अपना अन्तिम दम तोड़ रही थी, और कर्म-भूमि दो वर्ष के बालक की तरह ठुमक ठुमक कर चलना सीख रही थी, तब इस तरह के संक्रमण काल के बीच भ० ऋषभनाथ का जन्म हुआ था। आपके पिता का नाम नाभिराय और माता का नाम मरुदेवी था। भ० ऋषभनाथ के शरीर का वर्ण तपाए हुए स्वर्ण के समान,शरीर की अवगाहना ५०० धनुष [१] और आयु ८४ लाख पूर्व [२] वर्ष की थी।

भोगभूमि

जैन इतिहास के अनुसार युग की प्रवृत्ति दो प्रकार से होती है। १ भोगभूमि २ कर्मभूमि। भोगभूमि वह युग कहलाता है कि जहां कल्पवृक्षों से सभी प्रकार की आवश्यक सामग्री जो कि जीवन जीने के लिए अनिवार्य है मिलती है। जैसे अन्न वस्त्र भोजन मकान आदि। इस युग में स्वामी सेवक,राजा प्रजा, गरीब अमीर, मूर्ख विद्वान् का कोई भेद नहीं रहता। जीवन भर आनन्द पूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं।

न यहां पुण्य है न पाप है, न चोरी डकैती है, न व्यभिचार है, न दुख है, न रोग है न शोक है, न अतिवृद्धि है न अनावृष्टि है। सर्वत्र शांति एवं सुख का ही साम्राज्य स्थापित रहता है। सभी अपने में संतोषी, उदार एवं मन्द कषायी होते हैं। लड़ाई झगड़ा कलह फूट विसंवाद विग्रह आंधी तूफान युद्ध आदि का वहां नाम तक सुनने को नहीं मिलता।

लड़ाई के मुख्य कारण रोटी, कनक कामिनी, स्वार्थ एवं पशुता ही मानी गयी है इन सब चीजों का वहां अभाव है। वहां कामिनी कनक भी हैं पर सबको समान रूप से प्राप्त हैं, अधिक की इच्छा होती नहीं। फिर लड़ाई झगड़े विग्रह युद्ध का काम भी क्या? वहां अकाल मौत नहीं होती। असंख्यात

१. ४।। हाथ का एक धनुष।

२. ८४लाख वर्ष का एक पूर्वाङ्ग, ८४ लाख पूर्वाङ्ग का एक पूर्व ऐसे ८४ लाख पूर्व वर्ष।

वर्ष प्रमाण प्रत्येक की आयु होती है। दिवस रात्रि का भेद नहीं होता ज्योतिषांग जाति के कल्पवृक्षों से वहां निरन्तर प्रकाश बना रहता है।

माता पिता के अन्तिम समय ही युगलिया (पुत्र पुत्री) उत्पन्न होते हैं तब माता को जमाई और पिता को छींक आते ही उनका स्वर्गवास हो जाता है और उन दोनों का देह कपूर की तरह उड़ जाता है, इसलिए वहां अग्नि संस्कार की भी आवश्यकता नहीं रहती। इच्छित सामग्री कल्पवृक्ष से मांग ने पर मिल जाती है। फिर आवश्यकता भी क्या है कि आजीविका के लिए नौकरी व्यापार धंदा कृषि आदि कार्य किए जायें। नाम ही इसका भोगभूमि है, यहां तो हर प्रकार के आनन्द सुख भोग आदि भोगते हुये जीवन आनन्द से व्यतीत करो। ऐसे युग को भोगभूमि का युग कहते हैं।

कल्पकाल

यह भोगभूमि का युग भरत क्षेत्र के आर्य खंड में ९ कोड़ा[1] कोड़ी[2] सागर रहता है और कर्म भूमि का युग एक कोड़ाकोड़ी सागर का रहता है। १० कोड़ाकोड़ी सागर का एक उत्सर्पिणी काल और १० कोड़ाकोड़ी सागर का एक अवसर्पिणीकाल (वर्तमान युग अवसर्पिणी का पंचम काल है) ऐसे २० कोड़ाकोड़ी सागर का एक कल्पकाल होता है। एक कोड़ाकोड़ी सागर की गिनती संख्या या अंकों में नहीं बांधी जा सकती अर्थात् संख्यातीत वर्षों से अधिक असंख्यात वर्षों का एक कोड़ाकोड़ी सागर होता है।

पहला काल (कालों के नाम क्रमशः सुषुमा सुषुमा आदि है) ४ कोड़ाकोड़ी सागर का, २ राकाल ३ कोड़ाकोड़ी सागर का, ३ राकाल २ कोड़ाकोड़ी सागर का (९ कोड़ा कोड़ी सागर तक भोगभूमि की रचना रहती है) ४ था काल ४२ हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर, ५ वां काल २१ हजार वर्ष, और छठा काल २१ हजार वर्ष का होता है। इन कल्प कालों का क्रम अनादि से चला आ रहा है, और अनन्त तक चलता रहता है। इनका कर्त्ता धर्ता हर्ता कोई नहीं है। स्वतः सिद्ध हैं स्वयं सिद्ध हैं, अकृत्रिम हैं।

जिस प्रकार प्रकृति, प्रकृति से है उसका कोई निर्माता नहीं उसी प्रकार यह युग की सृष्टि और उसमें हानि वृद्धि होना भी प्रकृति से ही है। हानि और वृद्धि दोनों ही काम प्रकृति करती है। प्रकृति के ये सब कार्य स्वयं होते रहते हैं। और न प्राकृतिक कार्यों में परिवर्तन या रद्दो बदल करने की किसी में शक्ति है, और ऐसी शक्ति f काल में भी पैदा नहीं हो सकती कि वह प्रकृति के कार्यों को बदल दे।

कुलकर—

नाभिराय १४ वें कुलकर थे। कुलकर उन्हें कहते हैं जो कि कुलों की परंम्परा अक्षुण्ण रूप से बनाये रखते हैं। कुलकर का अर्थ 'मनु' भी होता है। 'मनो जातिः मनुजः' जो मनु से पैदा हो उस

१. एक करोड़ में एक करोड़ का गुणा करने पर जो राशि आये।
२. समुद्र जैसे समुद्र के जल बिन्दुओं को गिना जा सकता वैसे ही आयुको समझना चाहिए।

को मनुज कहने हैं। कुलकर अपने समय की जनता को मार्ग दर्शक की तरह काम करते हैं, और वे जनता के लिये नयी प्रेरणा एवं नवीन जागृति प्रदान करते हैं।

भोगभूमि के समाप्त होने में जब पल्य का (असंख्यात वर्ष) कुछ अंश बाकी था, तब क्रमशः १४ कुलकर हुये। और सभी जनता के निस्वार्थ निष्कपट भाव से मार्ग दर्शक सिद्ध हुये। इस हिसाब से १४वें कुलकर नाभिराय थे। और उनने तत्काल जन्म जात सन्तानों की नाभि के ऊपर की नाल काटने का विधान बतलाया, इसलिये उनका नाभिराय नाम यथार्थ और प्रसिद्ध था। इन्हीं नाभिराय के भ० ऋषभदेव पुत्र थे।

अब भोगभूमि समाप्त हो चुकी थी, और कल्पवृक्ष भी तिरोहित हो गये थे। उनसे प्राप्त होने वाली जो सुविधा-जनक एवं आवश्यकीय वस्तुयें मिलती थीं वे भी अब नहीं मिलती थीं। उन वस्तुओं के न मिलने से या अभाव होने से जीवन जीने का प्रश्न सभी के समक्ष प्रेतसा साकार खड़ा था।

कर्मभूमि—

जनता अनेक अभावों के कारण त्रस्त दुखी और भयभीत हुयी खाना, पीना, उठना, बैठना मेल जोलभोजन कैसे बनाना, अग्नि कहां से आये, पहिनना, ओढ़ना, आदि अनेक जटिल समस्यायें उनके समक्ष खड़ी थीं। तब यह नाभिराय के पास गयी। क्योंकि उस समय नाभिराय ही एक महा पुरुष माने जाते थे। नाभिराय ने जनता के आगमन का कारण ज्ञात किया तब उनसे विनम्र शब्दों में कहा कि आप सब प्रजाजन भ० ऋषभनाथ के समीप जायें। वे प्रथम तीर्थङ्कर हैं, दिव्य की लोकोत्तर विभूति हैं, स्वयं बुद्ध हैं, जन्मतः ही अवधिज्ञान के धारक हैं। वे आपके लिये सही सही मार्ग दर्शन देगें, विघ्न बाधाओं को दूर करने का उपाय बतलायेंगे, और आपकी सारी मुसीबत दूर कर देंगे।

फिर जनता नाभिराय की सूचनानुसार भ० ऋषभ के पास आयी, और अपनी दुखभरी गाथा उनके समक्ष निवेदित की। ऋषभदेव सभी कुछ जानते समझते थे। उनने प्रजाजन को संबोधित करते हुये कहा कि अब घबड़ाने या चिन्ता करने की कोई बात नहीं है। भोगभूमि समाप्त होने से और कल्प-वृक्षों के अभाव होने से जो विषम वातावरण उपस्थित हुआ, वह स्वाभाविक ही है। और काल चक्र के कारण ऐसा होना ही था, जो कि हो कर रहा।

षट्कर्म और तीन वर्ण व्यवस्था

कर्मभूमि का प्रारम्भ हो गया है, अतएव कर्म करके ही आजीविका चलानी होगी, इसलिए इसका नाम कर्मभूमि है। फिर अवधिज्ञान द्वारा उनने विदेह क्षेत्रस्थ कर्मभूमि की रचना ज्ञात की (यहां निरंतर चौथा ही काल रहता है) और आजीविका निर्वाहार्थ असि मसि कृषि सेवा शिल्प वाणिज्य ऐसी षट् कर्म की व्यवस्था बतलायी।

खेती कैसे की जाती है, व्यापार कैसे किया जाता है, असि मसि कर्म क्या हैं ? गृह निर्माण कला शस्त्रविद्या शास्त्रविद्या मानव जीवन का कर्त्तव्य धर्म, सेवा, दया, परोपकार सामाजिक व्यवहार आदि इन विषयों पर गम्भीर विवेचन किया, और समझाया कि इन षट् कर्मों द्वारा ही हमारे जीवन की गति होगी। कल्प वृक्षों की सुविधाओं को अब भूल जाना होगा। इसके बाद विश्व के मानवों को उनने क्षत्रिय वैश्य शूद्र (विप्रवर्ण भरतचक्रवर्ती द्वारा निर्माण किया गया था) इन ३ वर्णों में विभाजित कर ३ वर्णों की रचना की और वर्णों के अनुसार उनके कर्त्तव्य कर्म बतलाये।

क्षत्रिय असि कर्म के द्वारा स्वयं की रक्षा कर अपने पड़ौसियों की अपने समाज की अपने राष्ट्र की रक्षा करे। दुष्टों का निग्रह और सन्तों पर अनुग्रह करे। वैश्य वस्तुओं का क्रय-विक्रय कर जनता को सभी सामग्री सुविधा पूर्वक प्रदान करे। द्वीप द्वीपान्तर जाकर भी वस्तुओं का आदान-प्रदान एवं क्रय विक्रय करे। शूद्र सेवा वृत्ति द्वारा आजीविका चलाये। सेवा अनेक प्रकार की होती है नाई धोबी लुहार कुम्भकार बढ़ई आदि के कार्य सेवा वृत्ति परक ही कहलाते हैं। शूद्रों को भी दो भागों में विभाजित किया १ स्पृश्य २ अस्पृश्य इनके उपनाम कारु अकारु भी हैं। इस प्रकार भ० ऋषभने षट् कर्म और तीन वर्णों की स्थापना कर जनता के सभी प्रकार के संकट दुःख मुसीबतें आदि दूर कर उन्हें जीवन जीने की कला सिखलायी, और उनकी सामाजिक व्यवस्था में एक नवीन चेतना एवं जागृति प्रदान की। भ० ऋषभ के मार्ग दर्शन से जनता अत्यन्त आनन्दित एवं प्रसन्न हुयी। और उनके द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण कर अपने सारे ही संकट दूर किये। इस समय जनता का जीवन निर्भय एवं निरापद था।

सार्थक अनेक नाम—

भ० ऋषभ युग के (कर्मभूमि) आदि में हुये इसलिये युगादि जिन कहलाये। कर्म शत्रुओं को नाश करने से जिन हुये। कर्मभूमि की सृष्टि (६ कर्म ३ वर्ण) की इसलिये ब्रह्मा कहलाये। प्रजा की पत (लाज) रखी इसी से प्रजापत और प्रजा के स्वामी होने के कारण प्रजापति। नाभिके पुत्र होने से नाभेय, तीर्थ को (संसार के डूबते हुये प्राणियों का उद्धारकरना) किया या चलाया इसलिये तीर्थङ्कर, प्रथम तीर्थङ्कर होने से आदि तीर्थङ्कर। युग की सृष्टि करने से युगस्रष्टा, युग के निर्माता होने से युग निर्माता, युगीन जनता का कष्ट दूर करने से युग त्राता, प्राचीन पुरुष होने से पुराण पुरुष, धर्म के प्रवर्तक होने से वृषभ देव, जगत के रक्षक होने से विष्णु, देवों के देव होने से देवाधिदेव या महादेव, संसार को सुख देने के कारण शंकर महापुरुष, महात्मा, महामानव, युगदर्शक युग प्रवर्तक, विश्वकी लोकोत्तर विभूति जगदुद्धारक विश्ववंद्य आदि अनेक नाम भ० ऋषभदेव के हैं। वैसे केवलज्ञान प्राप्ति के समय इन्द्र ने आपके १००८ नामों से स्तुति की है। अन्त में इन्द्र को वाणी का व्यापार बन्द कर यही स्वीकार करना पड़ा कि आपके अनन्त नाम हैं। वाणी में इतनी सामर्थ्य कहां कि वह आपके गुणों का वर्णन कर सके।

भ० ऋषभदेव का गार्हस्थ्य जीवन :

भ० ऋषभदेव युवा हुये। तब नाभिरायने विचार किया कि ऋषभदेव का गार्हस्थ्य जीवन सुख मय व्यतीत हो और विश्व के लिये एक नया मार्ग मिले। इसके लिये आवश्यकता है कि ऋषभदेव कुछ समय तक गृहस्थ जीवन व्यतीत करें। तब आपने कच्छ सुकच्छ विद्याधरों की पुत्री यशस्वती सुनन्दा के साथ सम्बन्ध करने का निर्णय किया।

वैवाहिक संस्था के आदि संस्थापक :

भ० ऋषभ महामानव थे, वे अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत पूर्वक भी अपना जीवन व्यतीत कर सकते थे। पर उस समय की भोली और भूली जनता के समक्ष एक नया आदर्श उपस्थित करना था। संसार व्यभिचारी न हो जाये, इसलिये आवश्यकता है कि इसके जीवन में कोई बन्धन, मर्यादा या सीमा हो कि उसका मन उसी में बंधा रहे। अगर ऐसा न हुआ तो मन भटक कर मनुष्य को पतित एवं कर्त्तव्य-विहीन बना देगा। और आगे जाकर मानव, पशु या दानव का रूप धारण करेगा। फिर मानव का विकास उत्थान एवं उन्नत होना संभव नहीं।

इस प्रकार सुदीर्घ दृष्टि पूर्वक आपने पिताजी को अपनी स्वीकृति प्रदान की। और शुभ नक्षत्र, शुभ तिथि, शुभ लग्न, शुभ मुहूर्त में यशस्वती सुनन्दा के साथ आपका पाणिग्रहण संस्कार हुआ। और यह संस्कार इसीलिये किया कि वर्तमान की प्रजा और आगे आने वाली प्रजा इसी मार्ग का अनुसरण अनुकरण कर अपने गृहस्थ जीवन को सफल बनाये।

महाप्रभु, स्वयंभू भ० ऋषभदेव ने दीर्घ सूत्रता पूर्वक अनुभव किया कि अकेला पुरुष और अकेली स्त्री अपने आप में अपूर्ण हैं इन दोनों के सहकार सहयोग एवं पति पत्नी संबंध के बगैर दोनों ही गृहस्थ जीवन नहीं जी सकते। मानव अपने आप में इकाई है। उसे जीवन में एक ऐसे साथी की आवश्यकता है जो सुखदुख में, आचार में, वर्ताव में, व्यवहार में, वाणी में, खानदान में, विचारों में समान हो। ऐसे साथी के बिना जीवन में प्रगति विकास एवं उन्नति नहीं हो सकती, और न गृहस्थ धर्म ही सफल हो सकता है।

भोगभूमि में युगलिया ही ४९ दिन में जवान होकर पति पत्नी के रूप में आजीवन रहते थे। अब भोगभूमि तो है नहीं, कर्मभूमि है इसलिये विवाह संस्कार की अनिवार्य आवश्यकता है। ऐसा सब सोच समझ कर ही भ० ऋषभ ने अपना पाणिग्रहण संस्कार कराया था।

यह संस्कार समाज के समक्ष, अग्नि के समक्ष, सप्तप्रदक्षिणा पूर्वक हुआ था। जिसके साथ धर्म पूर्वक पाणिग्रहण हुआ है उसी के साथ संबंध रखकर संसार की नारी समाज के प्रति माता बहिन की भावना रखना यह स्वदारसंतोष या ब्रह्मचर्याणुव्रत कहलाता है। और विवाह संस्कार की यही

शिक्षा है। वही विवाह संस्कार पद्धति आज भी भारत में ही नहीं अपितु भारततर सभी देशों में है। उसके तौर तरीके एवं रिवाज भिन्न हो सकते हैं, पर विवाह का उद्देश्य वही है जो कि पूर्व में था।

"महाजनो येन गत: सपंथ:" इस उक्ति के अनुसार भ०ऋषभ महाजन भी थे। वर्तमान विश्व में जो हम वर्णव्यवस्था एवं षट्कर्म व्यवस्था देख रहे हैं, वह सब भ० ऋषभ द्वारा प्रचारित एवं प्रदर्शित थी। विश्व "यावच्चन्द्रदिवाकरौ" तक भ० ऋषभ का कृतज्ञ एवं उपकृत रहैगा। उस युग में (संक्रमण काल में) तो भ० ऋषभ ने ब्रह्मा विष्णु महेश त्रिमूर्ति के रूप में ही विश्व को सही और यथोचित मार्ग बतलाया था। उस युग में भ० ऋषभ न होते तो षट्कर्म व्यवस्था जैसी चीज मानव समाज में नहीं होती। तब मानव की क्या गति होती उसका कहां ठिकाना होता नहीं कहा जा सकता।

समाजवाद समन्वयवाद, साम्यवाद, सभ्यता कलाविज्ञान, लिपिविद्या अंकविद्या, राज्य व्यवस्था, समाज व्यवस्था, ७२ कला १४ विद्या आदि के सर्व प्रथम आविष्कारक व आविर्भावक भ० ऋषभदेव ही हैं। वेदोक्त ब्रह्मा विष्णु महेश भ० ऋषभ ही है ऐसा स्वामी कर्मानंद जी ने स्वरचित "धर्म का आदि प्रवर्तक" ग्रंथ में सिद्ध किया है।

यशस्वती रानी से भरत वृषभसेन ९९ पुत्र और ब्राह्मी नामक एक पुत्री, एवं सुनन्दा रानी से बाहुबलि १ पुत्र और सुन्दरी नाम की एक पुत्री उत्पन्न हुयी। ऐसी १०२ सन्तानें भ० ऋषभदेव के यहां हुयी थीं।

समकालीन अनेक पदवीधर:—

नाभिराय १४ वें कुलकर, भ० ऋषभ प्रथम तीर्थङ्कर भरत आदि सम्राट् (चक्रवर्ती) बाहुबलि पहिले कामदेव इस प्रकार भिन्न २ चार पदवीधर समकालीन समकक्ष हुये कुलकर के पुत्र तीर्थङ्कर दो पुत्र क्रमश: चक्रवर्ती और कामदेव हुये।

सन्तानों को शिक्षण:—

ऋषभ ने अपने पुत्रों को शस्त्रविद्या शास्त्रविद्या, अलंकार, छन्द, गणित, व्याकरण, भाषा, न्याय, साहित्य, कोष, ज्योतिष, समाज शास्त्र, अर्थ शास्त्र, राजनीति,धर्म,समस्त विद्याओं और कलाओं का शिक्षण देकर उनके लिये पारंगत पूर्ण पंडित विद्वान् धर्मात्मा वीरात्मा परोपकारी एवं सर्व कार्यकुशल बनाया। इसी प्रकार ब्राह्मी सुन्दरी को संगीत नृत्य एव सभी विद्या और कलाओं में अद्वितीय दक्ष किया। आपने ब्राह्मी पुत्री को जो लिपि सिखलायी वह तो ब्राह्मी लिपि के नाम से प्रसिद्ध ही है, और यह पुरातन लिपि मानी है। इस लिपि के शिलालेख श्रवणबेलगोला (जैनबद्री) में विद्यमान हैं।

इक्ष्वाकु वंश

भ० ऋषभ ने उस समय जनता को गन्ने (इक्षु) का रस निकाल कर पीने की विधि बतलायी इस कारण आपके वंश का नाम इक्ष्वाकु वंश प्रसिद्ध हो गया। दूसरा कारण यह भी बतलाया जाता है कि

भ० ऋषभ ने निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि अवस्थामें सर्व प्रथम आहार राजा श्रेयांस के यहां इक्षु रस का लिया था, अतएव आपके वंश का नाम इक्ष्वाकु वंश प्रचलित हो गया। इसी वंश में मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्रजी हुये थे। इक्षु इति शब्दं अकतीति, अथवा इक्षुमाकरोतीति इक्ष्वाकु।' अर्थात् भूखी प्यासी जनता को 'इक्षु'ऐसा शब्द कहने के कारण भगवान इक्ष्वाकु कहलाये और उनकी सन्तानें इक्ष्वाकु वंश में पैदा हुई।

अन्य वंशों की उत्पत्ति

सम्राट् भरत के पुत्र अर्ककीर्ति के द्वारा सूर्यवंश, प्रथम कामदेव बाहुवलि के द्वारा चन्द्रवंश, कुरु जांगल देश में रहने के कारण राजा श्रेयाँस द्वारा कुरुवंश की उत्पत्ति हुयी। प्रमुख वंश इक्ष्वाकु ही है।

भरत और भारत

भ० ऋषभ के ज्येष्ठ पुत्र भरत थे। इनने भारत के ६ खंडों पर विजय प्राप्त कर सम्राट् या चक्रवर्ती पद प्राप्त किया था। ५ मलेच्छ खंड १ आर्य खंड ऐसे ६ खंड भरत क्षेत्र में हैं। ६० हजार वर्ष दिग्विजय कर चक्रवर्ती पद प्राप्त किया था और प्रथम चक्रवर्ती थे तभी से हमारे देश का नाम भारत वर्ष प्रसिद्ध हुआ। इसके प्रमाण में जैन शास्त्र तो हैं ही, परन्तु वैदिक ग्रन्थों में भी इसके प्रबल प्रमाण मिलते हैं।

मार्कन्ड ऋषि द्वारा रचित मार्कण्डेय पुराण अध्याय ५० में निम्न प्रकार बतलाया है :—

अग्नीध्रसूनोर्नाभिस्तु ऋषभोऽभूत सुतो द्विजः।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे, वीरः पुत्रशताद्वरः ॥३९॥
हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं, भरताय पिता ददौ।
तस्मातु भारतं वर्षं, तस्य नाम्ना महात्मनः ॥४१॥

अर्थ—नाभिराय के पुत्र ऋषभ हुये, ऋषभ के पुत्र भरत हुये जो कि अपने १०० भाइयों में ज्येष्ठ भ्राता थे। हिमालय सम्बन्धी दक्षिणी प्रदेश भरत को दिया। इस कारण उस महात्मा के नाम से 'भारतवर्ष' नाम हुआ।

विष्णुपुराण में भी इसी बात की पुष्टि की गयी है।

नाभेः पुत्रश्च ऋषभः, ऋषभाद् भरतोऽभवत्।
तस्य नाम्ना त्विदं वर्षं, भारतं चेति कीर्त्यते ॥५७॥
द्वितीयांश अध्याय १

अर्थ—नाभि के पुत्र ऋषभ, और ऋषभ के पुत्र भरत हुये। भरत के ही नाम से हमारे देश का नाम भारतवर्ष प्रसिद्ध हुआ और भी प्रमाण देखिये:—

ऋषभाद्भरतो जज्ञे, वीरः पुत्रशताग्रजः।
तमात्तु भारतं वर्ष, तस्य नाम्ना विदुर्बुधा ॥५२॥ वायुपुराण अ० ३७
ऋषभो मरुदेव्यां च, ऋषभाद्भरतोऽभवत्।
तस्माच्च भारतं वर्ष, भरतात्सुमति स्त्वभूत ॥१२॥ अग्निपुराण अ० १०
आसीत् पुरा मुनिश्रेष्ठो, ज्येष्ठः भारतो नाम भूपतिः।
आर्षभो यस्य नाम्नेदं, भारतं खण्डमुच्यते ॥५॥ नारदपुराण अ० ४८
ऋषभाद् भरतो जज्ञे, ज्येष्ठः पुत्रशताग्रजः।
ततश्च भारतं वर्ष येल्लोकेषु गीयते ॥३२॥ विष्णुपुराण अंश २ अ० १

अर्थ सबका सरल है।

अक्षय तृतीया

वैशाख शुक्ला तृतीया भारत देश में अक्षय तृतीया पर्व के नाम से सुप्रसिद्ध है। करोड़ों वर्ष पूर्व इस दिन हस्तिनापुर नगर के शासक राजा श्रेयांस के यहां महामुनि महामौनी निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्रा के धारक भ० ऋषभ का सर्व प्रथम आहार हुआ था। और राजा श्रेयांसने ने नवधा भक्ति पूर्वक इक्षु रस का आहार दिया था। उस समय भ० ऋषभ ही प्रथम दिगम्बर मुनि थे। मुनि को आहार देने की विधि जनता जानती नहीं थी। इसी कारण भ० ऋषभदेव को १ वर्ष तक आहार नहीं मिला था।

जातिस्मरण होने के कारण राजा श्रेयांसने अपनी पूर्व की पर्याय जबकि श्रीमती का जीव था और भ० ऋषभ का जीव वज्रजंघ था। श्रीमती इनकी पट्टरानी थी, और इनने एक दिन वन क्रीड़ा के समय ही चारण ऋद्धि धारी मुनि को आहार दान दिया था। वही सब अतीत की घटना का स्मरण राजा श्रेयांस को हुआ और उनने आहार दान की विधि ज्ञात कर तत्काल ही गन्ने के रस का आहार देकर अक्षय पुण्य प्राप्त किया।

इसलिये राजा श्रेयांस का नाम दानियों में सर्व प्रथम लिया जाता है। नवीन कार्य का प्रारंभ करना इस दिन शुभ माना जाता है। युवक लड़के लड़की का लग्न मुहूर्त देर से निकलता है तो ऐसी अवस्था में वगैर मुहूर्त देखे ही लड़के लड़कियों की शादी इस दिन (अक्षय तृतीया) करदी जाती है। इस दिन मिट्टी के नवीन घड़ों में पानी भरा जाता है, और उनके मुंह पर मिष्टान्न (खीर पूड़ी) रखते हैं। यह दिन बड़ा ही पवित्र दिन है। इस दिन प्रारंभ किया हुआ कार्य अवश्य ही सफल होता है। इसीलिये इस पर्व का नाम अक्षय तृतीया सार्थक ही है।

भ० ऋषभ और शिवजी : एक तुलनात्मक अध्ययन

शिवजी के उपनाम शंकर, भोलानाथ, शिव, महादेव, रुद्र आदि हैं। वे शिवजी प्रकारान्तर से भ० ऋषभ ही हैं। शिवजी और भ० ऋषभ में सभी प्रकार से समानता पायी जाती है। हिन्दू समाज

जिन्हें शिवजी कहता है और जैन समाज जिसे भ० ऋषभ कहता है वे दोनों एक ही हैं नाम से और मान्यता से भले ही भिन्नता हो।

शंकर जी का निवास कैलाश पर्वत है, उनकी सवारी का वाहन वृषभ है, उनके मस्तिष्क पर जटा जूट हैं, त्रिनेत्र धारी हैं, अर्ध नारीश्वर हैं, एक हाथ में त्रिशूल दूसरे हाथ में डमरू है, उनकी जटा जूट में सुर सरिता बहुत समय तक भ्रमण करती रही। भुजाओं में और गले में सर्प लिपटे हुये हैं। इनका नाम नीलकंठ भी है (विष पान के द्वारा कंठ नीले रंग का हो गया था) हिन्दु पुराणों में इनका भी नग्न रूप माना गया है। जितने भी देव हैं उनमें शंकर जी का प्रमुख स्थान है और वे आदि देव माने गये हैं।

तब दूसरी ओर शिवजी की भ० ऋषभ से तुलना की जाये तो दोनों एक ही हैं। जो सुख को करे या जिसके द्वारा हमारे लिये सुख प्राप्त हो वही शंकर है। भ० ऋषभदेव के पैर के दाहिने अंगुष्ठ में वृषभ का चिन्ह था। वृषभ का अर्थ धर्म भी होता है। जिस प्रकार वृषभ भारी वजन को लाद कर वजन को (बोझ या भार) इच्छित स्थान पर पहुंचा देता है। उसी प्रकार भ० ऋषभ ने सब कुछ त्याग कर सब कुछ समर्पण कर विश्व को सन्मार्ग पर लगाने के लिये विश्व धर्म का प्रचार प्रसार किया।

वर्षों तक तपस्या करने के कारण आपकी केश राशि जटा-जूट के रूप में परिवर्तित हो गयी थी। सघन जंगलों में साधना पूर्वक जीवन यापन करने के कारण आपकी भुजाओं एवं गले से सर्प लिपट गये थे। केवलज्ञान रूपी ही आपका तृतीय नेत्र था। डमरू की आवाज से लोगों का ध्यान डमरू बजाने वाले की ओर जाता है। इसी तरह भ० ऋषभ की दिव्य देशना (दिव्यध्वनि) ही डमरू का काम कर रही है। उन्होंने विश्व के उद्धारार्थ शंख नाद (दिव्य देशन्ना) किया और विश्व का ध्यान शंख नाद की ओर गया और वह अपने कर्त्तव्य में सावधान हुआ।

भ० ऋषभ ने कैलाश पर्वत पर भी तपस्या की और यहीं से आपने मुक्ति प्राप्त की थी। गंगा का जल शीतल पवित्र निर्मल एवं स्वच्छ होता है। वेद की मान्यतानुसार गंगा में स्नान करने से मुक्ति प्राप्त होती है। भ० ऋषभ का जब तक साधनामय जीवन रहा तब तक वे स्वानुभव रूपी सरस शीतल मिष्ट निर्मल पवित्र एवं आनन्दप्रद संवित्ति को अपने में ही (छद्मावस्था में) रखे रहे और केवलज्ञान प्राप्त होने के बाद स्वानुभव रूपी संवित्ति की रस धारा विश्व में प्रवाहित करदी। क्योंकि शंकर जी पहले सुरसरिता को जटा जूट में रखे रहे, इसके बाद उसे संसार में बहा दी। संवित्ति और सुर सरिता की तुलना समान रूप से मेल खाती है।

शिवजी को अर्ध नारीश्वर कहते हैं। यानि उनने गौरी को (उमा, पार्वती) अपने आधे शरीर में धारण कर लिया था अर्ध+न+अरि+ईश्वर=अर्धनारीश्वर। भ० ऋषभ आधे कर्म शत्रुओं को (४ घातिया कर्म) नष्ट कर ईश्वर यानी अर्हन्त हुये। जिनके नाम सर्वज्ञ परमात्मा भगवान प्रभु विभु आदि अनेक हैं।

त्रिशूल का अर्थ यहां रत्नत्रय से है। त्रिशूल यानी त्रयशल्य (मिथ्यात्व माया निदान) को नष्ट कर जिसने तीन रत्न सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की पूर्णता प्राप्त करली है। इन तीनों के त्रयात्मक रूप को ही रत्नत्रय कहते हैं। त्रिशूल से यदि शरीर की रक्षा हो सकती है तो रत्नत्रय से आत्मा की रक्षा हो सकती है। क्योंकि आत्मा और शरीर ये दोनों भिन्न वस्तुयें हैं और दोनों की सुरक्षा के लिये भिन्न भिन्न अस्त्र भी हैं। १ कृत्रिम है १ अकृत्रिम है। त्रयशल्य का अपभ्रंश त्रिशूल हो गया है।

भ० ऋषभ परमहंस जातरूप नग्न मुद्रा के धारक थे ही। शिवजी भी नग्न रहते थे। शिवजी का रूप संहारक माना गया है, भ० ऋषभ कर्म शत्रुओं के संहारक थे। शंकरजी भिक्षाटन भी करते थे, भ० ऋषभ आहार के लिये गमन करते थे. इसको भिक्षा भी कहा जा सकता है। शंकर जी के गणेश पुत्र थे। भ० ऋषभ के वृषभसेन पुत्र थे जो कि भगवान के समवशरण में प्रमुख गणधर थे। प्रमुख गणधरको गणेश भी कहा जाता है।

शंकरजी पार्वती के पति थे। पर्वत निवासिनी जनता को पार्वती कहा जाता है। उस पार्वती (जनता) के प्रभु (पूज्य) होने के कारण भ० ऋषभ को पार्वतीपति भी कहा जाता है।

मध्य लोक में शिवजी के 'शिवलिंग' की पूजा की जाती है। शिव यानी मुक्ति, लिंग यानी पहिचान। अर्थात् जिस आत्मधर्म के द्वारा आत्मा को आत्मा की पहिचान हो, और अन्त में आत्मा शिव का रूप प्राप्त करले वह आत्मा शिवात्मा (सिद्धात्मा) है। भ० ऋषभ भी आत्मा की पहिचान कर अन्त में शिवात्मा हो गये।

ऋषभ निर्वाण और शिवरात्रि

भ० ऋषभ का निर्वाण (शिव) कैलाश गिरि पर माघ कृष्णा चतुर्दशी को हुआ था। यहां एक मौलिकभेद हमारे लिये यह समझ लेना है कि दक्षिण भारत और गुजरात सौराष्ट्र में उत्तर हिन्दुस्तान की तरह कृष्ण पक्ष की तिथियों में (मास की अपेक्षा) एक मास का अन्तर है। उत्तर हिन्दुस्तान में जिसे फागुण कृष्ण पक्ष माना जाता है उसे दक्षिण प्रान्त एवं गुजरात प्रान्त वाले माघ कृष्ण मानते हैं।

जिस भ० ऋषभ ने मुक्तिपद (शिवपद) प्राप्त किया उस दिन साधु संघ एवं श्रावक संघ ने उपवास कर रात्रि जागरण किया और शिव की उपासना की इस कारण इस दिन को शिवरात्रि कहते हैं। शिवरात्रि को हमारे हिन्दू भाई व्रत उपवास करते हैं और रात्रि जागरण कर शिव की आराधना या उपासना करते हैं।

माघस्सकिण्हि चोद्दसि,, पुव्वण्हेणियय जम्मणक्खत्ते
अट्ठावियम्मि उसहो अजुदेण समं गओज्जोमि
"तिलोयपण्णत्ती"

माघे कृष्णचतुर्दश्या-मादिदेवो[1] महा-निशि ।
शिवलिंगतयोद्‌भूत: कोटि-सूर्यसमप्रभ: ।।
तत्कालव्यापिनीग्राह्या शिवरात्रिव्रतेतिथि : ।

"ईशा संहिता" हिन्दु पुराणे

भ० ऋषभ देव की सार्व भौमिकता

बाबा आदम

इस्लाम धर्म के अनुसार जब संसार की सृष्टि हुयी तब एक ही मनुष्य जाति थी। और सृष्टि के आदि में जो सबसे पहिला व्यक्ति हुआ वह आदम नाम का व्यक्ति था इसी से सृष्टि क्रम का विकास हुआ। उस आदम से जो प्रजोत्पत्ति हुयी वह आदम जाति कहलायी। आदम शब्द से ही आदमी शब्द बना है। आदिनाथ शब्द का अपभ्रंश आदम बाबा हो गया है। आदिनाथ, भ० ऋषभ का ही नाम है। इस्लाम धर्म में बतलाया है कि—

"नवी का बेटा रसूल था"

जिसको खुदाने ईश्वरीय उपदेश जनता तक पहुंचाने के लिए पैदा किया था। इन शब्दों के अपभ्रन्श पर हम विचार करें तो एक बहुत बड़ा रहस्य सामने खुल जाता है। नाभि का अपभ्रन्श नवी और ऋषभ का अपभ्रंश रसूल आदिनाथ का अपभ्रंश आदम हो गया है। इसका सदाशय और अभिप्राय यही है कि नाभि के पुत्र भ० ऋषभ हुए, और उन्होंने ईश्वरीय उपदेश जनता को दिया।

मैराजुलनवूत नामक इस्लामी पुस्तक में लिखा है कि "बाबा आदम हिन्दुस्तान में पैदा हुए थे"। इस वाक्य के अनुसार भी भ० ऋषभ भारतवर्ष में ही पैदा हुये थे।

ब्रह्मा

ब्रह्मा संसार की सृष्टि करताहै, वह चतुर्मुखी है। उनके चार मुख से चार वेद प्रगट हुये, कमल की नाभि से उनका जन्म हुआ उनका आसन कमल था। वे संसार के विधाता एवं निर्माता थे।

ब्रह्मा का सर्वाङ्गीण रूप हमारे लिये भ० ऋषभदेव में देखने को मिलता है। नाभिराय के द्वारा (नाभि) ये उत्पन्न हुये, अथवा नाभिराय आपके पिता का नाम था। आपने कर्म भूमि की सृष्टि की एक युग का निर्माण किया इसलिये आप युग के निर्माता एवं ब्रह्मा थे। अरहन्त परमात्मा होने पर आप भी चतुर्मुखी रूप में दिखायी देते थे और आपके मुखारविन्द से चार अनुयोगों का (प्रथमानुयोग आदि) वर्णन हुआ। भ० ऋषभ भी (अरहन्त अवस्था में) कमल पर (कमलासन) अधर (बगैर स्पर्श किये ही) विराजमान रहते थे।

१—यहां शिवजी को आदि देव के नाम से सम्बोधित किया गया है। आदि देव ऋषभ हैं ऐसा जैन मानते हैं।

विभिन्न देशों में ऋषभ की व्यापकता

विभिन्न देशों के विभिन्न धर्मावलम्बियों ने भिन्न भिन्न नामों से भगवान ऋषभ देव को अपना आराध्यदेव माना है।

भारत–ब्रह्मा, रुद्र (अन्तरंग के शत्रुओं को रुलाने वाले)

आर्यअग्नि– । व्रात्य-सूर्य, ऋषभ अर्हत्।

वैदिकसाहित्य–आदिब्रह्मा, वृषभ, विधाता, युगनिर्माता, सृष्टि कारक आदि।

ईरान–स्वयंभू।

मिस्र–औसरिस (असुरीश) र (रवि)।

पारसी–अहुर मजदा (असुर महत)।

अरब–अल्लाह, आदम।

पाश्चिमात्य मध्य सागर–अर्थात् यूरोपीय देश में गौड अथवा सामीजन।

बेबोलोनिया–ईशतर।

सीरिया–एडोनिय (आदीश) असुर।

एनेटेलिया–अत्तीस (अदितीश)।

प्रयागः—

भ० ऋषभ ने ६३ लाख पूर्व वर्ष तक प्रजा का पुत्र की तरह पालन करते हुये न्याय नीति पूर्वक राज्य का संचालन किया। और जब उन्हें नीलांजना अप्सरा के नृत्य करते हुये उसकी देह विलय हो जाने से संसार से विरक्ति हुयी, तब वे सब कुछ त्याग कर जातरूप मुद्रा के धारक मुनि हो गये। आपका तप कल्याणक मनाने के लिये देवतागण सपरिवार आये और आपको पालकी पर बैठा कर जुलूस के साथ जंगल की ओर ले गये।

पुरिमतालपुर के निकट सिद्धार्थ वन में भ० ऋषभ ने जैनेन्द्री दीक्षा ग्रहण की। उस समय उपस्थित देव समाज एवं मानव समाज ने विविध समारोहों के साथ पूजनादि कर दीक्षा कल्याणक महोत्सव मनाया। प्र यानी उत्कृष्ट रूप से याग यानी पूजन विधानादि। प्र+याग=प्रयाग। तभी से इस स्थान का नाम प्रयाग हो गया। वर्तमान में हिन्दू समाज का यह अत्यन्त पवित्र एवं पूज्य स्थान है।

हरिवंशपुराण के रचयिता आ० जिनसेन ने निम्न प्रकार कहा है :—

एवमुक्त्वा प्रजा यत्र, प्रजापतिमपूजयन्।
प्रदेशः सः प्रयागाख्यो, यतः पूजार्थयोगतः ॥१६॥

[हरिवंशपुराण सर्ग ६]

जिस जगह प्रजाने प्रजापति (भ० ऋषभ०) की पूजा की वह स्थान (प्रदेश) प्रकृष्ट उत्तम पूजा रूपी याग से प्रयाग इस नाम से प्रसिद्ध हो गया।

भ० ऋषभदेव की ऐतिहासिक प्राचीनता

मोहनजोदड़ो (हैदराबाद सिन्ध) में टीलों एवं भग्नावशेष खंडहरों की खुदाई होने पर जो ५ हजार वर्ष पूर्व की प्राचीन वस्तुयें भूगर्भ से प्राप्त हुई, उनमें से कुछ मोहरें (स्वर्ण मुद्रा) भी हैं। उनमें से प्लेट संख्या २ से ५ तक की मुहरों पर (सीलों पर) भ० ऋषभनाथ की खड्गासनस्थ नग्न मूर्ति है, और सीलों के दूसरी ओर वृषभ का चिन्ह अंकित है।

प्रो० श्री रामप्रसाद जी चन्दा ने इन सीलों का गंभीर अध्ययन कर मोडर्नरिव्यू के अंक अगस्त १९३२ के प्रकाशन में जो अपना अभिमत प्रगट किया है। उसका सारांश निम्न प्रकार है:—

मिस्र में (ईजिप्सियन) भी प्राचीन मूर्तियां हैं। जिनके दोनों हाथ लटक रहे हैं। ये प्राचीन मूर्तियां ग्रीक की मूर्तियों जैसी हैं। किन्तु इनमें वैराग्य की द्रष्टि का जो कि मोहनजोदड़ो और मथुरा की (ईसा की २ रीशताब्दि की भ० ऋषभदेव की खड्गासन मूर्तियां) जैन मूर्तियों में पायी जाती हैं अभाव है। वृषभ का अर्थ बैल है, और बैल ऋषभ नाथ का चिन्ह है। प्लेट नं. २ से ५ नं. तक की सीलों पर खड़ी हुयी मूर्तियां जो कि बैल सहित हैं भ० ऋषभदेव की नकल है। कायोत्सर्ग आसन खासकर जैनों का ही है।

ये सीलें ५ हजार वर्ष पूर्व प्राचीन मालूम देती हैं। इससे प्रमाणित होता है कि जैनधर्म के आदि संस्थापक श्री ऋषभ नाथ की पूज्यता बहुत प्राचीन समय से चली आ रही है। आदिपुराण अध्याय १८ में ऋषभ या वृषभ के संबंध में ऐसा ही उल्लेख मिलता है।

डॉ० श्री प्राणनाथ जी विद्यालंकार (हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी के इतिहास के प्राध्यापक) जी के शब्दों में

It may also be noted that the inscription on the Indus seal No. 449 reads according to my decipherment Jineshwar Jinesh.

अर्थात् विद्यालंकार जी के अभिमतानुसार मोहनजोदड़ो की साढ़े पांच हजार वर्ष पुरानी ४४९ वी सील पर जिनेश्वर या जिनेश शब्द अंकित है।

जिनेश या जिनेश्वर शब्द जैनधर्म के प्रचारक एवं प्रवर्तक तीर्थङ्कर का द्योतक है। उपरोक्त अभिमत से यह स्पष्ट है कि साढे पांच हजार वर्ष पूर्व जैन तीर्थंकरों की मान्यता सिद्ध होती है।

ईसवी सन् २०० वर्ष पूर्व यानी आज से २२०० वर्ष पूर्व कलिंग देश के शासक राजा खार-

वेल हो गये हैं जो कि महान् पराक्रमी शूरवीर प्रतापी वीरात्मा न्यायी राजा थे । उनमें खंडगिरि उदयगिरि पहाड़ी पर (हाथी गुफा) एक लेख पाषाण पर (शिलालेख) उत्कीर्ण कराया है । जिसमें लिखा है कि ३०० वर्ष पूर्व कलिंग राज परिवार से मगध राजा द्वारा अपहरण की गयी अग्र जिन (भ० ऋषभ) की मूर्ति को मैं (खारवेल) मगध को जीत कर पुनः कलिंग में लाया ।

इस ऐतिहासिक लेख से सिद्ध होता है कि भ० ऋषभदेव की पूज्यता मान्यता तीन हजार वर्ष पूर्व राज घरानों में भी थी ।

वेदों और पुराणों में भ० ऋषभदेव की व्यापकता

अनर्वाणं ऋषभं, वृहस्पति वर्धमानव्ययर्के । ऋग्वेद मंत्र १ सूक्त १६०

मिष्टभाषी, ज्ञानी, स्तुति योग्य ऋषभ की पूजा साधक मंत्रों द्वारा वर्द्धित करो । वे स्तोता को नहीं छोड़ते ।

ऋषभं मा समानानां सपत्नानां विषासहिम् ।
हन्तारं शत्रुणां कृधि विराजं गोपतिं गवाम् ।। ऋग्वेद ८-८-२४

अर्थात् ऋषभ ने कर्म शत्रुओं पर और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त की ।

अहो मुचं वृषभं यज्ञियानां विराजंतं प्रथममध्वराणाम्
अपां नपात मश्विना हुं वे धिय इन्द्रियेण इन्द्रियं दत्त मोजाः

अथर्ववेद कां० १६-४२-४

अर्थात्-समस्त पापों से मुक्त, व्रतियों में प्रथम (श्रेष्ठ) विराजमान आदित्यस्वरूप भ० ऋषभनाथ हैं ।

नाभेरसौ ऋषभ आप्त सुदेव सूनुः
यो वै चचार समदृग् योगचर्याम् ।
यत्पारहंस्यमृषयः पदमानयंति
स्वस्थः प्रशान्तकरणः परित्यक्तसंगः ।।१०।।

भागवत पुराण २ स्कंध अध्याय ७ पृष्ठ ३७२

अर्थात्-नाभि के पुत्र ऋषभ थे । ये परमहंस मुद्रा में रहते थे । सम्यग्योग चर्या में सतत लीन थे, सभी प्रकार का संग (परिग्रह) छोड़ दिया था, अंतःकरण प्रशांत था, वे उत्तम देव थे ।

वायुपुराण अध्याय ३३ पृष्ठ ३७

नाभिस्त्वजनयत्पुत्रं, मरुदेव्यां महाद्युतिम् ।
ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं, सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् ।। ५० ।।

नाभिराजा ने मरुदेवी से महाकांतिमान् पुत्र उत्पन्न किया । श्री ऋषभ क्षत्रियों के पूर्वज थे ।

शिवपुराण :—

इत्थंप्रभव ऋषभोऽवतार: शिवस्य मे ।
सतां गतिर्दीनबंधुर्नवाम: कथितस्तव ।। अ० ४ श्लोक ४८

शिवजी कहते हैं कि ऋषभ मेरे अवतार हैं । वे दीनों के बंधु हैं सत्पुरुषों की गति उनसे ही होती है ।

महाभारत :—

परमात्मानमात्मानं, लसत्केवलनिर्मलम् ।
निरंजनं निराकारं, ऋषभं तु महेद् वृषम् ।। २ ।।

परमात्मा निरंजन निर्विकार निर्मल केवलज्ञानी ऐसे ऋषभ की पूजा करना चाहिये ।

प्रभासपुराण :—

कैलाशे विपुले रम्ये, वृषभोऽयं जिनेश्वर; ।
चकार स्वावतारंत्र, सर्वज्ञ: सर्वग: शिव: ।। ५६ ।।

सुन्दर विशाल रमणीय कैलाश पर सर्वज्ञ सर्वव्यापी शिवरूप भगवान ऋषभ जिनेश्वर अवतरित हुए ।

वृषभो द्युम्नवां असि समध्वरे ष्विष्यसे
स्तोकानामिन्दुप्रतिशूर इन्द्रो वृषायमाणो वृषभस्तु राषाट् ।। यजुर्वेद २०-२४

यहां पर भगवान ऋषभ को मंत्रस्वरूप स्मरण किया गया है और उनको इन्द्रमाना है ।

हठयोग प्रदीपिका—

श्री आदिनाथाय नमोऽस्तुतस्मै, येनोपदिष्टा हठयोगविद्या ।
विभ्राजते प्रोन्नतराजयोगमारोढुमिच्छोरधिरोहिणीव ।। १ ।।

आदिनाथ प्रभुको नमस्कार हो, कि जिन्होंने उस हठयोग विद्या का सर्वप्रथम उपदेश दिया जोकि बहुत ऊंचे राजयोग पर चढने के लिये श्रेणी (जीने) के सदृश है ।

जैन ग्रन्थों में भ० ऋषभ को महायोगी माना और सर्व प्रथम योगीश्वर माना है ।

भागवतपुराण के ५ वें स्कंध में नाभेय सूनुको अवधूत योगी के रूप में बतलाया गया है। अवधूत योगी अर्थात् जो अपनी ही मस्ती में (आत्म रमण) मस्त रहे। न खाने की चिन्ता न पीने की चिन्ता, न गर्मी सर्दी की बाधा। जहां खड़े हैं वहीं अपने में मस्त है। ऐसा योगी हठयोगी या अवधूत योगी ही हो सकता है।

आचर्षणिप्रा वृषभा जनानां राजा कृषीनां पुरुहूत इन्द्रः।

स्तुतः श्रवस्यन्नवसोप् मद्रिग् युक्त्वा हरी वृषणा याह्य र्वाङ ॥ ऋग्वेद १।२३।१७७

ऋग्वेद के प्रथम मंडल में ऋषभदेव के लिये एक सूक्त में उन्हें प्रजाओं को धनादि से प्रदान करने वाला राजा कहा है। और इन्द्र को कृषि जीवियों का स्वामी वतलाया गया है।

बहुरो रिसभ बड़े जब भये नाभि राज दे वन को गये।

रिसभ राज परजा सुख पायो, जस ताको सबजग में छायो॥ सूरसागर पृ० १५०

[प्रकाशन नागरी प्रचारिणी सभा काशी]

अष्टषष्टिषु तीर्थेषु यात्रायां यत्फलं भवेत्।

श्री आदिनाथस्यदेवस्य, स्मरणेनापि तद्भवेत्॥ मनुस्मृति

६८ तीर्थों की यात्रा करने से जो फल होता है वह फल भ० आदिनाथ के स्मरण मात्र से होता है।

आदिनाथः शिवः। सर्वेषांनाथानां प्रथमोनाथः॥ हठयोगटीका

आदिनाथ शिव के रूप में थे सम्पूर्ण नाथों (स्वामी) में प्रथम नाथ हैं।

आदिनाथं च मत्स्येन्द्रं गोरक्षं गहिनीं तथा।

निवृतिं ज्ञाननाथंच, भूयो भूयो नमाम्यहम्॥

आदिनाथ सब जीवों के गुरु हैं, उनके मुख्य शिष्य मत्स्येन्द्र हैं। मत्स्येन्द्र ने गोरख को बोध दिया। वही योग ज्ञान परम्परा से चला आ रहा है अतः उनको वारम्बार नमस्कार है।

जैन पुराणों के प्रमाण :—

दर्शयन् वर्त्म वीराणां, सुरासुरनमस्कृतः।

नीति त्रयस्य कर्ता यो, युगादौ प्रथमो जिनः॥ ३॥ हरिवंशपुराण

सिद्धि वहूणरंजणु परमणि रंजणु भुवण कमल सरणे सरु।

पणविवि विग्घ विणासणु णिरुवमसासणु रिसहणाहु परमेसरु॥ महाकवि पुष्पदन्त

णमह णव कमल कोमल मण हर वर वहलकंति सोहिलयं।

उस्सह पाय कमलं सुरासुर वंदियं सिरसा॥ स्वयंभू पउम चरिउ

पुरा गर्भादिन्द्रो मुकलितकरः किंकर इव
स्वयं स्रष्टा स्रष्टेः पतिरथ निधीनां निजसुतः ।
क्षुधित्वा षण्मासान् सकिल पुरुरप्याट जगती–
महो ! केनाप्यस्मिन् विलसितमलंध्यं हतविधेः ।। ११६ ।।गुणभद्राचार्य, आत्मानुशासन
स्वयंभुवा भूतहितेन भूतले, समञ्जस–ज्ञान विभूति चक्षुषा ।
विराजितं येन विधुन्वता तपः, क्षपाकरेणेवगुणोत्करैः करैः ।।

"स्वामी समन्तभद्र" बृहत् स्वयंभू स्तोत्र

भक्तामरप्रणतमौलिमणिप्रभाणा–मुद्योतकं दलितपापतमोवितानम् ।
सम्यक् प्रणम्य जिनपादयुगं युगादा–बालम्बनं भवजले पततां जनानाम् ।।

"मानतुंगाचार्य" भक्तामर स्तोत्र

काऊण णमुक्कारं जिणवर बसहस्स वड्ढमाणस्स ।। कुन्दकुन्दाचार्य अष्टपाहुड़
उसहयजियंच संभव महिणंदण सुमइ णामधेयंच ।
पउमप्पहं सुपासं, चंदप्पह पुप्फयंत सीएलए ।। ५१२ ।।

"यतिवृषभसेन"– तिलोयपण्णत्ती अधिकार ४

उपादान निमित्त विचार

धर्मदिवाकर धर्मवीर श्री पं० इन्द्रलालजी शास्त्री विद्यालंकार, जयपुर

किसी भी शब्द का अर्थ अपने मूल अर्थ को नहीं छोड़ता। उपादान और निमित्त ये दोनों ही शब्द संस्कृत भाषा के हैं। शब्द दो प्रकार के होते है—एक तो वे शब्द जो धातु और प्रत्ययों से निष्पन्न होते हैं और एक वे जो धातुओं और प्रत्ययों से निष्पन्न न होकर भी किसी अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। उपादान और निमित्त ये दोनों ही शब्द धातुओं और प्रत्ययों से निष्पन्न हैं अतः उन धातुओं के मूल अर्थ को नहीं छोड़ते प्रत्युत तदनुरुप अर्थ वाले ही होते हैं।

उपादान शब्द 'उप' 'और' 'आ' उपसर्ग युक्त 'डुदाञ् दाने' धातु से बनता है। 'उप' समीपे निकटे सांनिध्ये 'आ' समंतात् नीयते इति उपादानम्। निमित्त शब्द 'ञि' मिदा स्नेहने' धातु से बनता है। 'नि' उपसर्ग है। निमिद्यते नितरां स्निह्यते तत् निमित्तम्।

निमित्त शब्द हेतु और लक्ष्म (लक्षण) में प्रयुक्त होता है। 'निमित्तं हेतुलक्ष्मणो' (अमर-कोष नानार्थ वर्ग श्लोक ७६)। निमित्त शब्द हेतु (कारण) और लक्षण का भी वाचक है। लक्षण लक्ष्य का बोधक होता है जो लक्ष्य से भिन्न नहीं रहता। जैसे गौ का लक्षण सास्नादिमत्व होता है जो 'गौ' लक्ष्य से भिन्न नहीं है किन्तु उसी में व्याप्त रहता है।

कार्य की उत्पादक (उत्पन्न करने वाली) सामग्री को कारण कहते हैं। कारण दो प्रकार के होते हैं—समर्थ और असमर्थ। प्रतिबन्धकता के अभाव में समस्त सहकारी सामग्री के सद्भाव को समर्थ कारण कहते हैं और प्रत्येक भिन्न भिन्न सामग्री को असमर्थ कारण कहते हैं। सहकारी सामग्री के दो भेद हैं। एक उपादान कारण और दूसरा निमित्त कारण। उपादान-कारण वह होता है जो स्वयं कार्यरूप परिणमे—जैसे घट (घड़े) की उत्पत्ति में मृतिका (मिट्टी) और निमित्त-कारण वह होता है जो स्वयं तो कार्यरूप न परिणमैं किन्तु जो कार्य की उत्पत्ति में सहायक हो। जैसे घट की उत्पत्ति में कुम्भकार (कुम्हार) दंड, चक्र आदि।

उपादान-कारण और निमित्त-कारण (सहकारी कारण) दोनों की सम्पूर्णता से ही कार्य बनता है। केवल उपादान और केवल निमित्त (सहकारी कारण) से कार्य नहीं बनता। यही बात भावी तीर्थङ्कर भगवान् समंतभद्राचार्य महाराज ने कही है—

> वाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः।
> नैवान्यथा मोक्षविधिश्च पुसां ततोऽभिवंद्यस्त्वमृषिर्बुधानाम्॥

कार्यों में सहकारी कारण (निमित्त कारण) और उपादान दोनों की समग्रता (पूर्णता) है वह आपके मत में द्रव्यगत स्वभाव है। जीवादि पदार्थगत अर्थ क्रिया कारित्व स्वरूप है। अन्यथा इस समग्रता (संपूर्णता) रूप द्रव्यगत स्वभाव के बिना मोक्ष विधि भी नहीं बन सकती। घटादिकी उत्पत्तिही नहीं किन्तु मुक्तिका विधान भी नहीं बन सकता। आपने जो उक्त उपादान निमित्त पूर्णतारूप द्रव्यगत स्वभाव वर्णन किया है इसीसे आप विद्वानों के पूज्य हैं।

एक ही शब्द अनेक जगह प्रयुक्त होता है परन्तु उस शब्द से प्रयोजन प्रकरण-वश होता है। जैसे सैंधव, नमक को भी कहते हैं और घोड़े को भी। भोजन के समय प्रयुक्त सैंधव शब्द से नमक (लवण) ही लाया जायगा यदि उस समय घोड़ा लाकर खड़ा करदे तो उसे अविवेकी ही कहा जायगा। और कहीं बाहर जाने को सवारी मंगाते समय सैंधवलाओ ऐसा आदेश दिया जाय और उस समय नमक लाकर दिया जाय तो लाने वाला मूर्ख ही कहा जायगा। जीव पुद्‌गल के परिणमन के सम्बन्ध में आया हुआ निमित्त या हेतु या कारण शब्द सहकारी कारण का वाचक है। सहकारी कारण वह होता है जो उपादान की शक्ति को व्यक्त करता है। जैसे मिट्टी में घट रूप परिणमने की शक्ति अवश्य है परन्तु यदि कुम्भकार (कुम्हार) चक्र दंड आदि न हों तो केवल उपादान कारण स्वरूप मिट्टी से घड़ा नहीं बन सकता। ज्ञान की शक्ति बालक में है परन्तु अध्यापक पुस्तक तदर्थ व्यवस्थात्मक सहकारी कारण (निमित्त-कारण) न हों तो वह बालक पढ़ नहीं सकता।

निमित्त अकिंचित्कर नहीं होता। सहकारी कारण को ही निमित्त कहा जाता है। जो उपादान कारण की अशक्ति या असामर्थ्य को खंडित नहीं कर सकता यह सहकारी कारण नहीं हो सकता। श्री विद्यानन्द स्वामी ने स्पष्ट लिखा है कि असामर्थ्यमखंडयत् अकिंचित्करं किं सहकारिकारणं नयात्'' अर्थात् जो उपादान की असमर्थता को खंडित नहीं कर सकता वह तो अकिंचित्कर होता है। अकिंचित्कर क्या सहकारी कारण होसकता है ? नहीं हो सकता।

'निमित्त' शब्द अष्टांग निमित्त छिन्नभिन्न स्वर स्वप्न आदि में भी प्रयुक्त होता है जिनके ज्ञान से भविष्य का ज्ञान हो जाता है यह निमित्त ज्ञान ज्ञापक है। भविष्यका बोधक मात्र है। उस भविष्य घटना में न उपादान कारण है और न सहकारी (निमित्त) कारण।

अनुमान प्रमाण के प्रकरण में भी 'हेतु' शब्द आता है। हेतु शब्द निमित्त का भी वाचक है जैसा कि पहले बतलाया गया है कि 'निमित्तं हेतु लक्ष्मणोः' । यह पर्वत आग बाला है क्योंकि यह धूमवान् है यहां धूम (धुंआ) से अग्नि का ज्ञान होता है। धूम अग्नि का अनुमापक है। अग्नि की उत्पत्ति में धूम सहकारी (निमित्त) कारण नहीं है। थर्मामीटर से ज्वर का ज्ञान होता है परन्तु थर्मामीटर ज्वर (बुखार) की उत्पत्ति में निमित्त (सहकारी) कारण नहीं है।

अनुमान प्रकरण में प्रयुक्त हेतु शब्द एवं अष्टांग (ज्योतिष शास्त्र) में प्रयुक्त निमित्त शब्द को जीव कर्म परिणमन संबंध में भी प्रयुक्त कर निमित (सहकारी) कारण का लोप किया जाने लगा है और निमित को केवल ज्ञापक बतलाया जाता है। सहकारी शक्तिव्यंजक कारण नहीं माना जाता जो सर्वथा अनुचित और हेय है। श्री समयसार ग्रन्थ के टीकाकार श्री अमृतचंद्राचार्य महाराज ने पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में लिखा है कि—

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ।।

अर्थात्–जीव द्वारा किए हुए परिणाम रूप निमित्त मात्र (समस्त निमित्त–सारे सहकारी कारण) को पुद्गल प्राप्त कर अपने आपमें ही परिणमते हैं परिणत हो जाते हैं।

स्वयमेव का अर्थ 'अपने आप ही' यहां नहीं है किन्तु 'अपने आप में' ही है। यदि 'स्वयमेव' का अर्थ अपने आप ही किया जाता है तो जीवकृत परिणामों को प्राप्त करना व्यर्थ हो जाता है। पर इसलिये 'स्वयमेव' का अर्थ अपने आप में ही है। अर्थात् पुद्गल परमाणु आत्म रूप नहीं बनते और न आत्मा पुद्गलमय होती।

यहां 'निमित्त मात्रं' जो 'मात्र' शब्द है उसका अर्थ 'केवल' (सिर्फ) नहीं है किन्तु 'मात्र' का अर्थ समस्त है। जैसे मनुष्य मात्र, जीव मात्र आदि शब्दों में मात्र शब्द से प्रयोजन सारे मनुष्य सारे जीव आदि हैं। उसी प्रकार यहां भी पुद्गल को कर्मभाव में परिणत होने के लिए जितने भी निमित्त (सहकारी) कारण हैं उनकी आवश्यकता है।

एक बात यह भी कही जाती है कि सारी शक्ति उपादान में होती है निमित्त तो अपने आप उपस्थित हो जाता है। प्रथम तो जब उनके विचार से निमित्त अकिंचित्कर है तो उसको उपस्थित होने से क्या प्रयोजन ? दूसरे निमित्त क्या ज्ञानवान् है ? जो यह पता रखता है कि अब मिट्टी घड़ा बनेगी सो मैं उसकी हाजरी में जाकर खड़ा हो जाऊं ? क्या घड़े बनने में दंड चक्र कारण भूत जो है ज्ञानवान् हैं ?

एक बात यह भी है कि पुद्गल परमाणुओं को कर्मरूप बनने के लिए जीवकृत परिणामों को प्राप्त होना पड़ा। जीवकृत परिणाम निमित्त थे—तो यह स्वतः स्पष्ट होता है कि उपादान पास पहुंचा न कि निमित्त स्वयं उपादान के पास आकर खड़ा हो गया।

कर्ता, कर्म, करण आदि कारकों से वाक्य निष्पन्न होता है। कर्ता कर्म को प्राप्त होता है। कर्म कर्ता को प्राप्त नहीं होता। जैसे 'राम वन को जाता है। तो राम वन के पास गया, वन राम के पास नहीं गया इसी प्रकार श्री अमृतचन्द्राचार्य महाराज के इस श्लोक में 'पुद्गलः' यह कर्तरि वाक्य है और 'जीवकृतं परिणामं निमित्त मात्रं' यह कर्म वाक्य है तो पुद्गल परमाणुओं को कर्म रूप परिणत होने

के लिए जीवकृत परिणामरूप निमित्तों के पास जाना पड़ा । यह एक शब्दशास्त्र की साधारण सी बात है जिसे भी निमित्त उपादान के विचार में समक्ष रखना पड़ेगा ।

श्री सोमदेव आचार्य ने लिखा है कि—

शब्दैतिहैर्नंगीः शुद्धा यस्य शुद्धा न धीर्नयैः ।
सः परप्रत्ययत्त्वान्मूढ़ः भवत्यंधसमः पुमान् ॥

अर्थात् शब्द की व्युत्पत्ति, उसके अर्थ आदि से जिसकी वाणी शुद्ध नहीं है और नयज्ञान के भाव से जिसकी बुद्धि शुद्ध नहीं वह मूढ होता है और केवल पर प्रत्यय मात्र से अंधे के समान होता है । इसलिए शब्द ज्ञान और नय दृष्टि ही अत्यंत आवश्यक है, नय विभाग और शब्द ज्ञान की उपेक्षाकर बोलता या लिखता है उसे एकांत मिथ्यादृष्टि ही समझना चाहिए ।
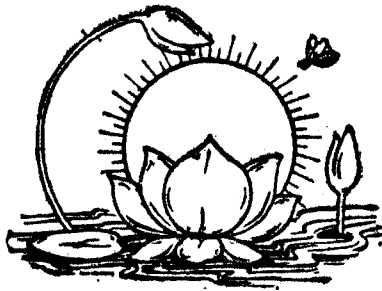
जैनधर्म का मर्म-समत्व की साधना

श्री पं० अगरचंदजी नाहटा सिद्धांताचार्य, बीकानेर

श्रमण धर्म

जैन धर्म का मूल नाम श्रमण धर्म है। जैन आगमों में श्रमण को निर्ग्रन्थ और श्रावकों को समणोपासक (श्रमण-उपासक) कहा गया है। पक्खी सूत्र में अनेकबार पंच महाव्रत आदि को श्रमण धर्म (समण धम्म) शब्दों से सम्बोधित किया गया है। वैसे जैन धर्म की व्युत्पत्ति 'जिन धर्म के अनुयायी के रूप में होती है और जिन अर्थात् राग द्वेष को जीतने वाला। उन जिन प्रणीत तत्त्वों पर श्रद्धा रखने वाला और उनको जीवन में स्थान देने वाला व्यक्ति जैनी या जैन-धर्मी कहा जाता है। जिन एवं अर्हत् यह दोनों शब्द बौद्ध ग्रंथों में भी बुद्ध के विशेषण रूप में प्रयुक्त मिलते हैं।

दार्शनिक युग से जैन सम्प्रदाय में जिन शब्द तीर्थङ्करों के लिये रूढ़ होने से उनके द्वारा प्ररूपित धर्म 'जैन' के नाम से प्रसिद्ध हो गया। जैन आगमों में से ज्ञाता सूत्र में और शक्रस्तव में "नमो जिणाणं, ध्रुवं, दाउं जिणवसणं" आदि के रूप में तीर्थङ्करों के लिए 'जिन' शब्द का प्रयोग मिलता है और जैनों के परम मान्य मांगलिक नमस्कार सूत्र में "नमो अरहंताणं" आदि पदों द्वारा "अर्हत्" विशेषण का प्रयोग प्राचीन काल से तीर्थङ्करों के लिए प्रयुक्त होता आया है, यह सिद्ध ही है; पर तब यह 'जिन' या 'अर्हत्' शब्द केवल जैनों में ही प्रचलित न होकर बौद्धों में भी प्रचलित था। फिर भी "जैनधर्म" यह शब्द पीछे से ही प्रसिद्ध हुआ प्रतीत होता है। प्राचीन नाम श्रमणधर्म ही होगा। पीछे के कुछ आचार्यों के नाम के साथ ही 'क्षमा श्रमण' विशेषण संलग्न है, जैसे—जिन भद्र गणि क्षमा श्रमण देवर्द्धिगणि क्षमा श्रमण में 'श्रमण' शब्द प्रधान है और वन्दन के सूत्र में मुनियों व आचार्यों के लिए 'क्षमा श्रमण' सम्बोधन उपलब्ध होता है। कुछ भी हो जैन धर्म का मर्म "श्रमण" शब्द में ही दिखाई देता है।

समण (श्रमण) शब्द के भिन्न-भिन्न व्यक्तियों ने भिन्न-भिन्न अर्थ किए हैं। और विभिन्न ग्रंथों में यह विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त भी हुआ है। 'श्रमण' का एक अर्थ है—समण=उपसमन अर्थात् दबाना, शान्त करना। श्रमण का दूसरा अर्थ होता है—सर्वत्र समान प्रवृत्तिवाला मुनि या साधु। कल्पसूत्र आदि में जगह-जगह पर भगवान महावीर का सम्बोधन "समणं भगवं महावीरे" आदि के रूप में मिलता है। वास्तव में उसके मूल में समदृष्टि, समता का उपासक, समत्व का प्रतीक, प्राणीमात्र को आत्मवत्-अपने समान समझने वाला, सबके साथ समान हित और सुख का व्यवहार करने वाला, समता या

समत्व-रूपी जीवन-धर्म वाला व्यक्ति का सम्बोधन "समरण" अधिक उपयुक्त लगता है। ऐसा समत्व का उपासक व्यक्ति शान्त होगा ही और कषायों के उपशमन के बिना कोई भी व्यक्ति समत्व या समता पा नहीं सकता। अतः दोनों अर्थ एक ही भाव के दो प्रकार की व्याख्या-रूप हैं। मैंने 'समरण' शब्द को जैन धर्म का मूल माना है, उसका प्रधान कारण यही है कि श्रमण भगवान महावीर के सम्बोधन के रूप में समरण शब्द मिलता है एवं उनके निर्दिष्ट धर्म का पालन करने वाले साधुओं के लिये भी वही 'समरण निग्गन्थ' विशेषण प्रयुक्त हुआ है। साधु सर्व विरति और गृहस्थ देश विरति है, किन्तु दोनों ही श्रमण धर्म के ही उपासक हैं। वे दोनों ही क्षमा आदि दश धर्मों के पालन करने वाले हैं। क्षमा आदि दश धर्मों की संज्ञा 'समरणधम्म' है। स्थानांग सूत्र व समवायांग सूत्र में "दशविहे समरण धम्मे पन्नते" इस प्रारम्भिक वाक्य के साथ उन दश धर्मों का प्रतिपादन किया है। इससे भी 'समरण-धम्म' ही जैन धर्म का मूल नाम व मर्म सिद्ध होता है।

समत्व की साधना

श्रमण शब्द का अर्थ समभाव व समता करने का एक दूसरा कारण भी है तीर्थङ्कर जब सर्व सम्बन्ध परित्याग करके चारित्र-धर्म स्वीकार करते हैं तब उनका पहला प्रतिज्ञा वाक्य होता है "करेमि सामाइयं सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि" अर्थात् मैं सामायिक करता हूं, सर्व सावद्य योगों का प्रत्याख्यान करता हूं। आगे के वाक्यों में उसकी व्याख्या रूप में कहा है कि यह प्रत्यख्यान तीन करण व तीन योग से अर्थात् मन, वचन, काया, करने, कराने व अनुमोदन इन नव भंगों से करता हूं। अपनी आत्मा को पाप कार्यों से छुड़ाता हूं।[१] इसमें मूल प्रतिज्ञा सामायिक करने की और सावद्य योग के प्रत्याख्यान की है। इसमें पहला वाक्य विधेयक और दूसरा निषेधक है।

विधि और निषेध, दोनों का सम्बन्ध एक दूसरे के पूरक के रूप में ही घनिष्ट रहता है। जो अच्छा कार्य करता है, उसे बुरे को छोड़ना होता है; जो बुरे को करता है, उसे अच्छे को छोड़ना होता है। सावद्य योग, समभाव बाधक है क्योंकि सावद्य योग जीव में विषमता लाते हैं, उसे अशान्त बनाते हैं। अतः 'सामयिक करता हूं' इस विधेयक वाक्य के साथ-साथ सावद्य योगों का त्याग आवश्यक हो जाता है। इसीलिए इस निषेधात्मक वाक्य का उच्चारण करना आवश्यक है एवं वह पूर्व प्रतिज्ञा का पूरक है। वास्तव में ये दोनों ही शब्द एक ही भाव को प्रथक् करने वाले हैं। प्रथम विधेयक वाक्य "सामायिक करता हूं" यही मूल है, विधेय है, दूसरा उसका पूरक है।

पाँच प्रकार के चारित्र में पहला चारित्र सामायिक चारि है। पांच महाव्रत की प्रतिज्ञाएं तो उसके बाद दूसरे छेदोपस्थापनीय चारित्र ग्रहण करते समय ली जाती हैं, जिसे श्वेताम्बर सम्प्रदाय में बड़ी दीक्षा कहते हैं। साधु और श्रावक के लिये अर्थात् श्रमण या श्रमणोपासक के लिये जो नित्य

१. अप्पाणं वोसिरामि।

आवश्यक कर्त्तव्य बतलाये हैं. उनमें पहला आवश्यक "सामायिक" का है। सामायिक का अर्थ है—समभाव का लाभ, समत्व की उपासना, समता की साधना। तीर्थङ्करों का जीवन समत्व का प्रतीक है। उनके न कोई शत्रु है, न कोई मित्र; न कोई अच्छा है न कोई बुरा। समभाव राग और द्वेष के अभाव का सूचक है। राग और द्वेष दोनों विषमता के प्रतीक हैं। कर्म बन्धन के ये ही दो प्रधान व मूल कारण हैं और इनका नाश ही 'मुक्ति' है। द्वेष, राग भाव के कारण ही पैदा होता है। इसलिए राग को प्रधानता देकर तीर्थङ्करों व केवलज्ञानियों का विशेषण "वीतराग" दिया गया है अर्थात् जिनका राग भाव चला गया है।

वास्तव में देखा जाय तो कौटुम्बिक ममत्व, भ्रम या अज्ञान मूलक है, आरोपित या कल्पित है। जीव सभी एक समान हैं फिर ये सीमित व्यक्ति ही मेरे और अवशेष सब पराये हैं, यह धारणा ही गलत है। इसी के कारण भावों व व्यवहार में विषमता आती है। भगवान महावीर व अन्य साधकों ने इसी संकुचित ममत्व का, जो जीव जीव में भेद-भाव या अलगाव उत्पन्न कर विषमता लाता है, को हटाने के लिये और आत्मीयता का विस्तार प्राणी मात्र में करके समदृष्टि समव्यवहार लाने के लिये कुटुम्ब परिवार का परित्याग किया। साधु होते ही उनके सारे क्षुद्र सम्बन्ध व बन्धन नष्ट हो गये। वे प्राणीमात्र के मित्र, हितैषी, रक्षक व शुभचिन्तक बन गये। उनके विषमता विलीन होकर सब में समभाव स्थापित हो गया। इसी तरह धन व समृद्धि भी विषमता का कारण है। इससे मनुष्य इतना क्षुद्र व संकुचित विचार का हो जाता है कि केवल मैं ही अधिकाधिक संग्रह कर समृद्ध बनूं या रहूं। दूसरे चाहे भूखों मरें, कष्ट पायें, पर मुझे तो खाने को मेवा मिष्ठान्न चाहिये। ऐशो आराम चाहिये। मेरी तिजोरियां भरती व बढ़ती चली जायें। इस तरह की तृष्णा लोभ, स्वार्थ व संकुचित भावना से बद्ध होकर व्यक्ति अपना संग्रह बढ़ाता चला जाता है। भोगों में फंसता चला जाता है। समाज में विषमता की खाई या दीवार खड़ी कर देता है। इससे धनी व गरीब की दो श्रेणियां बन जाती हैं और उन दो में भी तरतमता से अनेक भेद व उपभेद हो जाते हैं। इस तरह सामाजिक विषमता पनपती है, बढ़ती है और व्याप्त हो जाती है। इस विषमता को दूर करने के लिये तीर्थंकर पहले 'वर्षी-दान' देते हैं। त्याग की भावना का यह प्राथमिक रूप है। सर्वस्व त्याग करने से पहले वह संगृहीत पदार्थों से ममत्व हटाकर, जिन्हें जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती है उन्हें वह देकर अभावग्रसित, दुःखी, दरिद्र, गरीब और सुख सुविधाहीनों को राहत देते हैं, उनके स्तर को कुछ ऊंचा उठाते हैं। एक तरह से विषमता की खाई को पाटने का यह प्राथमिक प्रयत्न है। कम से कम समाज में कोई भूखा न रहे, नंगा न रहे, जीवन की गाड़ी चलाने में असमर्थ न हो, दूसरों की असुविधाएँ दूर हों, उनकी स्थिति में सुधार हो, इस सहायता के लिये दान धर्म की प्रवृत्ति हुई। वह त्याग का एक छोटा व पहला कदम है। अपनी सम्पत्ति व साधन अभावी व्यक्तियों को बांटकर, देकर, तीर्थङ्कर व साधक स्वयं अकिंचन, अपरिग्रही व निर्ग्रन्थ बनते हैं। विषमता को हटाने के लिये वे स्वयं अपनी इच्छा से, स्वार्थ सिद्धि की साधनाओं व सुख सुविधाओं से मुंह मोड़ लेते हैं। बाह्य दृष्टि

से वे गरीब से गरीब व्यक्ति की अपेक्षा भी अधिक साधनहीन स्थिति को स्वीकार करते हैं। समत्व की साधना का यह प्रथम सोपान है। गृहस्थी में रहने वाले व्यक्तियों को भी दान धर्म की प्रवृत्ति रूप त्याग का आदर्श पथ प्रदर्शित कर जाते हैं। उनके दान धर्म का सन्देश है—जो कुछ तुम्हारे पास है, आवश्यकता से अधिक है और दूसरों को उसकी आवश्यकता है, उसके बिना उनको असुविधा हो रही है अतः यह स्थिति सामाजिक विषमता ईर्षा, कलह, द्वेष, युद्ध, विरोध संघर्ष की अग्नि को प्रज्वलित करेगी अतः अपनी चीजें दूसरों को दो, इस गहरी 'विषमता को यथा सम्भव पाटो' भोग के समय त्याग को सीखो। अपने को ही सुखी व सम्पन्न बनाने में सीमित न होकर दूसरों को भी सुख सुविधाएं प्राप्त करने में सहयोग दो। उनके कष्टों को दूर करो, कम करो। प्राप्त सम्पत्ति या वस्तुओं का भोग तो उसका सदुपयोग नहीं है, पर दूसरों को देने में है, इसी में उसकी सफलता है। यदि वह किसी के काम में आती है, उसके कष्टों को दूर करती है और तुम केवल मोहवश अनावश्यक होते हुए भी अपना अधिकार जमाये बैठे हो तो विषमता के निमित्त होने के कारण तुम सामाजिक अपराधी हो। दान धर्म की प्रवृत्ति द्वारा यह संदेश देकर तीर्थङ्कर या साधक दीक्षा लेते हैं उनका फिर कोई कुटुम्बी नहीं, समस्त प्राणी या विश्व ही उनका कुटुम्ब है। किसी पदार्थ पर उनकी इच्छा नहीं, आसक्ति नहीं, संग्रहवृत्ति नहीं, वे अकिंचन हैं। केवल धर्म-पालनार्थ शरीर की रक्षा व जीवन धारण के लिये ही आवश्यक शुद्ध सात्विक आहार जहां भी मिला ले लिया। चाहे किसी ने कडवा या लूखा सूखा दिया हो चाहे अच्छा व स्वादिष्ट दिया हो। दोनों अवस्था में साधक को न राग है न द्वेष। यावत् आहार न भी मिले तो तप व निर्जरा की वृद्धि ही मानकर आध्यात्मिक शान्ति व समभाव को विषमता में परिणित नहीं होने देता।

परम समत्व वृत्ति की साधना ही जिनके जीवन का लक्ष्य प्रतीत होता है, ऐसे वीतरागी राग द्वेष के विजेता ही 'जिन' कहलाते हैं। उनके उपासक ही जैन, उनके प्रणीत आचार धर्म ही जैन धर्म और उनकी तात्विक विचार धारा ही जैन दर्शन है।

वास्तव में पांच महाव्रत आदि सभी व्रत समभाव की साधना के सोपान हैं। जब समत्व की परिपूर्ण साधना कर तीर्थङ्कर केवल ज्ञान प्राप्त करते हैं, तो उनकी वाणी का घोष यही होता है कि धर्म का द्वार सबके लिए खुला है। उनका समवसरण समस्त मानवों के लिए ही नहीं, पर पशु पक्षियों के लिये खुला रहता है। सबके लिए उनकी वाणी समान रूप से प्रचारित होती है।

प्रत्येक जीव में वे सिद्धत्व व परमात्मा का दर्शन करते हैं, उनके सिद्धान्त इतने ऊंचे हैं कि तीर्थङ्कर का ठेका वे स्वयं नहीं लेते। कोई एक विशिष्ट व्यक्ति ही परमात्मा है, ऐसा वे नहीं मानते। वे कहते हैं सत्तागत स्वभाव या स्वरूप की दृष्टि से सभी जीव सिद्ध के समान हैं। सिद्ध हो जाने पर तीर्थङ्कर या साधारण केवली में कोई अन्तर नहीं रहता।

पांच महाव्रत

तीर्थङ्कर भगवान् महावीर ने अपने युग में देखा कि प्रत्येक व्यक्ति में भेद हो गया है। विषमता को व्याप्त देखकर अहिंसा का अपूर्व संदेश प्रचारित किया, विषमताओं को नष्ट करने का अमोघ उपाय उन्होंने अहिंसा को ही देखा। यद्यपि अहिंसा, एक निषेधात्मक शब्द है, पर उस समय चारों ओर जो हिंसा का ताण्डव नृत्य हो रहा था उसका निवारण करने के लिए इस निषेधात्मक वाक्य-अहिंसा की ही आवश्यकता थी। उसके साथ उसका विधयेक रूप भी उन्होंने रखा था, वह था सब जीवों के साथ मैत्री सम्बन्ध[1]।

सबको अपने ही समान समझने और उनसे अच्छा व्यवहार करने का सन्देश अहिंसा के अंतर्हित था ही। अनुकम्पा, दया, दान आदि अहिंसा के ही पर्याय हैं।

सब व्रतों में अहिंसा को पहला स्थान दिया गया इसका यही कारण है कि वह समत्व की पहली और सीधी सीढ़ी है। भगवान महावीर ने कहा-कोई जीव दुखी होना नहीं चाहता, मरना नहीं चाहता। तुम्हारे समान सभी को जीवन प्रिय है, सुख प्रिय है; अर्थात् समस्त जीवों में चैतन्य की व्याप्ति है। इस एकता और समता को पहचानो, आत्मौपम्य भावना से सब के साथ मैत्री का सम्बन्ध जोड़ो, आत्मीयता बढ़ाओ ! तुम जिन जीवों को अपना कहते व मानते हो, उन्हें मारते नहीं, सताते नहीं, उसी आत्मीयता का विस्तार प्राणी मात्र तक व्याप्त कर दो। फिर कोई बध्य और दुख देने योग्य रहेगा ही नहीं।

अहिंसा की साधना करने वाला साधक वह राग-द्वेष को कर्मों का बीज या मूल जानकर समभाव रखता है। जितने जितने अंशों में राग व द्वेष की कमी होगी या उनका नाश होगा, उतने-उतने अंशों में समता का विकाश व प्रकाश होगा, यह निःसंशय है। अहिंसा के द्वारा हम समस्त प्राणियों में समबुद्धि प्रचारित करते हैं। दूसरों को तुच्छ, हीन, नीच व घृणा योग्य समझना हिंसा है क्योंकि उनमें विषमता का भाव व्याप्त है। अहिंसा समता की सीढ़ी है अतः सबसे पहले समभाव की साधना का आरम्भ अहिंसा से माना है।[2]

अन्य चारों व्रत अहिंसा के ही रूप हैं या उसकी पुष्टि करने वाले हैं। दूसरा व्रत है असत्य का त्याग। मनुष्य असत्य चार कारणों से बोलता है—क्रोध, भय, लोभ व हास्य से। ये चारों राग-द्वेष की सन्तान हैं। इनसे विषमता बढ़ती है, हिंसा होती है।

तीसरा व्रत चोरी न करना है। दूसरे को क्षीण बनाकर अपने को समृद्ध बनाना, यह विषमता का बढ़ाना ही है।

---

(१) मित्ति मे सव्व भूएमु।
(२) समता सर्वभूतेषु।

गांधीजी ने कहा है—आवश्यकता से अधिक संग्रह करना चोरी है। तुम्हें अधिक संग्रह का अधिकार नहीं है, अतः वह सामाजिक अपराध है। दूसरे अभावग्रस्त रहें, दुःख भोगें और तुम उनके उपयोग व भोग की वस्तुओं पर अधिकार कर लो और संग्रह करते जाओ; यह व्यक्ति व समाज दोनों की दृष्टि से अपराध है—विषमता बढ़ाने वाला असत्कर्म है।

चौथा व्रत—मैथुन का परित्यागरूप है। जैन आगमों में केवल स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध मात्र को ही परिहार्य नहीं माना गया। पर काम व भोग इन दो शब्दों में पांचों इन्द्रियों के विषयों का समावेश कर—उनके विकारों से अलग रहना ही ब्रह्मचर्य माना गया है। पांचों इन्द्रियों के विषय पर लुभा जाना, उनके उपभोग के लिये लालायित हो जाना, अपने समत्व को खो बैठना है, विषमता को बढ़ावा देना है; क्योंकि राग-द्वेष ही विषमता के मूल स्रोत हैं। रागभाव के बिना विषय भोग की प्रवृति हो नहीं सकती। अतः समता की साधना के लिए ब्रह्मचर्य अत्यावश्यक है।

परिग्रह तो स्पष्ट रूप से ही विषमता का सबसे बड़ा प्रतीक है, क्योंकि जैन आगमों में मूर्छा को ही परिग्रह संज्ञा दी है और मूर्छा, आसक्ति, तृष्णा, ममत्व आदि को राग की ही सन्तान माना है। संग्रह वृति से वाह्य रूप में भी विषमता बढ़ती है। एक के पास साधन संपत्ति का ढेर लगा रहे व बढ़ता रहे और दूसरे अभाव ग्रस्त रहें, भूखे प्यासे व नंगे रहें। उनके लिए रहने को मकान न हो। जीवन यापन दुष्कर हो जावे। यह धनी व गरीब की विषमता की खाई तो स्पष्ट ही है। सम्पन्न व्यक्ति को देखकर, अभावी व्यक्ति के हृदय में विद्रोह व संघर्ष की ज्वाला भभकेगी ही। दूसरी ओर सम्पन्न व्यक्ति अपने को समृद्ध मानकर अहंकारी बनेगा। दूसरों को दीन, हीन व नीच मान लेने से उसके प्रति तुच्छता व घृणादि के भाव उदित होंगे ही। अतः दोनों के जीवन विषम बन जावेंगे। कलह, विवाद, विद्रोह व द्वेष, क्रोध, संघर्ष या युद्ध का मूल ममत्वरूप परिग्रह ही है।

इस प्रकार पांचों महाव्रतों का मूल उद्देश्य समता की साधना है—वीतराग भाव की वृद्धि करना है। वीतराग भाव के बढ़ते-बढ़ते जब साधक पूर्ण समदर्शी पद तक पहुंच जाता है तो उसकी आत्मा ही परमात्मा बन जाती है। यही परम पुरुषार्थ है। जीवन का परम व चरम लक्ष्य है। यही निर्वाण या मोक्ष है।

तीर्थङ्करों ने आचार में अहिंसा व अपरिग्रह को जैसे स्थान दिया वैसे ही विचार व वाणी में स्याद्वाद या अनेकांत वाद रूप महान् तत्त्व की देन दी। जिस प्रकार जाति, कुल, देश–वेश सम्प्रदाय, भाषा, आकृति व ध्वनि आदि की प्राणियों में तरतमता, भिन्नता दिखाई देती है उसी प्रकार विचार में भी भेद रहता है। सब प्राणियों के एक से विचार कभी नहीं होते। क्योंकि सब में समान होते हुए भी चैतन्य अलग अलग है और कर्मों की विविधता तो है ही। इसीलिए विकास में अन्तर रहेगा ही। बौद्धिक विकास और चिन्तन शैली की विभिन्नता के कारण विचार भेद रहेगा ही। पर इससे जो विष-

मता बढ़ती है, विरोध व संघर्ष छिड़ता है उसका परमौषध अमोघ अस्त्र अनेकांत या स्याद्वाद है। मनुष्य एकांत अभिनिवेश यानि अपना ही विचारा हुआ कहा हुआ भी है, इस संकुचित अहं मात्र के वशीभूत हो जाता है तो वह मेरा है को सच्चा कहते हुए दूसरों को मिथ्या व गलत भ्रमित बतलाकर विषमता की खाई बढ़ा देता है वास्तव में सच्चा तो हर एक व्यक्ति का कथन किसी एक दृष्टि विशेष को लेकर होता है अतः उपदिष्ट एक सापेक्ष सत्य हो सकता है। सम्पूर्ण सत्य नहीं। एकान्त वादिता ही संघर्ष का बीज है।

वस्तु अनेक धर्मात्मक है। उनको देखने व समझने की अपनी अपनी दृष्टि व शैली होती है अतः हम दूसरे व्यक्ति की दृष्टि का मूल कारण ढूंढ़ निकालते हैं तो हम संघर्ष में न पड़कर समन्वय के प्रशस्त मार्ग पर आ जाते हैं। हम सर्व दृष्टियों को मिलाकर ही तत्व या सत्य को प्राप्त करने में प्रयत्नशील होते हैं। विरोधी विचार वाले ने यह बात इस रूप से कही है तो इसका कारण यह है कि उसने अमुक दृष्टि व लक्ष्य से ऐसा सोचा व बतलाया है। उसके भिन्न भी अनेक पहलू हैं उन सबको हम समझने का प्रयत्न करें तो आगे जाकर हम एक ही सत्य की उपलब्धि कर सकते हैं। मार्ग अनेक हैं पर गन्तव्य केन्द्र स्थान एक है। अलग-अलग रास्ते से गये तो कोई दूर तक जाकर व कोई नजदीक ही में उलझ गया पर उद्देश्य व लक्ष्य सब का सुख व आनन्द की प्राप्ति है। दृष्टि भेद, गति भेद, की विविधता उस भेद का कारण है। उन भेदों में अभेद की खोज ही अनेकांत वाद का उद्देश्य है। समन्वय ही उसकी प्रणाली है। विचार वैषम्य को दूर कर एकता व समता को प्राप्त करना ही जैन-दर्शन के अनेकांतवाद की विशेषता है। समता की सिद्धि के लिए ही इस अस्त्र का प्रगटन हुआ है। खेद है हम इसका ठीक से व्यवहार व प्रयोग करना नहीं सीख पाये। अपने मामूली मतभेदों में ही उलझ गये व उनके समाधान का कोई रास्ता नहीं सोच पाते। पर इसमें कमजोरी हमारी है न कि सिद्धान्त की। अहिंसा के आदर्श को भी हमने गहराई से सोचकर पालन करना छोड़ दिया है। केवल जीवों को न मारने तक ही हमारा सीमित लक्ष्य बन गया है पर उसके अतिरिक्त जो अनेक प्रकार की हिंसाएं हैं, उनका चिन्तन छूट गया। मौलिक चिन्तन के अभाव में, अहिंसा व अनेकांत रूढ़ि से बन गये हैं। जीवन में उनके द्वारा जो समत्व का विकास होना चाहिये था, उसका दर्शन नहीं हो पाता। अब मैं अहिंसा के कुछ विधायक रूपों की ओर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूं जिससे हमारी विचारधारा कुछ गतिमान्, स्फूर्तिमान व तेजस्वी बने।

अहिंसा का सबसे पहला विधायक रूप है मैत्री व प्रेम का प्रसार। हम जीवों को मारने में हिचकिचाते जरूर हैं पर उनके साथ मैत्री व प्रेम का सम्बन्ध जोड़कर एक दूसरों की सेवा करने या उसके दुःख में भागी बनकर उन्हें सुखी बनाने में प्रयत्नशील नहीं नजर आते। सहानुभूति व सहयोग द्वारा प्रेम भाव बढ़ाने में हमारी रुचि नहीं दिखाई देती, यह वास्तव में बहुत बड़ी कमी है जिसका परिहार अब जल्दी से जल्दी होना आवश्यक है। आत्मीयता का विस्तार ही सच्ची अहिंसा का स्वरूप है। सब जीवों में समता भाव का व्यवहार ही अहिंसा है।

आज जो धनी व गरीब, की विषमता है वह हिंसा मूलक है और हिंसा को बढ़ाने वाली है। हम पशुओं की बलि को आज भी पूर्णतः बन्द नहीं करा पाये यह एक विचारणीय बात है। धर्म का ठेका हम सीमित व्यक्तियों ने ले रखा है। परिग्रह को पाप कहते हुए भी उसे बढ़ाने में ही गौरव व बड़ाई समझते हैं। आज मांस भक्षण दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है, पशु पक्षियों को निर्दयतापूर्वक मारने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। हिंसा मूलक अनेक आविष्कार दिनोंदिन विकसित हो रहे हैं। यह सब अहिंसा के प्रचार द्वारा कम व बन्द होने चाहिये।

हम दिनोंदिन संकुचित बनते जा रहे हैं, भेदभाव व अलगाव को बढ़ाये जा रहे हैं। इनसे विषमताऐं बढ़ती हैं। हमें उदारता व विशालता की जो उदात्त परम्परा हमें पूर्वजों से विरासत में मिली है, उसको अधिकाधिक जीवन व्यापी बनाना है। आज समस्त विश्व एक होने जा रहा है। क्षेत्र की दूरियां समाप्त हो रही हैं, हमें अब अपनी क्षुद्रता का परिहार शीघ्र ही करना चाहिये। भारत में ही देखें तो छोटे छोटे सैकड़ों राज्यों का विलीनीकरण हो गया पर हमारे गच्छ और सम्प्रदाय मजबूत ही बनते जा रहे हैं। हम एक दूसरे के नजदीक न आकर, विरोध के द्वारा दूर दूर खिंचे जा रहे हैं। यह जैनधर्म के सर्वथा विपरीत है।

समत्व की साधना का महत्व केवल जैनधर्म में ही नहीं है भारतीय समस्त दर्शनों में यावत विश्व के प्रत्येक सम्प्रदाय की विचार धारा में समभाव के महत्व व यत् किंचित् दर्शन मिलते हैं। वेदान्त का यही संदेश है कि ब्रह्म एक है, दूसरा कोई कुछ नहीं है। भेद बुद्धि में ही विषमता उत्पन्न होती है। यह भेद या द्वैत भावना माया है, भ्रम है, अज्ञान है। बाहरी भेद औपचारिक व कल्पित है। ब्रह्म व चैतन्य में ही हम सब समा जाते हैं। पराया व अपना कोई है ही नहीं। सभी ब्रह्म रूप हैं अतएव भेद भाव खतम हो, समभाव विकसित हो यही वेदान्त कहते हैं।

बौद्धधर्म तृष्णा को भी दुःख का मूल मानता है, उसी का उच्छेद निर्वाण है। तृष्णा रागभाव की बेटी है। प्राणियों के साथ मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ भावना के व्यवहार का बौद्ध धर्म में विधान है अहिंसा उनमें भी उपादेय है, हम बड़े दूसरे तुच्छ, हम मारने के अधिकारी हैं दूसरे अन्याय व अत्याचारों को सहन के, यह भेद भाव पूर्ण हिंसा का भाव ही विषमता है।

इसी तरह गीता में समभाव का बहुत ही महत्व प्रतिपादित किया गया है। स्थितप्रज्ञ का लक्षण है कि समस्त विषमताओं में द्रष्टा या समभावी बने रहें, समत्व की स्थापना करें।

योग शास्त्र में चित्त निरोध वृत्ति का महत्व है। चित्त को स्थिर शांत एवं सम बना देना ही योग का उद्देश्य है। चित्त की चंचलता ही विषमता है।

योग सूत्र के यम नियम आदि जैन दर्शन के महाव्रत आदि ही हैं। आसन का उद्देश्य शरीर की चंचलता या विषमता को दूर कर स्थिरता प्राप्त करना है। प्राणायाम के द्वारा श्वास की गति के

साथ हमारी वृत्ति जो बहिर्मुखी होती है उसे रोकना है। प्रत्याहार बाहरी आकर्षणों से हृदय में जो कलोलें उठती है ज्वालाऐं धधकती हैं, चिनगारियां फूटती हैं उनको चित्त वृत्ति से खींचना है। धारणा व ध्यान से चित्त की विषमता को दूर करना है, समाधि तो समत्व की चरम परणति का परिणाम है। समाधि यानी समत्व अर्थात् विषमताओं से विराम स्वभाव में स्थिरता।

इसी तरह अन्य दर्शनों का भी समन्वय किया जा सकता है क्योंकि सबके मूल में एक ही भाव या संदेश कार्य कर रहा है कि आत्मा ऊंचा उठे। सबके साथ मैत्री व प्रेम का व्यवहार करें।

आज साम्यवाद, समाजवाद आदि के नारे लगते हैं उन सब में समता का संदेश गूंज रहा है। सभी चाहते हैं कि व्यक्ति व समाज सब सुखी बनें, विषमता मिट जावे। उद्देश्य सबका एक है तो फिर हमें भिन्न २ स्थानों के लिए लड़ना व झगड़ना ठीक नहीं है। जिसे जो सुखकर व सुगम प्रतीत हो उस पर चलें पर दूसरे से विरोध व संघर्ष कर टकराये नहीं उसमें शक्ति नष्ट न करें। सबकी शक्तियों का उपयोग सर्वोदय में हो। यही मंगल कामना है।

सर्वे सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु न कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥
सव्वे जीवावि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं
तम्हा पाणिवहं घोरं निग्गंथा वज्जयंति सा
अभयत्थ सव्वओ सव्वं हिस्स पाणे पियायए
नहणे पाणिणो पाणे भयवेराओ उवरए
रागादीण मणुप्पा अहिंसतं नि देसियं समअे
तेसिं चे उत्पत्ति हिंसेति जिणेहिं णिद्दिट्ठा
यत्खलु कषाययोगात् प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा
अहिंसा भूतानाम् जगति विदितं ब्रह्मपरमम्
अहिंसा परमो धर्मः हिंसा सर्वत्र गर्हिता
अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयं
परोपकारः पुन्याय पापाय परपीडनं

इन समस्त वाक्यों का सार यही है कि राग व द्वेष की विषमता हिंसा का कारण है। अहिंसा ही परम धर्म है, दूसरों की भलाई में अपनी भलाई है। प्राणिमात्र अपने मित्र व बन्धु हैं। सबके साथ समभाव से बरता जाय और हर परिस्थिति में समभाव रखा जाय।

कषायों का उपशमन राग द्वेष की कमी और विनाश एवं शांति और समता ही श्रमण धर्म है वही जैनधर्म है। कल्पसूत्र के अन्त में श्रमण धर्म का सार बतलाते हुये कहा है कि खमियम खमावियव्वं उव समियवं उपसमावियव्वं, समुह संपुच्छणा बहुलेण होयव्वं जो उवसमइ तस्स अस्थि आराहणा जो न उवसमइ तस्स णत्थि आराहणा। तम्हा अप्पणा चेव उवसमियव्वं ले किमाहु भंते! उवसम सारं खु सामण्णं।

अर्थात् श्रमणत्व का सार उपशम है। किसी के साथ भी बैर विरोध न रखा जाय। जो कुछ भी अनुचित व्यवहार हो गया हो उसके लिये स्वयं क्षमा करें एवं दूसरों से क्षमा मांगें इसमें छोटे बड़े का कोई सवाल नही।

खामेमि सव्वे जीवा सव्वे जीवा खमंतु मे
मित्ति मे सव्वभूएसु वैरं मज्झण केणई,

यह प्रतिदिन का पठनीय सूत्र है। जैनधर्म में सामायिक और क्षमापना आदि अनेक अनुष्ठान समता की साधना के लिए बतलाये गये है। राग और द्वेष को उपशांत एवं क्षय करना ही जैनधर्म का सार है। हम सभी समता की भूमिका में मिलकर ऊंचा उठें बस यही मंगल कामना है।

इतिहास का एक विस्मृत जैन महामात्य

डा० राजकुमारजी जैन एम० ए०, पी० एच० डी०, साहित्याचार्य
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष संस्कृत विभाग आगरा कालेज, आगरा

कृष्ण तृतीय राष्ट्रकूट वंश के सर्वाधिक प्रतापशाली सम्राट् थे। यह अमोघ वर्ष तृतीय यावद्दिग के पुत्र थे। आठवीं शताब्दी ई० के पूर्वार्द्ध में राष्ट्र कूट साम्राज्य का अभ्युदय हुआ और शनैः शनैः उसकी शक्ति, प्रभाव एवं विस्तार, उत्तर दक्षिण एवं पूर्व पश्चिम में सम्पूर्ण देश व्यापी हो गया। लगभग ढाई सौ वर्ष तक उत्तर अथवा दक्षिण भारत में कोई भी अन्य राज्य राष्ट्रकूट साम्राज्य का प्रतिद्वन्दी नहीं रहा।

इतिहास में उक्त राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्ण तृतीय के एक मन्त्री नारायण के नाम का उल्लेख तो उपलब्ध है,[1] परन्तु इनके ही महामात्य भरत की इतिहास के पृष्ठों में कहीं भी कोई चर्चा वार्ता तक नहीं की गई है। यह ध्यान देने की बात है कि भरत सामान्य अमात्य नहीं थे; अपितु महामात्य थे। कृष्ण तृतीय के सामन्त अरिकेसरी की छत्र छाया में सोमदेवसूरि द्वारा विरचित नीतिवाक्यामृत में 'आय,-व्यय, स्वामिरक्षा एवं राज तन्त्र की पुष्टि नामक अमात्य के अधिकारों का निरूपण किया गया है इस से प्रतीत होता है कि भरत को अमात्य के इन अधिकारों के साथ अन्य विभागों के सम्यक् संचालन का दायित्व भी वहन करना पड़ता था।

प्रस्तुत महामात्य का परिचय हमें अपभ्रंश के महाकवि पुष्पदन्त कृत महापुराण की उत्थानिका में अंकित उपलब्ध होता है। महामात्य भरत पुष्पदन्त के आश्रय दाता थे और इन्हीं के स्नेह एवं श्रद्धापूर्ण आतिथ्य का लाभ लेकर पुष्पदन्त ने अपने महत्वपूर्ण महापुराण का प्रणयन किया था। अभिमान मेरु पुष्पदन्त ने महामात्य भरत के व्यक्तित्व का निम्न शब्दों में चित्रण किया है:—

बंभउमंडवारूढकित्ति अणवरयरइयजिणणाहभत्ति।
सुहतुंगदेवकमकमलभसलु णिस्सेसकलाविण्णाणकुसलु॥
पाययकइकव्वरसावलुद्ध संपीयसरासइ-सुरहि दुद्ध।
कमलच्छु उमिच्छरु सच्च संधु रणभरधुरधरणुग्घुट्टकंधु॥
सविलासबिलासिणिहिययथेणु सुपसिद्ध महाकइ कामधेणु।
काणीणदीणपरिपूरियासु जसपसरपसाहिय दसदिसासु॥

[1] दे० सालोक्यी का शिलालेख, इंडिकी एपिग्राफिया, जिल्द ४ पृ. सं. ६०।

पवरमणि परंमुह सुद्धसीलु उण्णयमइ सुयणुद्धरण लीलु ।
गुरयणपय पणविय उत्तमंगु सिरिदेवियंब गु-भुब्भवंगु ॥
अण्णइयतणयतणुसहपसत्थु हत्थिव व दाणोल्लियदीहहत्थु ।
महमत्तावंस धयपपडु गहीरु लक्खणलक्खंकिय वरसरीरु ।
दुव्वसणसीह संघायसरहु.................. ।

अर्थात् भरत की कीर्ति वल्लरी ब्रह्माण्ड में आरूढ़ हो चुकी है । वह निरन्तर जिनेन्द्र भगवान की भक्ति में तन्मय रहते हैं । शुंभ तुंगदेव के चरण कमलों के प्रति उनका भ्रमरवत् अनुराग है । समस्त कलाओं और विज्ञान में वह कुशल हैं । प्राकृत कवियों की सरस रचनाओं पर वह मुग्ध हैं । सरस्वती-सुरभि का उन्होंने दुग्धपान किया है । वह कमल नेत्र निर्मत्सर तथा सत्य प्रतिज्ञ हैं । युद्धों के भार वहन करने से उनके कन्धे घिस गये हैं । वह अत्यन्त सुन्दर हैं और सुप्रसिद्ध महाकवियों के लिए कामधेनु हैं । दीन-दुखियों की आशा को पूर्ण करने वाले हैं और उन्होंने अपने कीर्ति प्रसार से दशों दिशाओं को अलंकृत कर दिया है । वह परस्त्री से विमुख हैं, सदाचारी हैं उन्नतमति हैं और सुजनों के उद्धार में रस लेते हैं । उनका मस्तक सदैव गुरु चरणों में प्रणत रहता है । श्रीदेवी के गर्भ से उनका जन्म हुआ है । अण्णय्या के पुत्र एरण उनके पिता हैं । जिस प्रकार हाथी दात (मदजल) से निरन्तर उल्लासित रहता है, उसी प्रकार भरत के दोनों हाथ भी सदैव दान से सुशोभित रहते हैं । वह महामात्य रूपी ध्वजा के गम्भीर पट हैं और उनका शरीर अनेक प्रशस्त लक्षणों से लक्षित है । दुर्व्यसन रूप सिंह के संघात के लिए वह शरभ (अष्टापद) के समान हैं । अर्थात् दुर्व्यसन तो उन्हें छूतक नहीं गया है ।

प्रस्तुत उत्थानिका से जहाँ महामात्य भरत के सर्वाङ्ग पूर्ण व्यक्तित्व की झलक उपलब्ध होती है वहां यह भी स्पष्ट है कि इनके पितामह का नाम अण्णय्या, पिता का नाम एयण तथा माता का नाम श्रीदेवी था । यह कौण्डिन्य गोत्रीय ब्राह्मण थे । कुछ स्थलों पर भरत भट्ट के नाम से भी इनका उल्लेख मिलता है । भरत की पत्नी का नाम भी कुन्दव्वा था और इसके गर्भ से ही नन्न ने जन्म लिया था । पुष्पदन्त कृत णायकुमारचरिउ तथा जसहरचरिउ से स्पष्ट है कि प्रस्तुत भरत नन्न ने ही अपने पिता भरत के पश्चात् राष्ट्र कूट सम्राट् कृष्ण तृतीय के गृहमन्त्री का पद सम्हाला । इसके अतिरिक्त अपने पिता के समान ही महाकवि पुष्पदन्त को श्रद्धासंमानपूर्ण आश्रय प्रदान कर णायकुमारचरिउ तथा जसहरचरिउ जैसी सांस्कृतिक कृतियों के प्रणयन के लिए अनुरूप वातावरण प्रस्तुत किया ।

महापुराण के सम्पादन काल में डा० पी० एल० वैद्य को महापुराण की विभिन्न पाण्डु लिपियों की सन्धियों के प्रारम्भ में ४८ पद्य इस प्रकार मिले हैं, जिनमें मुख्यत: महाकवि पुष्पदन्त के आश्रय दाता महामात्य भरत की गुण गाथा गुम्फित की गई है । उनमें से छह पद्य प्राकृत के हैं और शेष संस्कृत के । इन पद्यों की रचना स्वयं पुष्पदन्त ने की है और उनमें यत्र तत्र अपनी व्यक्तिगत सूक्तियों का निवेश करते हुए भरत के जीवन एवं व्यक्तित्व का नितान्त सजीव चित्रण किया है । उदाहरणार्थं यहां कुछ पद्य उद्धृत किए जा रहे हैं—

(१) "आदित्योदयपर्वतादुरुत्तरादाचन्द्रचूडामणे—

राहेमाचलतः कुशेशनिलयादासेतुबन्धाद् दृढात् ।

आपातालतलादहीन्द्रभवनादास्वर्गमार्गं गता ।

कीर्तिर्यस्य न वेद्मि भद्र भरतस्याभाति खण्डस्य च[१] ।।"

इस पद्य में बतलाया गया है कि कवि के आश्रय दाता भरत और स्वयं कवि की कीर्ति भी किस प्रकार सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त हो रही है । पुष्पदन्त का दूसरा नाम 'खण्ड' भी था ।

(२) बलिजीमूतदधीचिषु सर्वेषु स्वर्गतामुपगतेषु ।

सम्प्रत्यनन्यगतिकस्त्यागगुणो भरतमावसति ।।

इस पद्य में भरत के असामान्य त्याग गुण की प्रशंसा की गई है ।

(३) "श्रीर्वाग्देव्यै कुप्यति वाग्देवी द्वेष्टि सन्ततं लक्ष्म्यै ।

भरतमनुगम्य साम्प्रतमनयोरात्यन्तिकं प्रेम ।।"

इस पद्य में वतलाया गया है कि भरत लक्ष्मी एवं सरस्वती—दोनों के समान रूप से स्नेह भाजन थे ।

(४) "धनधवलताश्रयाणामचलस्थितिकारिणां मुहुर्भ्रमताम् ।

गणनैव नास्ति लोके भरतगुणानामरीणां च ।।"

उक्त पद्य में भरत के गुणों एवं शत्रुओं की असंख्यता के सम्बन्ध में संकेत किया गया है ।

(५) " गुरुधर्मोद्भवपावनमभिनन्दितकृष्णार्जुनगुणोपेतम् ।

भीमपराक्रमसारं भारतमिव भरत तव चरितम् ।।"

प्रस्तुत पद्य में भरत का जीवन चरित महाभारत के समान महत्त्वपुर्ण प्रतिपादित किया गया है ।

उपरि लिखित प्रशस्ति पद्यों में अंकित भरत गुणावली अतिशयोक्ति पूर्ण हो सकती है:, परन्तु उसमें जिन तथ्यों की ओर स्पष्ट संकेत किया गया है, वे न केवल महामात्य भरत के विविधमुख व्यक्तित्व के प्रकाशक हैं अपितु इस बात के भी द्योतक हैं कि पुष्पदन्त जैसे अनासक्त, उन्मुक्त, अभिमान मेरु एवं भवनिर्विण्ण कवि से महापुराण जैसी उच्चकवित्व विभूषित काव्य रचना कराने में भरत ने कितनी उदारता, सरलता, सहृदयता तथा धर्मवत्सलता पूर्ण वृत्ति से काम लिया होगा । इस प्रकार भरत महामात्योचित सर्व गुण सम्पन्न होने पर भी निस्तुत काव्य प्रेम एवं दिव्य सौजन्य के प्रतीक हैं । पुष्पदन्त कृत महापुराण के साक्ष्य के आधार पर भरत का समय शक सं.८८७ तक सुनिश्चित है ।

भले ही इतिहास के नीरस पृष्ठों में महामात्य भरत को स्थान न मिला हो, परन्तु जब तक पुष्पदन्त का महापुराण रूपी काव्यरत्न माता सरस्वती के मन्दिर में प्रकाशमान है, वह अपने शोभन नाम एवं सुयश से निश्चय ही अमर हैं ।

---

[१] दे०, महापुराण १-५ ।

बीसा-यंत्र प्रकार और मंत्र द्वारा दंत कीट निष्कासन विधि

न्यायायुर्वेदाचार्य वैद्य पं० चन्द्रशेखर जैन शास्त्री 'पाढमीय' लाखाभवन, पुरानी चरहाई, जबलपुर

बीसा-यंत्र प्रभावक-यंत्र है। यह सर्व सिद्धिदाता, रोगापहारक, अर्थसिद्धिकर्ता, सन्तानायुर्बल-वृद्धिकर्ता, घर-बाहर सभी जगह के प्रयोग के लिये प्रबल-साधक माना गया है।

'अचिंत्यो हि मणि-मंत्रोषधीनां प्रभावः—जिस प्रकार कि 'अष्ट-सहस्री' में कहा गया है, उसी प्रकार 'अचिंत्यो हि मणि-मंत्र-तंत्र-यंत्रौषधीनां प्रभावः'—आगम-सम्मत है।

यह यंत्र दुकान में, व्यापार-कक्ष में, मकान में एव मंत्र-साधक-स्थलों पर सविधि रखा जाता दीवालों पर लिखा जाता या ताम्र-पत्र, रजत-पत्र या स्वर्ण पत्र पर खुदवाकर रखा जाता है। इससे इस भावनाजन्य-क्रिया को बल मिलता है कि 'हमारा कार्य सुफल-प्रद, स्थायी एवं विघ्न-बाधाओं से रहित रहे।

आयुर्वेदानुसार भी अष्ट गंध-स्याही से अनार की कलम से इसे भूर्ज-पत्र (भोजपत्र) पर लिख-कर (स्नात होकर तथा पूर्वाभिमुख होकर, दर्भासन पर बैठकर, दीप-धूपादि की सद्व्यवस्था करके शुद्ध-स्पष्ट लिखिये।) ताबीज में रखिये और दाहिने हाथ की बाजू पर बांधिये।

यदि वात-रोगों को नष्ट करने के लिये इसे बांधना हो तो ताम्र के ताबीज में रखकर फिर बांधिये।

पित्त रोगों को नष्ट करने के लिए 'रजत-ताबीज' में बांधना प्रभावक है।

उसी प्रकार 'कफज-रोगों' किंवा सान्निपातिक (त्रिदोषज) रोगों के प्रभाव-शमनार्थ इसे स्वर्ण के ताबीज में रखकर बांध लेना चाहिए। आदि-आदि का विधान है।

व्यापार में भी स्थायित्व के लिए उसे ताम्र पत्र पर लिखवाकर (उकेर कर) दूकान में टांग लेना चाहिये। शांति से निर्भयतापूर्वक व्यापार चले, एतदर्थ इसे रजत-पत्र पर तैयार कराके, व्यापारगृह में उच्च-स्थान पर रखना चाहिए। लक्ष्मी-प्राप्ति, प्रसत्ति के लिये इसे 'स्वर्ण-पत्र' पर उत्कीर्ण कराकर व्यापार-गृह में सुरक्षित-स्थान पर स-सन्मान निर्धारित करना चाहिये।

वैसे कतिपय साधारण व्यापारी इस यंत्र को घृत-सिन्दूर योग से रुई, द्वारा दीवाल पर, दूकान के अन्दर या बाहर लिख लेते हैं। ऐसा करना परम्परागत यंत्र विश्वास का प्रतीक है।

घर में स्थायित्व एवं सत्तायुर्बल-ऋद्धि-वृद्धि के लिये इसे ताम्र-पत्र में गढ़वाकर एवं मढवाकर घरके सुरम्य-कक्ष में रखना उत्तम है। गृह शांति भूत-प्रेत-डाकिनी-पिशाचिनी प्रभृति से उपनीत उपद्रवों के शमनार्थ किंवा दूरीकरणार्थ इस यंत्र को रजत-पत्र में उत्कीर्ण करवाकर, उत्तम फ्रेम में मंढवाकर गृह-मध्य में उच्चस्थान पर विराजमान करा देना उत्तम है। इसी प्रकार विविध आधि-व्याधि-उपाधियों के शमनार्थ इस पवित्र यंत्र को स्वर्ण-पत्र पर, रजत लेखनी से लिखवाकर अष्टगंध धूप देकर सुरक्षित, मेध्य स्थान पर सादर विराजमान कर दें।

इस प्रकार यह यंत्र घर-बाहर-राजद्वार-यात्रा-विदेशगमनदिग्विजय प्रभृति अनेक प्रसंगों पर उपयुक्त होता है। इसके अनेक विस्तृत रूप हैं। उनमें से कुछ का संक्षिप्त-विवरण इधर उपस्थित कर रहे हैं। परिस्थिति, बल, आवश्यकतादि के अनुसार उनका उपयोग करिये।

उत्कीर्ण-यंत्र को दूध या जल में घोकर पिलाने से भी, आयुर्वेद में रोगशमनार्थ विधान किया गया है। हम तो यहां संक्षेप में ही उसके (बीसा-यंत्र के) विभिन्न रूपों पर प्रकाश डाल रहे हैं।

बीसायंत्र का प्रथम रूप

		१		
	८		४	
३		१०		७
	६		२	
		९		
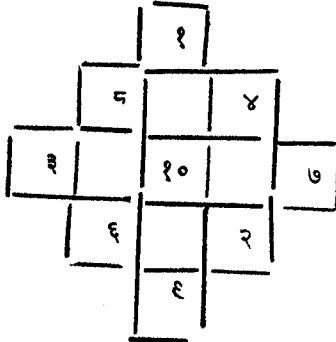
एक भारतीय देशवासी इसे ही प्रामाणिक-बीसायंत्र कहते हैं।

बीसायंत्र की द्वितीय प्रक्रिया

८	९	३
२	३ ४ ३ ३	११
१०	४	६

इसको कतिपय यंत्र-शास्त्रवेत्ता महत्त्व देते हैं।

बीसा-यंत्र का तृतीय-क्रम

६	४	१०
११	७	२
३	९	८

कतिपय-बन्धु इसे प्रामाणिक-कोटि में लेते हैं।

बीसायंत्र का चतुर्थ-प्रकार

११	४	५
१	७	१२
८	९	३

बीसायंत्र का पंचम आकार

१०	९	१
६	३ ७ ८ २	१४
४	११	५

बीसायंत्र का एक छठारूप

७	६	१
८	१०	२
९	४	३

यह भी कतिपय स्थानों पर पुष्कलता से प्रचलित है।

बीसा यंत्र और उसका भुजाकार—(सातवां रूप)

	१०		९	
५	२	३	४	६
	८		७	

बहीखातों पर इस आकार का अधिक प्रयोग होता है।

बीसायंत्र का अष्टम-रूप

		१०	२	८
	४	७	९	
६	११	३		

बीसायंत्र का नवम-रूप

३			८
	७	२	
	९	४	
१			६

गृह-द्वारों पर इसे कीलों से, उकेरा हुआ, देखा गया है।

बीसायंत्र का दसवां आकार

६	३	११
१२	७	१
२	१०	९

ग्यारहवें रूप में बीसायंत्र

११	१	८
४	७	६
५	१२	३-२

बीसायंत्र बारहवीं तरह से*

२	६	२	७
६	३	६	५
८	३	८	१
४	५	४	७

संभव है कि इन आकारों के अतिरिक्त और भी इस बीसायंत्र के आकार प्रकार हों, किन्तु अभी तक मेरी दृष्टि किंवा जानकारी में इतने ही रूप आये हैं।

यह निर्विवाद है कि इस यंत्र को प्रायः सभी वर्ग के लोग विशेष महत्व देते हैं। हां, संस्कार-पूर्वक किया गया प्रत्येक कार्य अधिक अच्छा एवं सुफलप्रद होता है।

स्नान करके श्रीजिन मन्दिर में जाकर, एकान्त में भगवत्पूजा करके, तत्समक्ष दर्भासन पर बैठकर भूर्जपत्र पर (स्वर्ण या रजतथाल में भूर्जपत्र रखकर) चौकी के ऊपर, अष्टगंध स्याही एवं अनार की कलम से इसे सावधानी से लिखे। पुनः ताबीज को भी जिनचरण प्रक्षाल से धोकर-पोंछकर, उसमें यह यंत्र रखे और ऊपर से ताबीज मुखबन्द करदे। हां यंत्र को लिखकर रंगीन (केशर-रंजित) सूत्र (सूत) से बांध देना चाहिये।

'सर्वेभद्राणि पश्यंतु'।

यन्त्र द्वारा दन्तकीट—निष्काशन

दन्त रोगों में दांतों में कीड़े लगजाना एक विशेष रोग है। इस रोग से ग्रस्त दन्तरोगी को बड़ी परेशानी किंवा कष्ट होता है। वह आधुनिक चिकित्सकों (डाक्टरों) के पास जाता है और वे देखकर दांत निकालने की सलाह दे देते हैं। साथ ही भय भी दिखा देते हैं कि यदि ये दांत न निकलवाया तो बाद में अन्य दांत बेकार हो जायगे और फिर वे भी निकलवाने पड़ेंगे। फलतः मारे भय के रोगी दांत निकलवा देता है और फिर यह दांत निकलवाने या दांत गिरने का क्रम प्रायः चालू हो जाता है।

इस उत्तम स्मारिका में इस रोग के निवारणार्थ इस स्मारिका का स्मारक एक उत्तम प्रयोग

*इस यंत्र को पास रखने से सब कार्य सिद्ध होते हैं। यह पुरानी यंत्र-कथा का हस्तलिखित आकार है।

(सुपरीक्षित प्रयोग) 'दन्तकीट-निष्काशन' भेंट किया जा रहा है। आवश्यकता पर अवश्य ही इसका उपयोग करिये और दांत निकलवाने की परेशानी से अपने को बचाइये।

'यंत्र द्वारा' के नाम से घबराइये नहीं। यह बड़ा सरल उपाय है। सर्वत्र सुलभ एवं सुविधा साध्य है। साथ ही बड़ा अच्छा कारगर है। यह सरल विधि इस प्रकार है—

पहिले गृह सामग्री इकट्ठी करके रख लीजिये—

१—हांडी या हंडिया, जिसमें २ सेर पानी आ सके।

२—एक बड़ा चम्मच, जिसमें २ तोला तेल आ सके।

३—एक छोटी-परात, जिसमें १।। या २ सेर पानी आ जाय।

४—भटकटैया या बड़ी कटेरी (कटाई) के बीजों का चूर्ण दो तोला।

५—सरसों का तेल (कड़वा तेल) १।। या २ तोला।

अब दांतों में कीड़े लगे रोगी को पास बुलाकर बैठा लीजिये। उधर हांडी के पैंदे में रुपये से कुछ बड़ा एक छेद कर लीजिये। साथ ही इस हांडी के मुंह के (किनारे के) आधा इंच नीचे, इससे कुछ बड़ा छेद करके रख लीजिये। यही 'यंत्र' है और इसी के द्वारा' दांत के कीड़े' निकाले जाते हैं।

अब एक अंगीठी जलाकर रख लीजिये। जब कोयले धधकने लगें तो उस पर चमचे में डेढ़ दो तोला सरसों का तेल भरकर आग पर रख दीजिये, ताकि तेल गरम हो जाय। जब तेल गरम हो जाय तो हांडी को परात में, १ सेर पानी भर कर, उलटा रख दीजिये ताकि पैंदे का छेद ऊपर हो जाय और हांडी का मुंह परात के पानी में रहे। वह पानी इतना हो कि हांडी के नीचे के छेद से कुछ नीचा रहे (नीचे के छेद के ऊपर न हो)।

अब गरम-तेल वाले चमचे को, हांडी के (मुंह के ऊपर के) छेद किये हुए भाग में, रखिए तथा पेंदी में छेद किये हुए भाग से 'कटेरी का चूर्ण' डाल दीजिये। इस चूर्ण के पड़ते ही तेल में से धुआं उठना फौरन शुरू हो जायगा, तभी रोगी से कहिये कि वह अपना मुंह खोलकर पैंदेवाले छेद पर लगाले। तब मुंह में यह धुआं लगेगा और 'लार बहना' शुरू हो जायगा। रोगी वह लार उसी छेद से नीचे गिरने दे, मुंह को उठाये नहीं। सारे दंत-कीट लार के साथ नीचे परात में गिर जायेंगे। यह उपाय सिर्फ २ मिनट ही करना पड़ता है।

उसके बाद रोगी, मुंह को हटाकर, लार टपकाता रहे। जब लार टपकना बन्द हो जाय तो गरम पानी से खूब अच्छीतरह कुरले (कुल्ले) कर डाले।

अब आप परात में से चमचा-हांडी को निकाल लीजिये और रोगी को दिखाइये हांडी का मुंह। हांडी के उस मुंह पर छोटे-छोटे, सूत के टुकड़े जैसे तत्व लगे होंगे। ये सब दन्त-कीट हैं। आप तथा रोगी दोनों ही इस बात को समझ लें।

इस तरह दातों के कीड़े प्रायः एक बार में ही निकल जाते हैं। फिर भी यदि आवश्यक हो तो दूसरे या तीसरे दिन फिर से 'हांडी-यंत्र' द्वारा यह उपाय किया जा सकता है। इससे सारे दांत कीट रहित हो जायेंगे। फिर—

आगे के लिए दांतों को कीड़ों से बचाने के लिए—

भोजन के बाद प्रातः-सायं नमक लगाकर (सिर्फ नमक के मंजन से) अपने या रोगी के दांत साफ हो जाने का ध्यान रखिये। नमक से दांत भोजन के बाद गरम पानी के कुल्ले कर लेने चाहिये। ऐसा करते रहने पर दांत कीट-मुक्त रहेंगे।

व्रती, त्यागी, साधारण धार्मिक-गृहस्थ सभी इस पवित्र उपाय को काम में ला सकते हैं। अपवित्र औषधियों किंवा मंजन प्रभृति से बचकर आचार-रक्षा करते हुए अपने दांत ठीक रख सकते हैं। ऐसा करने पर न तो दांत निकलवाने पड़ेंगे और न तब फिर दांतों के गिरने का सिलसिला ही चालू होगा।

एक जैनाचार्य द्वारा प्रणीत यह सरल निष्पाप-उपाय सुपरीक्षित है और इस 'स्मारिका' द्वारा आपके स्मरणार्थ प्रस्तुत है। आवश्यकता पर बेधड़क इसे प्रयुक्त करिये। स्वयं को दूसरों को दंतकीट-रोग मुक्त करिये-कराइये।

—: सर्वेसन्तु निरामया :—

प्राचीन भारतीय वाङ्मय
और
जैन साहित्य

डा० गोकुलचंदजी जैन आचार्य, एम० ए०, पीएच० डी०

जैन साहित्य प्राचीन भारतीय वाङ्मय का एक महत्वपूर्ण अङ्ग है। साहित्य का कोई भी विषय ऐसा नहीं, जिस पर जैन विद्वानों एवं आचार्यों की लेखनी ने मुक्त विहार न किया हो। दर्शन, काव्य, व्याकरण, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि सभी विषयों पर जैन विद्वानों द्वारा लिखित महत्वपूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इस समग्र साहित्य को जैन साहित्य कहने का एक मात्र यही कारण प्रतीत होता है कि इसके रचयिता विद्वान् जैनधर्म में आस्था रखने वाले रहे हैं। सम्भवतया जैन लोग भी इसे अपना साहित्य इसलिए मानते हैं कि इसके रचयिता उनके पूर्व पुरुष हैं। वास्तव में अनुशीलन की दृष्टि से इसका सर्वाङ्गीण महत्व है। भारतीय साहित्य के किसी भी अंग का अध्ययन इस जैन साहित्य के बिना पूर्ण नहीं कहा जा सकता। दर्शन, इतिहास, संस्कृति, कला और भाषा विज्ञान के विद्यार्थियों के लिए तो इसका और भी अधिक महत्व है। अनुसंधान की दृष्टि से यह समग्र साहित्य अभी प्रायः अछूता सा पड़ा है इसलिए शोधकार्य के लिए इसमें पर्याप्त क्षेत्र है।

जैन साहित्य का सबसे महत्वपूर्ण भाग उसका दार्शनिक साहित्य है। भारतीय दर्शन के क्षेत्र में जैन दार्शनिकों ने चिन्तन को नया मोड़ दिया है। इस दर्शन का प्राण अनेकान्त और उसका व्यावहारिक रूप स्याद्वाद का सिद्धांत जिस तार्किक दृष्टि से वस्तु स्वरूप का प्रतिपादन करता है उसकी ओर आज का बुद्धिवादी मानव आईन्स्टीन के सापेक्षवाद के प्रकाश में आकर्षित हुये बिना नहीं रह सकता। विज्ञान के क्षेत्र में जो दृष्टि सापेक्षवाद का सिद्धांत प्रदान करता है, ठीक वही दृष्टि दर्शन के क्षेत्र में स्याद्वाद ने दी है। समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकलंक, विद्यानन्द आदि आचार्यों के दार्शनिक ग्रन्थों के सहारे भारतीय दर्शन के विकास का सूत्र पाया जा सकता है।

प्राचीन भारतीय इतिहास का अध्ययन करने वालों के लिए भी जैन साहित्य महत्वपूर्ण ऐतिसिक सामग्री प्रदान करता है। विद्वान् लोग इस बात को स्पष्ट रूप से मानने लगे हैं कि भारतीय इतिहास की अनेकों गुत्थियां जैन साहित्य के अध्ययन के बिना उलझी ही रह जाती हैं। बिम्बसार, अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त, अशोक, सम्प्रति, खारबेल, कुमारपाल, अकबर आदि राजा महाराजाओं के युग की आर्थिक सामाजिक और राजनैतिक गतिविधि का विश्लेषण अनेक जैन ग्रन्थों में मिलता है। जैन मन्दिरों, खण्डहरों और गुफाओं में उपलब्ध होने वाले शिलालेख भी भारतीय इतिहास पर विशद प्रकाश डालते हैं।

प्राचीन भारतीय संस्कृति वैदिक, जैन और बौद्ध इन तीन समानान्तर धाराओं में विकसित हुई है। तीनों विचारधाराओं का परस्पर में इतना अधिक आदान प्रदान हुआ है कि प्रत्येक विचारधारा पग-पग पर एक दूसरे से प्रभावित दृष्टिगोचर होती है। कई विषयों में सभी एक दूसरे की पूरक इकाई हैं। वर्णाश्रम व्यवस्था से लेकर आचार-विचार और व्यवहार के विषय में जैन साहित्य विशद विवेचन करता है। जैन साहित्य के आधार पर भारतीय संस्कृति का अध्ययन भारत के सांस्कृतिक इतिहास पर एक नया प्रकाश डालता है।

कला की दृष्टि से भी जैन साहित्य में महत्वपूर्ण सामग्री है। प्राचीन पांडुलिपियों पर किए गये चित्रांकन भारतीय कला में विशेष महत्व रखते हैं। आबू के मन्दिर, उड़ीसा की गुफाएं, दक्षिण की मूर्तियां और सौराष्ट्र की ललित कला किसका मन नहीं मोह लेतीं। जैन साहित्य के प्रकाश में इनका अध्ययन करने से अनेक तात्विक प्रश्नों का समाधान किया जा सकता है।

तुलनात्मक भाषा विज्ञान के लिए भी जैन साहित्य के अध्ययन की अनिवार्य आवश्यकता है। भारतीय भाषाओं के क्रमिक विकास का इतिहास जैन साहित्य के आधार पर सहज ही ज्ञात हो जाता है। प्राचीन जैन आगमों की भाषा मूलतः प्राकृत है। बाद में उन पर संस्कृत भाष्य और टीकाएं लिखी गयीं। उसके बाद सारे साहित्य की रचना संस्कृत में होने लगी। विद्वान् इस बात पर अभी तक एक मत नहीं हो पाये हैं कि प्राकृत से संस्कृत आई या संस्कृत से प्राकृत। जैन साहित्य इस तरह के अध्ययन के लिए प्रभूत सामग्री प्रदान करता है। प्राचीन भारतीय भाषाओं के आधार पर एक मूल भाषा की कल्पना में भी यह साहित्य बड़ा सहायक हो सकता है।

काव्यात्मक अनुसंधान में रुचि रखने वाले विद्यार्थियों के लिए भी जैन साहित्य में कम क्षेत्र नहीं है। परिणाम की दृष्टि से देखा जाय तो एक ओर अन्य सारे कवियों का साहित्य और दूसरी ओर केवल जैन कवियों का साहित्य रखने पर भी यह वजनदार निकलेगा। जैन विचारधारा से प्रभावित होने के कारण इन कवियों के साहित्य पर भी उसका स्पष्ट प्रभाव है। इसी कारण दार्शनिक युग के कदाग्रह से लेकर अब तक इसे धार्मिक साहित्य कह कर इसकी उपेक्षा की जाती रही है। इसमें सन्देह नहीं कि लेखक जिस विचारधारा से प्रभावित होता है उसकी छाप उसके साहित्य पर अवश्यमेव होती है। अश्वघोष, कालिदास, माघ और भारवि आदि सभी कवियों का साहित्य उनकी धार्मिक मान्यताओं से प्रभावित है, किन्तु इस कारण से उसकी उपयोगिता कम नहीं होती। जैन काव्य साहित्य में बहुत से ऐसे ग्रन्थ हैं जो काव्य की सरसता के साथ-साथ भारतीय दर्शन, इतिहास और संस्कृति के कई पर्दे खोल देते हैं। सोमदेव का यशस्तिलक काव्य की दृष्टि से जहां कादम्बरी से टक्कर लेता है वहां दसवीं शताब्दी की समस्त भारतीय संस्कृति और राष्ट्रकूटों के शासन की गतिविधि का सर्वांग-चित्रण भी प्रस्तुत करता है। जटासिंहनन्दि का वरांगचरित्र, धनपाल की तिलकमंजरी, देव विमलगणि का हीर सौभाग्य,

हेमचन्द्र का कुमारपाल चरित, हरिश्चन्द का धर्मशर्माभ्युदय आदि ऐसे ग्रन्थ हैं जो काव्यात्मक दृष्टिकोण के साथ संस्कृति, इतिहास और दर्शन की दृष्टि से भी अत्यधिक महत्व रखते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन साहित्य में न केवल धर्म दृष्टिपरक किन्तु विविध प्रकार की प्रभूत सामग्री विद्यमान है। संकुचित दृष्टि के कारण ऐतिहासिक तथ्यों की अवहेलना करके अब तक भारतीय विद्वान् जैन साहित्य का उचित मूल्यांकन नहीं कर सके, लेकिन अब वह समय आ गया है कि विद्वान् जैन वाङ्मय में रही हुई ऐतिहासिक सचाई को समझने का कार्य प्रारम्भ कर रहे हैं।

पिछले कुछ समय से जैन साहित्य के अनुसन्धान तथा परिशीलन में कुछ विद्वान् व्यक्तिगत रूप से तथा कुछ शोधसंस्थाओं और विश्वविद्यालयों के माध्यम से जुटे हुए हैं। इनके सत्प्रयत्नों से जो साहित्य प्रकाश में आया उसका मधुर फल यह हुआ कि विद्वानों ने जैन, बौद्ध और वैदिक के भेद को छोड़ कर शुद्ध सांस्कृतिक चेतना से सोचना भी प्रारम्भ कर दिया है। वास्तव में यह सही है कि अब तक जो चीज सामने नहीं आती उसका मूल्यांकन भी कैसे किया जा सकता है। इस दृष्टि से अब तक जो अनुसन्धान कार्य हुए हैं तथा हो रहे हैं उन सबका महत्त्वपूर्ण स्थान है। आगे के लिए अनुसन्धान कार्य में संलग्न विद्वानों, शोधसंस्थाओं तथा आने वाली विद्वानों की नयी पीढ़ी को कुछेक बातों का विशेष ध्यान रखना होगा।

अब तक हमारा जितना भी अनुसन्धान कार्य हुआ है वह मुख्यतया दार्शनिक साहित्य को लेकर ही हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि दर्शन के क्षेत्र में जैनधर्म ने एक नई दृष्टि प्रदान की है। और इस दृष्टि से सर्व प्रथम दार्शनिक साहित्य का अनुसन्धान आवश्यक था, किन्तु अब हमें साहित्य के दूसरे अंगों पर भी विचार करना है। आगमों में जिस तरह अलग अलग विभिन्न विषयों का वर्णन किया गया है उसी तरह प्रत्येक क्षेत्र में अनुसन्धान कार्य भी आवश्यक है।

काव्यात्मक साहित्य का जैन साहित्य में भांडागार है। आगमग्रन्थों में भी काव्यात्मक तत्व पाये जाते हैं। जैनेतर साहित्य की तुलना में यह साहित्य किसी भी माने में कम नहीं है। उपजीव्य काव्य, महाकाव्य, गीतिकाव्य, चम्पूकाव्य, गद्यकाव्य, नाटक, अलंकारशास्त्र आदि सभी विषयों पर सुन्दर एवं प्रौढ़ रचनाएं हैं, फिर भी साहित्य जगत् में जहां काव्यात्मक साहित्य की चर्चा की जाती है वहां या तो जैन काव्य साहित्य का नाम ही नहीं लिया जाता या नाम ले भी लिया गया तो अन्त में—"इस तरह जैन विद्वानों ने भी बहुत साहित्य लिखा है किन्तु उसमें शुद्ध साहित्यिक चेतना को जागरित करने का प्रयास कम है। धर्म प्रचार की प्रवृत्ति ही अधिक पाई जाती है" यह कह कर कहे सुने पर भी पानी फेर देते हैं। संस्कृत साहित्य के इतिहास लेखकों ने प्रायः इसे धार्मिक साहित्य कह कर इसकी उपेक्षा, की है। देखना यह है कि इस उपेक्षा का मूल कारण क्या है, क्या इसमें केवल इन इतिहासकारों की भूल है या हमारी ओर से भी कुछ कमी है। विचार करने पर हमें दोनों बातों को स्वीकार करना पड़ता है। इतिहासकार सारे साहित्य का परिचय किए बिना ही यह सब कैसे लिख जाते हैं, वे ही जानें। फिर भी

उनकी दृष्टि में लाने के लिए हमें पूरे साहित्य को प्रकाश में लाने की आवश्यकता है। प्रकाश में आने के बाद उसकी बहुमूल्यता को कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। इसलिए दर्शन शास्त्र के साथ साथ काव्यात्मक साहित्य पर भी अनुसन्धान कार्य अपेक्षित है।

यह नहीं है कि काव्यात्मक साहित्य पर अभी तक शोधकार्य बिलकुल हुआ ही नहीं, पर जो हुआ है वह न के बराबर अवश्य है। यदि सम्पूर्ण साहित्य सुसम्पादित होकर प्रस्तुत किया जाए तो निःसन्देह साहित्य मनीषियों की नजरों में जैन साहित्य का विशेष महत्व लक्षित होने लगेगा।

साहित्यिक अनुसन्धान का एक दूसरा भी पक्ष है। यह विज्ञान का युग है। जो प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं होता वह वैज्ञानिक सत्य नहीं। यह आज की मान्यता है। आज का मानव अपनी यान्त्रिक प्रयोगशालाओं में प्रयोग कर के देखे बिना किसी भी बात को सत्य मानने के लिए तैयार नहीं।

हम वनस्पति में बहुत समय से चेतना मानते आये, पर हमारी बात कुछ भक्तों के सिवाय किसी ने नहीं मानी। जगदीशचन्द्र वसु ने इसे वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा सिद्ध कर दिया तो संसार मानने लगा। वसु संसार का एक बहुत बड़ा वैज्ञानिक माना गया।

हम जल की एक बूंद में असंख्य जीव मानते रहे पर हमारी बात पर भक्तों के सिवाय किसी ने विश्वास नहीं किया। किन्तु जब विज्ञान की आंखों ने उनका साक्षात्कार करा दिया तो सर्वसाधारण उसका कायल हो गया।

हम कहते थे कि शब्द पौद्गलिक है, किन्तु हमने कभी उसे पकड़ा नहीं। जब तक रेडियो का आविष्कार नहीं हुआ था तब तक कौन हमारी बात मानता था? हमने छाया को पौद्गलिक माना पर फोटोग्राफी और टेलीविजन के पहले किसने इस पर विश्वास किया?

हम अपनी हर बात को वैज्ञानिक सत्य मानते हैं, क्योंकि उसका सृजेता सर्वज्ञ था। उसने सब कुछ प्रत्यक्ष देखा था। इसीलिए जब कोई नया वैज्ञानिक आविष्कार होता है तो उसके बीज हम अपने आगमों में खोजने लगते हैं।

वास्तव में यदि हमारा दावा है कि हमारे महापुरुषों के वचन सत्य हैं, उतने ही सत्य जितने वैज्ञानिक आविष्कार, तो हमें युग को स्वीकार करना होगा। वैज्ञानिक आविष्कारों की तरह अपने सिद्धान्तों को भी प्रायोगिक विज्ञान द्वारा सत्य सिद्ध करना होगा। हमारे पास अभी इतनी ठोस सामग्री है कि उसमें से यदि हम थोड़ीसी भी सत्य सिद्ध कर सकें तो सारा संसार चकित हो उठेगा। सारे विश्व का कल्याण हो जाएगा। विज्ञान ने अणु की शक्ति का पता लगाकर विध्वंस लीला रची, हम आत्मा की अनन्त शक्ति का पता लगा कर निर्माण का स्रोत बहा दें।

श्रमण संस्कृति के उन्नायक भ० ऋषभदेव

श्री पं० परमानंदजी शास्त्री, देहली संपादक 'अनेकांत'

संस्कृति शब्द अनेक अर्थों में रूढ है, उनकी यहां विवक्षा न कर मात्र संस्कारों का सुधार, शुद्धि, सभ्यता, आचार विचार और सादा रहन-सहन विवक्षित है। भारत में दो संस्कृतियां बहुत प्राचीन काल से प्रवाहित हो रही हैं। दोनों का अपना अपना महत्व है ही, फिर भी दोनों हजारों वर्षों से एक साथ रहकर भी सहयोग और विरोध को प्राप्त होती हुई भी एक दूसरे पर प्रभाव अंकित किये हुये हैं। इनमे एक संस्कृति वैदिक और दूसरी अवैदिक है। वैदिक संस्कृति का नाम ब्राह्मण संस्कृति है। इस संस्कृति के अनुयायी ब्राह्मण जब तक ब्रह्म विद्या का अनुष्ठान करते हुए अपने आचार-विचारों में दृढ़ रहे तब तक उसमें कोई विकार नहीं हुआ, किन्तु जब उनमें भोगेच्छा और लोकेषणा प्रचुर रूप में घर कर गई तब वे ब्रह्म विद्या को छोड़कर शुष्कयज्ञादि क्रिया काण्डों में धर्म मानने लगे, तब वैदिक संस्कृति का ह्रास होना शुरू हो गया।

दूसरी संस्कृति अवैदिक है, उसका नाम श्रमण संस्कृति है। प्राकृतभाषा में इसे समन कहते हैं और संस्कृत में श्रमण। समन का अर्थ समता, राग द्वेष से रहित परम शांत अवस्था का नाम समन है। अथवा शत्रु-मित्र पर जिसका समानभाव है ऐसा साधक योगी समण या श्रमण कहलाता है। 'श्रमण' शब्द के अनेक अर्थ हैं, परन्तु उन सभी अर्थों की यहां विवक्षा नहीं है, किन्तु यहां उनके दो अर्थों पर विचार किया जाता है। श्रम धातु का अर्थ खेद है। जो व्यक्ति परिग्रह-पिशाच का परित्याग कर घर-बार से कोई नाता नहीं रखते, अपने शरीर से भी निर्मोही हो जाते हैं। वन में आत्म-साधना रूप श्रम का आचरण करते हैं, अपनी इच्छाओं पर नियन्त्रण करते हैं, काम क्लेशादि होने पर भी खेदित नहीं होते, किन्तु विषय-कषायों का निग्रह करते हुए इन्द्रियों का दमन करते हैं वे श्रमण कहलाते हैं अथवा जो बाह्य आभ्यन्तर ग्रन्थियों का त्याग कर तपश्चरण करते हैं आत्म-साधनों में निष्ठ और ज्ञानी एवं विवेकी बने रहते हैं। 'श्रामयन्ति बाह्याभ्यन्तरं तपश्चरन्तीतिश्रमणः—जो शुभ क्रियाओं में अच्छे-बुरे विचारों में, पुण्य-पाप रूप परिणतियों में तथा जीवन-मरण, सुख-दुख में और आत्म-साधना से निष्पन्न परिस्थितियों में रागी द्वेषी नहीं होते प्रत्युत समभावी बने रहते हैं, वे श्रमण कहलाते हैं।

जो सुमन हैं पापरूप जिनका मन नहीं है,स्वजनों और सामान्य जनों में जिनकी दृष्टि समान रहती है। जिस तरह दुःख मुझे प्रिय नहीं है, उसी प्रकार संसार के सभी जीवों को भी प्रिय नहीं हो सकता। जो

न स्वयं मारते हैं और न दूसरों को मारने की प्रेरणा करते हैं[1] किन्तु मान-अपमान में समान बने रहते हैं, वही सच्चे श्रमण हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है कि जो श्रमण शत्रु और बन्धु वर्ग में समान वृत्ति है, सुख दुख में समान है, निन्दा-प्रशंसा में समान है, लोह और कांच समान है, जीवन मरण में समान है, वह श्रमण है। जैसा कि निम्न गाथा से स्पष्ट है :—

समसत्तु बंधु वग्गो समसुह दुक्खो पसंसणिंद-समो।
समलोट्ठकंचणो पुण जीविय मरणे समो समणो॥—प्रव० ३-४१

जो पांच समितियों, तीन गुप्तियों तथा पांच इन्द्रियों का निग्रह करने वाला है, कषायों को जीतने वाला है, दर्शन, ज्ञान से सहित है वही श्रमण संयत कहलाता है:—

पंच समिदो तिगुत्तो पंचेदिय संवुडो जिद कसाओ।
दंसण-णाण-समग्गो समणो सो संजदो भणिदो॥—प्रव० ३-४२

ऊपर जिन श्रमणों का स्वरूप दिया गया है वे ही सच्चे श्रमण हैं। अनुयोग द्वार में श्रमण पांच प्रकार के बतलाये गये हैं। निर्ग्रन्थ, शाक्य, तापस, गेरुय और आजीवक। इनमें अन्तर्बाह्य ग्रन्थियों को दूर करने वाले विषयाशा से रहित, जिनशासन के अनुयायी मुनि निर्ग्रन्थ कहलाते हैं। सुगत (बुद्ध) के शिष्य सुगत या शाक्य कहे जाते हैं। जो जटाधारी हैं, वन में निवास करते हैं, वे तापसी हैं। रक्तादि वस्त्रों के धारक दण्डी लोग कहलाते हैं। जो गोशालक के मत का अनुसरण करते हैं वे आजीवक कहे जाते हैं।[2] इन श्रमणों में निर्ग्रन्थ श्रमणों का दर्जा सबसे ऊंचा है, उनका त्याग और तपस्या भी कठोर होती है वे ज्ञान और विवेक का अनुसरण करते हैं। ऐसे सच्चे श्रमण ही श्रमण संस्कृति के प्रतीक हैं। इस श्रमण संस्कृति के आद्य प्रतिष्ठापक आदि ब्रह्मा ऋषभदेव हैं जो नाभि और मरुदेवी के पुत्र थे और

---

१. सो समणो जइ सुमणो, भावेण जइण होइ पावमणो।
समणे अजणे य समो, समो अमाणाऽवमाणेसु॥
जह मम न पियं दुक्खं जाणिय एमेव सव्व जीवाणं।
न हणइ न हणावेइय सममणई तेण सो समणो॥ अनुयोगद्वार १५०

२. निग्गंथ सक्क तावस गेरू आजीव पंचहा समणा।
तम्मिय निग्गंथाते जे जिण सासण भवा मुणिणो॥
सक्काय सुगम सिस्सा जे जडिला तेउ तावसा गीया।
जे गोसाल गमयमणु जे धाउ रत्तवत्था तिदंडिणो गेरुया तेण॥
सरंति मन्नंतितेउ आजीवा,

—अनुयोगद्वार अ० १५०

जिनके शतपुत्रों में ज्येष्ठ पुत्र भरत के नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा है।[1]

श्रमण शब्द का उल्लेख जैन साहित्य के अतिरिक्त वैदिक और बौद्ध साहित्य में हुआ है। ऋग्वेद में जिस 'वातरशना' मुनि का उल्लेख किया गया है, वह उक्त संस्कृति के संस्थापक ऋषभदेव के लिए किया गया है।

मुनयो वातरशनाः पिशंगा वसते मला।
वातस्यानुध्राजिं यान्ति यद्देवासो अविक्षत ॥
उन्मादिता मौने येन वातीं आतिस्थमा वयम्।
शरीरेस्माकं यूयं मर्तासो अभिपश्यथ ॥

(ऋग्वेद १०,१३६·२-३)

अतीन्द्रियार्थ-दर्शी वातरशना मुनि मल धारण करते हैं, जिससे वे पिंगल वर्ण दिखाई देते हैं, जब वे वायु की गति को प्राणोपासना द्वारा धारण कर लेते हैं—रोक लेते हैं—तब वे अपने तप की महिमा से दीप्यमान होकर देवता रूप को प्राप्त हो जाते हैं। सर्व लौकिक व्यवहार को छोड़कर हम मौन वृत्ति से उन्मत्तवत् (उत्कृष्ट आनन्द सहित) वायुभाव को (अशरीरी ध्यान वृत्ति को) प्राप्त होते हैं और तुम साधारण मनुष्य हमारे बाह्य शरीर मात्र को देखपाते हो, हमारे सच्चे आभ्यंतर स्वरूप को नहीं ऐसा वे वातरशना मुनि प्रकट करते हैं।

ऋग्वेद की उक्त ऋचाओं के साथ 'केशी' की स्तुति की गई है। केशी का अर्थ केशवाला जटाधारी होता है, सिंह भी अपनी केशर के द्वारा केशरी कहलाता है। ऋग्वेद के केशी और वातरशना मुनि और भागवत पुराण के उल्लिखित 'वातरशनाश्रमण' एवं उनके अधिनायक ऋषभ की साधनाओं की तुलना दृष्टव्य है। दोनों एक ही सम्प्रदाय के वाचक हैं। जैन कला में ऋषभदेव की अनेक प्राचीन मूर्तियां जटाधारी मिलती हैं। तिलोयपण्णत्ती में लिखा है—'उस गंगाकूट के ऊपर जटारूप मुकुट से सुशोभित आदि जिनेन्द्र की प्रतिमाएं हैं। उन प्रतिमाओं का मानो अभिषेक करने के लिए ही गंगा उन प्रतिमाओं के ऊपर अवतीर्ण हुई है। जैसा कि उसकी निम्न गाथा से प्रकट है:—

आदि जिण पडिमाओताओ जडमउड सेहरिलताओ।
पडिवोवरम्मि गंगा अभिसित्तुमणा व सा पडदि ॥

---

१. नाभेः पुनश्च ऋषभः ऋषभाद् भरतोऽभवत्।
तस्य नाम्नः त्विदं वर्षं भारतं चेति कीर्त्यते ॥ —विष्णु पुराण अ० १
अग्नीध्रं सूनो नाभेस्तु ऋषभोऽभूत सुतो द्विजः।
ऋषभाद् भरतोजज्ञे वीरः पुत्रशताद्वरः ॥ ३९, मार्कण्डेय पुराण अ० ५०
येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठ श्रेष्ठ गुण आसीत्।
येनेदं वर्षं भारत मिति व्यपदिशन्ति ॥ —भागवत ५-९

रविषेण के पद्मचरित (३-२८८) में "वातोद्धृता जटास्तस्य रेजुराकुलमूर्तयः।" और हरिवंश पुराण (६-२०४) में—"सप्रलम्बजटाभार भ्राजिष्णु"—रूप से उल्लेखित किया है। अपभ्रंश भाषा के 'सुकुमालचरिउ' में भी निम्न रूप से उल्लेख पाया जाता है:—

पढमुजिणवरुणविविभावेण,
जडमउड विहूसिउ विसम विण्हु मयणारिणासणु।
अमरासुर-णर-थुय-चलणु।
सत्ततच्चणवपयत्थ णवणयहि पयासणु।
लोयालोयपयासयरु जसु उप्पण्णउणाणु।
सो पणवेप्पिणु रिसहजिणु अक्खय-सोक्ख-णिहाणु।

जटा, केश, केसर ये सब एक ही अर्थ के वाचक हैं "जटासटाकेसरयोः इति मेदिनी।" इस सब कथन पर से उक्त अर्थ की पुष्टि होती है।

केशी और ऋषभ एक ही हैं। ऋग्वेद की एक ऋचा में दोनों का एक साथ उल्लेख हुआ है और वह इस प्रकार है:—

'ककर्दवे' ऋषभो युक्त आसीद् अवावचीत् सारथिरस्य केशी,
दुधर्युक्तस्य द्रवतः सहानस ऋच्छन्ति मा निष्पदो मुद्गलानीम्॥ ऋग्वेद १०,१०२,६

इस सूक्त की ऋचा की प्रस्तावना में निरुक्त में—'मुद्गलस्य हृता गाव' आदि' श्लोक उद्धृत किए गए हैं कि मुद्गल ऋषि की गायों को चोर चुराले गये थे उन्हें लौटाने के लिए ऋषि ने केशी ऋषभ को अपना सारथी बनाया, जिसके वचन मात्र से वे गौएं आगे न भागकर पीछे की ओर लौट पड़ीं इस ऋचा का भाष्य करते हुए सायणाचार्य ने केशी और वृषभ का वाच्यार्थ पृथक् बतलाया है किन्तु प्रकारान्तर से उसे स्वीकृत भी किया है—'अथवा, अस्यसारथिः सहायभूतः केशी प्रकृष्ट केशी वृषभः अवावचीत् अशमशब्दयत्" इत्यादि।

मुद्गल ऋषि के सारथी (विद्वान् नेता) केशीवृषभ जो शत्रुओं का विनाश करने के लिये नियुक्त थे, उनकी वाणी निकली, जिसके फलस्वरूप जो मुद्गल ऋषि की गौवें (इन्द्रियां) जुते हुए दुर्धर रथ (शरीर) के साथ दौड़ रही थीं, वे निश्चल होकर मौद्गलानी (मुद्गलकी स्वात्मवृत्ति) की ओर लौट पड़ीं अर्थात् मुद्गल ऋषिकी इन्द्रियां जो स्वरूप से पराङ्मुख हो अन्य विषयों की ओर भाग रही थीं वे उनके योगयुक्त ज्ञानी नेता केशी वृषभके धर्मोपदेश को सुनकर अन्तर्मुखी हो गईं—अपने स्वरूप में प्रविष्ट हो गईं।

ऋग्वेद के (४, ५८, ३) सूक्त में—"त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महादेवो मर्त्यानविवेश"—

बतलाया गया है। कि (दर्शन ज्ञान चरित्र से) अनुबद्ध वृषभने घोषणा की और वे एक महान् देव के रूप में मर्त्यों में प्रविष्ट हुए।

इस तरह वेद और भागवत तथा उपनिषदों में श्रमणों के तपश्चरण की महत्ता का जो वर्णन उपलब्ध होता है, वह महत्वपूर्ण है। और उसका सम्बन्ध ऋषभदेवकी तपश्चर्या से है। श्रमणों ने अपनी आत्म-साधना का जो उत्कृष्टतम आदर्श लोक में उपस्थित किया है तथा अहिंसा की प्रतिष्ठा द्वारा जो आत्म-निर्भयता प्राप्त की, उससे श्रमण संस्कृति का गौरव सुरक्षित है। श्रमण-संस्कृति ने जो भारत को अपूर्व देन दी है वह है अहिंसा, समता और अपरिग्रह। भारतीय सन्त परम्पराने इनके द्वारा ही अपने को यशस्वी बनाया है। भगवान् ऋषभदेव सन्तपरम्परा एवं श्रमण संस्कृति के आद्य संस्थापक थे। वही आद्ययोगी, आदि ब्रह्मा, हिरण्य गर्भ और जातवेदस आदि नामों से पुकारे जाते थे। और वही विधाता एवं प्रजापति थे। गृहस्थ अवस्था में उन्होंने ग्राम नागरिक की व्यवस्था की थी, और प्रजा जीवन के लिये असि मसि कृषि वाणिज्य और शिल्पादि कर्मों की शिक्षा दी थी। इस कारण वे प्रजापति कहलाते थे[१]। उन्होंने त्रेसठलाख वर्ष पूर्व तक राज्य किया था।

ऋषभदेव का वैराग्य

एक दिन भगवान ऋषभदेव राजसभा में सिंहासन पर विराजमान थे। उस समय नीलांजना नाम की अप्सरा नृत्य कर रही थी। अचानक नृत्य करते हुए नीलांजना का शरीरपात हो गया, इस आकस्मिक घटना से उनका चित्त विरक्त हो गया। और उन्होंने तुरन्त ही राजपुत्रों को राज्यभार सोंपकर और वस्त्राभूषणों का परित्याग कर दीक्षा ले ली, और छह महीने की समाधि लगाकर कायोत्सर्ग में स्थिर होगए। उनकी देखादेखी अनेक राजाओं ने भी दीक्षा ली, किन्तु वे भूख-प्यास के कष्ट न सह सके और तप से भृष्ट हो गए। छह महीने बाद जब समाधि भंग हुई, तब उन्होंने आहार के लिये विहार किया। उनके प्रशान्त नग्नरूप को देखने के लिये जनता उमड़ पड़ी, कोई उन्हें वस्त्र भेंट करता था, कोई आभूषण, कोई हाथी घोड़े लाकर उनकी सेवा में उपस्थित होता था परन्तु उन्हें भिक्षा देने की विधि कोई नहीं जानता था, इस कारण उन्हें घूमते हुए छह महीने और बीत गये।

इसी तरह घूमते घामते वे एक दिन हस्तिनागपुर जा पहुंचे। वहां का सोमवंशी राजा श्रेयांस बड़ा दानी था। उसने भगवान् का बड़ा आदर सत्कार किया और आदर पूर्वक प्रतिगृह करके बोला, हे भगवन्, यह इक्षुरस प्रासुक है, निर्दोष है, इसे आप स्वीकार कीजिये। तब भगवान ने खड़े होकर अपनी अन्जली में रस लेकर पिया। उस दिन वैशाख सुदी तीज का दिन था इस कारण यह तिथि अखती या अक्षय तृतिया कहलाती है, आहार कर भगवान वन को चले गए, और ध्यान में लीन हो गए। उनका तपस्वी जीवन कठोर साधना का केन्द्र बना हुआ था। तपश्चर्या एवं योग साधना में निरत ऋषभ-

१. प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषु शशासकृष्यादिषुकर्मसु प्रजाः। —स्वयं० स्तो०

वेष के केश बढ गए थे। शरीर धूल धूसरित (मलिन) हो गया था, परन्तु योग साधना उनकी चरम सीमा को पहुंच चुकी थी। उन्होंने द्वादशतपों का अनुष्ठान मौनपूर्वक किया था। शरीर कृश हो गया था, किन्तु आत्मतेज बढ़ गया था। उनकी आत्म-साधना मुक्ति प्रसाधक थी। उनके इस तपस्वी जीवन का भागवत की निम्न पंक्तियों से तुलना करने योग्य है।

'उर्वरित-शरीरमात्र-परिग्रह उन्मत्त इव गगन-परिधान: प्रकीर्णकेश: आत्मन्यारोपिताह्वनीयो ब्रह्मावर्तात् प्रवव्राज । जडान्धमूक-बधिरपिशाचोन्मादकवद अवधूतवेशो अभिभाष्य माणोऽपि जनानां गृहीत मौनव्रत: तूष्णीं बभूव ।.............परागवलम्ब्यमान कुटिल-जटिल-कपिश-केश-भूरि-भार: अवधूत-मलिननिजशरीरेण ग्रहगृहीत इवादृश्यत् । (भा० पु० ५-६, २८-३१)

ऋषभ भगवान के शरीर मात्र परिग्रह बच रहा था वे उन्मत्त के समान दिगम्बर वेषधारी बिखरे हुए केशों सहित आह्वनीय अग्नि को अपने में धारण करके ब्रह्मावर्त देश से प्रव्रजित हुए। वे जड़, अन्ध, मूक बधिर, पिशाचोन्माद युक्त जैसे अवधूत वेषमें लोगों के बुलाने पर भी मौनवृत्ति धारण किये हुए चुप रहते थे।............सब ओर लटकते हुए अपने कुटिल, जटिल कपिश केशों के भार सहित अव-धूत और मलिन शरीर सहित वे ऐसे दिखाई देते थे, जैसे मानों उन्हें भूत लगा हो।

भागवत के अनुसार ऋषभदेव का जन्म ही वातरशना (नग्न) श्रमणों के धर्म का उपदेश करने के लिये हुआ था। जैसाकि उसके निम्न वाक्यों से प्रकट है :—

बर्हिषि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त भगवान परमर्षिभि: प्रसादितो नाभे: प्रियचिकीर्षया तदवरोधापने मरुदेव्यांधर्मान् दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तनुवावततार (भा० ५, ३, २०)

ऋषभदेव ने एक हजार वर्ष तक तपश्चरण किया था और तपश्चरण द्वारा आत्म-शोधन होने से पूर्णज्ञान प्राप्त किया था। और समवसरण सभा में लोक कल्याणार्थ धर्म का उपदेश दिया था। उन्होंने अनेक देशों में बिहार कर जनता को आत्म मार्ग में लगाया था। उन परमयोगी के उपदेश का ही यह महत्व था कि श्रमण संस्कृति का लोक गौरव बड़ा, और उनके धर्मतीर्थ का प्रवर्तन बहुत काल अवच्छिन्न चलता रहा। इसी कारण वेदों में भी उनकी स्तुति की गई। वे ही आद्य संयमी थे। भागवत के अनुसार वे ही आर्हत धर्म (जैनधर्म) के उपदेष्टा थे। जैन ग्रन्थों में उनकी तपश्चर्या और जीवनचर्या का महत्व-पूर्ण उल्लेख मिलता है।

इस तरह ऋषभदेव श्रमण संस्कृति के आद्य प्रणेता थे। उनके बतलाये हुए मार्ग का आज भी पालन हो रहा है। इससे उनकी महत्ता का मूल्य आंका जा सकता है।

निश्चय और व्यवहार मोक्ष-मार्ग का विश्लेषण

श्री पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्य बीना, अध्यक्ष भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्

जैनागम की व्यवस्था यह है कि प्रत्येक जीव अनादि काल से संसारी बनकर ही रहता आया है परन्तु संसार प्राप्त संपूर्ण जीवों में बहुत से ऐसे भी जीव हो गये हैं जिन्होंने अनादिकालीन अपने उस संसार को समाप्त कर दिया है और उनमें आज भी बहुत से ऐसे जीव हैं जो अपने अन्दर उस अनादि कालीन संसार को समाप्त करने की सामर्थ्य[1] छिपाये हुए हैं।

संसार की परिसमाप्ति जीव के साथ अनादिकाल से ही सम्बद्ध ज्ञानावरणादि आठ द्रव्यकर्मों शरीरादि नोकर्मों और इनके निमित्त से जीव में उत्पन्न होने वाले भाव कर्मों का समूलक्षय हो जाने पर हुआ करती है। इस तरह कहना चाहिये कि उक्त संपूर्ण कर्मों के समूल क्षय हो जाने अथवा यों कहिये, कि उक्त संपूर्ण कर्मों से जीव द्वारा सर्वथा छुटकारा पा जाने का नाम मोक्ष जानना चाहिये।[2]

जैनागम में यह भी बतलाया गया है कि जीवों को मोक्ष की प्राप्ति सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की उपलब्धि हो जाने पर ही संभव है[3] अतः वहां पर यह और बतला दिया गया है कि उक्त सम्यग्दर्शन आदि तीनों का समाहार ही मोक्ष का मार्ग है।[4] चूंकि मोक्षमार्ग स्वरूप उक्त

१— शुद्ध्यशुद्धी पुनः शक्ति ते पाक्यापाक्यशक्तिवत्।
साद्यानादी तयोर्व्यक्ती स्वभावोऽतर्कगोचरः ॥१००॥ (आप्तमीमांसा)
जीवभव्याभव्यत्वानिच ॥२-७॥ (तत्त्वार्थसूत्र)

२— बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः ॥१०-२॥ (तत्त्वार्थसूत्र)

३— जहणाम कोवि पुरुषो रायाणं जाणिऊण सद्दहदि।
तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्तीओ पयत्तेण ॥१७॥
एवं हि जीवराया णादव्वो तहय सद्दहेदव्वो।
अणुचरिदव्वो य पुणो सोचेव दु मोक्खकामेण ॥१८॥ (समयसार)

४— सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥१-१॥ (तत्त्वार्थसूत्र)
सम्मत्तणाणजुत्तं चारित्तं रागदोसपरिहरणं।
मोक्खस्स हवदि मग्गो भव्वाणं लद्धबुद्धीणं ॥१०६॥ (पंचास्तिकाय)

सम्यग्दर्शनादिक तीनों निश्चय तथा व्यवहार के भेद से दो-दो भेद रूप होते हैं अतः इस आधार पर मोक्षमार्ग को भी निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्ष-मार्ग के रूप में दो भेद रूप जान लेना चाहिये।[1]

इससे यह सिद्धान्त फलित होता है कि जीव को मोक्ष की प्राप्ति व्यवहार सम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहारसम्यक्चारित्र रूप व्यवहार मोक्षमार्ग तथा निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान और निश्चयसम्यक्चारित्र रूप निश्चय मोक्षमार्ग दोनों का अवलम्बन प्राप्त होने पर ही हुआ करती है।[2] इतना अवश्य है कि निश्चय सम्यग्दर्शनादि रूप निश्चय मोक्षमार्ग तो मोक्ष का साक्षात् कारण होता है और व्यवहार सम्यग्दर्शनादिरूप व्यवहार मोक्षमार्ग उसका परंपरया अर्थात् निश्चय मोक्षमार्ग का कारण होकर कारण होता है।[3]

श्रद्धेय पंडितप्रवर दौलतरामजी ने छहढाला की तीसरी ढाल के प्रारम्भ में इस विषय पर संक्षेप से बहुत ही सुन्दर प्रकाश डाला है और वह निम्न प्रकार है—

"आतम को हित है सुख, सो सुख आकुलता बिन कहिये।
आकुलता शिव माहिं न, तातें शिवमग लाग्यो चहिये।।
सम्यग्दर्शन ज्ञान चरण शिवमग, सो दुविध विचारो।
जो सत्यारथ रूप सो निश्चय, कारण सो ववहारो।।१।।"

इस पद्य में श्रद्धेय पंडितजी ने यह कहा है कि आत्मा का हित सुख है। वह सुख जीव में आकुलता का अभाव होने पर उत्पन्न होता है। उस आकुलता का अभाव भी मोक्ष में ही है अतः जीवों को मोक्ष के मार्ग में प्रवृत्त होना चाहिये। मोक्ष का मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप है व यह सम्यग्दर्शनादि रूप मोक्षमार्ग निश्चय तथा व्यवहार के भेद से दो प्रकार का होता है अर्थात्

१— धम्मादी सद्दहणं सम्मत्तं णाणमंगपुव्वगदं।
चिट्ठातवं हि चरिया ववहारो मोक्खमग्गोत्ति।।१६०।।
णिच्छयणयेण भणिदो तिहिं तेहिं समाहिदो हु जो अप्पा।
ण कुणदि किंचिवि अण्णं ण मुयदि सोमोक्ख मग्गोत्ति।।१६१।। (पंचास्तिकाय)

२— निश्चयव्यवहारमोक्षकारणे सति मोक्ष-कार्यं सम्भवति। (पंचा० का० गा० १०६ की टीका में आ० जयसेन)

३— निश्चयव्यवहारयोः साध्यसाधनभावत्वात्। (पंचास्तिकाय गाथा १६० की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र) निश्चयमोक्षमार्गसाधनभावेन पूर्वोद्दिष्टव्यवहारमोक्षमार्गनिर्देशोऽयम्।
(पंचास्तिकाय गा० १६२ की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र)
व्यवहारमोक्षमार्गसाध्यभावेन निश्चयमोक्षमार्गोपन्यासोऽयम्।
(पंचास्तिकाय गाथा १६३ की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र)
साधको व्यवहारमोक्षमार्गः साध्यो निश्चयमोक्षमार्गः। (परमात्मप्रकाश टीका पृष्ठ १४२)

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों व्यवहाररूप भी होते हैं और निश्चयरूप भी होते हैं। इस तरह कहना चाहिये कि जो सम्यग्दर्शनादिक निश्चय रूप होते हैं वे निश्चय-मोक्षमार्ग में गर्भित होते हैं और जो सम्यग्दर्शनादिक व्यवहार-रूप होते हैं वे व्यवहार-मोक्षमार्ग में गर्भित होते हैं। इनमें से जो मोक्षमार्ग मोक्ष का साक्षात् कारण होता है वह निश्चय-मोक्षमार्ग है और जो मोक्षमार्ग निश्चय मोक्षमार्ग का कारण होता है वह व्यवहार-मोक्षमार्ग है।

इस लेख में हम मुख्यतया इसी विषय को स्पष्ट करना चाहते हैं इसलिये यहां पर हम सर्व प्रथम निश्चयसम्यग्दर्शनादिरूप निश्चय-मोक्षमार्ग तथा व्यवहारसम्यग्दर्शनादिरूप व्यवहार-मोक्षमार्ग के स्वरूप का प्रतिपादन कर रहे हैं।

निश्चय सम्यग्दर्शनादि रूप निश्चय मोक्षमार्ग का स्वरूप

निश्चयसम्यग्दर्शनादि रूप निश्चय मोक्षमार्ग का स्वरूप प्रतिपादन करने के लिये भी श्रद्धेय पं० दौलतरामजी के छहढाला की तीसरी ढाल का निम्नलिखित पद्य पर्याप्त है।

"परद्रव्यनतें भिन्न आप में रुचि सम्यक्त्व भला है।
आप रूप को जानपनो सो सम्यग्ज्ञान कला है।।
आप रूप में लीन रहे थिर सम्यक् चारित सोई।
अब ववहार मोख मग सुनिये हेतु नियत को होई।।२।।

इस पद्य का आशय यह है कि समस्त चेतन-अचेतन रूप पर पदार्थों की ओर से मुड़ कर अपने आत्म स्वरूप की प्राप्ति की ओर जीव की अभिरुचि (उनमुखता या झुकाव) हो जाने का नाम निश्चय सम्यग्दर्शन है, जीव को अपने आत्मस्वरूप का ज्ञान हो जाने का नाम निश्चय सम्यग्ज्ञान है और बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक होने वाली कषायजन्य पाप व पुण्य रूप समस्त प्रकार की प्रवृत्तियों से निवृत्ति पाकर जीव का अपने आत्मस्वरूप में लीन हो जाना ही निश्चय सम्यक्चारित्र है।

इस पद्य के अन्तिम चरण में श्रद्धेय पंडितजी ने संकेत किया है कि आगे संपूर्ण छहढाला में निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान और निश्चय सम्यक्चारित्र रूप निश्चय मोक्षमार्ग के कारणभूत व्यवहार सम्यग्दर्शन, व्यवहार सम्यग्ज्ञान और व्यवहार सम्यक् चारित्र रूप व्यवहार मोक्षमार्ग का विवेचन किया जायगा। इस तरह पंडित दौलतरामजी के द्वारा छहढाला में किये गये विवेचन के अनुसार व्यवहार मोक्षमार्ग रूप व्यवहार सम्यग्दर्शन, व्यवहार सम्यग्ज्ञान और व्यवहार सम्यक्चारित्र का जो स्वरूप निर्धारित होता है उसका यहां पर कथन किया जाता है।

व्यवहार सम्यग्दर्शन का स्वरूप—

जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष नाम के सात तत्वों के प्रति जीव के

अन्त:करण में श्रद्धा अर्थात् इनके स्वरूपादि की वास्तविकता के सम्बन्ध में ज्ञान की दृढ़ता (आस्तिक्य भाव) जाग्रत हो जाने का नाम व्यवहार सम्यग्दर्शन है। इसके आधार पर ही जीवों को उपर्युक्त निश्चय सम्यग्दर्शन की उपलब्धि हुआ करती है।

आचार्य उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र में व स्वामी समन्तभद्र के रत्नकरण्डश्रावकाचार में सम्यग्दर्शन का जो स्वरूप उपलब्ध होता है वह व्यवहार सम्यग्दर्शन का ही स्वरूप है। यद्यपि उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र में उपर्युक्त सात तत्त्वों के श्रद्धान का नाम ही सम्यग्दर्शन कहा है[1] लेकिन स्वामी समन्तभद्र के रत्नकरण्डश्रावकाचार में सम्यग्दर्शन का लक्षण इस रूप में बतलाया है कि परमार्थ अर्थात् वीतरागता के आदर्श देवों, परमार्थ अर्थात् वीतरागता के पोषक शास्त्रों और परमार्थ अर्थात् वीतरागता के मार्ग में प्रवृत्त, गुरुओं के प्रति जीव के अन्त:करण में भक्ति का जागरण हो जाना सम्यग्दर्शन है,[2] अतः तत्त्वार्थसूत्र और रत्नकरण्डश्रावकाचार में प्रतिपादित सम्यग्दर्शन के इन लक्षणों में उपर्युक्त प्रकार से यद्यपि भेद दिखाई देता है परन्तु गहराई से विचार करने पर मालूम हो जाता है कि रत्नकरण्डश्रावकाचार में प्रतिपादित लक्षण से भी निष्कर्ष के रूप में जीव के अन्त:करण में उपर्युक्त सात तत्वों के प्रति आस्तिक्यभाव की जागृति हो जाना ही सम्यग्दर्शन का स्वरूप निश्चित होता है।

व्यवहार सम्यग्ज्ञान का स्वरूप—

वीतरागता के पोषक अथवा सप्ततत्वों के यथावस्थित स्वरूप के प्रतिपादक आगम का श्रवण, पठन, पाठन, अभ्यास, चिन्तन और मनन का नाम व्यवहार सम्यग्ज्ञान है। इस प्रकार के व्यवहार सम्यग्ज्ञान के आधार पर ही जीवों को समस्त वस्तुओं के और विशेष कर आत्मा के स्वत:सिद्ध स्वरूप का बोध होता है। जैसे आत्मा का स्वत:सिद्ध स्वरूप ज्ञायकपना[3] अर्थात् समस्त पदार्थों को देखने जानने की शक्ति रूप है। चूंकि यह स्वरूप स्वत:सिद्ध है अत: यह आत्मा के अनादि, अनिधन, स्वाश्रित और अखण्ड (स्वरूप के साथ तादात्म्य को लिए हुए) अस्तित्व को सिद्ध करता है।[4] हमें आत्मा के इस तरह के स्वरूप को समझने में उपर्युक्त प्रकार के आगम का श्रवण, पठन, पाठन अभ्यास चिन्तन और मनन सहायक होता है।

१— तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥१-२॥,
जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ॥१-४॥ (तत्त्वार्थसूत्र)

२— श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥४॥ (रत्नकरण्ड श्रा०)

३— णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओदुभावो।
एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सो उसो चेव ॥६॥ (समयसार)

४— तत्त्वं सल्लाक्षणिकं सन्मात्रं वा यत: स्वत: सिद्धम्।
तस्मादनादिनिधनं स्वसहायं निर्विकल्पंच ॥८॥ (पंचाध्यायी)

विचार कर देखा जावे तो सम्यग्दर्शन प्राप्त होने से पूर्व ही इस प्रकार के सम्यक् अर्थात् वीतरागता के पोषक ज्ञान को प्राप्त करने की प्रत्येक जीव के लिये आवश्यकता है। आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार की गाथा १८* से भी वही संकेत प्राप्त होता है क्योंकि उसमें बतलाया है कि पहले आत्मारूपी राजा की पहिचान करो, फिर उसका श्रद्धान अर्थात् आश्रयण करो और तत्पश्चात् उसके अनुकूल आचरण करो तो मोक्ष की प्राप्ति होगी। इस तरह मोक्षमार्ग में यद्यपि सम्यग्दर्शन से पूर्व ही सम्यग्ज्ञान को स्थान देना चाहिये परन्तु वहां पर इसको जो सम्यग्दर्शन और सम्यक्-चारित्र के मध्य में स्थान दिया गया है इसका एक कारण तो यह है कि जीव को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाने पर ही उस के उक्त प्रकार के ज्ञान की सम्यक्रूपता अर्थात् सार्थकता सिद्ध होती है और दूसरा कारण यह है कि जीव को उसकी (उक्त प्रकार के ज्ञान की) उपयोगिता मध्यदीपक न्याय से सम्यग्दर्शन की तरह सम्यक्-चारित्र पर आरूढ़ होने के लिए भी सिद्ध होती है।[1] इसके अतिरिक्त एक तीसरा कारण यह भी है कि मोक्षमार्ग के रूप में सम्यग्दर्शन की पूर्ति सर्वप्रथम अर्थात् चतुर्थगुणस्थान से लेकर अधिक से अधिक सप्तम-गुणस्थान तक नियम से हो जाती है, सम्यग्ज्ञान की पूर्ति उसके बाद तेरहवें गुणस्थान के प्रथम समय में होती है और सम्यक्चारित्र की पूर्ति सम्यग्ज्ञान की पूर्ति के अनन्तर चौदहवें गुणस्थान के अन्त समय में ही हुआ करती है। इस विषय को आगे स्पष्ट किया जायगा।

व्यवहार सम्यक्चारित्र का स्वरूप—

बुद्धिपूर्वक और अबुद्धि पूर्वक होने वाली समस्त कषाय जन्य पाप और पुण्य रूप प्रवृतियों से निवृत्ति पाकर अपने आत्म स्वरूप में लीन (स्थिर) होनेरूप निश्चय सम्यक्चारित्र की प्राप्ति के लिए यथाशक्ति अणुव्रत, महाव्रत, समिति, गुप्ति, धर्म और तप आदि क्रियाओं में जीव की प्रवृत्ति होने लग जाना व्यवहार सम्यक्चारित्र है।

उक्त प्रकार के निश्चय सम्यक्चारित्र का अपर नाम यथाख्यातचारित्र है तथा उसे वीत-राग चारित्र भी कहते हैं[2]। उसकी प्राप्ति जीव को यद्यपि उपशम श्रेणी पर आरूढ़ होकर ११ वें गुण-स्थान में पहुंचने पर भी होती है और क्षपक श्रेणी पर आरूढ होकर १२ वें गुणस्थान में पहुंचने पर भी होती है परन्तु ११ वें गुणस्थान और १२ वें गुणस्थान के निश्चय सम्यक्-चारित्र में परस्पर अन्तर पाया जाता है। अर्थात् उपशमश्रेणी पर आरूढ़ होकर ११वें गुणस्थान में पहुंचने वाला जीव अन्तर्मुहूर्त के

---

* एवं हि जीवराया णादव्वो तहंय सद्दहेदव्वो।
अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण ॥

१. मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः।
रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः ॥ ६७ ॥ (रत्नकरंड श्रा०)

२. चारित्तं खलु धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हि समो ॥ ७ ॥ (प्रवचनसार)

अल्पकाल में ही पतन की ओर उन्मुख हो जाता है और तब उसका वह निश्चय सम्यक्चारित्र भी उसी समय समाप्त हो जाता है। इसके विपरीत क्षपक श्रेणी पर आरूढ होकर १२ वें गुणस्थान में पहुंचने वाला जीव कदापि पतन की ओर उन्मुख नहीं होता इसलिए उसका वह निश्चय सम्यक्चारित्र भी स्थायी रहा करता है साथ ही वह जीव अन्तर्मुहूर्त के अल्पकाल में ही १२ वें गुणस्थान से १३ वें गुणस्थान में पहुंच कर नियम से सर्वज्ञता को प्राप्त कर लेता है। मोक्ष-मार्ग के प्रकरण में मुख्यरूप से १२ वें गुण-स्थान में प्राप्त होने वाले स्थायी निश्चय चारित्र को ही ग्रहण किया गया है।

यहां पर एक बात हम यह कह देना चाहते हैं कि उपर्युक्त निश्चय सम्यक्चारित्र की प्राप्ति के लिए ही चतुर्थ गुणस्थान का अविरत सम्यग्दृष्टि जीव मुमुक्षु होकर पुरुषार्थ करके पांचवें गुणस्थान में अणुव्रत धारण करता है तथा इससे भी आगे बढ़कर छठे गुणस्थान में वह महाव्रत धारण करता है। इतना ही नहीं, घोर तपश्चरण करके आगे बढ़ता हुआ वह सातवें गुणस्थान में शुद्धोपयोग की भूमिका को प्राप्त होकर आत्म परिणामों की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई यथायोग्य विशुद्धि के अनुसार उपशमश्रेणी पर आरूढ़ होता है या क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होता है। इस तरह कहना चाहिये कि जब तक उस जीव को उक्त निश्चय सम्यक्चारित्र की प्राप्ति नही हो जाती है तब तक वह पांचवें और छठे गुणस्थानों में बुद्धिपूर्वक और सातवें से लेकर दशवें तक के गुणस्थानों में अबुद्धिपूर्वक उपर्युक्त व्यवहार 'सम्यक्चारित्र में ही प्रवृत्त रहता है। इस व्यवहार सम्यक्चारित्र का भी अपर नाम संक्षेप से सराग चारित्र और विस्तार से सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसांपरायरूप चारित्र है।

यद्यपि अणुव्रत और महाव्रत तथा समिति, गुप्ति, धर्म एवं तपश्चरण आदि बाह्यक्रियायें उस उस कषाय के उदय और अनुदय के अनुसार पूर्वोक्त सम्यग्दर्शन से रहित कोई कोई मिथ्यादृष्टि जीव भी करने लगते हैं। इतना ही नहीं, इन क्रियाओं को संलग्नता पूर्वक करने पर उनमें से कोई कोई जीव यथा-संभव स्वर्ग में नववें ग्रैवेयक तक जन्म भी धारण कर लेते हैं परन्तु इतनी बात अवश्य है कि इन क्रियाओं की निश्चय सम्यक्चारित्र की प्राप्ति पूर्वक मोक्ष प्राप्तिरूप सार्थकता उक्त सम्यग्दर्शन के प्राप्त होने पर ही हुआ करती है अन्यथा नहीं, क्योंकि जीव जब तक मिथ्यादृष्टि बना रहता है तब तक उसके अनन्ता-नुबन्धी कषाय का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम न हो सकने के कारण यथायोग्य अप्रत्याख्यानावरण तथा प्रत्याख्यानावरण कषायों का क्षयोपशम होना असम्भव ही रहा करता है जब कि अणुव्रत और महा-व्रत रूप व्यवहार सम्यक्चारित्र यथायोग्य इन कषायों का क्षयोपशम होने पर ही जीव को प्राप्त हुआ करता है।

इसका अभिप्राय यह है कि जब जीव के अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय समाप्त होकर प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय कार्यरत हो जाता है तब वह जीव व्यवहार सम्यक्चारित्र के रूप में

अणुव्रतों को धारण करता है [1] और जब जीव के अप्रत्याख्यानावरण कषाय के साथ साथ प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय भी समाप्त होकर मात्र संज्वलन कषाय व नोकषाय का उदय कार्यरत हो जाता है तब वह जीव व्यवहार सम्यक् चारित्र के रूप में महाव्रत धारण करता है। [2] यह स्थिति अनन्तानुबन्धी कषाय के उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम के अभाव में मिथ्यादृष्टि जीव के कदापि संभव नहीं है अतः उसके (मिथ्यादृष्टि जीव के) यथायोग्य कषाय के अनुदय के साथ साथ यथायोग्य कषाय के उदय में बाह्यक्रिया के रूप में अणुव्रत, महाव्रत आदि की स्थिति का होना तो संभव है लेकिन जब तक उस जीव को सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हो जाता है तब तक अनन्तानुबन्धी कषायका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम न हो सकने के कारण यथायोग्य अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायों की उदय समाप्ति असंभव होने से अणुव्रत, महाव्रत आदि की स्थिति को व्यवहार सम्यक्चारित्र का रूप प्राप्त होना संभव नहीं है।

यहां पर यह भी ध्यान रखना चाहिये कि जीव को सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाने पर नियम से अनन्तानुबन्धी कषायका उपशम क्षय अथवा क्षयोपशम हो जाने पर भी सामान्यतया यह नियम नहीं है कि उसके अणुव्रत अथवा महाव्रत रूप व्यवहार सम्यक्चारित्र अथवा अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरण कषायों की उदयसमाप्ति हो ही जाना चाहिये किंतु नियम यह है कि जिस सम्यग्दृष्टि जीव के अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरण कषायों का उदय समाप्त हो जाता है उसके ही यथायोग्य अणुव्रत व महाव्रत रूप व्यवहार सम्यक्चारित्र की स्थिति उत्पन्न होती है शेष सम्यग्दृष्टि जीव तब तक अव्रती ही रहा करते हैं जब तक उनके अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरण कषायों का उदय समाप्त नहीं हो जाता है।

निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग रूप सम्यग्दर्शनादिक का यह सम्पूर्ण विवेचन हमने चरणानुयोग की दृष्टि से ही किया है। इस तरह इस विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि चरणानुयोग में सम्यग्दर्शनादि रूप निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्ग के रूप में जो दो प्रकार के मोक्षमार्ग का कथन किया गया है उसका आशय निश्चय मोक्षमार्ग को तो मोक्ष का साक्षात् कारण बतलाना है और व्यवहार मोक्षमार्ग को उसका (मोक्षका) परंपरया अर्थात् निश्चय मोक्षमार्ग का कारण होकर कारण बतलाना है। इसी प्रकार उसका आशय निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान और निश्चय सम्यक्चारित्र को तो कार्यरूप तथा व्यवहार सम्यग्दर्शन, व्यवहार सम्यक्चारित्र को क्रमशः उन निश्चय सम्यग्दर्शनादिक का कारण रूप बतलाना ही है।

इससे हमें यह शिक्षा प्राप्त होती है कि मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रत्येक जीवको मोक्ष के

---

१. पच्चक्खाणुदयादो संजमभावो ण होदि णवरिं तु।
थोव वदो होदितदो देसवदो होदि पंचमओ ॥ ३० ॥ (गो० जीवकाण्ड)

२. संजलणणोकसायाणुदयादो संजमो हवे जम्हा।
मलजणणपमादोविय तम्हाहु पमत्तबिरदो सो ॥ ३१ ॥ (गो० जीवकाण्ड)

साक्षात् कारणभूत निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान और निश्चय सम्यक्चारित्र की तथा इन निश्चय सम्यग्दर्शनादिक की प्राप्ति के लिए व्यवहार सम्यग्दर्शन, व्यवहार सम्यग्ज्ञान और व्यवहार सम्यक् चारित्र की अनिवार्य आवश्यकता है। इस तरह दो प्रकार के मोक्षमार्ग की मान्यता उचित ही है अनुचित नहीं है।

अब यदि कोई व्यक्ति निश्चय मोक्षमार्गरूप निश्चय सम्यग्दर्शनादिक की प्राप्ति के बिना ही केवल व्यवहार मोक्षमार्ग रूप व्यवहार सम्यग्दर्शनादिक के आधार पर ही मोक्ष प्राप्ति की मान्यता रखते हैं तो वे गलती पर हैं कारण कि फिर तो व्यवहार सम्यग्दर्शनादिक को व्यवहार मोक्षमार्ग कहना ही असंगत होगा क्योंकि इस मान्यता में वे व्यवहार सम्यग्दर्शनादिक मोक्ष के साक्षात् कारण हो जाने से निश्चय मोक्षमार्ग रूप ही हो जावेंगे।

इस कथन का तात्पर्य यह है कि निश्चय मोक्षमार्ग या निश्चय सम्यग्दर्शनादिक में पठित निश्चय शब्द हमें निश्चय मोक्षमार्ग या निश्चय सम्यग्दर्शनादिक में मोक्ष की साक्षात् कारणता का बोध कराता है और व्यवहार मोक्षमार्ग अथवा व्यवहार सम्यग्दर्शनादिक में पठित व्यवहार शब्द हमें व्यवहार मोक्षमार्ग अथवा व्यवहार सम्यग्दर्शनादिक में मोक्ष की परंपरयाकारणता का अर्थात् निश्चय मोक्षमार्ग अथवा निश्चय सम्यग्दर्शनादि की कारणता पूर्वक मोक्ष की कारणता का बोध कराता है। हमारे इस कथन की पुष्टि, आगम में जो पूर्वोक्त प्रकार निश्चय मोक्षमार्ग या निश्चय सम्यग्दर्शनादिक को साध्यरूप या कार्यरूप तथा व्यवहार मोक्षमार्ग या व्यवहार सम्यग्दर्शनादिक को साधनरूप या कारणरूप प्रतिपादित किया गया है, उससे हो जाती है।

इसी प्रकार जो व्यक्ति ऐसा कहते हैं कि जीव को मोक्ष की प्राप्ति तो निश्चय मोक्ष-मार्ग या निश्चय सम्यग्दर्शनादिक की उपलब्धि हो जाने पर ही होनी है अतः हमें व्यवहार मोक्ष-मार्ग या व्यवहार सम्यग्दर्शनादिक पर लक्ष्य न देकर निश्चय मोक्षमार्ग या निश्चय सम्यग्दर्शनादिक के ऊपर ही लक्ष्य देना चाहिये, तो ऐसे व्यक्ति भी गलती पर हैं क्योंकि वे इस बात को नहीं समझ पा रहे हैं कि जीव जब तक व्यवहार मोक्ष मार्ग पर आरूढ़ नहीं होगा तब तक उसे निश्चय-मोक्ष मार्ग की उपलब्धि होना संभव नहीं है क्योंकि यह बात पूर्व में स्पष्ट की जा चुकी है कि मोक्षमार्ग के अंग भूत निश्चय सम्यक्चारित्र की उपलब्धि जीव को उपशम श्रेणी पर आरुढ़ होने के अनन्तर अस्थायी रूप में तो ११वें गुणस्थान में पहुंचने पर होती है तथा स्थायीरूप में क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होने के अनन्तर १२ वें गुणस्थान में पहुंचने पर होती है। इस प्रकार कहना चाहिये कि जीव पंचम गुणस्थान से लेकर जब तक उपशम या क्षपक श्रेणी माडकर ११ वें या १२ वें गुणस्थान में नहीं पहुंच जाता तब तक अर्थात् १० वें गुणस्थान तक उसके पूर्वोक्त व्यवहार सम्यक्चारित्र ही रहा करता है। इससे एक यह मान्यता भी खण्डित हो जाती है कि व्यवहार मोक्ष-मार्ग पर आरूढ़ हुए बिना ही निश्चय मोक्षमार्ग की प्राप्ति जीव को हो जाती है, क्योंकि प्रत्येक जीव जब यथायोग्य गुणस्थान क्रम से आगे बढ़ता हुआ ही ११ वें गुणस्थान में

अथवा १२वें गुणस्थान में पहुंच सकता है जहां कि निश्चय सम्यक्चारित्र की उपलब्धि उसे होती है तो इससे यह बात निश्चित हो जाती है कि व्यवहार मोक्ष मार्ग पर आरूढ़ हुए बिना निश्चय मोक्षमार्ग की उपलब्धि कदापि जीव को संभव नहीं है।

हमारे इस कथन से एक मान्यता यह भी खण्डित हो जाती है कि जिस जीव को निश्चय सम्यक्चारित्र की प्राप्ति हो जाती है उसके व्यवहार सम्यक्चारित्र अनायास ही हो जाता है उसे उसकी प्राप्ति के लिये पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता है। हमारे उपर्युक्त कथन से इस मान्यता के खण्डित होने में एक आधार यह भी है कि आगम में व्यवहार सम्यक्चारित्र को निश्चय सम्यक्चारित्र में कारण बतलाया गया है इस तरह कारण होने की वजह से जब जीव में व्यवहार सम्यक्चारित्र का निश्चय सम्यक्चारित्र रूप कार्य के पूर्व सद्भाव रहना आवश्यक है तो इस स्थिति में फिर यह बात कैसे संगत कही जा सकती है "कि जिस जीव को निश्चय सम्यक्चारित्र की प्राप्ति हो जाती है उसके व्यवहार सम्यक्चारित्र अनायास ही हो जाता है उसे उसकी प्राप्ति के लिये पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता है?" इस विषय में दूसरा आधार यह भी है कि जो व्यक्ति व्यवहार मोक्षमार्ग या व्यवहार सम्यग्दर्शनादिक के ऊपर लक्ष्य न देकर केवल निश्चय मोक्ष मार्ग या निश्चय सम्यग्दर्शनादिक के ऊपर लक्ष्य देने की बात कहते हैं वे भी निश्चय मोक्षमार्ग या निश्चय सम्यक् दर्शनादिक की उपलब्धि के लिये पुरुषार्थ करने का उपदेश जीवों के देते हैं तो इसका आशय यही होता है कि प्रत्येक जीव को निश्चय मोक्षमार्ग या निश्चय सम्यग्दर्शनादिक की उपलब्धि के लिए व्यवहार मोक्षमार्ग या व्यवहार सम्यग्दर्शनादिक की प्राप्ति का ही प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि निश्चय मोक्षमार्ग या निश्चय सम्यग्दर्शनादि की उपलब्धि के लिये जो भी प्रयत्न किया जायगा वह प्रयत्न व्यवहार मोक्षमार्ग या व्यवहार सम्यग्दर्शनादिक के अलावा और कुछ नहीं होगा। अर्थात् उस प्रयत्न (पुरुषार्थ) का नाम ही व्यवहार मोक्षमार्ग या व्यवहार सम्यग्दर्शनादिक है जो निश्चय मोक्षमार्ग या निश्चय सम्यग्दर्शनादिक की उपलब्धि के लिये किया जाता है।

एक बात और है कि हमारे पूर्व प्रतिपादन के अनुसार व्यवहार सम्यक्चारित्र का अपर नाम सराग चारित्र है जैसाकि निश्चय सम्यक्चारित्र का अपर नाम वीतराग चारित्र है और यह बात निर्विवाद है कि दशवें गुणस्थान तक जीव में सराग चारित्र ही रहा करता है वीतराग चारित्र नहीं, तथा यों भी कहिये कि दशवें गुणस्थान तक ही सराग चारित्र रहा करता है, आगे के गुणस्थानों में नहीं, इस तरह इसका अभिप्राय यह होता है कि सराग चारित्र का अभाव हो जाने पर ही वीतराग चारित्र की उपलब्धि जीव को हुआ करती है और इसका अभिप्राय भी यह हुआ कि व्यवहार सम्यक्चारित्र का अभाव हो जाने पर ही निश्चय सम्यक्चारित्र की उपलब्धि जीव को हुआ करती है अथवा यों कहिये कि जिस जीव को निश्चय सम्यक्चारित्र की उपलब्धि हो जाती है उसके फिर व्यवहारचारित्र का अभाव ही हो जाया करता है। इस तरह तब इस बात को कैसे संगत माना जा सकता है कि "जीव को निश्चय सम्यक्चारित्र की उपलब्धि हो जाने पर व्यवहार सम्यक्चारित्र की उपलब्धि अनायास हो

जाती है ?" और यही कारण है कि आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार गाथा ३०५ की टीका में व्यवहाराचार सूत्र[1] का उद्धरण देकर व्यवहार सम्यक्चारित्र को तब तक अमृत-कुम्भ कहा है जब तक जीव को निश्चय सम्यक्चारित्र की उपलब्धि नहीं हो जाती है तथा भगवान कुन्दकुन्द[2] ने उसी व्यवहार सम्यक्चारित्र को तब विषकुंभ की उपमा देदी है जब जीव को निश्चय सम्यक्चारित्र की उपलब्धि हो जाती है।

इस तरह यह बात निर्णीत हो जाती है कि जब तक जीवको निश्चय सम्यक्-चारित्र की उपलब्धि नहीं हो जाती है तब तक उसके लिए मोक्ष प्राप्ति के उद्देश्य से परंपरया कारण के रूप में अथवा निश्चय सम्यक्-चारित्र के साधन के रूप में व्यवहार सम्यक्-चारित्र नियम से उपयोगी सिद्ध होता है। इसलिये मोक्ष प्राप्ति के उद्देश्य से निश्चय सम्यक्चारित्र की प्राप्ति के लिये प्रत्येक जीव को व्यवहार सम्यक्चारित्र को धारण करने का सतत प्रयत्न करना चाहिये। इतनी बात अवश्य है कि कोई भी चारित्र तब तक 'व्यवहार सम्यक्चारित्र' नाम नहीं पा सकता है जब तक कि वह चारित्र सम्यग्दर्शन के सद्भाव में न हो जैसाकि पूर्व में हम स्पष्ट कर आये हैं।

इस प्रकार आगम प्रमाण के आधार पर किये गये उपर्युक्त विवेचन से यह मान्यता, कि "जिस जीव को निश्चय सम्यक्चारित्र की प्राप्ति हो जाती है उसके व्यवहार सम्यक्चारित्र अनायास ही हो जाता है उसे उसकी प्राप्ति के लिये पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता है" निश्चित रूप में खण्डित हो जाती है।

इतना स्पष्ट विवेचन करने पर भी अब यदि कोई व्यक्ति यह कहता है कि व्यवहार मोक्षमार्ग तो संसार का ही कारण है मोक्ष का नहीं, तो उसका ऐसा कहना भी दुराग्रहपूर्ण हो माना जायगा।

इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि यदि व्यवहार मोक्षमार्ग संसार का ही कारण है मोक्ष का नहीं, तो फिर उसे आगम में मोक्षमार्ग शब्द से पुकारना ही असंगत है। दूसरी बात यह है कि संसार का मुख्य कारण तो मोहनीय कर्म के उदय से होने वाले जीव के मिथ्यादर्शन' मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र रूप परिणाम ही हैं। यद्यपि यह बात सत्य है कि व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहारसम्यक्चारित्र को प्राप्त करके भी जीव जब तक निश्चय-सम्यग्दर्शन, निश्चय-सम्यग्ज्ञान

१— अपडिकमणं अपडिसरणं अप्पडिहारो अधारणा चेव।
अणियत्ती य अणिंदाऽगरुहाऽसोहा य विसकुंभो॥
पडिकमणं पडिसरणं परिहारो धारणा णियत्तीय।
णिंदा गरुहा सोही अट्ठविहो अमयकुंभो दु॥

२— पडिकमणं पडिसरणं परिहारो धारणा णियत्तीय। णिंदा गरहासोही अट्ठविहो होई विसकुंभो॥३०६॥ अप्पडिकमणं अप्पडिसरणं अप्पडिहारो अधारणाचेव। अणियत्तीय अणिंदाऽगरुहाऽसोहीय अमयकुंभो॥३०७॥ (समयसार)

और निश्चयसम्यक्चारित्र को प्राप्त नहीं कर लेता है तब तक उसे मोक्ष का प्राप्त होना असंभव है। अर्थात् वह तब तक संसार में ही रहा करता है, परन्तु इस आधार पर उन व्यवहार सम्यग्दर्शनादिक को सर्वथा संसार का ही कारण मान लेना असंगत बात है। फिर भी इतना तो माना जा सकता है कि चूंकि व्यवहार-सम्यग्दर्शनादिक निश्चय-सम्यग्दर्शनादिक की उत्पत्ति में कारण होते हैं अतः इस रूप में वे कथंचित् मोक्ष के भी कारण हैं और चूंकि व्यवहार-सम्यग्दर्शनादिक के सद्भाव में भी जीव को जब तक निश्चय-सम्यग्दर्शनादिक की उपलब्धि नहीं हो जाती तब तक मोक्ष की प्राप्ति असंभव है अतः उनमें कथंचित् संसार की कारणता स्वीकार करना भी असंगत नहीं है। इस स्पष्टीकरण में कही हुई इन सब बातों को समझने के लिये यहां पर थोड़ा करणानुयोग की दृष्टि से भी सम्यग्दर्शनादिक के सम्बन्ध में विचार किया जा रहा है।

करणानुयोग की दृष्टि से निश्चय और व्यवहार सम्यग्दर्शनादिक का स्वरूप—

इसके पूर्व कि हम करणानुयोग की दृष्टि से निश्चय और व्यवहार सम्यग्दर्शनादिक का विवेचन करें, आवश्यक जानकर करणानुयोग के सम्बन्ध में ही कुछ विवेचन कर देना चाहते हैं।

करणानुयोग में पठित अनुयोग शब्द का अर्थ आगम होता है। इस तरह संपूर्ण जैनागम को यदि विभक्त किया जाय तो वह चार भागों में विभक्त हो जाता है—प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग और द्रव्यानुयोग।

इनमें से प्रथमानुयोग वह है जिसमें अध्यात्मको लक्ष्य में रखकर महापुरुषों के जीवन चरित्र के आधार पर पाप, पुण्य और धर्म के फल का दिग्दर्शन कराया गया है, चरणानुयोग वह है जिसमें अध्यात्म को लक्ष्य में रखकर पाप, पुण्य और धर्म की व्यवस्थाओं का निर्देश किया गया है करणानुयोग वह है जिसमें जीवों की पाप, पुण्य और धर्ममय परिणतियों तथा उनके कारणों का विश्लेषण किया गया है और द्रव्यानुयोग वह है जिसमें विश्व की सम्पूर्ण वस्तुओं के पृथक् अस्तित्व को बतलाने वाले स्वतःसिद्ध स्वरूप एवं उनके परिणमनों का निर्धारण किया गया है। यहां पर हम इन सब अनुयोगों के आधार पर वस्तु स्वरूप पर प्रकाश न डाल कर प्रकरण के लिये उपयोगी प्रतिज्ञात करणानुयोग के आधार पर ही वस्तु स्वरूप पर प्रकाश डाल रहे हैं।

आत्मा का स्वरूप ज्ञायकपना अर्थात् विश्व के समस्त पदार्थों को देखने-जानने की शक्ति रूप है। यह कथन हम पूर्व में भी कर आये हैं। इसमें निर्दिष्ट ज्ञायकपना आत्मा का स्वतः सिद्ध स्वभाव है इसलिये इस आधार पर एक तो आत्मा का स्वतंत्र और अनादि तथा अनिधन अस्तित्व सिद्ध होता है दूसरे जिस प्रकार आकाश अपने स्वतःसिद्ध अवगाहक स्वभाव के आधार पर विश्व के संपूर्ण पदार्थों को अपने अन्दर एक साथ हमेशा समाये हुए हैं उसी प्रकार आत्मा को भी अपने स्वतःसिद्ध ज्ञायक स्वभाव के आधार पर विश्व के संपूर्ण पदार्थों को एक साथ हमेशा देखते-जानते रहना चाहिये, परन्तु हम देख

रहे हैं कि जो जीव अनादिकाल से संसार परिभ्रमण करते हुए इसी चक्र में फंसे हुए हैं उन्होंने अनादिकाल से अभी तक न तो कभी विश्व के संपूर्ण पदार्थों को एक साथ देखा-जाना है और न वे अभी भी उन्हें एक साथ देख-जान पा रहे हैं। इतना ही नहीं, इन संसारी जीवों में एक तो तरतमभाव से ज्ञान की मात्रा अल्प ही पायी जाती है दूसरे कितनी मात्रा में इनमें ज्ञान होता हुआ देखा जाता है वह भी इन्द्रियादिक अन्य साधनों की सहायता से ही हुआ करता है। एक बात और है कि ये संसारी जीव पदार्थों को देखने-जानने के पश्चात् उन जाने हुए पदार्थों में इष्टपने या अनिष्टपने की कल्पनारूप मोह किया करते हैं और तब वे इष्ट कल्पना के विषयभूत पदार्थों में प्रीतिरूप राग तथा अनिष्ट कल्पना के विषयभूत पदार्थों में अप्रीति (घृणा) रूप द्वेष सतत किया करते हैं। जिसका परिणाम यह होगा कि उन्हें सतत इष्ट कल्पना के विषयभूत पदार्थों की प्राप्ति में और अनिष्ट कल्पना के विषयभूत पदार्थों की अप्राप्ति में हर्ष हुआ करता है तथा अनिष्ट कल्पना के विषयभूत पदार्थों की प्राप्ति में और इष्ट कल्पना के विषयभूत पदार्थों की अप्राप्ति में विषाद हुआ करता है। यद्यपि ऐसा भी संभव है कि किन्हीं-किन्हीं (सम्यग्दृष्टि) संसारी जीवों को इस प्रकार से हर्ष विषाद नहीं होते, फिर भी वे जीव जब शरीर की अधीनता में ही रह रहे हैं और उनका अपना-अपना शरीर अपनी स्थिरता के लिये अन्य भोजनादिक की अधीनता स्वीकार किये हुए है तो ऐसी स्थिति में शरीर के लिये उपयोगी आवश्यक उन पदार्थों की प्राप्ति व अप्राप्ति में उन्हें भी यथायोग्य सुख या दुःख का संवेदन तो हुआ ही करता है और तब उन्हें अपने दुख संवेदन को समाप्त करने व सुख संवेदन को प्राप्त करने के लिये उन पदार्थों की प्राप्ति व उपभोग में प्रवृत्त होना पड़ता है। इसके भी अतिरिक्त जिनका संसार अभी चालू है ऐसे संसारी जीव अनादिकाल से कभी देव कभी मनुष्य, कभी तिर्यंच और कभी नारकी होते आये हैं, वे कभी एकेन्द्रिय, कभी द्वीन्द्रिय कभी त्रीन्द्रिय, कभी चतुरिन्द्रिय और कभी पंचेन्द्रिय भी होते आये हैं। इतना ही क्यों? इन्होंने कभी पृथ्वी का, कभी जल का, कभी तेज का, कभी वायु का और कभी वनस्पति का भी शरीर धारण किया है। हम यह भी देखते हैं कि एक ही श्रेणी के जीवों के शरीरों में भी परस्पर विलक्षणता पायी जाती है साथ ही कोई तो लोक में प्रभावशाली देखे जाते हैं व कोई प्रभावहीन देखे जाते हैं। और भी देखा जावे तो लोक एक जीव में उच्चता का तथा दूसरे जीव में नीचता का भी व्यवहार किया करता है। इसी प्रकार प्रायः किसी को यह पता नहीं कि कौन जीव कब अपने वर्तमान शरीर को छोड़ कर चला जायगा और दूसरा शरीर धारण कर लेगा।

जीवों में ये सब विलक्षणतायें क्यों हो रही हैं? इसका समाधान आगम ग्रन्थों में इस तरह किया गया है कि प्रत्येक संसारी जीव अपने स्वतःसिद्ध देखने जानने रूप स्वभाव वाला होकर के भी अनादिकाल से स्वर्ण पाषाण की तरह पौद्गलिक कर्मों के साथ सम्बद्ध (मिश्रित यानी एक क्षेत्रावगाही रूप से एकमेकपने को प्राप्त) हो रहा है।[1] ये कर्म ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम

१— सोसव्वणाणदरसी कम्मरयेण णियेण वच्छण्णो।
संसार संभावण्णो णविजाणदि सव्वदो सव्वं ॥१६०॥ (समयसार)
पयडी सील सहावो जीवंगाणं अणाइ सम्बन्धो।
कणयोवले मलं वा ताणत्थित्तं सयं सिद्धं ॥२॥ (गो० कर्मकाण्ड)

गोत्र और अन्तराय के भेद से मूल रूप में आठ प्रकार के हैं।[1] इनमें से ज्ञानावरण कर्म का कार्य जीव की जानने की शक्ति को आवृत करना है, दर्शनावरण कर्म का कार्य जीव की देखने की शक्ति को आवृत करना है, वेदनीय कर्म का कार्य जीव को शारीरादिक पर पदार्थों के आधार पर यथायोग्य सुख अथवा दु:ख का संवेदन कराना है, मोहनीय कर्म का कार्य जीवको पर पदार्थों के आधार पर ही यथायोग्य मोही, रागी और द्वेषी बनाकर उचित अनुचित रूप विविध प्रकार की प्रवृत्तियों में व्यापृत करने का है, आयु: कर्म का कार्य जीव को उसके अपने शरीर में सीमित काल तक रोक रखने का है, नामकर्म का कार्य जीवको मनुष्यादि रूपता प्राप्त कराने का है, गोत्र कर्म का कार्य कुल, शरीर तथा आचरण आदि के आधार पर जीव में उच्चता तथा नीचता का व्यवहार कराने का है और अन्तराय कर्म का कार्य जीव की स्वत:सिद्ध स्वावलम्बन शक्ति का घात करना है।[2]

करणानुयोग की व्यवस्था यह है कि इन सब प्रकार के कर्मों को जीव हमेशा अपने विकारी भावों (परिणामों) द्वारा बाँधता है और जीव के वे विकारी परिणाम पूर्व में बद्ध पुद्गल कर्म के उदय में हुआ करते हैं।[3] इस तरह जीव के साथ बंधे हुए ये कर्म उसमें अपनी सत्ता बना लेते हैं तथा अन्त में उदय में आकर अर्थात् जीव को अपना फलानुभव कराकर ये निर्जरित हो जाते हैं,[4] लेकिन इतनी बात अवश्य है कि उस फलानुभव से प्रभावित होकर वह जीव इसी प्रकार के दूसरे कर्मों से पुन: बंध को प्राप्त हो जाता है।

ये कर्म जीव को जिस रूप में अपना फलानुभव कराते हैं वह जीव का औदयिक भाव है क्योंकि जीव का उस प्रकार का भाव उस कर्म का उदय होने पर ही होता है।[5] कदाचित् कोई जीव अपने में सत्ता को प्राप्त यथायोग्य कर्म को अपने पुरुषार्थ द्वारा इस तरह शक्तिहीन बना देता है कि वह कर्म अपनी फलदान शक्ति को सुरक्षित रखते हुए भी जीव को एक अन्तर्मुहूर्त के लिये फल देने में असमर्थ हो जाता है। कर्म की इस अवस्था का नाम उपशम है। इस तरह कर्म का उपशम होने पर जीव की जो अवस्था होती है उसे उस जीव का औपशमिक भाव कहते हैं।[6] कदाचित् कोई जीव अपने

१— णाणस्स दंसणस्स य आवरणं वेदणीय मोहणियं।
आउग णामं गोदंतरायमिदि अट्ठपयडीओ ॥८॥ (गो० कर्मकाण्ड)

२— प्रत्येक कर्म के कार्य को जानने के लिए गो० कर्मकाण्ड की गाथा १० से गाथा ३३ तक का अवलोकन करना चाहिये।

३— जीव परिणाम हेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवोवि परिणमइ ॥८०॥ (समयसार)

४— विपाकोऽनुभव: ॥८-२१॥, सयथानाम ॥८-२२॥ ततश्च निर्जरा ॥८-२३॥ (तत्त्वार्थसूत्र)

५— कर्मणामुदयाद्य: स्याद्भावो जीवस्स संसृतौ।
नाम्नाऽप्यौदयिकान्वर्थात्परं बन्धाधिकारवान् ॥२-९६७॥ (पंचाध्यायी)

६— कर्मणां प्रत्यनीकानां पाकस्योपशमात्स्वत:।
सोभाव:प्राणिनां सस्यादौपशमिक संज्ञक: ॥२-९६४॥ (पंचाध्यायी)

पुरुषार्थ द्वारा कर्म को सर्वथा शक्तिहीन बना देता है जिससे वह कर्म उस जीव से अपना सम्बन्ध समूल विच्छिन्न कर लेता है। कर्म की इस अवस्था का नामक्षय है और इसके होने पर जीव की जो अवस्था होती है उसे जीव का क्षायिक भाव कहते हैं।[1] इसी प्रकार कदाचित् कोई जीव अपना पुरुषार्थ इस तरह करता है कि जिसके होने पर कर्म के कुछ निश्चित अंश तो उदय रूपता को प्राप्त रहते हैं, कुछ निश्चित अंश उपशमरूपता को प्राप्त रहते हैं और कुछ निश्चित अंश क्षयरूपता को प्राप्त रहते हैं। कर्म की इस प्रकार की अवस्था का नाम क्षयोपशम है। कर्म का इस प्रकार का क्षयोपशम होने पर जीव की जो अवस्था होती है उसे जीव का क्षायोपशमिक भाव कहते हैं।[2] इस क्षायोपशमिक भाव का अपर नाम मिश्रभाव[3] भी आगम में बतलाया गया है। इस प्रकार कहना चाहिये कि यथायोग्य कर्मों के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमके होने पर जीव की भी क्रमशः औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक अवस्थायें हो जाया करती हैं।[4]

उपर्युक्त आठ कर्मों में से ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन कर्मों की प्रत्येक संसारी जीव में अनादिकाल से क्षयोपशम रूप अवस्था ही रही है क्योंकि कभी इनकी सर्वथा उदय रूप अवस्था नहीं होती। इतना अवश्य है कि अनन्त संसारी जीवों ने अपने पुरुषार्थ द्वारा इन तीनों कर्मों का सर्वथा क्षय कर डाला है और यदि कोई संसारी जीव अब भी पुरुषार्थ करे तो वह भी इनका सर्वथा क्षय कर सकता है। इस तरह ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मों के यथायोग्य निमित्त से सामान्य रूप में जीव की क्षायोपशमिक और क्षायिक दो ही प्रकार की अवस्थायें होना संभव है औदयिक और औपशमिक अवस्थायें इनमें संभव नहीं है। इतना अवश्य है कि यदि इन कर्मों के यथायोग्य अन्तर्भेदों की अपेक्षा विचार किया जाय तो इनके निमित्त से फिर जीव की औदयिक अवस्था भी संभव है। जैसे जीव में केवलज्ञान और केवलदर्शन का जब तक सर्वथा अभाव विद्यमान है तब तक इनके घातक केवलज्ञानावरण और केवलदर्शनावरण कर्मों का उदय विद्यमान रहने के कारण जीव की केवलज्ञान और केवलदर्शन के अभाव रूप औदयिक अवस्थायें भी मानी जा सकती हैं।

१— यथास्वं प्रत्यनीकानां कर्मणां सर्वतः क्षयात्।
जातो यः क्षायिको भावः शुद्धः स्वाभाविकोऽस्य सः ॥२-९६५॥ (पंचाध्यायी)

२— योभावः सर्वतो घातिस्पर्द्धकानुदयोद्भवः।
क्षायोपशमिकः सःस्यादुदयाद्देशघातिनाम् ॥२-९६६॥ (पंचाध्यायी)

३— औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामकौच
॥२-१॥ (तत्त्वार्थसूत्र)
इस सूत्र में क्षायोपशमिक भावको 'मिश्र' नाम से पुकारा गया है।

४— तत्रौपशमिको नाम भावः स्यात् क्षायिकोऽपिच।
क्षायोपशमिकश्चेति भावोऽप्यौदयिकोऽस्तुनुः ॥२-९६२॥ (पंचाध्यायी)

इसी प्रकार वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इन चार कर्मों की प्रत्येक जीव में अनादिकाल से तो उदय रूप अवस्थायें ही रही हैं। कभी इनकी उपशम या क्षयोपशम रूप अवस्था न तो हुई और न होंगी, लेकिन इनके सम्बन्ध में भी यह बात है कि अनन्त संसारी जीवों ने अपने पुरुषार्थ द्वारा इन चारों कर्मों का सर्वथा क्षय अवश्य कर डाला है और यदि कोई संसारी जीव अभी भी पुरुषार्थ करे तो इनका सर्वथा क्षय कर सकता है। इस तरह कहना चाहिये कि इन कर्मों के निमित्त से जीव की औदयिक और क्षायिक दो अवस्थायें ही संभव हैं। परन्तु यहां पर इतना ध्यान रखना चाहिये कि इनके क्षय के निमित्त से होने वाले क्षायिक भावों की गणना आगमोक्त क्षायिक भावों में करना उपयोगी न होने के कारण आवश्यक नहीं समझा गया है। इनके क्षय के निमित्त से होने वाले जीव के क्षायिक भावों को या तो अव्याबाध, अवगाहना, सूक्ष्मत्व और अगुरुलघुत्व गुणों के रूपमें प्रतिजीवी भाव आगम में कहा गया है या फिर सामान्यतया संपूर्ण कर्मों के क्षय से उत्पन्न होने वाला सिद्धत्वभाव इन्हें कह दिया गया है।

इन सात कर्मों के अतिरिक्त जो मोहनीय कर्म शेष रह जाता है उसकी प्रत्येक संसारी जीव में अनादिकाल से तो उदय रूप अवस्था ही विद्यमान रही है लेकिन भूतकाल में अनन्त संसारी जीवों ने अपने पुरुषार्थ द्वारा अनेक बार यथायोग्य उपशम या क्षयोपशम करके अन्त में उसका सर्वथा क्षय कर मुक्ति को प्राप्त कर लिया है, अनेक संसारी जीवों में वह अभी भी यथायोग्य उपशम क्षय या क्षयोपशम रूप में बना हुआ है तथा जिन जीवों में वह अभी भी उदय रूप में बना हुआ है वे भी अगर पुरुषार्थ करें तो उसकी इस उदय रूप हालत को परिवर्तित करके उपशम क्षय या क्षयोपशम रूप अवस्था बना सकते हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि मोहनीय कर्म का यथायोग्य उदय, उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम होने पर जीव की क्रमशः औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक ये चारों प्रकार की अवस्थायें संभव होती हैं।

इस प्रकार जिन संसारी जीवों ने अनादिकाल से अभी तक अपने पुरुषार्थ द्वारा समस्त कर्मों का क्षय कर डाला है वे तो मोक्ष को प्राप्त हो चुके हैं और जो संसारी जीव आगे जब इन सभी कर्मों का सर्वथा क्षय कर लेंगे वे भी तब मोक्ष को प्राप्त हो जावेंगे।

ऊपर बतलाये गये ढंग से उपर्युक्त आठ कर्मों के यथायोग्य उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम के आधार पर होने वाली जीवों की अवस्थाओं की उपयोगी कुल संख्या आगम में संक्षेप से पचास बतलायी गयी है तथा इनमें तीन पारिणामिक भावों को भी मिला देने पर जीव की अवस्थाओं की संख्या तिरेपन हो जाती है। इन तिरेपन भावों की आगम में जो गणना की गयी है वह इस प्रकार है कि सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र के रूप में दो भाव औपशमिक हैं। केवलज्ञान, केवलदर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य तथा सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र ये नौ भाव क्षायिक रूप हैं। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय के रूप में चार सम्यग्ज्ञान, कुमति, कुश्रुत और कु-अवधि के रूप में तीन

मिथ्याज्ञान, चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन के रूप में तीन दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य के रूप में पांच लब्धियां (शक्तियां) तथा सम्यग्दर्शन सम्यक्चारित्र और संयमासंयम ये अठारह भाव क्षायोपशमिक रूप हैं। नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव के रूप में चार गतियां, क्रोध, मान माया और लोभ के रूप में चार कषाय, पुल्लिग स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग के रूप में तीन लिंग, पर पदार्थों में अहंकार और ममकार रूप मिथ्यादर्शन, ज्ञान विशेष का अभाव रूप अज्ञान चारित्र का अभाव रूप असंयतत्व, संसारी अवस्थारूप असिद्धत्व तथा कृष्ण नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल के रूप में छहलेश्यायें ये इक्कीस भाव औदयिक रूप हैं। इसी प्रकार जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन भाव पारिणमिक रूप हैं।[1]

आगम में आठ कर्मों के भेदों की गणना इस प्रकार की गयी है कि ज्ञानावरणकर्म मति-ज्ञानावरण आदि के रूप में पांच प्रकार का, दर्शनावरण कर्म चक्षुदर्शनावरण आदि के रूप में नौ प्रकार का, वेदनीय कर्म साता तथा असाता के रूप में दो प्रकार का, मोहनीय कर्म मिथ्यात्व आदि के रूप में अट्ठाईस प्रकार का, आयुःकर्म नरकायु आदि के रूप में चार प्रकार का, नामकर्म गति, जाति आदि के रूप में तेरानवे प्रकार का, गोत्र कर्म उच्च तथा नीच के रूप में दो प्रकार का और अन्तराय कर्म दानान्त-राय आदि के रूप में पांच प्रकार का होता है।[2]

आगम में यह भी बतलाया गया है कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चारों कर्म जीव के यथायोग्य अनुजीवी गुणों का घात करने में समर्थ होने के कारण घाती[3] कहलाते

१— द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम् ॥२-२॥, सम्यक्त्वचारित्रे ॥२-३॥ ज्ञानदर्शनदान लाभभोगोपभोगवीर्याणिच ॥२-४॥, ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपंचभेदाः सम्यक्त्वचारित्र-संयमासंयमाश्च ॥२-५॥, गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्याश्चतुश्चतुर्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः ॥ २-६ ॥, जीवभव्याभव्यत्वानिच ॥ २-७ ॥ (तत्त्वार्थसूत्र)

२— पंचणव दोण्णि अट्ठावीसं चउरो कमेण तेणउदी।
दोण्णिय पंच य भणिया एदाओ सत्त पयडीओ ॥३८॥ (गो० कर्मकाण्ड)
मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम् ।८-६॥, चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्रा प्रचला-प्रचला-प्रचलास्त्यानगृद्धयश्च ॥८-७॥, सदसद्वेद्ये ॥८-८॥, दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषाय बेदनीयाख्यास्त्रिद्विनवषोडशभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयान्यकषायकषायौ हास्यरत्यरतिशोकभय जुगुप्सास्त्रीपुन्नपुंसकवेदा अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यान-संज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोध-मानमायालोभाः ॥८-७॥, नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ॥८-१०॥, गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्ग-निर्माणबन्धनसंघातसंस्थानसंहननस्पर्शरसगन्धवर्णानुपूर्व्यगुरुलघूपघातपरघातातपोद्योतोच्छ्वास विहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेययशः कीर्तिसेतराणितीर्थ-करत्वंच ॥८-११॥, उच्चैर्नीचैश्च ॥८-१२॥, दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम् ॥८-१३॥ (तत्त्वार्थसूत्र)

३— तत्र घातीनि चत्वारि कर्माण्यन्वर्थसंज्ञया।
घातकत्वाद्गुणानांहि जीवस्यैवेति वाक्स्मृति ॥२-९९८॥ (पंचाध्यायी)

हैं तथा वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र ये चारों कर्म जीव के अनुजीवी गुणों का घात करने में असमर्थ होने के कारण अघाती[1] कहलाते हैं। इतना ही नहीं, आगम में यह भी बतला दिया गया है कि संपूर्ण घाती कर्म तथा अघाती कर्मों की कुछ प्रकृतियां मिलकर पाप[2] प्रकृतियाँ कहलाती हैं और अघाती कर्मों की शेष प्रकृतियां पुण्य[3] प्रकृतियां कहलाती हैं।

ऊपर जो जीव के तिरेपन भावो की गणना की गयी है उनमें से तीन पारिणामिक भावों को छोड़कर शेष पचास भाव उक्त कर्मों में से उस उस कर्म के यथायोग्य उदय, उपशम, क्षय या क्षयोपशम के आधारपर उत्पन्न होने के कारण ही पूर्वोक्त प्रकार क्रमशः औदयिक, औपशमिक, क्षायिक या क्षायोपशमिक नाम से पुकारे जाते हैं। इन औदयिकादिरूप पचास भावों में से मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्र रूप जो औदयिक भाव हैं वे भाव संसार के कारण हैं[4] तथा सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र रूप जो औपशमिक क्षायिक व क्षायोपशमिक भाव हैं वे भाव मोक्ष के कारण हैं।[5] यद्यपि मिथ्याज्ञान रूप क्षायोपशमिक भाव को भी बंध का कारण तथा सम्यग्ज्ञान रूप क्षायोपशमिक और क्षायिकभाव को भी मोक्ष का कारण आगम में स्वीकार किया गया है परन्तु इसके विषय में यह बात ध्यान देने योग्य है कि ज्ञान की संसार कारणता और मोक्ष-कारणता यथायोग्य मोहनीय कर्म के उदय, उपशम, क्षय व क्षयोपशम से सम्बद्ध होकर ही मानी गयी है। यही कारण है चतुर्दश गुणस्थान व्यवस्था में केवल मोहनीय कर्म को ही उदय, उपशम, क्षय तथा क्षयोपशम के आधार पर आगम में प्रमुखता दी गयी है।[6]

१— ततःशेषचतुष्कं स्यात् कर्माघातिविवक्षया।
गुणानां घातकाभावशक्तेरप्यात्मशक्तिवत् ॥२-९९९॥ (पंचाध्यायी)

२— घादी णीचमसादं णिरयाउ णिरयतिरियदुगजादी-
संठाण संहदीणं चदुपणपणगं च वण्ण चयो ॥ ४३ ॥
उपघादमसग्गमणं थावरदसयं च अप्पसत्था हु।
बंधुदयं पडि भेदे अडणउदिसयं दु चदुरसीदिदरे ॥ ४४ ॥ (गो० कर्मकाण्ड)

३— सादं तिण्णोवायु उच्चं णरसुरदुगं च पंचिदी।
देहाबंधनसंघादं गोवंगाइं वण्ण चयो ॥ ४१ ॥
समचउरवज्जरिसहं उवघादूण गुरुछक्कसग्गमणं।
तसवार सट्ठसट्ठी बादालमभेद दो सत्था ॥ ४२ ॥ (गो० कर्मकाण्ड)

४— सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः ॥ ३ ॥ (रत्नकरण्डश्रावकाचार)

५— सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥ १-१ ॥ (तत्त्वार्थसूत्र)

६— जेहिंदु लक्खिज्जंते उदयादिसु संभवेहिं भावेहिं। जीवाते गुणसण्णा णिद्दिट्ठा सव्वदरसीहिं ॥८॥ मिच्छो सासणमिस्सो अविरद सम्मोय देस विरदो य। विरदापमत्त इदरो अपुव्व अणियट्ठसुहमोय ॥ ९ ॥ उवसंत खीणमोहो सजोगकेवलि जिणोअजोगीय। चउदस जीव समासा कमेण सिद्धाय णादव्वा ॥१०॥ मिच्छे खलु ओदयिओ विदियेपुण पारिणामओ भावो। मिस्से खओवसमओ अविरद सम्मह्मि तिण्णेव ॥११॥ ऐदे भावाणियमा दंसणमोहं पडुच्च भणिदाहु। चारित्तं णत्थि जदो अविरद अन्तेसु ठाणेसु ॥१२॥ देसविरदे पमत्ते इदरे य खओव समिय भावो दु। सोखलु चरित्त मोहं पडुच्च भणियं तहा उवरिं ॥१३॥ तत्तो उवरिं उवसम भावो उवसामगेसु खवगेसु। खइयो भावो णियमा अजोगिचरमोत्ति सिद्धेय ॥१४॥ (गो० जी०)

उक्त कथन का विस्तार यह है कि उक्त औदयिक भाव मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होने के कारण जीव के संसार के कारण होते हैं। औपशमिक भाव मोहनीय कर्म के उपशम से उत्पन्न होने के कारण यद्यपि संसार के कारण नहीं होते, परन्तु ये जीव में अन्तर्मुहूर्त तक ही ठहरते हैं अर्थात् मुहुर्तके अन्दर अन्दर ही ये नष्ट होजाते हैं इसलिए मोक्ष के कारण होकर भी इनसे जीव को साक्षात् मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है। इन्हें छोड़कर मोहनीय कर्म की उस उस प्रकृति के सर्वथा क्षय से उत्पन्न होने वाले क्षायिक भाव ही जीव की मोक्ष प्राप्ति में साक्षात् कारण हुआ करते हैं। अर्थात् उक्त क्षायिक भावों को प्राप्त कर लेने पर जीव नियम से मुक्ति को प्राप्त करता है कारण कि ये भाव जीव को एक बार प्राप्त हो जाने पर फिर कभी नष्ट नहीं होते हैं। क्षायोपशमिक भावों के विषय में व्यवस्था यह है कि इनमें सर्वघाती प्रकृति के वर्तमान समय में उदय आने वाले निषेकों का उदयाभावी क्षय और उसी सर्वघाती प्रकृति के आगामी काल में उदय आने वाले निषेकों का सदवस्थारूप उपशम तथा देशघाती प्रकृति का उदय विद्यमान रहा करता है अतः इनमें देशघाती प्रकृति का उदय कार्यकारी रहने के कारण तो संसार की कारणता व सर्वघाती प्रकृति का उदयाभावीक्षय तथा सदवस्थारूप उपशम भी कार्यकारी रहने के कारण मोक्ष की कारणता इस तरह दोनों ही प्रकार की कारणतायें विद्यमान रहा करती हैं। यही कारण है कि आगम में यह बात स्पष्ट कर दी गयी है कि जीव में जिस काल में जितना दर्शन, ज्ञान और चारित्र का अंश प्रगट रहता है उतने रूप में उसके कर्मबन्ध नहीं होता है और उसी काल में जितना दर्शन, ज्ञान और चारित्र का अपना अपना विरोधी रागांश प्रगट रहता है उतने रूप में उसके कर्मबन्ध भी होता है।[1]

इस प्रकार क्षाक्षोपशमिक भावों में यद्यपि संसार और मुक्ति उभय की कारणता विद्यमान रहा करती है फिर भी उन्हें आगम में मोक्ष का ही कारण बतलाया गया है संसार का नहीं।[2] यह बात हम पूर्व में भी कह चुके हैं। इसको यों भी स्पष्ट किया जा सकता है कि आगम में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को औपशमिक, क्षायिक व क्षायोपशमिक का भेद न करके सामान्यरूप से ही मोक्ष का कारण प्रतिपादित किया गया है[3] व औदयिक भावरूप मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र

१— येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २१२ ॥
येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २१३ ॥
येनांशेनचरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २१४ ॥ (पुरुषार्थसिद्ध

२— असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्तिकर्मबन्धो यः।
सविपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः ॥२११॥ (पुरुषार्थसिद्ध्युपाय)

३— सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥१-१॥ (तत्त्वार्थसूत्र)

को संसार का कारण प्रतिपादित किया गया है।[1] इतनी बात अवश्य आगम में स्पष्ट कर दी गयी है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप मोक्षमार्ग पर आरूढ़ हुआ जीव यदि शुद्धोपयोग की भूमिका को प्राप्त करके क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हो जावे तो वह मोक्ष सुख को ही प्राप्त करता है,[2] लेकिन यदि कोई जीव शुद्धोपयोग की भूमिका को प्राप्त होकर भी क्षपक-श्रेणी पर आरूढ़ न होकर उपशम श्रेणी पर आरूढ़ हुआ अथवा शुद्धोपयोग की भूमिका को प्राप्त न होकर शुभोपयोग की भूमिका में ही प्रवर्तमान रहा और ऐसी हालत में उसका यदि मरण हो गया तो यह जीव स्वर्ग सुख को प्राप्त करता हुआ[3] परंपरया मोक्ष सुख को प्राप्त करता है।[4] इसके साथ ही आगम में यह बात भी स्पष्ट कर दी गयी है कि यदि कोई जीव अपने को भूल कर स्वर्ग सुख में रम जाय तो फिर इसमें भी संदेह नहीं, कि वह मारीच की तरह यथायोग्य अनेक भवों तक सांसारिक विभिन्न प्रकार की कुयोनियों में भी भ्रमण करता है।[5]

इस कथन से इतनी बात स्थिर हो जाती है कि अशुभोपयोग और अशुभ प्रवृत्ति रूप मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्या-चारित्र संसार के कारण हैं, शुभोपयोग और शुभ प्रवृतिरूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र स्वर्गादि सुख पूर्वक परंपरया मोक्ष के कारण हैं। तथा शुद्धोपयोग व शुद्ध प्रवृतिरूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र साक्षात् मोक्ष के कारण हैं।

इस प्रकार करणानुयोग के आधार पर किए गए उपर्युक्त विवेचन और इसके पूर्व चरणानुयोग के आधार पर किए गए विवेचन से हमारा प्रयोजन यह है कि चरणानुयोग की दृष्टि से जो निश्चय और व्यवहार रूप मोक्षमार्ग द्वय का अथवा निश्चय सम्यग्दर्शन और व्यवहार सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान और व्यवहार सम्यग्ज्ञान तथा निश्चय सम्यक्चारित्र और व्यवहार सम्यक्चारित्र का विवेचन किया गया है एवं करणानुयोग की दृष्टि से जो औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन, क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्ज्ञान तथा औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यक्चारित्र का विवेचन किया गया है इन दोनों प्रकार के विवेचनों का यदि समन्वय किया

१-२ देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम्।
संसारदुःखतः सत्वान्यो धरत्युत्तमे सुखे ॥२॥
सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः ॥३॥ (रत्नकरण्डश्रावकाचार)

३— धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदिसुद्ध संपयोगजुदो।
पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो दुसग्गसुहं ॥११॥ (प्रवचनसार)

४— यों श्रावक व्रतपाल स्वर्ग सोलम उपजावे।
तंह ते चय नरजन्म पायमुनि हो शिव जावे ॥४-१४॥ (छहढाला)

५— असुहोदयेण आदा कुणरोतिरियो भवीयणेरयिओ।
दुःसहस्सेहिं सदा अभिधुदो ममइ अच्चंतं ॥१२॥ (प्रवचनसार)

जाय तो यह निर्णीत हो जाता है कि जिसे चरणानुयोग की दृष्टि से निश्चय सम्यग्दर्शन कहा गया है उसे करणानुयोग की दृष्टि से औपशमिक व क्षायिक सम्यग्दर्शन समझना चाहिये तथा जिसे चरणानुयोग की दृष्टि से व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा गया है उसे करणानुयोग की दृष्टि से क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन समझना चाहिये। इसी प्रकार जिसे चरणानुयोग की दृष्टि से निश्चय सम्यग्ज्ञान कहा गया है उसे करणानुयोग की दृष्टि से क्षायिक-सम्यग्ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान समझना चाहिये और जिसे चरणानुयोग की दृष्टि से व्यवहार सम्यग्ज्ञान कहा गया है उसे करणानुयोग की दृष्टि से क्षायोपशमिक सम्यक्ज्ञान समझना चाहिये और इसी प्रकार जिसे चरणानुयोग की दृष्टि से निश्चय सम्यक्चारित्र यथाख्यात-चारित्र या वीतराग चारित्र कहा गया है उसे करणानुयोग की दृष्टि से औपशमिक व क्षायिक सम्यक्चारित्र समझना चाहिये और जिसे चरणानुयोग की दृष्टि से अणुव्रत, महाव्रत आदि रूप व्यवहार सम्यक्चारित्र, सराग-चारित्र या सामायिक छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसांपराय चारित्र कहा गया है उसे करणानुयोग की दृष्टि से क्षायोपशमिक चारित्र समझना चाहिये।

उपर्युक्त कथन हमें इस निष्कर्ष पर पहुंचा देता है कि व्यवहार और निश्चय दोनों ही प्रकार के मोक्षमार्ग का प्रारम्भ चतुर्थ गुणस्थान से ही होता है चतुर्थ गुणस्थान से पूर्व किसी भी तरह के मोक्ष मार्ग का प्रारम्भ नहीं होता ऐसा जानना चाहिये। आगे इसी बात को स्पष्ट किया जा रहा है।

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के विषय में यह बात कही गयी है कि वह दर्शन-मोह की मिथ्यात्व सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्-प्रकृति रूप तीन तथा चारित्र मोह की अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ रूप चार इस तरह सात प्रकृतियों का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम होने पर ही उत्पन्न हुआ करता है। अर्थात् आगम में कहा गया है कि उक्त सात प्रकतियों के उपशम से औपशमिक[1] सम्यक्त्व और उक्त सात ही प्रकृतियों के क्षय से[2] क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। इसी प्रकार उक्त सात प्रकृतियों में से ही मिथ्यात्व व सम्यङ्मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ इन छह सर्वघाती प्रकृतियों के वर्तमान समय में उदय आने वाले निषेकों का उदयाभावी क्षय व आगामी काल में उदय आने वाले निषेकों का सदवस्था रूप उपशम एवं सम्यक्प्रकृति रूप देशघाति प्रकृति का उदय होने पर[3] क्षायोपशमिक सम्यक्त्व उत्पन्न होता है।

आगम में यह बात भी कही गयी है कि उक्त औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक तीनों ही प्रकार के सम्यग्दर्शन जीव को क्षायोपशमिक, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण लब्धि पूर्वक ही उत्पन्न हुआ करते हैं[4] साथ में इन लब्धियों के सम्बन्ध में वहीं पर यह विशेषता भी बतला दी गयी है कि पांचों लब्धियों में से पूर्व की चार लब्धियां तो भव्य तथा अभव्य दोनों ही प्रकार के जीवों के संभव हैं परन्तु करण लब्धि ऐसी लब्धि है कि वह भव्य जीव के ही संभव है अभव्य के नहीं।[5] इसका

१-२—सत्तण्हं उवसमिदो उवसमसम्मो खयादु खइयोय। (गो० जीवकाण्ड गाथा २६ पूर्वा०)

३—सम्मत्त देसघादिस्सुदयादो वेदगं हवे सम्मं। (गो० जीव काण्ड गा० २५ का उत्तरार्ध)

४-५—खव उपसमिय विसोही देसणपाउग्ग करण लद्धीय।
चत्तारि वि सामण्णा करणं पुण होदि सम्मत्ते ।।६५०।। (गो० जीवकाण्ड)

आशय यह हुआ कि जो भव्य जीव पूर्व की चार लब्धियों के साथ साथ करण लब्धि में प्रवृत्त होकर उक्त सात प्रकृतियों की पूर्वोक्त प्रकार उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम रूप जैसी स्थिति बना देता है उसीके अनुरूप वह अपने में औपशमिक, क्षायिक अथवा क्षायोपशमिक कोई भी सम्यग्दर्शन उत्पन्न कर लेता है।

इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपर्युक्त औपशमिक, क्षायिक क्षायोपशमिक इन तीनों सम्यग्दर्शनों में से कोई भी सम्यग्दर्शन ऐसा नहीं है जो चतुर्थ गुणस्थान से पूर्व के किसी भी गुणस्थान में उत्पन्न हो सकता हो, क्योंकि प्रथम गुणस्थान में तो सम्यग्दर्शन की घातक सर्वघाती मिथ्यात्व प्रकृति का उदय विद्यमान रहता है,[1] द्वितीय गुणस्थान में सम्यग्दर्शन की घातक सर्वघाती अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय विद्यमान रहता है[2] और तृतीय गुणस्थान में सम्यग्दर्शन की घातक सर्वघाती सम्यक्मिथ्यात्व प्रकृति का उदय विद्यमान रहता है। चूंकि यह बात हम पूर्व में कह चुके हैं कि क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन का ही अपर नाम व्यवहार सम्यग्दर्शन है और औपशमिक तथा क्षायिक इन दोनों सम्यग्दर्शनों का ही अपर नाम निश्चय सम्यग्दर्शन है अतः यह बात निर्णीत हो जाती है कि व्यवहार और निश्चय दोनों ही प्रकार के सम्यग्दर्शनों में से कोई भी सम्यग्दर्शन चतुर्थ गुणस्थान से पूर्व के किसी भी गुणस्थान में उत्पन्न नहीं होता है। इतना अवश्य है कि चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक के जीवों में उक्त तीनों प्रकार के सम्यग्दर्शनों में से कोई भी एक सम्यग्दर्शन संभव है इसलिये चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक के जीव या तो क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन की अपेक्षा व्यवहार सम्यग्दृष्टि रह सकते हैं या फिर औपशमिक अथवा क्षायिक सम्यग्दर्शन की अपेक्षा निश्चय सम्यग्दृष्टि रह सकते हैं। इसके अतिरिक्त यह बात भी ध्यान में रखना चाहिये कि सातवें गुणस्थान का जो जीव उपशम श्रेणी या क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होने के लिए अधःकरण परिणामों में प्रवृत्त होता है उसके व्यवहाररूप क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन न रह कर नियम से निश्चय रूप औपशमिक या क्षायिक सम्यदर्शन ही रहा करता है। इसमें भी इतनी विशेषता है कि उपशश्रेणी पर आरूढ़ होने वाले जीव के निश्चय-रूप औपशमिक और क्षायिक दोनों सम्यग्दर्शनों में से कोई एक सम्यग्दर्शन रह सकता है लेकिन क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होने वाले जीव के निश्चयरूप क्षायिक सम्यग्दर्शन ही रहता है औपशमिक सम्यग्दर्शन नहीं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आठवें गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक के जीव या तो औपशमिक सम्यग्दृष्टि के रूप में निश्चय सम्यग्दृष्टि रहा करते हैं या फिर क्षायिकसम्यग्दृष्टि के रूप में निश्चय सम्यग्दृष्टि रहा करते हैं, इन गुणस्थानों में रहने वाला कोई भी

१—मिच्छोदयेण मिच्छत्तमसद्दहणं तु तच्च अत्थाणं।
एयंतं विवरीयं विणयं संसयिदमण्णाणं ॥१५॥ (गो० जीवकाण्ड)

२— आदिम सम्मत्तद्धा समयादो छावलित्ति वा सेसे।
अणअण्णादरुदयादो णासिय सम्मोत्ति सासणक्खो सो ॥१६॥ (गो० जीवकाण्ड)

३— सम्मामिच्छुदयेण य जत्तंतरसव्वघादिकज्जेण।
णय सम्मंमिच्छंपिय समिस्सो होदि परिणामो ॥२१॥ (गो० जीवकाण्ड)

जीव कभी भी क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि के रूप मे व्यवहार सम्यग्दृष्टि नहीं रहता है। इसी प्रकार बारहवें गुणस्थान में और इससे आगे के गुण-स्थानों में रहने वाला कोई भी जीव केवल क्षायिक सम्यग्दृष्टि के रूप में ही निश्चय सम्यग्दृष्टि रहा करता है।

इसी प्रकार मोक्षमार्ग के अंगभूत सम्यग्ज्ञान का प्रारम्भ भी चतुर्थ गुणस्थान से ही होता है। इसमें भी चुतर्थगुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक तो प्रत्येक जीव में क्षायोपशमिक सम्यग्ज्ञान के रूप में व्यवहार सम्यग्ज्ञान ही रहा करता है निश्चय सम्यग्ज्ञान नहीं, तथा इसके आगे तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानों में क्षायिक ज्ञान के रूप में निश्चय सम्यग्ज्ञान ही रहा करता है, व्यवहार सम्यग्ज्ञान नहीं, कारण कि तेरहवें गुणस्थान से पूर्व बारहवें गुणस्थान के अन्त समय में मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण इन पांचों ही ज्ञानावरणों का एक साथ सर्वथा क्षय हो जाने के कारण क्षायोपशमिक ज्ञानों का तेरहवें गुणस्थान के प्रथम समय में सर्वथा अभाव हो जाता है। यद्यपि भव्य तथा अभव्य के भेद से रहित एकेन्द्रियादिक समस्त संसारी जीवों में अनादि काल से मतिज्ञान श्रुतज्ञान के रूप में क्षायोपशमिक ज्ञानों का नियम से सद्भाव पाया जाता है परन्तु उन ज्ञानों में व्यवहार सम्यग्ज्ञान का रूप तब तक नहीं आता जब तक जीव में सम्यग्दर्शन का प्रादुर्भाव नहीं हो जाता [1] है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि एकतो संज्ञीपंचेन्द्रिय जीव का क्षायोपशमिक ज्ञान ही व्यवहार सम्यग्ज्ञान का रूप धारण कर सकता है, एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीवों का क्षायोपशमिक ज्ञान कदापि व्यवहार सम्यग्ज्ञान का रूप नहीं धारण करता है, दूसरे भव्यजीवों का क्षायोपशमिक ज्ञान ही व्यवहार सम्यग्ज्ञान का रूप धारण कर सकता है अभव्य जीवों का नहीं और तीसरे संज्ञीपंचेन्द्रिय भव्य जीवों का क्षायोपशमिक ज्ञान भी सम्यग्दर्शन की तरह चतुर्थगुणस्थान में ही व्यवहार सम्यग्ज्ञान का रूप धारण करता है इससे पूर्व के गुणस्थानों में नहीं क्योंकि वह सम्यग्दर्शन के सद्भाव में सम्यग्ज्ञान रूपता को प्राप्त होता है।

मोक्षमार्ग के अंगभूत व्यवहार तथा निश्चय दोनों ही प्रकार के सम्यक्-चारित्रों के विषय में आगम की व्यवस्था यह है कि एक देश क्षायोपशमिक सम्यक्-चारित्र के रूप में व्यवहार सम्यक्-चारित्र का प्रारम्भ पंचम गुणस्थान से ही होता [2] है इससे पूर्व के चारों गुणस्थानों में तो असंयत भाव ही रहा करता [3] है। कारण कि इन चारों गुणस्थानों में अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय का अभाव नहीं

१— सम्यक् साथै ज्ञान होय पै भिन्न अराधौ।
लक्षण श्रद्धा जान दुहू में भेद अबाधौ॥
सम्यक् कारण जान ज्ञान कारज है सोई।
युगपत् होते हू प्रकाश दीपक तें होई॥ ४-१॥ (छहढाला)

२,३— तदिय कसायुदयेण य विरदा विरदो गुणो हवे जुगवं।
विदियकसायुदयेणय असंजमो होदि णियमेण॥ ४६८॥

होता है। यहीं क्षायोपशमिक रूपता को प्राप्त व्यवहार सम्यक्-चारित्र संज्वलनकषाय के उदय के सद्भाव तथा प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय के अभाव में षष्ठगुणस्थान में सर्वदेशात्मक महाव्रत का रूप धारणकर लेता [१] है तथा आगे संज्वलन कषाय व नोकषाय धीरे धीरे कृश होकर जब दशवें गुणस्थान में केवल सूक्ष्म लोभ का उदय कार्यकारी रह जाता है तब वही क्षायोपशमिक-रूपता को प्राप्त व्यवहार सम्यक्-चारित्र सूक्ष्मसांपराय चारित्र के रूप में अपनी चरम सीमा में पहुंच जाता है [२] और इस तरह दशवें गुणस्थान के अन्त में समस्त कषायों का यदि उपशम होता है तो ग्यारहवें गुणस्थान के प्रारम्भ में औपशमिक चारित्र के रूप में निश्चय सम्यक् चारित्र प्रगट हो जाता [३] है तथा दशवें गुणस्थान के अन्त में यदि समस्त कषायों का क्षय होता है तो १२ वें गुणस्थान के प्रारम्भ में क्षायिक चारित्र के रूप में निश्चय सम्यक् चारित्र प्रगट हो जाता [४] है और यह क्षायिक चारित्र रूप निश्चय चारित्र १३ वें तथा १४ वें गुणस्थानों में भी बना रहता [५] है। जीव को जब औपशमिक अथवा क्षायिक रूप में निश्चय चारित्र की प्राप्ति हो जाती है तब क्षायोपशमिक रूपता को प्राप्त व्यवहार सम्यक्-चारित्र की समाप्ति नियम से हो जाती है। कारण कि जीव में प्रत्येक कर्म का यथा संभव उदय, उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम में से एक काल में एक ही अवस्था रह सकती है दो आदि अवस्थायें कभी एक साथ नहीं होतीं। इसलिए एक कर्म के उदयादिक की निमित्तता के आधार पर होने वाले औदयिकादि भावों का सद्भाव भी जीव में एक साथ नहीं रह सकता है। यहां इतना विशेष समझना चाहिए कि औपशमिक चारित्र रूप निश्चय सम्यक्-चारित्र केवल ११ वें गुणस्थान में ही रहता है कारण कि जीव अन्तर्मुहूर्त के अल्पकाल में ही इससे पतित होकर यथायोग्य कषाय का उदय हो जाने से फिर क्षायोपशमिक चारित्र रूप व्यवहार चारित्र में आ जाता है, इस तरह क्षायिक चारित्ररूप निश्चय चारित्र ही ऐसा है जो १२ वें में उत्पन्न होकर १३ वें और १४ वें गुणस्थानों में भी अपना सद्भाव कायम रखता है।

अब यह प्रश्न हो सकता है कि जब जीव को पूर्वोक्त प्रकार अधिक से अधिक सप्तम गुणस्थान में क्षायिक सम्यग्दर्शन रूप निश्चय सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाती है और १२ वें गुणस्थान के प्रारम्भ में क्षायिक चारित्र रूप निश्चय सम्यग्चारित्र की प्राप्ति हो जाती है तो फिर १२ वें गुणस्थान में ही जीव मुक्त क्यों नहीं हो जाता है ? इसका समाधान निम्न प्रकार है।

१, २, ३, ४, ५- वादर संजलणुदये सुहमुदये समखये य मोहस्स।
संजमभावोणियमा होदित्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ।। ४६५ ।।
अणुलोहेवेदंतो जीव उवसामगोय खवगोवा।
सोसुहम संपराओ जहखादेणूणओ किंचि ।। ४७३ ।।
जहखादसंजमोपुण उवसमदो होदि मोहणीयस्स।
खवदो विय सोणियमा होदित्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ।। ४६७ ।।
उवसंते खीणे वा असुहे कम्मम्मि मोहणीयस्स।
छदुमट्ठो व जिणो वा जहखादो संजदो सोदु ।। ४७४ ।। (गो० जीवकाण्ड)

१२ वें गुणस्थान में क्षायिक चारित्र की उपलब्धि हो जाने पर भी जीव के मुक्त न होने का एक कारण तो यह है कि उस अवसर तक उसे ज्ञानावरण कर्म का पूर्णतः क्षय न होने से क्षायिक ज्ञान रूप निश्चय सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो पाती है। दूसरा कारण यह है कि १२ वें गुणस्थानवर्ती क्षायिक चारित्र रूप निश्चय चारित्र में जीव यद्यपि भावात्मक चारित्र के रूप में पूर्ण स्वावलम्बी हो जाता है परन्तु तब भी उसमें परावलम्बन पूर्ण योगात्मक क्रिया तो होती ही रहती है क्योंकि उसके भी मनोवर्गणा, वचनवर्गणा और कार्य वर्गणा के निमित्त से प्रदेश परिस्पन्दन होता है अतः उसके स्वावलम्बन के रूप में निश्चय चारित्र की पूर्णता नहीं हो पाती है। यह योगात्मक क्रिया केवलज्ञान रूप क्षायिक निश्चय सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हो जाने के अनन्तर भी जीव के हुआ करती है अतः केवलज्ञान प्राप्त हो जाने पर तेरहवें गुणस्थान के प्रथम समय में जीव मुक्त नहीं हो पाता है। इसी प्रकार केवलज्ञान की प्राप्ति के अनन्तर जब जीव की योगात्मक क्रिया भी समाप्त हो जाती है तब जो जीव को मुक्ति प्राप्त नहीं होती है इसका कारण यह कि जीव द्रव्यात्मक दृष्टि से उस समय भी परावलम्बी रहा करता है क्योंकि अघाती कर्मों का उदय उस समय भी उसे प्रभावित किये रहता है। इस तरह यह निर्णीत होता है कि १४ वें गुणस्थान के अन्त समय में अघाती कर्मों का भी पूर्णतया क्षय हो जाने से जब जीव द्रव्यात्मक दृष्टि से भी पूर्ण स्वावलम्बी हो जाता है तभी उसके निश्चय सम्यक्चारित्र की पूर्णता समझनी चाहिए। इस तरह मोक्षमार्ग की पूर्णता १४ वें गुणस्थान के अन्त समय में होने से एक तो उससे पूर्व जीव मुक्ति नहीं पा सकता है दूसरे उस समय निश्चय चारित्र की पूर्णता हो जाने से मोक्षमार्ग की भी पूर्णता हो जाने पर यह जीव फिर एक क्षण के लिए संसार में भी नहीं ठहरता है।[२]

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन, क्षायोपशमिक सम्यग्ज्ञान और क्षायोपशमिक सम्यक्चारित्र को व्यवहार मोक्षमार्ग या व्यवहार सम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहार सम्यक्चारित्र इसलिए कहा जाता है कि इनमें मोक्ष की साक्षात् कारणता नहीं है परंपरया अर्थात् निश्चय मोक्षमार्ग या

१— केवलात् प्रागेव क्षायिकं यथाख्यातचरित्रं संपूर्णं ज्ञानकारणकमिति न शंकनीयं तस्य मुक्त्युत्पादने सहकारिविशेषापेक्षितया पूर्णत्वानुपपत्तेः।

(तत्वार्थश्लोक वा० पृ० ७० पंक्ति ६)

२— इति स्थितं कालादिसहकारिविशेषापेक्षक्षायिकं चारित्रं क्षायिकत्वेन संपूर्णमपि मुक्त्युत्पादने साक्षादसमर्थं केवलात्प्राक्कालभावि तदकारकं केवलोत्तरकालभावितु साक्षात् मोक्षकारणं संपूर्णकेवलकारणकमन्यथातदघटनात्। (तत्त्वार्थश्लोक वा० पृष्ठ ७१ पंक्ति १५) निश्चयनयाश्रयणे तु यदनन्तरं मोक्षोत्पादस्तदेव मुख्यं मोक्षस्य कारणमयोगिकेवलिचरमसमयवर्तिरत्नत्रयमिति निरवद्यमेतत्तत्वविदामाभासते। (तत्वा० श्लो० वा० पृष्ठ ७१ पंक्ति २७)

ततो मोहक्षयोपेतः पुमानुद्भूतकेवलः। विशिष्टकारणं साक्षादशरीरत्वहेतुना॥
रत्नत्रितयरूपेणायोगिकेवलिनोन्तिमे। क्षणे विवर्तते ह्येतदबाध्यं निश्चयनयात्॥

(तत्त्वार्थश्लोक वा० पृष्ठ ७१ वार्तिक ६३, ६४)

निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान और निश्चय सम्यक्-चारित्र का कारण होकर ही मोक्ष क कारणता विद्यमान है जैसाकि पूर्व में हम विस्तार से स्पष्ट कर चुके हैं। इसी प्रकार क्षायिक सम्यग्दर्शन, क्षायिक सम्यग्ज्ञान और क्षायिक सम्यक्चारित्र को निश्चय मोक्ष मार्ग या निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान और निश्चय सम्यक्-चारित्र इसलिए कहा जाता है कि इनमें मोक्ष की साक्षात् कारणता रहा करती है। यह बात भी हम पूर्व में विस्तार से स्पष्ट कर चुके हैं।

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन, क्षायोपशमिक सम्यग्ज्ञान और क्षायोपशमिक सम्यक्चारित्र को व्यवहार मोक्ष-मार्ग या व्यवहार सम्यग्दर्शन, व्यवहार सम्यग्ज्ञान और व्यवहार सम्यक्-चारित्र नाम से पुकारने में तथा औपशमिक व क्षायिक सम्यग्दर्शन, क्षायिक सम्यग्ज्ञान और औपशमिक व क्षायिक-चारित्र को निश्चय मोक्षमार्ग या निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान और निश्चय सम्यक्-चारित्र नाम से पुकारने में प्रकारान्तर से यह युक्ति भी दी जा सकती है कि आगम में स्वाश्रितपने को वस्तु का निश्चय धर्म व पराश्रित पने को वस्तु का व्यवहार धर्म माना गया है।[1] इस तरह औपशमिक व क्षायिक सम्यग्दर्शन, क्षायिक ज्ञान और औपशमिक व क्षायिक चारित्र ये सभी चूंकि यथा योग्य अपने अपने प्रतिपक्षी कर्मों के सर्वथा उपशम या सर्वथा क्षय हो जाने पर ही जीव में उद्भूत होते हैं अतः पूर्णरूप से स्वाश्रयता पायी जाने के कारण इन्हें निश्चय नाम से पुकारना योग्य है तथा क्षायोपशामिक सम्यग्दर्शन, क्षायोपशमिक सम्यग्ज्ञान और क्षायोपशमिक सम्यक्-चारित्र ये सभी चूंकि अपने अपने प्रतिपक्षी कर्मों के सर्वघाती अंशों के यथायोग्य उदयाभावी क्षय तथा सदवस्थारूप उपशम एवं देशघाती अंशों के उदय के सद्भाव में ही जीव में उद्भूत होते हैं अतः पूर्ण रूप से स्वाश्रयता नहीं पायी जाने अथवा कथंचित् पराश्रयता पायी जाने के कारण इन्हें व्यवहार नाम से पुकारना योग्य है।

यहां पर कोई कह सकता है कि द्रव्यलिंग और भावलिंग के रूप में भी दर्शन, ज्ञान और चारित्र का वर्णन आगम में पाया जाता है। इनमें से तद्रूपता का अर्थ भाव-लिंग होता है और अतद्रूपता का अर्थ द्रव्यलिंग होता है। इस तरह जो जीव यथायोग्य मोहनीय कर्म का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम न रहने के कारण दर्शन, ज्ञान और चारित्र की भावरूपता को नहीं प्राप्त होते भी तद्रूप के समान बाह्याचरण करते हैं उनमें तो द्रव्यलिंग के रूप में ही दर्शन, ज्ञान और चारित्र रहा करते हैं, लेकिन जो जीव यथायोग्य मोहनीय कर्म का उपशम, क्षय अथवा क्षमोपशम हो जाने के कारण दर्शन, ज्ञान और चारित्र की भावरूपता को प्राप्त होकर तदनुकूल वाह्याचरण करते हैं उनमें भावलिंग के रूप में दर्शन, ज्ञान और चारित्र रहा करते हैं। इनमें से जो जीव द्रव्यलिंग के रूप में दर्शन, ज्ञान और चारित्र के धारक हैं वे व्यवहार मोक्ष-मार्गी और जो जीव भावलिंग के रूप में दर्शन, ज्ञान और चारित्र के धारक हैं वे निश्चय मोक्ष मार्गी आगम में स्वीकार किये गये हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जो क्षायोपशमिक

१—आत्माश्रितो निश्चयनयः, पराश्रितो व्यवहारनयः। (समयसार गाथा २७२ की आत्मख्याति)

सम्यग्दृष्टि, क्षायोपशमिक सम्यग्ज्ञानी और क्षायोपशमिक सम्यक्–चारित्री जीव हैं उन्हें भी निश्चय मोक्ष-मार्गी या निश्चय सम्यग्दृष्टि, निश्चय सम्यग्ज्ञानी और निश्चय सम्यक्–चारित्री ही कहना उचित है, उन्हें व्यवहार मोक्षमार्गी या व्यवहार सम्यग्दृष्टि, व्यवहार सम्यग्ज्ञानी और व्यवहार सम्यक्–चारित्र कहना उचित नहीं है।

उपर्युक्त समस्या का समाधान यह है कि व्यवहार और निश्चय इन दोनों शब्दों के प्रकरणानुसार विविध अर्थ आगम में स्वीकार किये गये हैं। जैसे कहीं भेद–रूपता व्यवहार है और अभेद–रूपता निश्चय है कहीं नाना-रूपता व्यवहार है और एक-रूपता निश्चय है, कही पर्याय-रूपता व्यवहार है और द्रव्य-रूपता निश्चय है, कहीं विशेष-रूपता व्यवहार है और सामान्य-रूपता निश्चय है कहीं व्यतिरेकरूपता व्यवहार है और अन्वयरूपता निश्चय है, कहीं विभाव-रूपता व्यवहार है, और स्वभावरूपता निश्चय है, कहीं अभाव–रूपता व्यवहार है और भाव-रूपता निश्चय है, कहीं अनित्य–रूपता व्यवहार है और नित्य-रूपता निश्चय है, कहीं असद्रूपता व्यवहार है और सद्रूपता निश्चय है, कहीं विस्तार-रूपता व्यवहार है और कहीं संक्षेप या संग्रह–रूपता निश्चय है, कहीं पराश्रय-रूपता व्यवहार है और स्वाश्रय-रूपता निश्चय है कहीं विधेय–रूपता, साधनरूपता व कारण–रूपता व्यवहार है और उद्देश्य–रूपता, साध्य–रूपता व कार्य रूपता निश्चय है, कहीं परम्परा-रूपता व्यवहार है और साक्षात्रूपता निश्चय है, कहीं निमित्त-रूपता व्यवहार है और उपादान-रूपता निश्चय है, कहीं बहिरंग-रूपता व्यवहार है और अंतरंग-रूपता निश्चय है, कहीं उपचार, अभूतार्थ, असद्भूत–रूपता व्यवहार है और परमार्थ, भूतार्थ, सद्भूत–रूपता निश्चय है। इन या इसी प्रकार के और भी व्यवहार और निश्चय शब्द के संभव अर्थों में से जहां जिस प्रकार का अर्थ ग्रहण करने से प्रकरण की सुसंगति होती हो वहां पर उसी प्रकार का अर्थ व्यवहार और निश्चय शब्दों का ग्रहण कर लेना चाहिये। इस प्रकार द्रव्यलिंग के रूप में जो दर्शन ज्ञान और चारित्र किसी जीव में रहा करते हैं उन्हें बाह्यरूपता के आधार पर व्यवहार दर्शन, ज्ञान और चरित्र कहना तथा भावलिंग के रूप में जो दर्शन ज्ञान और चारित्र किसी जीव में रहा करते हैं उन्हें अन्तरंग रूपता के आधार पर निश्चय दर्शन, ज्ञान और चारित्र कहना भी संगत है एवं क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन, क्षायोपशमिक सम्यक्-ज्ञान और क्षायोप-शमिक चारित्र को पराश्रयता के आधार पर व्यवहार सम्यग्दर्शन, व्यवहार सम्यक्ज्ञान और व्यवहार सम्यक्चारित्र नामों से पुकारना तथा औपशमिक और क्षायिक सम्यक्दर्शन, क्षायिक ज्ञान व औपशमिक और क्षायिक चारित्र को स्वाश्रयता के आधार पर निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यक्ज्ञान और निश्चय सम्यक्चारित्र नाम से पुकारना भी संगत है।

जैनागम में जो नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के रूप में चार निक्षेपों का वर्णन पाया जाता है उनमें से नाम, स्थापना और द्रव्य इन तीन को तो व्यवहार निक्षेप रूप जानना चाहिये तथा भाव को निश्चय निक्षेप रूप जानना चाहिये। जैसे वास्तव में अर्थात् निश्चय रूप में तो वही जीव जैनी कहा जा सकता है जो भाव से जैनी हो अर्थात् सम्यग्दृष्टि हो लेकिन जो जीव सम्यग्दृष्टि बनने की क्षमता को

प्राप्त हैं उस जीव को भी द्रव्यरूप से व्यवहार में जैनी कहा जा सकता है इसी प्रकार जो जीव न तो सम्यग्दृष्टि है, न सम्यग्दृष्टि बनने की क्षमता को प्राप्त है लेकिन चूंकि जैन कुल में उत्पन्न हुआ है अतः उसे भी व्यवहार में नाम रूप से जैनी कहा जाता है तथा जो जीव न तो सम्यग्दृष्टि है, न सम्यग्दृष्टि बनने की क्षमता प्राप्त है लेकिन गृहस्थ के छह[1] आवश्यक कृत्यों को अवश्य कर रहा है उसे स्थापना रूप से व्यवहार में जैनी माना जाता है। इस तरह सर्वत्र हमें व्यवहार और निश्चय की प्रक्रिया को सुसंगत कर लेना चाहिये श्रद्धेय पंडित प्रवर आशाधरजी ने सागारधर्मामृत में नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के रूप में विभक्त सभी जैनों की जो तरतम भाव से महत्ता बतलायी है[2] उससे व्यवहार की महत्ता प्रस्फुटित होती है।

मैं समझता हूं कि अब तक के विवेचन से आगम द्वारा स्वीकृत निश्चय और व्यवहार दोनों के मोक्ष-मार्गों की निर्विवाद स्थिति व सार्थकता अच्छी तरह सिद्ध हो जाती है अतः लेखनी को विराम दिया जाता है।

१—देव सेवा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट्-कर्माणि दिने दिने ॥
(यशतिलकचम्पू आश्वासन ८ प्रकीर्ण विधिकल्प।

२—नामतः स्थापनातोऽपि जैनः पात्रायतेतराम्।
स लभ्यो द्रव्यतो धन्यैर्भावतस्तुमहात्मभिः ॥२'५४॥

आयुर्वेद और मानव जीवन

कविराज पं० धर्मचंदजी शास्त्री आयुर्वेदाचार्य B. I. M. S.

आयुर्वेद एक शास्वत जीवन विज्ञान है। इसका अस्तित्व भी जीव की अनादिता के समान अनादि है। ऐलोपेथी होमियोपेथी प्रभृति वर्तमान अनेक चिकित्सा प्रणालियां इस व्यापक जीवन विज्ञान की अंग मात्र कही जा सकती हैं, पूर्ण जीवन विज्ञान नहीं। आयु और जीवित अथवा जीवन पर्यायवाची शब्द हैं। जैसा कि चरक ने कहा है।

शरीररेन्द्रियसत्वात्मसंयोगधारिजीवितम्।
नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते ॥ (च० सं० अ० १)

शरीर, इन्द्रियां, मन और आत्मा इन सबके संयोग का नाम ही आयु है। धारि, जीवित (जीवन) नित्यग और अनुबंध ये सब आयु के ही नामान्तर हैं। इस प्रकार आयुर्वेद का वाच्यार्थ होता है—

"आयुषोजीवितस्य वेद-आगमः शास्त्रमित्यर्थः—आयुर्वेदः"।

अर्थात् जीवन शास्त्र का नाम आयुर्वेद है। इतनी व्यापक परिभाषा किसी भी चिकित्सा शास्त्र और प्राणि-विज्ञान की कहीं नहीं की गई है। यही कारण है कि विश्व की समस्त चिकित्सा-प्रणालियां आयुर्वेद की अनेक रूपक चिकित्सा प्रणाली की अंग मात्र हैं। भारतीय अजैनागम में आयुर्वेद को अथर्व-वेद का अंग माना है, जब कि जैनागम में इसे द्वादशांग के प्राणिवाद नामक अंग का भाग स्वीकार किया है। इस प्रकार शास्त्रीय दृष्टि से आयुर्वेद आप्तोपदिष्ट शास्वत आगम का अंग है।

आयुर्वेद का प्रयोजन स्वस्थ-पुरुष के स्वास्थ्य की रक्षा और व्याधित पुरुष की व्याधि का शमन करना है। तथा हि—"तथाहि प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणंमातुरस्य विघ्नप्रशमनंच"

आयुर्वेद की ही भांति स्वस्थ का जितना निर्दोष, अविकल, और विशद स्वरूप भारतीय जीवन विज्ञान में किया है उतना अन्यत्र नहीं है। अन्य चिकित्सा शास्त्र एवं प्रणालियां केवल पाँच भौतिक पार्थिव शरीर के सौष्ठव तथा उसकी कारणभूत, रस, रक्तादि धातुओं की स्वभाविक निर्दोष क्रिया को ही स्वास्थ्य मानती हैं। किन्तु भारतीय आयुर्वेद की दृष्टि में यह स्वास्थ्य का स्वरूप तब तक अधूरा है जब तक कि मानसिक और आध्यात्मिक स्वास्थ्य न हो। बल्कि शारीरिक स्वास्थ्य की सत्ता उन दोनों स्वास्थ्यों पर निर्भर है। स्वस्थ्य पुरुष का कितना अनूठा लक्षण आयुर्वेद में हैं। देखिये—

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः ।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमना स्वस्थ इत्यभिधीयते ।।

अर्थात्-वात, पित्त, कफ, इनकी साम्यावस्था, जठराग्नि की समानता, रस रक्तादिधातुओं का यथोचित रूप में निर्माण व क्रिया मल मूत्र आदि का यथा समय निश्चित मात्रा में निर्माण और निःस्वरण, इन शारीरिक क्रियाओं के होने के साथ जिसके मन और आत्मा भी प्रसन्न (निर्विकार) हैं, वही स्वस्थ है । यहां पर मन और आत्मा की प्रसन्नता विशुद्ध रूपेण व्यक्ति के विचारों पर निर्भर है । मानसिक एवं आध्यात्मिक शास्त्र की छाप भौतिक स्वास्थ्य पर अनिवार्य रूपेण पड़ती है । इस प्रकार बहिरंग और अन्तरंग उभय प्रकार का स्वास्थ्य तथा उसके मूल कारण शुद्ध आहार बिहार तथा विचार जब तक न होंगे, मनुष्य स्वस्थ नहीं कहा जा सकता ।

आयुर्वेद का मुख्य लक्ष्य, मनुष्य जीवन (पर्याय) का चरम उद्देश्य (उसकी सर्वोच्च स्थिति) मोक्ष (आत्म कल्याण) प्राप्त करना है । खेती करने वाले किसान का प्रधान उद्देश्य अनाज प्राप्त करना होता है । घास, फूस जैसी वस्तुएं उसे अनायास ही मिल जाती हैं । इसी तरह चरम लक्ष्य (मोक्ष) को प्रधान मान व्यवहार करने वाले जीव के लौकिक सिद्धि स्वयं होती है । इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए भारतीय विचारकों ने मनुष्य जीवन को चार भागों में विभक्त किया है । धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष । उन्हें चार पुरुषार्थ के नाम से भी कहा है । इन पुरुषार्थों की सिद्धि का मुख्य उपाय आरोग्य को माना है और इनके विघातकों में रोगों का स्थान सर्व प्रथम है । तथाहि—

धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यमूलमुत्तमम् ।
रोगास्तस्यापहर्तारः श्रेयसोजीवितस्यच ।।

उपर्युक्त चार पुरुषार्थों का पालन करते हुए आत्म कल्याण करने का मूल हेतु आयुर्वेद ही है । इस प्रकार के आरोग्य और तन्मूलकमोक्ष एवं सुखी सांसारिक जीवन के नाश करने वाले रोग हैं । अतः प्रत्येक व्यक्ति को अपनी लौकिक सिद्धि के लिए नीरोग रहना अनिवार्य है । और यह आयुर्वेद के सिद्धांतों का पालन करने से ही सम्भव है । अतः धर्म और आयुर्वेद इन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता । ये परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं ।

आयुर्वेद-शास्त्र में मुख्यतः दो प्रकार के रोग बताये जाते हैं । शारीरिक और मानसिक । इसमें से शारीरिक रोगों का प्रतिकार औषध सेवन तथा मानसिक व्याधियों का निवारण ज्ञान, विज्ञान, धैर्य स्मृति और समाधि (सब ओर से चित्तवृत्ति हटाकर आत्मस्थ होना) का अवलम्बन लेना बताया है । तथाहि

प्रशाम्यत्यौषधैः पूर्वो, दैवयुक्तिव्यपाश्रयैः ।
मानसो ज्ञान विज्ञान धैर्यस्मृतिसमाधिभिः ।।

धी, धृति, स्मृति समाधि, ये सब धर्म के ही नामान्तर हैं । उनमें से कुछ विचारात्मक और कुछ आचारात्मक हैं । यह इस बात का सबूत है कि धार्मिक अनुष्ठान, सदाचरण, मन इन्द्रियों को वश में रखना, ये सब चिकित्सा के विविध रूप हैं । फिर लोक में जीव मात्र की समस्त प्रवृत्तियां सुखार्जन हेतु होती हैं । सुख की प्राप्ति बिना धर्म असम्भव है । इसलिए जिन लोगों की आस्था भौतिक-वाद तक सीमित है, शारीरिक सौष्ठव ही जो चाहते हैं, उन्हें भी अपनी अपनी सफलता के लिए धर्माराधन करना आवश्यक है । भले ही वे उसे कानून का पालन, नियमों पर अमल करना, या कर्तव्य (ड्यूटी) कुछ भी कहें । आयुर्वेद इसी सिद्धान्त का पोषक है—

सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः
सुखं च न बिना धर्मात्तस्माद्धर्मपरोभवेत् ॥ —(अ० सू० अ० २)

आयुर्वेद-शास्त्र का स्वस्थवृत्त-प्रकरण (हायजीन) भारतीय धर्म शास्त्र के प्राण, आचार शास्त्र का ही अंग है । उसे पढ़ने वाला यही मानता है कि मैं किसी चारित्र ग्रन्थ का अध्ययन कर रहा हूं । सारे धर्म और आचार का उद्देश्य प्राणिरक्षा, भूत–दया या आत्मवत्सर्वभूतेषु की भावना है । इसमें दो मत नहीं हो सकते । कहना न होगा कि आयुर्वेद की परिधि भी यहीं समाप्त होती है । इसलिए यह भी धर्म का अंग है । जिसका विवेचन शारीरिक दृष्टिकोण से किया है । चिकित्सा का लक्ष्य अर्थोपार्जन नहीं अपितु भूत-दया है । दानों में औषधदान को श्रेष्ठ माना है । इसको जीवनदान भी कहा है । इस दृष्टिकोण से भी आयुर्वेद परम धर्म है । तथाहि

नार्थार्थं, नापिकामार्थमथ भूतदयां प्रति ।
वर्तते यश्चिकित्सायां स सर्वमतिवर्तते ॥ (च० चि० अ० १)

और भी—

धर्मार्थदाता सदृशस्तस्य नेहोपलभ्यते ।
न हि जीवितदानाद्धि दानमन्यद्विशिष्यते ॥ (च० चि० अ० १)

चिकित्सक की यह उद्दाम एवं परोपकार पूर्ण भावना बिना धर्म और आध्यात्मिक विश्वास के सम्भव नहीं । वर्तमान में उपलब्ध प्राचीनतम आयुर्वेदीय आर्षसंहितायें इसका प्रमाण हैं चरक संहिता का मूलाधार वैशेषिक दर्शन है, जबकि सुश्रुत संहिता की नींव सांख्य दर्शन पर रखी हुई है । ये दोनों दर्शन अध्यात्मवाद और आचार शास्त्र के परमपोषक हैं । दर्शन, वैचारिक या ऊहापोहात्मक धर्म का नाम हैं । जबकि आचार उसका क्रियात्मक अथवा मूर्तरूप है । आयुर्वेदिक सिद्धांत स्वयं दर्शन है । पथ्य का सेवन अपथ्य का परिहार उसका आचारात्मक धर्म है । इसलिए आयुर्वेद और धर्म ये अक्षरात्मक भिन्नता रखते हुए भी लक्ष्य विन्दु के रूप में एक हैं ।

सभी क्षेत्रों में विवेक भ्रष्टता या प्रज्ञापराध प्रथम कोटि का पाप या आत्मापराध माना गया

है। सभी प्रकार के दुःखों का वह मूल है। आयुर्वेद भी इससे पूर्णतया सहमत है। प्रज्ञापराध से ही वात पित्त कफादि दोष कुपित होकर समस्त प्रकार के रोग उत्पन्न करते हैं। अतः सभी आचार्यों ने इसे (प्रज्ञापराध) ही सर्व प्रथम छोड़ने का उपदेश दिया है। इसके त्याग से उत्पन्न व्याधियां तो दूर होती ही हैं, होने वाली व्याधियाँ भी नहीं हो पातीं। तथाहि—

त्यागः प्रज्ञापराधानां, इन्द्रियोपशमः धृतिः
देशकालात्मविज्ञानं सद्वृत्तस्यानुवर्तनम् ॥
आगन्तूनामनुत्पत्तावेषमार्गोनिदर्शितः ।
प्राज्ञः प्रागेवतत्कुर्याद्धितं विद्याद्यदात्मनः ॥

इन्हीं सारी विवेचनाओं का भंडार धर्म शास्त्र भी है। मनुष्य के अन्दर जब आस्तिक्य (जीवादि द्रव्यों का अस्तित्व) भावना सुदृढ होती है, तब अपने को सुखी बनाने के लिए अनुकूल साधनों की जिज्ञासा, प्रतिकूल पदार्थों के त्याग की तत्परता भी स्वतः उत्पन्न होती है। इस दिशा में उसका प्रयास ही चिकित्सा कही जाती है, धार्मिक क्षेत्र में इसी को सदाचार या चारित्र कहेंगे। उभयलौकिकीसिद्धि और अन्तिम लक्ष्य मोक्षकी प्राप्ति का इससे सरल मार्ग कोई दूसरा नहीं है। आयुर्वेद के उपस्थाता प्राचीन आचार्य इस रहस्य से सुपरिचित थे। ऐसे आयुर्वेद शास्त्र के प्रणेता आचार्यों में से अन्यतम आचार्य वाग्भट का निम्न श्लोक इस तथ्य पर पूर्ण, साधिकार प्रकाश डालता है। सामान्य जन यह निर्णय नहीं कर पाते कि यह पद्य आचार शास्त्र का है या स्वास्थ्य विज्ञान का। सार्वदेशिक व आत्यन्तिक स्वस्थता प्राप्त करने के व्यापक उपायों का इतना सुन्दर, सयुक्तिक एवं प्रामाणिक संक्षिप्त प्रतिपादन अन्यत्र नहीं मिलता। वे कहते हैं—

"नित्यं हिताहार विहार सेवी, समीक्ष्यकारी व्यसनेष्वसक्तः ।
दाता, समः, सत्यपरः, क्षमावान्, आप्तोपसेवी च भवत्यरोगः ॥"

सदा हितकारी आहार विहार करने वाला, विवेकशील, निर्व्यसनी, दाता, सब जीवों में साम्य-भाव रखने वाला, अथवा सब अवस्थाओं में समान बुद्धि रखने वाला, सत्यपरायण, क्षमावान् और आप्त पूज्य-प्रामाणिक पुरुषों का आराधक हमेशा नीरोग (शारीरिक व आध्यात्मिक उभय दृष्टि-कोणों से) रहता है। आचार्य ने राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ मूलक विविध कर्मों को और वात, पित्त, कफ हेतु असंख्य शारीरिक विकृतियों को समान रूप से रोग माना है। इनसे निवृत्त होने का मार्ग भी समान बताया है। भौतिक और आध्यात्मिक उभय क्षेत्र की स्वस्थता व स्वतन्त्रता ही वास्तविक स्वास्थ्य है, यह तथ्य इससे ध्वनित होता है। इसी प्रकार की स्वस्थता हासिल करना आयुर्वेद का सही लक्ष्य है। श्लोक के अन्तरंग में निहित भावको हम आयुर्वेद कहें या चारित्र (धर्म) यह हमारे पर निर्भर है। भिन्न ही कहना यदि अभीष्ट है तो भी इनके बीच परस्पर पूरक होने के तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता। आयुर्वेद की सार्वदेशिक सार्वजनीनता के पक्ष में इतना लिखना पर्याप्त है।

भारतीय चिकित्सा पद्धति और जैनाचार्यों का योगदान

श्री डा० राजकुमारजी गोयल स्नातकोत्तर प्रशिक्षण केन्द्र, जामनगर

आयुर्वेद शब्द का अर्थ आर्ष ग्रन्थों में "आयुर्जीवितमुच्यते" विद् ज्ञाने धातुः, विद्लृलाभे च, आयुरनेन ज्ञानेन विद्यते ज्ञायते विन्दते लभते न रिष्यतीत्यायुर्वेदः, (आयु का अर्थ जीवन, उसके साथ विद्ज्ञाने धातु या विदलृ लाभे धातु से आयुर्वेद शब्द बनता है, अर्थात् इसके द्वारा आयु का ज्ञान होता है या आयु की प्राप्ति होती है इसलिए इसे आयुर्वेद कहते हैं।

कुछ विद्वानों का मत है कि "आधुनिक चिकित्सा पद्धति" "आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति" से प्राचीन है। उनका कहना है कि यूरोप में चिकित्सा विज्ञान का प्रादुर्भाव ईसवी संवत् से पूर्व पांचवी शताब्दी में (ई. पू. ४६०) हिपोक्रिटस (Hippocrates) नामक ग्रीक विद्वान के द्वारा हुआ है, जो कि वहां के चिकित्सा विज्ञान का पिता कहलाता है। उसके चिकित्सा ग्रन्थों में जीरा, अदरक मरिच, दालचीनी, इलायची, तेजपत्र, आदि कुछ ऐसी वस्तुओं का प्रयोग मिलता है जो कि यूरोप में उत्पन्न नहीं होतीं अपितु केवल भारत में ही उत्पन्न होती हैं, तथा भारतीयों द्वारा ही ज्ञात हैं। उससे ६० वर्ष पूर्व (ई. पू. ४००) थियोफ्रेस्टस (Theophrastus) नामक विद्वान् के लेख में भी बहुत सी भारतीय वनस्पतियों का प्रयोग मिलता है. इसी प्रकार अन्य भी बहुत से प्राचीन पाश्चात्य चिकित्सकों द्वारा भारतीय वनस्पतियों तथा औषधियों का उल्लेख मिलने से यह कहना कि उनकी चिकित्सा में भारतीय चिकित्सा विज्ञान का प्रभाव है, तो मैं समझता हूं कोई अत्युक्ति न होगी।

Cf. Berthelat लिखते हैं कि प्राचीन मिश्र देश में भी अथर्ववेद के अनुसार ही मन्त्र, तन्त्र, सहित चिकित्सा विज्ञान तथा रसायन शास्त्र का व्यवहार होता था।

किन्तु हमारे आर्ष मुनियों का कथन है कि प्राणियों की उत्पत्ति से पूर्व ही सृष्टि के आरम्भ में 'आयुर्वेद' की उत्पत्ति हुई, जैसे कहा है "अनुत्पाद्यैव प्रजा आयुर्वेद मेवाऽग्रे ऽसृजत्"। यदि प्राणी उत्पन्न होते ही मिथ्योपचार के कारण नष्ट हो जांय तो सृष्टा का परिश्रम ही व्यर्थ होगा। "अभिज्ञान शाकुन्तलम्" जो कि कवि कालिदास के द्वारा रचा गया है, उसमें भी उन्होंने लिखा है—

> उदेति पूर्वं कुसुमं ततः फलं, घनोदयः प्राक् तदनन्तरं पयः।
> निमित्तनैमित्तिकयोरयं क्रमस्तव प्रसादस्य पुरस्तु सम्पदः॥

"तब प्रसादस्य पुरस्तु सम्पदः" इस वाक्य के अनुसार प्रसाद (कृपा) से पूर्व ही सम्पदाओं के होने के समान ही वास्तव में सृष्टि के साथ आयुर्वेद का आलंकारिक रूप से घनिष्ठ एवं निकट सम्बन्ध बतलाया है। अथवा बालक की उत्पत्ति से पूर्व ही स्तन्य (दूध) की उत्पत्ति के समान ही सृष्टि से पूर्व ही आयुर्वेद की उत्पत्ति वस्तुतः सम्भव हो सकती है।

जैनाचार्यों का कथन है कि जब उत्तमोत्तम कार्यों में जीवन यापन करने वाले पुरुषों में भी नाना प्रकार के विघ्नों को उत्पन्न करने वाले रोग होने लगे, उस समय भरत चक्रवर्ती आदि भव्यों ने भगवान आदिनाथ स्वामी के समवशरण में जाकर सविनय वन्दना की और स्वास्थ्य रक्षा के लिए योग्य उपाय पूछा जो कि निम्न श्लोक से स्पष्ट है—

तं तीर्थनाथमधिगम्य विनम्रमूर्ध्ना
सप्रातिहार्यविभवादिपरीतमूर्तिम्
स प्रश्रयाः त्रिकरणोरुकृत-प्रणामाः।
पप्रच्छुरित्थ—मखिलं भरतेश्वराद्याः॥

जैनाचार्यों का काल निर्णय एवं उनके द्वारा रचित ग्रन्थ।

(१) नंद्याचार्य

ये अष्टांग आयुर्वेद [(१) शल्य, (२) शालाक्य, (३) कायचिकित्सा, (४) भूतविद्या, (५) कौमारभृत्य, (६) अगदतन्त्र, (७) रसायन तन्त्र, (८) वाजीकरण] त्रिदोष (वात, पित्त, कफ) जन्य भयंकर रोग व उनको नाश करने वाले औषध, प्रतिकार विधि इत्यादि सर्व विषयों को जानने वाले मुनि ने 'उग्रादित्याचार्य' को आयुर्वेद के विषय में उपदेश दिया। इनका काल उग्रादित्याचार्य के काल निर्णय से किया गया है। अतः इनको श. संवत ८ वीं शताब्दी में, एवं विक्रम व क्रिस्त की ९ वीं शताब्दी का मानते हैं। निम्न श्लोक से स्पष्ट होता है कि इन्होंने उग्रादित्याचार्य को उपदेश दिया है:, और ये आयुर्वेद के ज्ञाता थे—

श्री नंद्याचार्यादशेषागमज्ञाद्ज्ञात्वा दोषान् दोषजानुग्ररोगान्।
तद्भैषज्य प्रक्रमं चापि सर्वं प्राणावादादेतदुधृत्य नीतम् ॥८४॥ —कल्याणकारक

(२) उग्रादित्याचार्य—

इनका एक ही ग्रन्थ जिसका नाम "कल्याणकारक" है अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं विशाल है। इसमें सभी अंगों का वर्णन है। इनका काल निर्णय अलग अलग विद्वानों ने भिन्न भिन्न विचारों से प्रकट किया है यथा—पार्श्वाभ्युदय की रचना श्री महर्षि जिनसेन की थी। उसमें सर्ग के अन्त में निम्न उल्लेख मिलता है।

"इत्यमोघवर्षपरमेश्वरपरमगुरुश्रीजिनसेनाचार्यविरचिते मेघदूतवेष्टिते पार्श्वाभ्युदय भगवत्कैवल्य वर्णनं नाम चतुर्थ: सर्ग: इत्यादि"

इससे स्पष्ट है कि अमोघवर्ष के गुरु जिनसेन थे। इसी बात का समर्थन Mediacval Jainism नामक पुस्तक में प्रसिद्ध इतिहास वेत्ता सालेतोर ने किया है। श्री उग्रादित्याचार्य महाराजाधिराज श्री वल्लभ नृपतुंग अमोघवर्ष के समकालीन थे। इस विषय का समर्थन प्रसिद्ध पुरातत्व वेत्ता प्राक्तनविमर्श विचक्षण महामहोपाध्याय श्री रायबहादुर नरसिंहाचार्य M. A. M. R. A. S. ने निम्नलिखित शब्दों से किया है—

Another manuscript of some interest is the medical work "Kalyanakaraka" of "Ugraditya", a Jain author, who was a Contemporary of the Rashtrakuta king Amoghavarsha I and of the Eastern Chalukya king kali Vishnuvardhana V. The work opens with the statement that the science of medicine in divided into two parts, namely prevention and cure, and gives at the end a long discourse in sanskirt prose on the uselessness of a flesh diet said, to have been delevered by the author at the court of Amoghavarsha, where many learned men and doctors had assembled.

"Mysore Archaeological Report"
1922. Page 23.

अर्थात् एक कई मनोरंजक विषयों से परिपूर्ण आयुर्वेद ग्रन्थ "कल्याणकारक" श्री उग्रादित्याचार्य द्वारा रचित मिला है, जो कि जैनाचार्य थे और राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ष प्रथम व चालुक्य राजा कलि विष्णुवर्धन पंचम के समकालीन थे। ग्रन्थ का प्रारम्भ आयुर्वेद तत्व के प्रतिपादन के साथ हुआ है, जिसके दो विभाग किये गये हैं। एक रोग रोधन व दूसरा चिकित्सा। अन्तिम एक गद्यात्मक प्रकरण में उस विस्तृत भाषा को लिखा है, जिसमें मांस की निष्फलता को सिद्ध किया है, जिसे कि अनेक विद्वान् व वैद्यों की उपस्थिति में नृपतुंग की सभा में उग्रादित्य ने दिया था।

उपर्युक्त उदाहरणों से यही निर्णय निकलता है कि वे अमोघवर्ष प्रथम के समकालीन अर्थात् श. सवत् ८ वीं शताब्दी में एवं विक्रम व क्रिस्त की ९ वीं शताब्दी में इस धरातल को सुशोभित कर रहे थे।

(३) सिद्ध नागार्जुन—

मेरुतुंगाचार्य कृत "प्रबन्ध चिन्तामणि" देखने से ज्ञात होता है कि ये पादलिप्त सूरि के शिष्य थे, उनसे ही इन्होंने आकाशगमन विद्या सीखी थी। इनके सम्बन्ध में एक कथा इस प्रकार मिलती है—समुद्र में प्राचीन काल में पार्श्वनाथ की एक रत्न जटित मूर्ति द्वारिका के पास डूब गयी थी, जिसका किसी सौदागर ने उद्धार किया। गुरु से यह जानकर कि उन्हीं पार्श्वनाथ के पादमूल में बैठकर यदि कोई

पतिव्रत, सर्वलक्षण समन्विता स्त्री पारे को घोंटे तो कोटिवेधी रस सिद्ध होगा। नागार्जुन ने अपने शिष्य राजा सातवाहन की रानी चन्द्रलेखा से पार्श्वनाथ की रत्नमूर्ति के सामने पारद मर्दन करवाया था। रानी के पुत्रों ने रस के लोभ से नागार्जुन को मार डाला। इसमें कुछ असंगतियां हैं; परन्तु कुछ बातें स्पष्ट हैं (१) नागार्जुन रसेश्वर सिद्ध थे। (२) गोरखपन्थियों की पारसना की शाखा के प्रवर्तक थे। (३) दक्षिण भारत के निवासी थे। (४) नागपन्थ के १२ आचार्यों में इनका नाम है। इनके द्वारा रची हुई रचनायें मुख्य रूप से नागार्जुनकल्प, नागार्जुनकक्षपुट आदि का उल्लेख है। इन्होंने 'अजखेचर गुटिका" नामक स्वर्ण बनाने की गुटिका को भी तैयार किया था। ये ९ वीं शताब्दी के आसपास माने जाते हैं।

(४) चारित्र सुन्दर गणि—

ये राजा कर्पादि के समय हुए हैं। इनका समय संवत् ११९९ है। इन्होंने कुमारपाल चरित्र लिखा है। ये भी आयुर्वेद प्रवीण थे।

(५) हेमाद्रि—

ये ईश्वर सूरि के पुत्र थे, इन्होंने १४६८ ईसवी में "लक्ष्मण प्रकाश" नामक ग्रन्थ लिखा था, जिसमें आयुर्वेद प्रवर्तक बहुत से मुनियों के नाम हैं।

(६) जैन नारायण शेखर—

ये १६७६ ईसवी में हुए। इन्होंने "योगरत्नाकर" नामक ग्रन्थ लिखा था। इसमें पथ्यापथ्य विधि दी गई है। इससे पहले ग्रन्थों में पथ्यापथ्य सम्बन्धी विचार नहीं हुआ था, इसी से कर्त्ता ने लिखा है—

आलोक्य वैद्यतन्त्राणि यत्नादेष निबध्यते।
व्याधितानां चिकित्सार्थं पथ्यापथ्यविनिश्चयः॥
निदानौषधपथ्यानि त्रीणि यत्नेन चिन्तयेत्।
ते नैवरोगाः शीर्यन्ते शुष्के नीरे इवाकुंराः॥

इसके अलावा इन्होंने वैदवृन्द, वैद्यामृत, ज्वर निर्णय, ज्वर त्रिशति आदि पर टीका लिखी।

(७) हर्षकीर्ति सूरि—

इनका काल १६-१७ वीं शताब्दी माना जाता है। इन्होंने "योग चिन्तामणि" नामक ग्रन्थ लिखा है।

(८) पूज्यपाद—

ये ९ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुए हैं। ये राष्ट्रकूट के रहने वाले थे, ऐसा उल्लेख कल्याण-कारक में मिलता है। इनके द्वारा लिखा गया "पूज्यपादीय" ग्रन्थ है।

(९) समन्तभद्र—

इनको पूज्यपाद के पहले माना है, क्योंकि पूज्यपाद के ग्रन्थों में इनका नाम मिलता है। इनका प्रसिद्ध गन्थ "सिद्धान्त रसायन कल्प" था, जिसमें १८ हजार श्लोक थे, इस समय यह ग्रन्थ पूरा तो नहीं इसके कुछ श्लोक यत्र तत्र देखने को मिलते हैं। इस ग्रन्थ में जैन प्रक्रियाओं का उल्लेख था। यथा—"रत्नत्रयोषध" से वज्रादि रत्न न लेकर जैन शास्त्र में प्रसिद्ध सम्यक्‌दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यय-चारित्र इन तीनों रत्नों का ग्रहण किया है। ये तीन रत्न जिस प्रकार से मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान को नष्ट करते हैं, उसी प्रकार ये पारस, गन्धक और पाषाण (माणिक्यादि रत्न) ये तीन रत्न वात, पित्त, कफ तीनों को नष्ट करते हैं। इसीलिए रसायन को रत्नत्रय कहते हैं।

(१०) हंसदेव

ये मध्यकालीन विद्वान् माने जाते हैं। इनके द्वारा लिखा "मृगपक्षी शास्त्र" अपने विषय का अनूठा एवं प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। इसमें सिंह के ६ भेद बताए हैं—

(१) सिंह (२) मृगेन्द्र (३) पञ्चास्य (४) हर्यक्ष (५) केसरी (६) हरि। इसके अतिरिक्त व्याघ्र, जरख, भालू, गैंड़ा, हाथी, गरुण, हंस, बाज, गिद्ध, कौवा, उल्लू कोयल आदि पक्षियों का निवास भोजन, मैथुनकाल, गर्भकाल, उम्र एवं चिकित्सा आदि विस्तृत वर्णन मिलता है।

इससे ये सिद्ध होता है कि जैनाचार्यों के द्वारा मनुष्य मात्र का कल्याण नहीं हुआ बल्कि पशु पक्षियों का भी उद्धार हुआ है।

दुःख का सबसे बड़ा कारण अज्ञान

श्री ताराचंदजी जैन बी. ए. एल एल. बी., आर. टी. एस. जयपुर

नाज्ञानतोऽन्यद्भयमस्तिकिंचित्-नाज्ञानतोऽन्यच्च तमोऽस्ति किंचित् ।
नाज्ञानतोऽन्यो रिपुरस्ति कश्चित् नाज्ञानतोऽन्यो ऽस्ति हि दुःखहेतु ।।

वरांगचरित तृतीय सर्ग श्लोक ।।५६।।

अज्ञान से और कोई बड़ा भय नहीं, अज्ञान से ज्यादा अन्य कोई अंधकार नहीं, अज्ञान से बड़ा दूसरा कोई शत्रु नहीं और अज्ञान से बड़ा दूसरा कोई दुःख का कारण नहीं ।

अपना और परका अज्ञान मिटाने का प्रयत्न करना महान् कर्तव्य है ।

इसी तत्व को लक्ष्य में रखते हुए सागार-धर्मामृत में पंडित प्रवर आशाधर जी ने कहा है कि—

विनेयवत् विनेतृणामपि स्वाध्याय-शालया ।
बिना विमर्शशून्या धीर्दृष्टेप्यंधायतेऽध्वनि ।।२–३९।।

जिन मंदिरों में या अन्यत्र भी स्वाध्यायशाला के बिना श्रोताओं शिष्यों की तरह वक्ताओं उपदेष्टाओं की बुद्धि भी विचार शून्य होकर देखे हुये मार्ग में भी अंधे के समान दृष्टिहीन हो जाती है ।

यदि अनपढ़ या अल्प पठित मुनि बन जाय और बन जाना उचित है बनाना भी महान् कर्त्तव्य है परन्तु साथ ही ज्ञानादि गुणों से संयुक्त और प्रकृष्ट भी करना चाहिये ऐसा पंडित प्रवर आशाधारजी ने कहा है—

जिनधर्मं जगद्बंधुमनुबद्धमपत्यवत् । यतीन् जनयितुं यस्येत् तथोत्कर्षयितुं गुणैः ।।

जगत् के बंधु जैनधर्म की परंपरा को अविच्छिन्न बनी रखने के लिए, जैसे अपनी वंश परंपरा चलते संतानोत्पादन ही नहीं किया पुत्र दत्तक तक लिया जाता है वीतराग भावापन्न व्यक्तियों को यति(मुनि) बनाते रहने का प्रयत्न करना चाहिये और उनको विशिष्ट ज्ञानादि गुणों से संयुक्त एवं उत्कृष्ट प्रकृष्ट करने का भी प्रयत्न सदैव करना चाहिये ।

एक हिन्दी कवि ने कहा है कि—

जो फुलेल देने पर उसे पी जावे और कहे कि बड़ा मीठा लगा अर्थात् उसे मीठा बतलाकर प्रशंसा करे उसे इत्र दिखाने से क्या लाभ ?

करि फुलेल को आचमन मीठो कहैं सराहि ।
रे गंधी मति अंध तू इत्र दिखावत काहि ।।

दीघनिकाय और निगण्ठ नातपुत्त का चातुर्याम संवर

श्री डा० परमेष्ठिदासजी जैन एम. ए. बी. टी. पीएच. डी.
आचार्य एस. पी. जैन गुरुकुल खुरई (मध्यप्रदेश)

बौद्धत्रिपिटिक में सुत्त पिटक के दीघनिकाय का बड़ा महत्व है। इस ग्रन्थ में सीलक्खंधवग्ग महावग्ग और पाथिक वग्ग नामक ३ वर्ग हैं। इस ग्रन्थ में बौद्ध धर्म सम्बन्धी अनेक ज्ञातव्य बातों का वर्णन है। साथ ही अन्य मतों के सम्बन्ध में भी यत्र तत्र सामग्री बिखरी पड़ी है। कहीं कहीं उस सामग्री के मूल स्वामी का नामोल्लेख आया है और कहीं कहीं मत या कार्य सम्बन्धी आलोचना मात्र की गई है। इस सामग्री को एकत्रित करके उसे सरलता के साथ विभिन्न मतों में विभाजित किया जा सकता है।

सीलक्खंध वग्ग के सामञ्जफलसुत्त में ६ दार्शनिक मतों का वर्णन आया है।

(१) पूर्ण काश्यप का मत (अक्रियवाद)
(२) मक्खलि गोशाल का मत (दैववाद)
(३) अजितकेश कम्बल का मत (जड़वाद, उच्छेदवाद)
(४) प्रक्रुध कात्यायन का मत (अकृततावाद)
(५) निगण्ठ नाथपुत्त का मत (चातुर्याम संवर)
(६) संजय वेलट्ठि पुत्त का मत (अनिश्चिततावाद)

जहां इन ६ प्रवर्तकों के मतों का वर्णन आया है, वहां की स्थिति का ज्ञानकर लेने से वस्तु स्थिति अधिक सुस्पष्ट हो जावेगी।

राजा अजातशत्रु वैदेही पुत्र अपने महल के ऊपर बैठा हुआ है। पूर्णिमा की रात्रि है। रमणीय चांदनी छिटकी हुई है। राजा का मन अत्यधिक प्रसन्न है और वह अपने चित्त को सत्संग के द्वारा प्रसन्न करना चाहता है। राजमन्त्री नाम लेकर विभिन्न प्रवर्तकों से धर्म चर्चा करने की सलाह देते हैं। एक मन्त्री ने मगधराज से यह कहा—महाराज ! यह निगण्ठ नाथपुत्त संघ स्वामी=गण-अध्यक्ष, गणाचार्य, ज्ञानी, यशस्वी, तीर्थङ्कर (मत स्थापक) बहुत लोगों से सम्मानित, अनुभवी, चिरकाल का साधु, वयोवृद्ध है। महाराज उसी निगण्ठ नाथपुत्त से धर्म चर्चा करें, उनके साथ थोड़ी सी चर्चा करने से चित्त प्रसन्न हो जावेगा। उसके ऐसा कहने पर मगधराज अजातशत्रु, वैदेहि पुत्र चुप रहा।

यह बात सुनकर मगधराज चुप हो जाते हैं। इसका कारण तब मालूम पड़ता है, जब उनका साक्षात्कार महात्मा बुद्ध से होता है। मगधराज ने महात्मा बुद्ध से पूछा—क्या श्रामण्य (भिक्षुपन का) फल भी इसी जन्म में प्रत्यक्ष (फलदायक) बतलाया जा सकता है ?

इस प्रश्न का उत्तर न देकर महात्मा बुद्ध ने पूछा—महाराज ! इस प्रश्न को दूसरे श्रमण ब्राह्मण को भी पूछ (उत्तर) जाना है ? स्वीकारात्मक उत्तर सुनकर महात्मा बुद्ध ने उसे सुनने की इच्छा प्रकट की। तब मगधराज ने ६ प्रवर्तकों के मतों का वर्णन किया। उसमें निगण्ठ नाथपुत्त के मत का भी वर्णन आया है। वह निम्न प्रकार से है—

मगधराज ने कहा—भन्ते ! एक दिन मैं जहां निगण्ठ नाथपुत्त थे, वहां गया। जाकर निगण्ठ नाथपुत्त के साथ मैंने संमोदन किया····एक ओर बैठकर····यह पूछा—हे नाथपुत्त ! यह भिन्न भिन्न शिल्प स्थान (विद्या, कला) हैं जैसे कि हस्ति आरोहण, अश्वारोहण, रथिक, धनुर्ग्राह, चेलक, चलक, पिंडदायक उग्र राजपुत्र, महानाग, शूर, चर्मयोधी, दास पुत्र, आलारिक, कल्पक, नहापक, सूद, मालाकार, रजक, पेशकार, नलकार, कुंभकार, गणक, मुद्रिक और जो दूसरे भी इस प्रकार के भिन्न भिन्न शिल्प हैं (इनके) शिल्प फल से (लोग) इसी शरीर में प्रत्यक्ष जीविका करते हैं, उससे अपने को सुखी करते हैं, तृप्त करते हैं। मित्र, अमात्यों को सुखी करते हैं तृप्त करते हैं। ऊपर ले जाने वाला, स्वर्ग ले जाने वाला, सुख विपाक वाला, स्वर्ग गार्गीय, श्रमण ब्राह्मणों के लिए दान, स्थापित करते हैं। क्या भन्ते ! उसी प्रकार श्रामण्य (=भिक्षुपन का) फल भी इसी जन्म में प्रत्यक्ष (फलदायक) बतलाया जा सकता है ?

"ऐसा कहने पर भन्ते ! निगण्ठ नाथपुत्त ने यह उत्तर दिया—'महाराज ! निगण्ठ चार (प्रकार के) संवरों से संवृत्त (=आच्छादित, संयत) रहता है। महाराज ! निगण्ठ चार संवरों से कैसे संवृत्त रहता है। महाराज !

(१) निगण्ठ (=निग्रन्थ) जल के व्यवहार का वारण करता है।
(२) सभी पापों का वारण करता है।
(३) सभी पापों के वारण करने से धुत पाप (पाप रहित) होता है।
(४) सभी पापों के वारण करने में लगा रहता है।

महाराज ! निगण्ठ इस प्रकार चार संवरों में संवृत्त रहता है। महाराज ! क्योंकि निगण्ठ इन चार प्रकार के संवरों से संवृत्त रहता है, इसीलिए वह निर्ग्रन्थ, गतात्मा (=अनिच्छुक) यतात्मा (=संयमी) और स्थितात्मा कहलाता है।

"भन्ते ! प्रत्यक्ष श्रामण्यफल के पूछने पर निगण्ठ नाथपुत्त ने चार संवरों का वर्णन किया····तब मेरे मन में यह हुआ—कैसे मुझ जैसा (कोई राजा) अपने राज्य में बसने वाले किसी श्रमण या

ब्राह्मण को देश से निकाल दे ? भन्ते सो मैंने निगण्ठ नाथपुत्त के कहे हुए का न तो अभिनन्दन किया और न निन्दा की। न बड़ाई, न निन्दा करके खिन्न हो, कोई खिन्न बात भी न कहकर, उस (उसकी कही हुई) बात को न स्वीकार कर और न उसका ख्यालकर आसन से उठकर चल दिया।

इस परिस्थिति में स्वाभाविक रूप से कई प्रश्न उठते हैं। इनका समाधान करना आवश्यक प्रतीत होता है।

(१) सामञ्ज फल सुत्त में वर्णित नियमों का प्रयोजन क्या है ?
(२) किन आधारों पर प्रश्न का परीक्षण किया जा सकता है ?
(३) तीर्थङ्कर महावीर ने प्रश्न के उत्तर में जो बात कही है, उसकी यथार्थता का परीक्षण तथा विवेचन का आधार क्या है ?

प्रयोजन

इस वर्णन में भिक्षु होने का प्रत्यक्ष फल आता है। राजा के द्वारा यह कहलाया गया है कि अन्य मतों के संस्थापक अपूर्ण ज्ञान के धारी हैं। अतः उनके मत अपूर्ण हैं और अपूर्ण होने से उनके मत कल्याणकारी नहीं हैं। जब राजा ने महात्मा बुद्ध से श्रमण होने का प्रत्यक्ष फल सुना तो वह अत्यधिक प्रभावित हुआ और उसने उस धर्म को अंगीकार करने की अभिलाषा प्रकट की। स्पष्ट है कि इस वर्णन के ३ प्रयोजन रहे हैं।

(१) बौद्ध मत के सिवाय भारत में जितने मत प्रचलित हैं, वे पूर्णता को प्राप्त नहीं हुए हैं क्योंकि उनके संस्थापक प्रवर्तक अपूर्ण ज्ञान के धारी हैं जिसके कारण वे राजा के प्रश्न का सही उत्तर देने में असमर्थ रहे। यदि वे संस्थापक पूर्ण ज्ञान के धारी होते, तो राजा को अपनी बुद्धि और तर्क के द्वारा अवश्यमेव सन्तुष्ट कर देते। परन्तु इस वर्णन में राजा को कोई मत संस्थापक सन्तुष्ट नहीं कर सका।

(२) महात्मा बुद्ध अन्य प्रवर्तकों के समान अपूर्ण ज्ञान के धारी नहीं हैं। वे पूर्ण ज्ञान के धारी हैं। वे राजा के प्रश्न का समाधान करने में सफल हुए। उनके द्वारा प्रदत्त उत्तर से राजा अत्यधिक सन्तुष्ट हुआ और अन्त में राजा ने महात्मा बुद्ध की बहुत प्रशंसा की। पूर्णता होने के कारण बौद्धमत ही कल्याणकारी है। इस वर्णन का दूसरा प्रयोजन ध्यान में आता है।

(३) तुलनात्मक विवेचन करने का लक्ष्य एक धर्म की श्रेष्ठता प्रदर्शित करना है। इससे ऐसा आभास मिलता है कि इस स्थिति में महात्मा बुद्ध का यह उद्देश्य या प्रयोजन रहा हो कि उस समय के प्रचलित मुख्य मतों की हेयता तथा बौद्ध मत की उपादेयता प्रदर्शित की जावे जिससे भारतीय जन इस धर्म की ओर अधिक आकृष्ट हो सकें।

यह वर्णन एक प्रभावशाली शैली में हुआ है। महात्मा बुद्ध ने अन्य मतों का खण्डन नहीं किया। यही बात महात्मा बुद्ध अपने मुख से कहते तो उसका इतना प्रभाव नहीं पड़ सकता था। परन्तु यहां अन्य मतावलम्बी के मुख से अन्य मतों की आलोचना तथा बौद्धमत की श्रेष्टता प्रदर्शित की गई है।

इस वर्णन में एक बात विचारणीय है कि जब राजा ने कहा—आज से यावज्जीवन भगवान मुझे अपनी शरण में आया उपासक स्वीकार करें तब महात्मा बुद्ध ने उसके पाप पूर्ण कार्यों के प्रति पश्चाताप की प्रशंसा तो की परन्तु राजा के चले जाने के पश्चात् कहा कि—इस राजा का संस्कार अच्छा नहीं रहा, यह राजा अभागा है। यदि यह राजा अपने धार्मिक धर्मराज पिता की हत्या न करता तो आज इसे इसी आसन पर बैठे बैठे विरज, निर्मल, धर्मचक्षु उत्पन्न हो जाता।

प्रश्न का परीक्षण

जब हम निगण्ठ नाथपुत्त के मत की समीक्षा करने बैठते हैं, तब हमें प्रश्न की ओर पहले दृष्टिपात करना पड़ता है। यहां मत शब्द का उपयोग गलत है क्योंकि यह तो प्रकृत में एक उत्तर मात्र है। प्रश्न यह था कि क्या श्रमण होने का फल प्रत्यक्ष बतलाया जा सकता है ? इस प्रश्न में सबसे अधिक ध्यान देने योग्य शब्द है प्रत्यक्ष। मालूम पड़ता है कि इसके पहले श्रमण होने के परोक्ष फल का विवेचन किया गया होगा लेकिन उससे सन्तोष न होने के कारण यह प्रश्न उपस्थित हुआ है।

उस समय दो प्रकार की संस्कृतियों का प्रचार था। (१) श्रमण संस्कृति (२) ब्राह्मण संस्कृति। प्रश्नकर्त्ता यह जानना चाहता था कि श्रमण बनने से इस लोक में क्या फल मिलता है ? यदि उसके प्रश्न का समाधान हो जावे, तो वह श्रमण बन जावे। आगे जाकर यही हुआ कि उसने अपने मन का समाधान प्राप्त करके बौद्ध धर्म को अंगीकार करने की इच्छा प्रकट की।

इस प्रश्न का विश्लेषण उस प्रकार से हो सकता है। (१) श्रमणभाव कार्य (२) श्रमण भाव कार्य का फल। वह फल भी दो प्रकार से है। (१) एहलौकिक (प्रत्यक्ष) (२) पारलौकिक (परोक्ष)।

वर्तमान समय में भी यह एक समस्या है कि जब तक मानव को किसी कार्य का प्रत्यक्ष या एहलौकिक फल न दिखे तब तक वह कोई कार्य करने के लिए प्रयत्नशील नहीं होता। स्पष्ट है कि भौतिकवाद का फल उसे प्रत्यक्ष दिखाई देता है इसलिए वह उसमें फंसा रहता है। अध्यात्मवाद की ओर लोगों की कम रुचि है। इसी संदर्भ में हम भूतकालीन परिस्थिति का परीक्षण कर सकते हैं।

भौतिकवाद के बंधनों में जकड़ा वह राजा सच्चे सुख को प्राप्त नहीं कर सका। उसे सब प्रकार के साधन उपलब्ध थे। अपने सुख व शान्ति के मार्ग में बाधक अपने पिता की हत्या करने में भी उसे किसी प्रकार का भय या संकोच नहीं हुआ। इस निकृष्ट कार्य के उपरान्त उसे सुख व शान्ति का

रसास्वादन नहीं हुआ, तब वह विभिन्न मतों के संस्थापकों के पास सच्चे मार्ग की खोज में निकला। लेकिन किसी भी मार्ग पर चलने के पूर्व वह उसके प्रत्यक्ष फल को देखना चाहता है। इस परिस्थिति में यह प्रश्न उपस्थित हुआ है।

उत्तर का परीक्षण तथा विवेचन

अजातशत्रु के प्रश्न के उत्तर में महात्मा बुद्ध ने कहा कि निर्ग्रन्थ चार प्रकार के संवरों से आच्छादित रहता है। वहां संवर शब्द का विशेष महत्त्व है।

सबसे पहले दीघनिकाय में संवर शब्द के अर्थों पर विचार करते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि इस शब्द का उपयोग दो अर्थों में किया गया है।

(१) संयम (२) रक्षा

जहां [१] इस शब्द का अर्थ संयम है, वहां पांचों इन्द्रियों और मन को वश में करने के लिए कहा गया है। इस स्थान पर इन्द्रिय संयम शब्द का प्रयोग न करके इन्द्रिय संवर का ही प्रयोग किया गया है। निम्नलिखित दो वाक्यों पर ध्यान देने की आवश्यकता है।

(१) वह भिक्षु इस प्रकार शील सम्पन्न हो इस शील संवर के कारण कहीं से भय नहीं देखता।

(२) वह इस प्रकार के आर्य संवर से युक्त हो अपने भीतर परम सुख को प्राप्त करता है। पहले संवर का अर्थ रक्षा है और दूसरे संवर का अर्थ संयम।

दूसरे अर्थ को प्रदर्शित करने वाला एक कथन सक्क पञ्ज सुत्त में भी आया है।

इस शब्द के सम्बन्ध में जैन दर्शन क्या कहता है, इस पर भी दृष्टिपात कर लेना चाहिए। जैन दर्शन में सात तत्वों का वर्णन आया है।[२] उनमें से संवर एक तत्व है। संवर जिन कारणों से होता है उनमें एक कारण संयम भी है (त. सू. ९/२ तथा ९/६)। संयम के दो भेद किये गये हैं-(१) प्राणि संयम (२) इन्द्रिय संयम। प्राणि संयम का अर्थ है प्राणियों की रक्षा करना और इन्द्रिय संयम का अर्थ है पांचों इन्द्रियों तथा मन को वश में रखना।

इनकी तुलना दीघनिकाय में वर्णित अर्थों से की जावे, तो कोई विभिन्नता दृष्टिगोचर नहीं होती बल्कि इन दोनों साहित्य में ज्यों का त्यों अर्थ पाया जाता है। इस विवेचन से यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जैन दर्शन में संयम से जो बात कही गई है, वही बात बौद्ध दर्शन में संवर से कही गई है। इसीलिए निर्ग्रन्थ मत के संयम शब्द को ही बदलकर वहां रखा गया है।

---

१. दीघनिकाय १/२
२. तत्वार्थसूत्र १/३

निर्ग्रन्थ चार संवर से संवृत रहता है। अब विचार यह करना है कि इन संवरों की गणना चार है या न्यूनाधिक। उपलब्ध चार प्रकारों पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि वे चार नहीं हैं, एक ही है। वह है पाप से निवृत्ति। प्रश्न यह है कि संवर चार हैं या एक। यदि चार हैं तो सिर्फ एक का विवरण क्यों दिया गया ?

यह संभव है कि भगवान महावीर ने चार संवरों का उपदेश दिया हो। राजा को चार की गिनती तो याद रही हो, उसके भेद स्मृति में न रहे हों। अपनी कल्पना के अनुसार व्याख्या कर दी हो। इसका अनुसंधान करना आवश्यक है कि वे चार संवर कौन कौन से होंगे।

दीघनिकाय (३/१०) के संगीति परियाय सुत्त में बौद्ध मन्तव्यों की सूची दी गई है। वहां चार प्रधान संवरों की गिनती करायी गई है जिसके अन्तर्गत मुख्य रूप से पाँचों इन्द्रियों तथा मन को वश में करने तथा हिंसादि पापों को त्यागने का वर्णन आया है।

दीघनिकाय [1] का निम्नांकित अंश दृष्टव्य है—

"न्यग्रोध ! तपस्वी चार संयमों (चातुर्यमि संवर) से सुरक्षित होता है। कैसे तपस्वी चार संयमों से सुरक्षित होता है ? न्यग्रोध ! तपस्वी जीव हिंसा नहीं करता है, न करवाता है न जीव हिंसा करवाने में सहमत होता है। न चोरी करता है, न झूठ बोलता है न पांच भोगों में प्रवृत्त होता है। इस प्रकार तपस्वी चार संयमों से सुरक्षित होता है।"

एक स्थान [2] पर इन्द्रिय को वश में करने के लिए कहा गया है। वहीं प्राति मोक्ष संवर से मुक्त होने के लिए कायिक और वाचिक आचरण समझने के लिए कहा गया है।

चार प्रकार के संवरों में पहला प्रकार है कि निर्ग्रन्थ जल के व्यवहार का वारण करता है। इसमें प्रश्न यह उठता है कि साधु निर्ग्रन्थ जल का बिल्कुल ही उपयोग नहीं करता या कि किसी विशेष प्रकार के जल का उपयोग विशेष कार्यवश करता है या वह जल का उपयोग क्यों नहीं करता। इन सबका समाधान इस ग्रन्थ में नहीं मिलता। इसके लिए हमें जैन ग्रन्थों का आश्रय लेना पड़ेगा।

आचाराङ्ग सूत्र [3] में जलकायिक जीवों की हिंसा न करने का उपदेश दिया गया है। साधु स्नान नहीं करता इसमें उसके दो लक्ष्य निहित हैं। (१) शरीर से सर्वथा ममत्व का त्याग (२) जल के उपयोग से होने वाली हिंसा से बचाव। साधु शौचादि से शुद्धि के लिए जल का प्रयोग करता है तथा भोजन में पीने के लिए भी जल का प्रयोग करता है। परन्तु यह जल विधि के अनुसार प्रासुक होना चाहिए।

दूसरे, तीसरे तथा चौथे प्रकार में यह कहा गया है कि वह सभी पापों का वारण करता है—इससे वह धुतपाप होता है और वह पापों के वारण में लगा रहता है। इन तीनों में एक ही बात कही गई है। निर्ग्रन्थ साधु किसी प्रकार का पापारम्भ नहीं करता। यहां प्रश्न उठता है। वे पाप कौन कौन से हैं और कितने हैं ? इसका समाधान भी इस ग्रन्थ में नहीं है।

---

१. दीघनिकाय३/२ पृ० २३०। २. वही २/८ पृ० १८७। ३. आ. सू १/१/३

पाप शब्द का प्रयोग दीघनिकाय (३/८) में आया है। वहां यह बात बताई गई है कि पुत्र के द्वारा सेवित होने पर माता पिता अपने पुत्र पर पांच प्रकार से अनुकम्पा करते हैं। उनमें से पहला यह है कि पाप से निवारण करते हैं।

दूसरे स्थान (३/८) पर यह कहा गया है कि 'किन चार स्थानों से पाप कर्म नहीं करना चाहिए (१) छन्द (२) द्वेष (३) मोह (४) भय के रास्ते से जाकर पाप कर्म करता है।

इसी के आगे यह लिखा है कि "छन्द, द्वेष, भय और मोह से जो धर्म का अतिक्रमण करता है, कृष्ण पक्ष के चन्द्रमा की भांति उसका यश क्षीण होता है।"

यहां पाप का अर्थ धर्म का अतिक्रमण या उलंघन बताया गया है।

कुशल धर्मों का वर्णन १० प्रकार से आया है।

(१) प्राणातिपात विरति (२) अदत्तादान (३) काम मिथ्याचार विरति (४) मृषावाद विरति (५) पिशुन वचन विरति (६) परुष वचन विरति (७) संप्रलाप विरति (८) अन-अभिध्या (९) अव्यापाद (१०) सम्यग्दृष्टि।

महात्मा बुद्ध उपदेश देते हुए कहते हैं ? भिक्षुओ ! तब उन सत्वों के मन में यह होगा—हम लोग पापों (=अकुशलधर्मों) के करने के कारण इस प्रकार के घोर जाति विनाश को प्राप्त हुए हैं, अतः पुण्य का आचरण करना चाहिए। (१) हम लोग जीव हिंसा से विरत रहें। (२) चोरी* (३) मिथ्य:चार* (४) मिथ्या भाषण* (५) चुगली खाने* (६) कठोर बोलने* (७) व्यर्थ के बकबाद* (८) अनुचित लोभ* (९) हिंसाभाव* (१०) मिथ्यादृष्टि*।

उक्त लिखित कुशल धर्मों का वर्गीकरण किया जावे तो हमें स्पष्ट मालूम पड़ता है कि इनमें ५ व्रत और एक सम्यग्दर्शन ही सम्मिलित है। इनका जैन दर्शन में ऐसा ही वर्णन आया है—

(१) अहिंसा (२) सत्य (३) अचौर्य (४) ब्रह्मचर्य (५) अपरिग्रह (६) सम्यग्दर्शन।

अब हमें अपना ध्यान मुख्य प्रश्न और उसके उत्तर पर देना चाहिए। राजा ने प्रश्न किया था कुछ और उसका उत्तर भगवान महावीर ने कुछ और ही दिया जिससे प्रश्नकर्ता को सन्तोष नहीं हुआ। इस परिस्थिति में कई प्रश्न उपस्थित होते हैं, जिनका समाधान विज्ञवर करने की कृपा करेंगे।

(१) भगवान महावीर ने जान बूझकर अभीष्ट उत्तर नहीं दिया।
(२) राजा अजातशत्रु भगवान के द्वारा प्रदत्त उत्तर को समझ नहीं सके।
(३) कल्पित घटना होने के कारण यह वर्णन ही सत्यता से परे है।

---

१. दीघनिकाय ३/३ पृ० २३८

धर्म और शिक्षा

श्री लक्ष्मीचंदजी जैन 'सरोज' एम. ए. बी. एड, साहित्यरत्न

धर्म और शिक्षा, इन दोनों शब्दों से हम सभी काफी परिचित हैं और इन दोनों शब्दों ने मानव-जीवन में काफी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है। धर्म, यदि पुरुष और पशु में भेद बतलाने वाला दृष्टिकोण है जो शिक्षा, साहित्य-संगीत और कला की जननी है। जैसे मानव सभ्यता और संस्कृति की सुरक्षा के हेतु धर्म का आविर्भाव हुआ, वैसे ही मानवीय सुख-शान्ति और समृद्धि के निमित्त शिक्षा की भी श्रीवृद्धि हुई। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थों में धर्म को प्राथमिकता देना इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि धर्म, अर्थ और काम से बढ़कर है तथा वह मोक्ष का साधन है। इसलिये भारतीय दृष्टिकोण में अर्थकरी विद्या की अपेक्षा मुक्तिश्री विद्या मानी गई।

धर्म शिक्षा का स्रोत रहा और शिक्षा, धर्म की जननी रही।

धर्म की प्राच्य-पाश्चात्य परिभाषाएं

धर्म की एक से अधिक परिभाषायें हैं। उन सबका संकलन यहां संभव नहीं। अतएव छह प्राच्य और छह पाश्चात्य परिभाषायें ही पर्याप्त होंगी।

(१) मनुष्य जो धारण करे, वह धर्म है अर्थात् धर्म का सम्बन्ध व्यक्तिगत कर्तव्य-पालन से है, वह व्यष्टि-निष्ठतत्व है।[1]

(२) सही दृष्टि, ज्ञान और चारित्र धर्म है अर्थात् श्रद्धा-ज्ञान और प्रयोग धर्म है।[2]

(३) धर्म वस्तु का स्वभाव है। जैसे आग का गरम होना, पानी का ठंडा होना, सुई का तीक्ष्ण होना, रुई का कोमल होना, साधु का समभावी होना।[3]

(४) धर्म के दस लक्षण हैं:— १ धैर्य २ क्षमा ३ दमन ४ अस्तेय ५ स्वच्छता ६ इन्द्रिय-निग्रह ७ विद्वत्ता ८ विवेकशीलता ९ सत्य १० अक्रोध।[4]

१— धारणाद् धर्म इत्याहु धर्मो धारयति प्रजा।

२— सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।

३— वत्थु सहावो धम्मो।

४— धृति क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धी विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्॥
जैन सिद्धांत में धर्म के निम्न दश भेद किये गये हैं—
उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणिधर्मः॥

तत्वार्थसूत्र अध्याय ९

(५) अहिंसा लक्षण वाला धर्म है अर्थात् सभी धर्मों का मूल अहिंसा-दया है।[1]

(६) संसार के प्राणियों को जो दुख से उठाकर सुख में रख दे, वह धर्म है। अर्थात् दुख को सुख के रूप में परिणित करने वाला धर्म है।[2]

(७) अनन्त का साक्षात्कार करने के लिये, जो आन्तरिक शक्ति प्रयत्न करती है, वह धर्म है।
—मैक्समूलर

(८) आकाश गंगा के निर्माता तथा अच्छे शासक के प्रति और उसके जीवों के प्रति प्रेम ही मेरा धर्म है अर्थात् ईश्वर और उसके द्वारा बनाये गये प्राणधारियों से प्रेम करना धर्म है।
—एडम्स

(९) धर्म वह चेतना है जो उन कर्त्तव्यपरायणों एवं भक्तों में आती है, जो ज्ञान द्वारा उच्चतम मूल्यों को जानकर उनके प्रति सच्चे रहते हैं और शाश्वत तत्व के पक्ष में रहकर उनकी सहायता करते हैं।
—जानवेली

(१०) आदर्श लक्ष्य की ओर क्रिया-इच्छा का प्रबल निर्देशन-स्वामित्व ही धर्म है अर्थात् आदर्श की दिशा में उज्ज्वल प्रयत्न धर्म है।
—जे० एस० मिल

(११) धर्म, एक ऐसे तत्व का दिव्यदर्शन है, जो हमारे भीतर-बाहर परे है। जो यथार्थ है किन्तु जिसकी प्राप्ति की प्रतीक्षा है, जिसकी प्राप्ति अन्तिम कल्याण है पर जो हमारी पहुंच के बाहर है जो अन्तिम आदर्श तथा निराशा जनक खोज है।
—ह्वाइट हेड

(१२) धर्म, भाग्य पर शान्तिपूर्ण भरोसा है; दुर्जेय के प्रति शान्ति-युक्त आत्म समर्पण है, आशंका और दुख में रहने की प्रवृत्ति है, जीवन से ऊबना तथा मृत्यु के साथ मित्रता है।
—इनाजोनितोबे

संक्षेप में निष्कर्ष यह निकला। धर्म, पौर्वात्य दृष्टिकोण से सत्यं शिवं सुन्दरम् के अनुरूप जीवन को ढालने का प्रयत्न है। यह लोक की अपेक्षा परलोक को अधिक महत्व देता है। भोग से त्याग की ओर चलना उसका स्वभाव बना है। पौर्वात्य दृष्टिकोण में आदर्श अधिक है पर पाश्चात्य दृष्टिकोण में यथार्थ अधिक है। प्राच्य दृष्टिकोण में जहां जीवन के प्रति कुछ उदासीनता है, वहां पाश्चात्य दृष्टिकोण में जीवन की अनुभूतियों के प्रति जागरूकता है। धर्म के मूल भूत ध्येय के सम्बन्ध में पौर्वात्य धर्मविदों और पाश्चात्य धर्म चिन्तकों में विशेष मतभेद नहीं है। समष्टिकल्याण और आनन्द की आकांक्षा, सच्चिदानन्द स्वरूप की प्राप्ति, आत्मसमर्पण, कष्टसहिष्णुता, नैतिकतामय जीवन, श्रद्धा-ज्ञान और चरित्र के तत्व एवं तथ्य मिलकर धर्म की मूर्ति का सृजन करते हैं। पूर्ण सत्य, पूर्ण कल्याण और पूर्ण सुन्दरता को पाना ही धर्म का चरम उद्देश्य है। लौकिक और अलौकिक जीवन को पाप और पुण्य का दृष्टिकोण लिये मंगलमय बनाना ही धर्म का लक्ष्य है।

१— अहिंसा हिलक्खणो धम्मो। धर्मस्य मूलं दया।
२— संसारदुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे।

शिक्षा विषयक पौर्वात्य पाश्चात्य मान्यताएँ

शिक्षा के बिना पशु ही नहीं, शिशु भी असहाय है। शिक्षा, यह क्रिया है, जिससे जीवन का विकास होता है। साँस लेना, भोजन करना भी एक प्रकार की अतीव आवश्यक परम्परागत शिक्षा है। यद्यपि शिक्षा का अर्थ अधिकांश विचारक साक्षरता से गृहण करते हैं तथापि साक्षरता न तो शिक्षा का आदि है और न अन्त भी चूंकि साक्षर के आचरण विहीन होने पर पूर्णतया राक्षस बनने की भी सम्भावना है, अतएव विचार के धरातल में शिक्षा एक संस्कार है, ज्योतिर्मय पक्ष अथवा प्रशस्त पथ है। शिक्षा वह बौद्धिक चेतना है, जिसमें समाज की चिरसंचित वह सीख सम्मिलित है, जो अपूर्ण मनुष्य को पूर्ण और अक्षम व्यक्ति को सक्षम बनाती है। एक विद्वान् विचारक के शब्दों में "शरीर के लिये जो महत्ता और उपयोगिता भोजन की है, सामाजिक जीवन के लिये वही उपादेयता शिक्षा की है।" × अर्थात् शिक्षा मानसिक भूख है और मनोवैज्ञानिक शब्दों में जिज्ञासा की सन्तुष्टि है। दूसरे विचारक के शब्दों में "शिक्षा वह गत्यात्मक चेतना-प्रक्रिया है, जो मानव-जीवन को सुनियोजित करती है, उसमें अभूतपूर्व गरिमा भरती है।" + अर्थात् शिक्षा जीवन को उन्नत और उज्ज्वल तथा उत्कर्षमय बनाने का एक सुनिश्चित साधन है।

भारतीय राष्ट्र के पिता महात्मा गांधी का अभिमत है—"शिक्षा से मेरा अभिप्राय, बालक के शरीर और मन तथा आत्मा में अन्तर्निहित सर्वोत्तम शक्तियोंके सर्वांगीण प्राकट्य से है।"

विश्व की विभूति कवीन्द्र रवीन्द्र के शब्दों में शिक्षा की रूपरेखा है—"शिक्षा, मनुष्य की अन्तर्निहित शक्तियों का स्वाभाविक विकास है। शिक्षा का अर्थ मस्तिष्क को इस योग्य बनाना है कि वह सत्य की खोज कर सके।"

शिक्षा-शास्त्री भैरवनाथ झा का शिक्षा विषयक दृष्टिकोण यह है—"शिक्षा, एक प्रक्रिया-एक सामाजिक कार्य है, जो समाज अपने हित के लिये करता है।"

एक अन्य शिक्षाविद् डा० सुबोध अदावल का मत यह है—"शिक्षा, वह सुविचार प्रक्रिया है, जिसके द्वारा व्यक्ति के व्यवहार में परिवर्तन और परिवर्धन होता है, उसके अपने और समाज के उन्नयन के लिये।"

डा० सरयूप्रसाद चौबे के मत से शिक्षा का कार्य निम्नांकित है—"शिक्षा, वह साधना है, जिससे वातावरण सुधारा जाता है अथवा नये वातावरण की रचना की जाती है।"

स्वामी विवेकानन्द की शिक्षा विषयक मान्यता निम्नलिखित है—"मनुष्य की अन्तर्निहित पूर्णता की अभिव्यक्ति करना ही शिक्षा है।"

× डा० जॉन डीवी। + जॉन लाक

पूर्वोल्लिखित अभिमतों को ध्यान में रखते हुये हम कह सकते हैं कि प्राचीन काल की विद्या का और लोकभाषा की सीख का विकसित रूप शिक्षा है, जो संस्कृत भाषा की शिक्ष=शिक्षा देना धातु से बनी है और हमारे लिये प्रेरणा की दीप-शिखा है।

पाश्चात्य विचारकों ने भी लगभग ऐसे ही विचार शिक्षा के सम्बन्ध में प्रकट किये हैं, जिनमें से कुछ प्रस्तुत हैं।

अरस्तू के मतानुसार शिक्षा का कार्य यह है—

'स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क का निर्माण करना ही शिक्षा है।' अर्थात् शिक्षा का सम्बन्ध शरीर और मन दोनों की स्वस्थता से है।

शिक्षा के सम्बन्ध में सुकरात का विचार यह है—

'शिक्षा का अर्थ सर्वमान्य विचारों को, जो व्यक्तियों के मस्तिष्क में निसर्ग से निहित होते हैं, प्रकाश में लाना है।' यानी शिक्षा आन्तरिक शक्तियों का विकास है।

किंडरगार्टन प्रणाली के जन्मदाता फ्रॉबेल का शिक्षा विषयक विचार है—

'शिक्षा एक प्रक्रिया है जो बालक की आन्तरिक शक्तियों को वाह्य बनाती है।

गांधीजी को सर्वोदय की प्रेरणा देने वाले जॉन रस्किन ने शिक्षा की जो रूपरेखा दी है, वह आज के युग में एक ही है।

'तुम किसी व्यक्ति को यह बता कर नहीं शिक्षित करते हो अपितु उसे वह बताकर तुम शिक्षा देते हो जो कि वह नहीं है।'

अमेरिकन शिक्षा शास्त्री जॉन डीवी की शिक्षा विषयक मान्यता है—

"शिक्षा, उन सब शक्तियों के विकास को कहते हैं, जो व्यक्ति को इस योग्य बनाती है कि वह वातावरण को नियन्त्रित कर सके और अपनी सम्भावनाओं की पूर्ति कर सके।"

प्रो० जेम्स का अभिमत शिक्षा के सम्बन्ध में यह है—

"शिक्षा, कार्य-सम्बन्धी अर्जित स्वभावों का संगठन है जो व्यक्ति को भौतिक-सामाजिक संगठन के योग्य बनाती है।"

पूर्वोक्त शिक्षा विषयक मान्यताओं को ध्यान में रखते हुये यह सहज ही कहा जा सकता है कि शिक्षा आन्तरिक शक्तियों को बाहर लाना है, वह जीवन के लिए तैयारी है और स्वतन्त्र विकास का प्रयत्न है, उसे विकास का परिष्कार और नैतिक उत्थान तथा भौतिक उन्नति का प्रयास भी कहा जा सकता है। संक्षेप में शिक्षा, जीवन दर्शन का वह विकासोन्मुख पक्ष है, जिसमें युग का समन्वय, संश्लेषण

और सम्बर्द्धन का सन्देश निहित होता है। सच तो यह है कि शिक्षा को परिभाषाओं द्वारा समझना सहज सम्भव नहीं है, अतएव विचार के इस धरातल पर आकर कालिंगउड के स्वर में स्वर मिलाकर यही कहना उचित है—

"विराट क्षमताओं वाली शिक्षा की सीमित शब्द गत कोई परिभाषा करना उचित नहीं है। शाब्दिक परिभाषाओं के पीछे पागल नहीं बनकर उसकी अपरिसीम महत्ता को समझना, उसकी क्रिया-विधि को हृदयस्थ करना ही ठीक है।"

समन्वित स्वरूप पर विचार

धर्म और शिक्षा से व्यक्तित्व का सर्वतोमुखी विकास होता है। मानव-जीवन में पूर्णता आती है। वह इन दोनों के संयोग से प्रभावान और कलात्मक बनता है। दोनों से जीविकोपार्जन और ज्ञानार्जन में सहायता मिलती है। दोनों संस्कृति और चरित्र दृढ़ करते हैं। दोनों ही अवकाश और परिस्थिति के सम्बन्ध में यथोचित निर्देश देते हैं पर इतने पर भी दोनों में कतिपय मौलिक तत्वों के कारण भिन्नता कल थी, आज है और कल रहेगी।

शिक्षा का उद्देश्य आचरण का परिष्कार है और धर्म का उद्देश्य आत्मा में परमात्मा की विराटता के दर्शन करना है। शिक्षा के क्षेत्र में भाषा, इतिहास, भूगोल, गणित, नागरिकशास्त्र, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र जैसे विविध विषय मूलक उद्योग हैं पर धर्म तो अपने आप में एकमेव अद्वितीय ब्रह्म जैसा एकाकी है, यह एक दूसरी बात है कि उसने देश और समाजोपयोगी अन्य विषयों से भी परोक्ष रूप से थोड़ा बहुत सम्बन्ध स्थापित कर लिया हो। धर्म, विषय है और उसके क्षेत्र में शिक्षा जैसे विविध विषय नहीं हैं तथापि वह देश-काल, जाति-समाजगत सीमाओं से ऊपर है और मानवता मूलक सार्वभौमिक, सार्वकालिक तथा सार्वदेशिक है।

धर्म और शिक्षा के विषय को लेकर जो लोग हो हल्ला, सिरफुटौवल दण्डमृत्यु सम्मेलन करते कराते हैं, वे बुद्धिमान नहीं हैं।

भारतीय शिक्षा के विकास का इतिहास साक्षी है कि वैदिक कालीन और ब्राह्मणीय शिक्षा में वैदिक धर्म की अत्यधिक प्रधानता रही। बौद्धकालीन शिक्षा में भी धार्मिक पाठ्यक्रम ने आधे से अधिक स्थान घेर रखा था। मध्यकालीन शिक्षा में भी मकतबों और मदरसों के माध्यम से इस्लाम धर्म के प्रचार और प्रसार के लिये पर्याप्त प्रयत्न किया गया। योरोपीय मिसनरियों का तो प्रमुख उद्देश्य ही भारत में ईसाई धर्म का प्रचार करना था। चार्ल्स वुड के घोषणा पत्र से लगाकर कोठारी आयोग तक (भारतीय शिक्षा आयोग, भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम, कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग, हर्टाग समिति, वुड एबटरिपोर्ट, सार्जेन्ट योजना, राधाकृष्णन कमीशन, मुदालियर कमीशन) जो भी शिक्षा के विकास के लिये आयोग मूलक योजनायें बनीं, उन सभी का धर्म से प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूप से कुछ न

कुछ सम्बन्ध अवश्य ही बना रहा। अर्वाचीन स्वतन्त्र भारत की धर्म निरपेक्षता मूलक दृष्टि नवीन सद्य:जात नहीं है, उसकी घोषणा तो आज से लगभग ग्यारह दशक पहले भारतीय शिक्षा आयोग कर चुका था। आज जो कोठारी कमीशन में धार्मिक नैतिक शिक्षा पर बल दिया गया, आधुनिक भारतीय जीवन की स्थितियों के अनुरूप ही है, उससे विद्यार्थियों में अनुशासन की संभावनायें बढ़ेंगी।

पूर्वापर पक्षों पर विचार

'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' अर्थात् शरीर, धर्म का साधन है। लोक में आत्मा के अस्तित्व का आधार है। कविकुलगुरु कालिदास के उद्धृत मंगलमन्त्र को दुहराने वाले धर्मात्मा भी कभी-कभी धनपुत्र-यश की लालसा लेकर, आशा से भी अधिक कर्मकाण्डी बातें ध्यान में रख कर एकाशन उपवास करते हैं और तत्वार्थ सूत्र के प्रणेता उमास्वामी की शक्तित: तप और शक्तित: त्याग की बात को भुला देते हैं। फलत: उनका शरीर मन्दाग्नि मरीजसा या राज्ययक्ष्मा के भुक्तभोगीसा हो जाता है, दूसरे शब्दों में शरीर असमय ही सूख कर कांटा बन जाता है। विचार के धरातल में यह स्थिति विचारणीय बनी है। अपनी क्षमता का ध्यान रखते हुये एकाशन करके भी उपवास की भावना रखने वाला उसकी अपेक्षा श्रेष्ठ है, जो उपवास करके भी एकाशन की भावना रखता है। कारण, धर्म क्षेत्र में महत्व विश्वास मूलक भावना का है, आगे बढ़ने का है, पीछे हटने का नहीं।

इसी प्रकार कभी-कभी लोग शरीर के पीछे आत्मा को मार डालते हैं। धर्म के नाम पर साम्प्रदायिकता बनाम धर्मान्धता के लिये लोग जोश में आकर होश खोकर अर्थ का अनर्थ कर डालते हैं। भारतीय दंगे, कतिपय महापुरुषों की हत्यायें इस बात की ज्वलन्त उदाहरण हैं, अतएव अपेक्षित यह है कि विचार भिन्नता के आधार पर हत्या की बात तो दूर रही प्रत्युत विरोधी को कबीर के शब्दों में समीप ही रखा जावे और वैचारिक सहिष्णुता पर विशेषतया बल दिया तब ही धर्म और शिक्षा की सार्थकता होगी, अन्यथा नहीं। हां तो शरीर के पीछे न तो आत्मा की हत्या की जावे और न आत्मा के पीछे जानबूझ कर शरीर को ही सुखाया जावे अपितु शरीर और आत्मा, लोक और परलोक दोनों क्षेत्रों के धर्म का पालन किया जावे। आज के युग में यह अतीव आवश्यक है कि शरीर और आत्मधर्म में, सिद्धान्त और आचरण में आकाश पाताल सरीखा अन्तर नहीं हो।

धर्म का क्षेत्र उदारता का है, मानवता का है। इस बात की घोषणा करने वाले धर्म के शाश्वत सिद्धान्त हैं पर धर्म की धरा पर संकुचित स्वार्थ मूलक जो मत या सम्प्रदाय हैं, वे धर्म की प्रगति में बड़े बाधक बने हैं और सीमित कर्मकाण्डी बाह्य क्रियाओं के आधार पर अल्प संख्यकों में फैले हैं। आज की आवश्यकता है कि धर्म के मूलभूत शाश्वत सिद्धान्तों का अहिंसा, सत्य, अचौर्य ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह जैसी बातों का उतना प्रचार प्रसार हो; जितना भी शक्य और संभव हो। संकुचित मतभेद सूचक बातों का आशा से भी अधिक बहिष्कार हो। दूसरे शब्दों में हमारी दृष्टि समन्वय पर हो ताकि हम सभी

अनुदार से उदार हो सकें। महात्मा गांधी के शब्दों में सर्वधर्म समन्वय या धार्मिक सहिष्णुता सीख सकें। धर्म की धरा की क्षमता का रहस्य हृदयंगम कर सकें।

शरीर और आत्मा का, मत और धर्म का, वस्तु और व्यक्ति का जो सम्बन्ध मूलक धर्म है उसे अन्योन्याश्रित संज्ञा सहज ही दी जा सकती है। इसे समझने के लिये निम्नलिखित उदाहरण पर्याप्त होगा। यदि हम चाहते हैं कि छाता धूप और वर्षा से बचावे तो हमारा भी धर्म या कर्त्तव्य है कि हम छाते को समुचित स्थान पर रखें, उसकी स्वच्छता और सुरक्षा का ध्यान रखें। यदि हम चाहते हैं कि दूसरे हम से अच्छा व्यवहार करें तो हम भी दूसरों के साथ अच्छा व्यवहार करें, यह भी एक अपेक्षित आवश्यक धर्म है। संक्षेप में देश काल और शरीर जीवन की परिस्थिति को देख-लेख कर कर्त्तव्य का निर्णय करना धर्म है।

शिक्षा के एक से अधिक रूप हैं। उदाहरण के लिये—

(१) सविधिक और अविधिक।
(२) प्रत्यक्ष और परोक्ष।
(३) उदार और विशिष्ट।
(४) व्यक्तिगत और सामूहिक।
(५) निश्चयात्मक और अनिश्चयात्मक।

उल्लिखित सभी शिक्षाओं का कार्य व्यक्तिशः सर्वाङ्गीण उन्नति है। इसे हम चाहें तो हर्बर्ट स्पेन्सर के शब्दों में भावी जीवन की तैयारी कह लें या हरबर्ट की दृष्टि से चरित्र-निर्माण और नैतिकता का विकास कहलें और शिक्षा के उद्देश्य को चाहें तो प्राचीनता लिये मुक्तिदा कहलें अथवा अर्वाचीनता लिये अर्थमयी भी कहलें पर यह तथ्य एवं कथ्य नहीं भूलें कि शिक्षा व्यक्ति को विशाल उदार बनाती है। प्रस्फुटित बीजजन्य नये अंकुर को पूर्ण वृक्ष का रूप देने की क्षमता शिक्षा में ही है। इसलिये रिवलिन के शब्दों में शिक्षा एक सप्रयोजन नैतिक क्रिया बनी है।

शिक्षा, चाहे व्यक्तिगत हो अथवा सामूहिक पर उसका उद्देश्य सामयिक सुनिश्चित और शीघ्र फलदायी होना चाहिये अन्यथा न तो शिक्षित समाज में बढ़ती हुई बेकारी को ही रोका जा सकेगा और न बिनोवाभावे द्वारा विद्यार्थी से पूछे जाने पर 'क्या करते हो ?' प्रश्न के उत्तर में 'पढ़ता हूं।' कहने से बचा जा सकेगा। मानसिक शिक्षा के साथ शारीरिक और औद्योगिक शिक्षा के समायोजन की बात तो सराहनीय है पर अब तक के अनुभव की आकृतियां यह बतलाती हैं—शिक्षा के इस अङ्क में आद्योपान्त विडम्बना है। पुस्तकीय अध्ययन अथवा साक्षारता से काम नहीं चलेगा बल्कि उस अनुभव को भी शिक्षा जगत में प्राथमिकता देनी होगी जिसकी कारलायल ने प्रशंसा की है। शिक्षा-जगती के नाटक के विडम्बना बदले, वह सुखी और दीर्घ जीवन के लिये प्रेरणास्पद हो सके, इसके लिये शिक्षा के स्तर और माध्यम में, ग्रंथ-लेखन और पठन-पाठन शैली में पर्याप्त सुधार करना होगा।

शिक्षा प्राथमिक विद्यालय की हो या पूर्व-उच्चमाध्यमिक विद्यालय की, उपाधि महाविद्यालय की हो या विश्वविद्यालय की, पर स्तर की दृष्टि से विद्यार्थियों की शारीरिक मानसिक आयु रुचि का ध्यान जहां रखा जावे वहां विविध विषयों की भी भरमार न हो। न तो परीक्षार्थी को हनुमान कूद का अभ्यास हो और न अनावश्यक अनुपयोगी बातों से उसके मस्तिष्क को बोझिल बनाने का प्रयत्न हो। अपरिपक्व और असंगत बातें तो जितनी भी बचाई जावें उतना ही श्रेयस्कर है।

शिक्षा का माध्यम, प्राथमिक-पूर्व-उच्च माध्यमिक शालाओं में प्रान्तीय भाषायें भी रहें तो गौरव की हानि नहीं होगी प्रत्युत उनके साहित्य की ही श्रीवृद्धि होगी पर महाविद्यालयीय स्तर पर तो राष्ट्रभाषा के माध्यम द्वारा ही शिक्षा दी जावे। अच्छा तो यह है कि सभी शालाओं और विद्यालयों के लिये विषयों का चुनाव यों हो जिससे उत्तरोत्तर विषयों और विद्यार्थियों का विकास होता रहे। शिक्षित शिक्षक सरस्वती के पुत्र हैं और धनिक व्यापारी लक्ष्मी के पुत्र हैं। दोनों समाज के व्यक्ति हैं, दोनों एक दूसरे के आलोचक न होकर सहायक हों तो अब्दुर्रहीम खानखाना की भी आत्मा को शान्ति मिलेगी। केवल अपनी ही वृद्धि से शिक्षा और उद्योग की इतिश्री न समझली जावे अपितु समग्र देश और समाज को बढ़ाने का प्रयास हो। संक्षेप में शिक्षा सामाजिक व्यवहारोपयोगी हो।

धर्म और शिक्षा का महत्व

भले ही आप मानें या न मानें पर धर्म और शिक्षा, दोनों ही विषय-जीवन की यात्रा में वे मील के पत्थर हैं, जो प्रगति के प्रतीक हैं। धर्म जैसे विज्ञान का विरोधी नहीं होकर पूरक है वैसे ही शिक्षा भी आचरण की विरोधी नहीं होकर समर्थक है। धर्म जैसे सांस्कृतिक सम्पत्ति की सुरक्षा करती है वैसे ही शिक्षा भी विविध विषय रूपी सम्पत्ति की सुरक्षा करती है। धर्म जैसे हमें बर्बरता से बचाता है वैसे ही शिक्षा भी हमें निरक्षरता और विनाश से बचाती है। संक्षेप में धर्म और शिक्षा, दोनों ही दायीं-बायीं आंखों के समान हमें प्रिय हैं।

धर्म और शिक्षा, ये दो शब्द हमारे यहां की हवा-पानी मिट्टी में इतने अधिक घुल मिल गये हैं कि इन तत्वों के बिना हम कुशलतापूर्वक जीवन यापन नहीं कर सकते हैं। धर्म और शिक्षा दोनों हमें वह अनुशासन और विनय-स्थापन सिखलाते हैं, जिसकी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से आज बड़ी आवश्यकता है। धर्म और शिक्षा, दोनों ही विषय अपने अन्तर में समाज और संसार को सुखी देखने का सपना संजोये हुये हैं अतएव इनकी आवश्यकता अतीत में थी, आज है, अनागत में भी रहेगी।

श्री बर्टन के मत से धर्म और शिक्षा आपस में स्वाभाविक रूप से सम्बन्धित हैं। दोनों शारीरिक भौतिक पक्ष के साथ आध्यात्मिक पक्ष का ध्यान रखते हैं। दोनों ही मनुष्य को उसके वातावरण के सम्बन्ध से मुक्त न करके परतन्त्रता से मुक्ति दिलाना चाहते हैं। दोनों मनुष्य के मानसिक विकास को व्यापक बनाकर उसकी महत्वाकांक्षायें बढ़ाना चाहते हैं।

धर्म हमारे जीवन की एक बड़ी शक्ति है। धर्म, सामाजिक गुणों का स्रोत है, वह असामाजिक कार्यों को पापमय कहकर रोकता है। धर्म लोक और परलोक के सुख का लक्ष्य रखता है, व्यक्तियों को कर्त्तव्य परायणता सिखाता है। धर्म का लोक जीवन में वही स्थान है जो शरीर में रीढ़ का है।

शिक्षा मानवीय जीवन की सुपरिचित व्यक्त शक्ति है। शिक्षा हमें धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति बनाती है। शिक्षित होकर संस्कृति की रक्षा करने के लिये प्रेरणा देती है। विश्व के विकास का एक ही मूलमन्त्र है और वह है शिक्षा की दिशा में निष्ठा संग नूतन प्रयोग।

संक्षेप में धर्म हमें सहनशीलता, समानता और मानवता का पाठ पढ़ाता है और शिक्षा स्वतन्त्रता, सहृदयता और उदारता सिखलाती है। आज इतना ही मुझे 'धर्म और शिक्षा' निबन्ध में लिखना है।

स्वार्थी दुनिया

वृक्षं क्षीणफलं त्यजंति विहगः शुष्कंसरः सारसाः
निर्गन्धं पुष्पं त्यजंति मधुपाः दग्धं बनान्तं मृगाः
निर्द्रव्यं पुरुषं त्यजंति गणिकाः दुष्टं नृपं सेवकाः
सर्वा कार्यवशाज्जनोऽभि रमते कः कस्य को बल्लभः ।।

अर्थ — जिस वृक्ष पर पत्ते नहीं रहते अर्थात् मात्र ठूंठ रह जाता है उस पर पक्षी निवास करना छोड़ देते हैं, जिस तालाब में पानी नहीं रहता वहां सारस नहीं रहा करते। जिस फूल में सुगंधि नहीं होती उस पर भौंरे नहीं मंडराते एवं जो बन हराभरा नहीं होता जल जाता है वहां हरिण निवास नहीं करते। वेश्या पैसे से प्रेम किया करती है जब कि मनुष्य के पास पैसा रहता है वैश्या उससे प्रेम करती है धन रहित पुरुष से वैश्या भी प्रेम करना छोड़ देती है इसी प्रकार राजा यदि अन्यायी होता है तो सेवक जन उसका साथ नहीं देते। इन उपरोक्त बातों से ज्ञात होता है कि प्राणियों का जब तक स्वार्थ सधता रहता है तब तक प्रीति करता रहता है संसार में कौन किसका प्यारा है ? अर्थात् सब मतलब के साथी हैं।

—बाबूलाल शास्त्री

कारण विशेष से कार्य वैशिष्ट्य

सिद्धांतमहोदधि न्यायरत्न विद्वत् सम्राट् पं० माणिकचन्द्रजी
कौन्देय न्यायाचार्य, फिरोजाबाद

श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिः प्रसादात्परमेष्ठिनः जबकि जलसे प्यास कम हो जाती है। सौड (रजाई) ओढने से जाडा चला जाता है तो जिनबिम्ब दर्शन से विघ्न के विनाश हो जाने में क्या आश्चर्य है ?

औषधि जड़ पदार्थ ही है। दवाइयों से रोग दूर हो जाता है। यंत्र, मंत्र, तंत्र से भी कुछ विपत्तियां नष्ट हो जाती हैं। किसी चमार के द्वारा झाड़ा देने से बिच्छू, ततैया का विष उतर जाता है या पीसकर लाल मिरच छोटी अंगुलि में बांध लेने से इकतरा ज्वर पुनः नहीं आता है और भी अनेक टोटका हैं। मैंने इनका प्रयोग भी किया है। तो इसमें क्या कुदेवाराधना या क्या भूत घुस बैठा है ? "कार्येण कारणविशेषगुणोनुमेयः"। कार्य हो जाने से कारणों की शक्ति का अनुमान हो जाता है। पुद्गल में अचिन्त्य शक्ति है। श्री अकलंक देव, विद्यानन्द आचार्य, अष्टशती, अष्टसहस्री में कहते हैं कि— "यावन्ति कार्याणि तावन्तः स्वभावभेदा वस्तुनि।"

एक युवती के मृत शरीर को देखकर कुत्ता, कामुक और साधु के नाना परिणाम हो जाते हैं तो उनकी जनक शक्तियां मृत शरीर में प्रथम से ही सन्निविष्ठ हो रही हैं। प्रमेयकमलमार्तण्ड में शक्तियों को पुष्ट करते हुए श्री प्रभाचन्द्र आचार्य ने बताया है कि कारणों में अनेक कार्यों की जनक शक्ति अन्तर्निहित हैं। अष्टसहस्री में एक पंक्ति है—'विषद्रव्यस्य मारणशक्तौ वेद्यायामपि कुष्ठापनयन शक्तेरवेदत्वात्"

विष द्रव्य के मार डालने की शक्ति को हम जानते हैं किन्तु उस हालाहल में चिर उदम्बर, कुष्ठ को नष्टकर देने की भी सामर्थ्य है इसको नहीं जान पाते हैं।

इसका उदाहरण यह है कि एक प्रसिद्ध वैद्य के पास एक गलित कुष्ठ रोगी गया। वैद्यजी कागज पर औषधि का नुकशा लिख दिया करते थे। वैद्यजी ने रोगी को देखकर पर्चा लिख दिया और कहा कि तुम्हारी चिकित्सा नहीं हो सकती है। रोगी निराश होकर चला गया कि अब मेरा रोग दूर नहीं होगा। वेदना सही नहीं जाती है। विष को खरीदने योग्य पैसे भी मेरे पास नहीं है। यों दुःखित होकर वन की ओर गया। देखता क्या है कि एक काला भुजंग तत्काल की वर्षा से भरे नरकपाल में पानी पी रहा है। 'आव देखा न ताव' मृत्यु का अन्वर्थ कारण समझकर उस कुष्टी ने विषाक्त जल पीलिया।

सभी से उसका कुष्ट दूर हो जाना प्रारम्भ हो गया और १५ दिन में तो वह हट्टा कट्टा पहलवान सदृश हो गया। वह उलाहना देने के लिए वैद्यजी के पास गया और कहने लगा कि—वैद्यजी आप तो कहते थे कि तुम्हारा इलाज नहीं है। किन्तु मैं तो अब निरोग हो गया हूं। कहो तो तुम्हें ही कुश्ती में पछाड़दूं। वैद्यजी ने पूछा—तूने क्या इलाज किया था? उसने सब कथा बता दी। वैद्यजी ने कहा—अच्छा, वह पर्चा निकालो। उसीसे पर्चा पढ़वाया। उसमें यही लिखा था कि तत्कालीन वर्षा को काला नाग पी गया हो। वह पानी इसे मिले तो कुष्ट दूर हो सकता है। किन्तु ऐसा असम्भव है। अतः मैंने लाइलाज कह दिया था।

इसी बात को विद्यानन्द स्वामी ने लिखा है। पेटी में रखा हुआ सर्प ब्रह्मचारिणी के लिए हार बन जाता है और दुष्ट को नाग बनकर डस लेता है। कोटि भट श्रीपाल राजा का कुष्ठ सिद्धचक्र यन्त्राभिषिक्त जल से दूर हो गया था। श्रीवादिराज मुनि का कोढ़ स्तोत्र बनाने से दूर होकर शरीर स्वर्णमय हो गया था। मानतुंग आचार्य के बन्धन टूट गये थे। अन्य भी सीता, अंजना आदि के विघ्न टल गये सैकड़ों दृष्टांत प्रथमानुयोग में पाये जाते हैं। क्वचित् कारणों से कार्य नहीं हो पाते हैं। इसका कारण अन्य कारणों का नहीं मिलना है। साता असाता का उदय, अनुकूल द्रव्य क्षेत्रकाल भाव का नहीं मिलना है। अदृष्ट, प्रतिबन्धकों का अभाव ये सभी कारण मिलेंगे तब कार्य होगा। सामग्री कार्य की जनिका है। केवल उपादान कारण या अकेले निमित्त से ही कार्य सम्पन्न नहीं हो जाता है।

'सामग्री जनिका नैकं कारणं' भगवान पार्श्वनाथ द्वारा दिये गये मंत्र से नाग नागिनी मरकर धरणेन्द्र पद्मावती हो गये। जीवंधर के मंत्र दान से कुत्ता मरकर देव हुआ। इन क्रियाओं में न कोई कुदेवाराधना है और न कोई सम्यक्त्व की क्षति है। सम्यक्त्व कोई ऐसा निर्बल, अर्कतूल या कर्पूर नहीं है जो ऐसे प्रकरणों से उड़ जाय। जिसके हो जाने पर आत्मा में अर्धपुद्गल परिवर्तन काल तक के संस्कार घुस बैठते हैं। वह वज्रेख सम्यग्दर्शन गिरि फूंक से नहीं उड़ जायगा।

सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक में लिखा है कि असंख्य जीवों को जिन-बिम्ब-दर्शन से सम्यग्-दर्शन हो जाता है।

केवली श्रुतकेवली के सन्निधान में क्षायिक सम्यक्त्व हो जाता है। इस अन्वय, व्यतिरेकी अव्यभिचारी कार्य कारण भाव को कोई अहमिन्द्र भी नहीं टाल सकता है।

श्री चान्दनगांव की सातिशयमूर्ति श्री महावीर स्वामी के प्रसाद से लाखों लोगों ने अपने मनोरथ सिद्ध कर लिये। लाखों गायें, भैंसें दूध देने लगीं। रोगियों के रोग चले गये। परीक्षार्थी पास हो गये। अनेक जन मुकदमा जीत गये। महावीर भगवान की आराधना करने से सहारनपुर के एक जमींदार रईस १०० गांव के स्वामी बन गये तो इस अन्वर्थ कार्य कारण भावको मैं झूंठ नहीं कह सकता हूं। उपशम-श्रेणी, क्षपक-श्रेणी के शुक्ल ध्यानों को चौथे, पांचवे, छठे गुणस्थानों में नहीं लगाया करो।

दयालु बन्धुओ ! आजकल के सम्यक्त्वी श्रावकों पर कृपा करो। एक एक कारण में अनन्ती शक्तियां भरी हुई हैं। वे सब करणादि लाते ही कार्य करना प्रारम्भ कर देती हैं। स्थूल दृष्ट कार्य तो आप एक कारण के हजार पांच सौ भी नहीं गिना सकते। जब कि प्रत्येक कारण में आचार्यों ने अनन्त शक्तियां मानी हैं। एक कालाणु असंख्य कार्यों को करता है। एक जीव को निगोद से निकालकर व्यवहार राशि में ला देती हैं। मानव पर्याय छुड़ाकर मोक्ष आदि का उदासीन कारण हो जाती हैं। अन्य जीव को सातवें नरक जाने योग्य सामग्री सम्पादन करा देती हैं। उदासीन कारण को हेय न समझना।

हां ! भूत भावी वर्तमान अनेक व्यक्तियों की न्यारी न्यारी कार्यजनन शक्तियों को सर्वज्ञदेव ही जान सकते हैं। सब कोई जानने, देखने का व्यर्थ प्रयत्न न कर कुछ सर्वज्ञ के लिए भी बचाये रखो। एक चन्द्रमा सम्बन्धी छियासठ हजार नौ सौ पिचहत्तर कोटा कोटी ताराओं में आप केवल तीन हजार को ही अपनी चर्म चक्षुओं से देख सकते हैं। निरभ्र आकाश में आप गिन देखिए। मैं गिन चुका हूं।

श्री महावीर स्वामी का कोई परम भक्त अवधिज्ञानी देव भक्तों के कार्य बना देता है। भगवान् महावीर मूर्ति की प्रतिष्ठाविधि में महान् मन्त्र संस्कारों का आरोप किया गया है। ऐसे समाधान भी इसी तात्पर्य को कहते हैं। अतः श्री विद्यानन्द आचार्य के इस न्याय फैसले को मस्तकावनत होकर मानलें कि कारणों से जितने कार्य हो रहे हैं उतनी स्वभावभूत शक्तियां उन कारणों में इन्जेक्शन देकर पहिले ही ठूंस दी गई हैं। दृष्ट का अपलाप मत करो। कोरे अध्यात्मामासी न बनो। उस कार्य कारण भाव को प्रतिपादन करने के लिए जैन न्याय शास्त्र भरे पड़े हैं। 'फलानुमेयाः शक्तयः' जड़ से या चेतन से जो भी कार्य हो रहे हैं उनका अन्यूनानतिरिक्त जानना सम्यग्ज्ञान है।

आप अन्न, जल, औषधि तथा पौद्गलिक कर्मों में शक्तियां मानते हैं और अपने २ शुभाशुभ कर्मों द्वारा भक्तों के कार्य बन जाते हैं—स्वीकार करते हैं। बन्धुओं ! ये पदार्थ भी जड़ हैं। तीर्थक्षेत्र, अतिशय क्षेत्र भी जड़ हैं। जड़ में चेतन के उपकार होते हैं। ऐसा उमास्वामी महाराज ने कहा है। "भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिंगिनां"। इसमें श्री समन्तभद्र स्वामी ने कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरु की आराधना का निषेध किया है। जड़ पदार्थों के अर्थक्रियाकारिताका प्रतिविधान नहीं है।

"विघ्नौघाः प्रलयं यान्ति शाकिनीभूतपन्नगाः। विषंनिर्विषतां याति स्तूयमाने जिनेश्वरे"।। यह भी आर्ष वाक्य है। यदि किसी मुनि को सर्प दूर करने का मंत्र आता हो तो किसी सर्प विष पीड़ित प्राणी को मंत्र पढ़कर जल देवे तो इसमें कोई सम्यक्त्व बिगड़ नहीं जाता है। 'जीवानां रक्खणं धम्मो'। प्रशस्त राग दशवें गुणस्थानतक चलता है।

जैनधर्म ऐसा कच्चा घड़ा नहीं है जो स्वल्प पानी भर देने से गल जाता है, तीव्रराग द्वेष मोहके प्रसंग में वे नहीं पड़ेंगे। मील दो मील जाकर जहर उतार देवें या किसी का समाधि मरण करा देवें तो प्रशस्त ही है।

शास्त्रों में यह भी लिखा है कि प्रतिमा दर्शन से निकाचित बन्ध भी छूट जाता है। बन्धुओं, जब प्रतिमा दर्शन से सम्यक्त्व हो जाता है तो निकाचित बन्ध छूट जाना तो छोटा कार्य है और लौकिक इष्ट प्रयोजन सिद्ध हो जाना तो और भी छोटा कार्य है। इन तत्वों को पचासों स्तोत्र, पाठ, पूजन, जयमालाओं में समझाया गया है। "त्वत्पादपंकजरजोमृत-दिग्धदेहा मर्त्या भवन्ति मकरध्वज-तुल्यरूपाः" "उपैति भक्त्या सुमुखः सुखानि त्वयि स्वभावा द्विमुखश्चदुःखं"। "मन्वादि चारण ऋद्धिधारी"। "शीतल जिनके युगचरणाम्बुज"। "अपुण्य पापं वर पुण्य हेतु"।

वे वाक्य कार्यकारण भाव से खाली नहीं हैं। मैं मूडबिद्री गया था तो वहां गरुडमणि की प्रतिमा के दर्शन किए। मेरे एक शिष्य पं. नागराज जी ने कहा कि --गुरुजी इसके अभिषेक जल से सर्प दृष्ट बीसों मानवों को लाभ हुआ है।

श्लोकवार्तिक में अंगुलि में आरोपित गरुडमणि से नाग विष दूर हो जाना बताया है। एक मंत्र विद् पुलिसमेन थप्पड मारकर या टेलीफोन में चांटा मारकर दूरस्थ सर्प दष्ट का विष उतार देता है।

यद्यपि वीतराग जिनेन्द्र भगवान किसी को देते लेते नहीं। वे सिद्धालय में अमूर्तिक विराजमान हैं। किसी से राग द्वेष नहीं करते हैं। निग्रहानुग्रह भी नहीं करते हैं। फिर भी उनके पुण्य गुणों का स्मरण भक्तों के दरिद्रता का नाश कर देता है। इसमें कोई कर्तृवाद नहीं है। समवसरण के आठ सो कोश इधर उधर कोई ईति, भीति, दुर्भिक्ष, मारी आदि उपद्रव नहीं होते हैं। "तुम गुण चिन्तत निज पर विवेक, प्रगटे विघटे आपद अनेक"।

जाति विरोधी जीव वैर छोड़ देते हैं। तीर्थंकर मुनिको दान देने से पंचाश्चर्य हो जाते हैं। षट्ऋतु के फल फूल आ जाते हैं। इन अतिशयों को मैं सत्य मानता हूं।

धर्म व समाज के उत्थान के लिए आज किस बात की जरूरत है ?

वि० वा० श्री पं० वर्द्धमानजी पार्श्वनाथजी शास्त्री, सोलापुर

वर्तमान भौतिक वातावरण एवं स्वच्छंद विचार के कारण समाज में शिथिलता आती जा रही है। आज के युवक धर्म से विमुख होते जा रहे हैं। अधर्मकी प्रवृत्ति उनमें बढ रही है। ऐसी स्थिति में समाज के धुरीण चिन्ता ग्रस्त हैं कि आगे क्या होगा। आज इस अनर्थ के प्रवाह को रोकने के लिए कोई प्रयत्न करते भी हैं। परन्तु वे सफल नहीं हो पाते हैं, आज विद्वत् समाज की ओर दृष्टिपात करेंगे तो समाज में विद्वानों की संख्या भी कम नहीं है, सैंकड़ों विद्वानों के होते हुए भी समाज का स्थितीकरण नहीं हो रहा है। इसका अर्थ या तो यह होना चाहिये कि वे विद्वान् इस कार्य में प्रयत्नशील नहीं हैं, अथवा प्रयत्नशील हों तो भी उनका प्रभाव समाज पर नहीं है।

दिगम्बर जैन संप्रदाय को छोड़कर अन्यत्र आज बहुत ही प्रभावक ढंग से कार्य हो रहा है, उनके तीर्थ, आयतन, संस्थायें आदि समृद्ध रूप से पनप रहे हैं, हमारे सर्व विभाग आर्थिक निर्बलता के कारण विनाश के दिन गिनते हैं। जो कुछ प्रमाण में चलते हैं। वे अस्त व्यस्त ढंग से, अनियमित रूप से, उससे जो उद्देश्य सिद्ध होना चाहिये, नहीं हो पाता है, अतएव आज हम अपने पूर्वजों के गीत को गाते बैठें वह समय लद गया है, आज तो हमें अपने कर्तव्य का किस प्रकार पालन करना चाहिये, इस ओर हमारा लक्ष्य जाना चाहिये, अन्यथा हमारे समाज को तरणोपाय नहीं, दुनियां आगे बढ रही है, इतर समाज आगे बढ रहा है, इतर धर्म, विपुल मात्रा में अपना प्रचार करते हैं, परन्तु हम मात्र पीछे हटते जा रहे हैं। हमारे समाज को जो यह भयंकर रोग लग गया है उससे उसे बचाना चाहिये।

रोग की निवृत्ति के लिए सबसे पहले रोग का निदान होना आवश्यक है, उसी प्रकार जैन समाज के इस रोग का भी निदान होना चाहिए, उस निदान के होने पर ही तद्नुसार चिकित्सा की जा सकती है। इसलिए रोग का रूप समझना आवश्यक हो गया है।

सबसे पहिला व भयंकर रोग तो असंगठन का है, चाहे व्यक्ति हो या संस्था हो परन्तु उसमें संगठन की वृत्ति न हो सुसम्बद्धता के साथ कार्य सम्पादन न होता हो तो उसमें उत्कर्ष साधा नहीं जा

सकता है, अतः सबसे पहले प्रेम व संगठन को बढ़ाने का भी आज नया नया तरीका निकाला जा रहा है परन्तु आगमानुमोदित मार्ग से ही हम आगे बढ़े तो शीघ्र उद्देश्य के अनुसार अपना निर्माण किया जा सकता है।

विद्वद्वर्ग में संगठन हो,

जैनागम के अध्ययन करने वाले विद्वानों में आज असंगठित वृत्ति है, एक सूत्रता नहीं है, एक वाक्यता भी नहीं है, आगम को छोड़कर अपना अलग-अलग राग अलापते रहते हैं। इसलिए निश्चय एकांत वाद तथा व्यवहार एकांत वाद का सूत्र पात समाज में होकर विद्वानों में संघर्ष निर्माण हुआ है इस मिथ्यात्व को चलाने वाले अलग बैठकर कुस्ती देखते हैं, परन्तु दि० जैन समाज के विद्वान् आपस में लड़ते हैं, नहीं तो एक ही आगम परम्परा को मानने वाले विद्वानों में मतभेद का कारण ही क्या? इसलिए सबसे पहिले आवश्यक है कि विद्वानों के इस मतभेद को दूर करने का प्रयत्न करें। आगम के निश्चित मार्ग को विद्वान् लोग दृढता के साथ एक वाक्य से घोषित करते रहें, एकांतवादियों के निराकरण करने के लिए ही कुछ विद्वानों की योजना हो, वे सदा अनुसंधान, अध्ययन, स्वाध्याय आदि के द्वारा अपने ज्ञान संवर्धन में संलग्न हो, समाज उन विद्वानों के निर्वाह का भार अपने ऊपर ल, और उन्हें अर्थोपार्जन की चिंता से मुक्त करे।

पराक्रमण का निराकरण

आये दिन देखने में आता है कि जैनधर्म के साथ असहिष्णुता का भाव रखने वाले कुछ विद्रोही, कुछ अज्ञानी, जैन धर्म पर, उसके आराध्य तीर्थङ्करों पर साधुओं पर अनेक प्रकार के आक्षेप विक्षेप करते रहते हैं, एवं इस प्रकार के साहित्यों का निर्माण करते रहते हैं। भविष्य में ऐसे गन्दे साहित्यों का उदाहरण हीन साहित्य के निर्माता ले सकते हैं, जिसका दुष्परिणाम हमारी भावी पीढ़ी को अनुभव करना पड़ेगा। इसलिए आज के विद्वानों को सजग होने की आवश्यकता है। ऐसे विषयों के प्रतीकार के लिये एक विद्वानों की समिति गठित की जाय जो सदा इस प्रकार के आक्रमणों का निराकरण करें, और उस समिति के लिए आवश्यक साधन सामग्रियों को प्राप्त कराने की पूर्ण सुविधा समाज की ओर से हो।

जैन भूगोल का समन्वय

आज के सुशिक्षित युवक आज के स्कूल या कालेज में पढ़ाये जाने वाले भूगोल से प्रभावित होकर जैन भूगोल को असत्य या गपोड़ा समझते हैं, इसलिये आवश्यक है कि आज के भूगोल की असामंजस्यता और जैन भूगोल की सामंजस्यता सिद्ध कर प्रयोग पूर्वक उनके सामने रखा जाय, इसके लिए जैनागम के श्रद्धालु, उभय भूगोल के अनुभवी विद्वानों की एक समिति गठित होने की आवश्यकता है जो सदा इस विषय का अनुसंधान कर जैन भूगोल को सर्व मान्य सत्य सिद्ध करने वाले साहित्यों का निर्माण आगम व युक्ति के प्रकाश में करें, और वह साहित्य अंग्रेजी, हिन्दी आदि विविध भाषाओं में

प्रचारित हो, इसके द्वारा बहुत बड़ी प्रभावना ही नहीं, पाश्चात्य देश के विद्वान् भी जैनधर्म के प्रति आकृष्ट होंगे, इस प्रकार के कार्य को करने वाले विद्वानों को समाज बिलकुल निश्चिंत करे एवं उन्हें आवश्यक सर्व सामग्रियों की उपलब्धि करावे।

पुरातत्व का संशोधन

जैन संस्कृतिका वास्तविक दर्शन कराने के लिए भारतीय पुरातत्व ही एक मात्र साधन है, पुरातत्व सामग्री के बल से ही हमारी संस्कृति को हम अति प्राचीन सिद्ध कर सकते हैं, इसलिए इस विषय में अभिरूचि रखने वाले विद्वानों को इस कार्य को करने के लिये प्रोत्साहित करना चाहिए, यह कार्य भी बहुत परिश्रम का व महत्व का है, हजारों क्या लाखों धर्मायतन आज धराशायी हो गए हैं, नष्ट भ्रष्ट हो गए हैं, उनका यथार्थ अनुसंधान करके आज उनकी सुरक्षितता और संगोपन की आवश्यकता है, आज लोग दान से तत्काल कीर्ति व लक्ष्य की आंकाक्षा करते हैं, इस कार्य में वह प्राप्त नहीं हो सकेंगे। परन्तु जैन संस्कृति की रक्षा के लिए इससे बड़ा कार्य अन्य नहीं हो सकता है यह समय व व्यय साध्य कार्य है, जैन श्रीमानों को इस कार्य के लिए एक विशाल निधि की योजना करनी चाहिये ताकि दि० जैन संस्कृति आगामी हजारों वर्षों तक उज्जीवित रहे।

जैनागम का उद्धार

आज जितने भी विवाद उत्पन्न होते हैं वे आगम के सम्बन्ध में अज्ञात होने के कारण से ही होते हैं, अतः अधिक से अधिक आगम समाज के सामने आ जाने चाहिये, आज हजारों अलभ्य ग्रन्थ ताड पत्रों पर लिखे हुए अन्धकार कोटडियों में पड़े हुए हैं। उनको खोलकर देखने वाले भी नहीं है। किंबहुना उन्हें सूर्य दर्शन का नसीब अनेक वर्षों में भी नहीं मिलता है, कुछ समय के बाद धीरे-धीरे एक-एक ग्रन्थ कीड़े दीमग आदि का भक्ष्य बनकर अनुपलभ्य हो जावेगा। इसलिये प्राचीन भंडारों का अन्वेषण कर उनमें से अप्रकाशित महत्वपूर्ण ग्रन्थों का उद्धार कराया जावे, प्राचीन ग्रन्थों के संरक्षण का एक मात्र उपाय उनकी हजारों लाखों प्रतियों का प्रकाशन हो, घर-घर में वे ग्रन्थ पहुंचे, लोग आदर के साथ उनका अध्ययन करें। सर्व हितंकर मंगलमय जैनागम का आलोढन करें तभी विश्व में शांति व समाधान का संचार हो सकता है।

तीर्थों का सु-प्रबन्ध व अन्वेषण

संस्कृति को जीवित रखने के लिए हमारे पावन तीर्थों का सु-प्रबन्ध होना भी परम आवश्यक है, आज हमारे तीर्थों की सुव्यवस्थिति नहीं है, इसी कारण से आधे से अधिक तीर्थस्थल हम खो चुके हैं, जो बचे कुचे हैं, उनमें तीव्र संघर्ष हमारे पडौसियों के साथ है, हमारा प्रमाद उनको भी बचा नहीं सकेगा। यदि हमारी स्थिति यही रही तो हमारा भविष्य अंधकारमय हो जावेगा। हमें या हमारी प्रतिनिधि संस्था को सजग होकर इन तीर्थों की सुव्यवस्थिति व सुरक्षा के लिए प्रयत्न करना चाहिए, सदा

सतर्क होकर उन तीर्थों के इतिहास का अध्ययन करना चाहिये, शिलालेख, ताम्रलेख, प्रशस्ति परिचय आदि का संग्रह कर अध्ययन करना चाहिए तीर्थों का एक प्रामाणिक सप्रमाण इतिहास प्रकाशित होना चाहिये, जो तीर्थ आज उपलब्ध नहीं हुये हैं, जिनका उल्लेख निर्वाणकांड आदि में मिलता है उनको खोज करना चाहिये, उसके लिये एक अन्वेषक समिति नियुक्त होना चाहिए । वह समिति सतत वही कार्य करें । इस तरह के प्रयत्न से हम हमारे तीर्थों की निराकुलता से वंदना कर सकेंगे एवं जैन संस्कृति का महान् प्रभाव होगा ।

साधु जनों का वैयावृत्य

सौभाग्य से कहिये या दुर्भाग्य से, हमारे समाज में दिगंबर साधुवों की संख्या उंगलियों से गिनने लायक है । अत्यल्प संख्या में रहने वाले साधुवों की सेवा परिचर्या में भी समाज समुत्सुक नहीं है । स्वल्प संख्या में रहने वाले गुरुभक्तों के कारण उनके बिहार की व्यवस्था होती है, परंतु जिस प्रभावक पद्धति से हमारे वीतरागी साधुवों की चर्या होनी चाहिये उस पद्धति से हमारे श्रावकों की उदासीनता के कारण नहीं हो पाती है । हमारे साधु वर्ग समाज व धर्मोत्थान के प्रभावी साधक हैं, सैंकड़ों विद्वान् सैकड़ों वर्षों तक जो कार्य साध्य नहीं कर सकते हैं उस कार्य को सच्चरित्र प्रभावी साधु कुछ समय में साध्य कर सकता है परन्तु ऐसे साधुवों के विहार मार्ग को निष्कंटक बना देना चाहिये, अन्यत्र हीन चारित्र के साधुवों के प्रति लोग कितनी भक्ति से कितनी विभूति ओतते हैं । परन्तु हमारे साधुवों की चर्यादिकका भी समुचित प्रबन्ध नहीं हो पाता है । सो इस विषय में भी बड़ी दूरदर्शिता के साथ कोई सुदृढ़ मार्ग की योजना करने की आवश्यकता है, हमारे साधु ही मोक्ष मार्ग के जीते जागते रूप हैं । ऐसे कितने ही विषय आज समाज व धर्म के अभ्युत्थान के लिए अत्यावश्यक हैं इनकी ओर समाज के धनिकों का लक्ष्य नहीं है, यह निश्चय है कि ये कार्य विपुल धन के व्यय से साध्य हैं, हजारों नहीं, प्रतिवर्ष लाखों की आवश्यकता होगी परन्तु उससे निराश होने की आवश्यकता नहीं है, दानी जैन समाज का लाखों का व्यय, दान प्रतिवर्ष होता रहता है, परन्तु धर्म प्रभावना के, संस्कृति संरक्षण के ठेके के कार्य के लिए नहीं, ख्याति लक्ष, पूरा करने की प्राप्ति के लिए, अब उस मनोवृत्ति को बदलने की आवश्यकता है, हमारी वैयक्तिक हित साधना की अपेक्षा सामाजिक सांस्कृतिक हित साधन का बहुत बड़ा महत्व है । वही चिरस्थायी है ।

जिस दिन हमारे समाज धुरीणों की दृष्टि इस ओर जावेगी वह दिन भाग्य का होगा ।

क्या मैं सम्यग्दृष्टि हूं?

श्री पं० हेमचन्दजी शास्त्री धर्मालंकार एम० ए०, अजमेर

आज के विज्ञान पूर्ण ज्ञान कोष में यह प्रश्न उठना असंभव नहीं है कि आत्मा कभी एकांत स्थल में अपनी बुद्धि और हृदय से यह प्रश्न करे कि "क्या मैं सम्यग्दृष्टि हूं ?" आज बुद्धि जीवी प्राणी विज्ञान के सूक्ष्मातिसूक्ष्म और विकराल से विकराल चमत्कारों को देखकर हतबुद्धि हो रहा है और वह यह सतत प्रश्नात्मक सन्देह पैदा करता रहता है कि जहां पुद्गल परमाणु की प्रामाणिकता के लिये अनेकानेक यन्त्र और तथ्य भूत प्रमाण उपलब्ध होते जा रहे हैं वहां स्वयं अर्थात् जिसे यह आत्मा या जीव नाम से कहता व सुनता है उसकी जानकारी के लिये भी कोई यन्त्र, तन्त्र या प्रमाण वस्तु प्राप्त है या नहीं तो केवल निराशास्पद उत्तर मिलता है, या यह तो केवलज्ञान गम्य है ऐसा उत्तर विद्वानों द्वारा दिया जाता है। जिज्ञासु नहीं समझ पाता है कि वह इस विषयक क्या उद्यम करे जिससे उसकी एक अत्यन्त महत्व पूर्ण समस्या वर्तमान स्थिति में ही हल हो जाय। आत्मा के चिरकाल अस्तित्व पर अब सूक्ष्म-वेत्ताओं और मानसिक ज्ञान समीक्षकों की दृष्टि गई है और कई विश्व विद्यालयों ने कुछ विद्वानों को इस कार्य के लिये प्रेरित किया है कि वे आत्मा के जन्म-मरण और पुनर्जन्म सम्बन्धी आकस्मिक घटनाओं पर वैज्ञानिक तरीके से खोज प्रारम्भ करें ताकि इस बुद्धि जीवी, तर्कशील मानव को अपनी चिरसत्ता का परिज्ञान हो और उसी आधार पर यह अपने कर्तव्य पाप पुण्य का स्वयं को उत्तरदायी माने। इस विषयक आधुनिक आशायें बुरी नहीं हैं। समय आवेगा कि आज का मानसिक चिन्तक वैज्ञानिक इस विषय में आधार पूर्ण प्रायोगिक प्रमाण उपलब्ध करेगा और भारतीय संस्कृति के मूलाधार पुनर्जन्म-वाद के विषय में विचार दृढ़ता प्राप्त करेगा। इसके लिये निराकुल समय की प्रतीक्षा अवश्य करनी होगी क्योंकि आधुनिक संकट काल में उभय पक्षीय संहार का ही चिंतन हो रहा है। ऐसे समय में जब शरीर और इसके प्रसाधनों का मूल्य ही चुकाना सम्भव नहीं हो रहा है तो स्वयं यानी आत्मा के बारे में कौन जिज्ञासा करे और करे भी तो क्यों? जबकि शरीर दृश्य रूप में आत्मा का रूप ले रहा है।

भारतीय दर्शन मे आत्मा के अस्तित्व को न मानने वालों की संख्या नगण्य है। उन्होंने प्रबल प्रयत्न किया है फिर भी आत्मा के अस्तित्व के साधन इतने हैं जिन्हें कोई विज्ञनिराकरण नहीं कर सकता है जैन-दर्शन का मूलाधार केवल आत्मा का चिर अस्तित्व है जिसके उद्धार के लिये जैन-दर्शन की आचार पद्धति खड़ी की गई है। चारित्तं खलु धम्मो आदि सूत्र अध्यात्म वेदी आचार्यों के स्वानुभव प्रयोग सिद्ध निर्णय हैं। इन्हीं के सहारे आत्मा के उत्थान और पतन का प्रारम्भ और अन्त होता है। यदि इसे दृष्टि में न रखा जाय तो जैन दर्शन की सारी प्रक्रिया निरर्थक सिद्ध हो जाती है।

जैन-दर्शन में आत्मा का स्वरूप इन्द्रिय गोचर तो नहीं बताया है परन्तु वह अनुभव गोचर अवश्य है। साधारण से साधारण व्यक्ति भी जीवित और मृत प्राणी का परिज्ञान करते हैं। जीवन और मरण ही आत्मा के अस्तित्व और नास्तित्व का बोध कराते हैं। ज्ञानियों का स्वानुभव ही एक ऐसा छद्मस्थ ज्ञान है जिसके द्वारा आत्मा को स्वयं जाना जा सकता है।

इस आत्मा का सम्यग्दर्शन से अभिन्न सम्बन्ध है। अर्थात् आत्मा सम्यग्दर्शनादि त्रय रूप ही है। द्रव्यसंग्रह में 'रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणं मुयदु अण्णदवियम्हि' इस प्रकार का कथन है। जब आत्म-मय रत्नत्रय है और रत्नत्रय आत्ममय है तो आत्मा की सही पहिचान ही सम्यग्दर्शन होना चाहिये यह स्वयं सिद्ध हो जाता है। प्रत्यक्षदर्शी सर्वज्ञ ने आत्मा का जिस प्रकार वर्णन किया है उसी ज्ञान के आधार पर आजकल के छद्मस्थ आचार्य एवं विद्वान् उसे वैसा ही वर्णन करते हैं जिज्ञासु यदि उसे वैसा का वैसा ही श्रद्धान करें, अनुभव करें तो उन्हें सम्यग्दृष्टि कहने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। यही कारण हुआ है कि आचार्यों की कथन शैली में सम्यग्दर्शन की भिन्न-भिन्न परिभाषाएं उपलब्ध होती हैं। वीतराग-देव कथित आत्मा स्वरूप से अनभिज्ञ प्रारम्भिक व्यक्ति के लिये यदि कोई स्वानुभवी आत्मा का स्वरूप समझना चाहता है तब वह उस आत्मा की अनुभूति कराने वाले वीतराग देव, शास्त्र, गुरु का स्वरूप समझाता है और उन्हीं के माध्यम से उसके बुद्धि जन्य व्यवसाय को आत्मोन्मुख करता है। स्वामी समन्त-भद्र इसी प्रकार का उद्यम अपने आचार ग्रन्थ में प्रतिपादन करते हैं। यहां यह जान लेना आवश्यक है कि उक्त आचार्य का यह कथन नहीं है कि देव शास्त्र गुरु का दर्शन ही सम्यग्दर्शन पैदा करा देता है किन्तु उनके दर्शन से भव्य आत्मा यदि आत्मा के स्वरूप की सत्ता एवं अनुभूति प्राप्त करना चाहे तो अवश्य कर सकता है।

जीवादि सप्त तत्त्वों का वीतरागोक्त प्रणाली से विश्वास करना सम्यग्दर्शन जागृति की दूसरी सीढ़ी है। इससे आत्मा की सांसारिक सम्पूर्ण स्थिति का दिग्दर्शन हो जाता है। वह जीवावस्था से मुक्तावस्था होने पर किस रूप में पायी जाती है इसकी प्रतीति स्व आत्मा में होना ही सम्यग्दर्शन का लक्षण है। यह स्वावलम्बी प्रवृत्ति है। आत्मा का यह पुरुषार्थ या तो स्वयं को जागृत होता है या किसी अन्य व्यक्ति के योग से जागृत किया जाता है। यह आत्मोन्मुखी वीतराग भाव प्रेरित प्रवृत्ति ही सम्यग्दर्शन का कारण बनती है।

इसके आगे की वह विचार प्रणाली है जिसमें अन्य द्रव्य या तत्त्वों का भी कोई सरोकार नहीं रह जाता है। केवल स्वात्म प्रतीति ही जहां होती है वह सम्यग्दर्शन वास्तविक मोक्ष मार्ग की प्रथम सीढ़ी होती है। अपनी आत्मा की सारी स्थिति और सारा उत्तरदायित्व ऐसी आत्मा अनुभव करती है तब उसे संसार में मेरे भ्रमण का कारण क्या है मैं कैसे बन्धन-बद्ध हुआ और कैसे बन्धन-मुक्त हो सकता हूं यह आन्तरिक वीतराग भाव की ओर प्रेरणा ही उसे मोक्ष-मार्ग में बढ़ने के लिये बाध्य करती है। इसी बाध्यता के कारण वह जीवात्मा मोक्ष-मार्ग की राह को ढूंढता है और

यथा-शक्ति आगे मोक्ष-मार्ग का राही बन जाता है। सम्यग्दृष्टि वीतरागता के उपायों को अपनाने में यदि प्रमादी होता है तो उसे सम्यदृष्टि होने में सन्देह करना स्वाभाविक है। वीतराग भाव को अपनाना और उसके लिये यथेष्ट उद्यम करना ही सम्यग्दृष्टि का सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दृष्टि होना आत्मा की स्वजन्य प्रेरणा है। अन्य देवादि, उपदेशादि का निमित्त तो सहायक कारण है यही कारण है कि आज मन्दिर, शास्त्र श्रवण, गुरूपदेशादि के उचित साधन होने पर भी सम्यग्दृष्टि न के बराबर उपलब्ध हैं। युग की स्थिति यह है कि आज जो भी व्यक्ति एकान्तवाद, हटवाद, आम्नायवाद और कषायवाद का कट्टर पोषक है वह अपने आपको सम्यग्दृष्टि समझता है और बाकी के सभी व्यक्तियों को वह मिथ्यादृष्टि मानता है। यदि आज सम्यग्दृष्टि की उपाधि चाहिये तो एक ही सरल उपाय है कि किसी गुट में शामिल हो जाइये। आपस में समदृष्टि बन जाइये आपको सम्यग्दृष्टि का पद लाभ हो जायेगा।

क्या उपरोक्त प्रणाली से सम्यग्दृष्टि होना सम्भव है तो स्पष्ट है कि उक्त भावना सम्यग्दृष्टि के उत्तम रूप को कदापि पैदा नहीं होने देती है। विज्ञ पुरुषों के अनुभव से एवं शास्त्रों की वाणी से यह प्रतीत होता है कि सम्यग्दर्शन प्राप्ति के लिये पूर्व जन्माश्रित और इस जन्माश्रित कारणों और परिस्थितियों का अनुकुल योग होना आवश्यक है। ऐसा प्रतीत होता है कि आज की स्थिति में कोई भी भव्य प्राणी सम्यग्दर्शन लेकर यहां भारत में पैदा होता हो यह सम्भव नहीं है। कारण वह देव पर्याय का ही अधिकारी होगा। रही बात यहां उत्पन्न होने की सो सम्यग्दर्शन यहां उत्पन्न हो तो सकता है परन्तु वह किस रूप और किस परिस्थिति में यह पूर्णतया विचारणीय विषय है।

आज के मानव का जीवन तीन भागों में विभाजित कर लिया जाय तो उसे सम्यग्दर्शन की कसौटी पर कसा जा सकता है। प्रथम बात है उसकी विचारधारा, दूसरी आजीविका और तीसरा शरीर साधन। जैन शास्त्रों में इन्हें मिथ्यात्व, अन्याय और अभक्ष्य की संज्ञा दी है। इनसे विरक्त आराधक ही सम्यग्दृष्टि होने का दावा कर सकता है।

अब आप स्वयं एकान्त में बैठकर स्थिर चित्त से सोचिये कि क्या आप इन तीनों से अपनी आत्मा को उन्मुक्त मानते हैं तो भिन्न भिन्न परिस्थिति के व्यक्ति अपने आपको अन्य अन्य रूप में ही पावेंगे। जहां तक हमारी मानसिक धारणा का प्रश्न है यह स्पष्ट है कि हमने आंखों के प्रत्यक्ष शरीर को ही अपना स्वरूप मान रखा है और उसी के लिये सारी मन वचन की शक्ति लगा रखी है शरीर और इन्द्रियों के पोषण में ही सारी विचार शक्ति का उदारता पूर्वक व्यय किया जा रहा हैं। हमारे दैनिक जीवन में विचार धारा का आत्मोत्थान के लिये कोई स्थान नहीं। सम्भव है कुछ धर्मात्मा संज्ञक कट्टर प्राणी अपने पूजन, स्वाध्याय और व्रतोपवासादि की साधना के गर्व पर माथा उठाकर कहेंगे कि हम पुरुषार्थी धर्मात्मा हैं तो उनसे यह प्रश्न पूछा जाय कि आपका ये सब करने का उद्देश्य क्या है ? तो अधिकांश उत्तर यही देंगे कि उनका फल शास्त्रों में पुण्य फल प्राप्ति है और इसके लिए ही हम सब कुछ कर रहे हैं। तब उन्हें शास्त्र सम्यग्दृष्टि कहे या नहीं तो जिनेन्द्र आज्ञा है कि सत्कर्मों से भोगाकांक्षा करने वाला सद्दृष्टि न होकर

मिथ्यादृष्टि ही होता है। आज प्रत्येक व्यक्ति की आन्तरिक प्रेरणा यहीं तक है। सभी व्रती, संयमी, आचार विचारी इसी एक भोगाकांक्षा की गाड़ी में बैठकर तथ्यहीन यात्रा कर रहे हैं और अपने आपको मोक्षमार्ग का यात्री मान रहे हैं। वे भी करें क्या आज मोक्ष का द्वार यहां के लिए बंद है। हमने कई साधकों से पूछा कि आपने यह रूप क्यों धारण किया है इस पर उत्तर मिला धर्म का फल स्वर्ग मोक्ष है सो हम स्वर्ग के लिए प्रयत्न कर रहे हैं। क्या ये सम्यग्दृष्टि हैं शायद कभी भी नहीं। इन भद्र साधकों की जिनमें साधारण जनता भी शामिल है, बड़ी ही दयनीय दशा है कि वीतराग देवों से पुत्र और धन की याचना की जा रही है और सरागी देवों से मोक्ष प्राप्ति का प्रस्ताव रक्खा जा रहा है। धर्म का फल भोग प्राप्ति हो रहा है और इसकी ही आराधना हो रही है। वास्तविकता यह है कि पूर्व जन्म में भोग विरक्त और शान्त कषाय व्यक्ति मर कर इधर आते ही नहीं हैं अतः उनकी पूर्व त्यागाश्रित पुण्य राशि से यहां जोभी पुण्यफल (भोग) सामग्री मिल गई है उसका भोगकर केवल वे कर्मबंध का ही व्यवसाय कर पाते हैं। कर्म निर्जरा का व्यापार उनसे होना संभव नहीं है। जो कर्मबंध का व्यवसाय रुचि पूर्वक करता है उसकी दृष्टि समीचीन नहीं हो सकती है अतः सम्यग्दृष्टि बनने के लिए वीतराग भावना की प्राप्ति का अथक उद्यम होना चाहिए और उस वीतराग स्वरूप की प्राप्ति के लिए ही उन्हें उतावला होना चाहिये। केवल हमारे श्रद्धा गुण विकसित हो गया है या हम शुद्ध, चिन्मय, निराकार, निर्द्वंद हैं, कहने मात्र से काम नहीं चलता है। सम्यग्दृष्टि की विचारधारा में 'चक्रवर्ती के भोग और इन्द्रलोक की सम्पदा काकवीट सम होती है। वह जिनेश्वर का लघुनन्दन है। उसका आत्मबल इतना बढ़ा हुआ होता है कि किसी भी लौकिक कामना के लिए उसका मस्तक किसी भी देवी देवता के सामने नम्र नहीं होता है। जब कोई कामना ही नहीं तो याचना करने से लाभ भी क्या है। उसके भावना इस रूप में व्यक्त होती है। वीतराग देव से भी उसका केवल नैमित्तिक संबंध है।

मेरे न चाह कछु और ईश, रत्नत्रयनिधि दीजै मुनीश।
मुझ कारज के कारण सु आप, शिव करहु हरहु मम मोहताप ॥

वह अपने आपको मोहताप से संतप्त पाता है और इससे दूर होने में श्री वीतराग प्रभु को सहायक मानता है न कि एक याचक, जिसे भोग कामना प्रेरित कर प्रभु के सामने ले आई है। वीतरागता की विचारधारा के शीतल मेघ प्रतिक्षण उसके मोह राग के सन्ताप को दूर करते हैं और वह लोक में किसी भी गति में रहकर अपने अस्तित्व का गौरव एवं अपने किये हुए कर्मों का उत्तरदायी मानता है। इन कर्मों के फल आने पर उसका हर्ष विषाद सहिष्णुता पूर्ण होता है। वह पुनः सन्तापित होकर आगामी कर्मबंध के होने में अत्यन्त सतर्क होता है। शान्तभाव में निमग्न होने का इच्छुक बनकर कषायों से बचने का उद्यमी होता है। अब मैं सोचता हूं क्या मैं ऐसा हूं। यदि हूं तो अवश्य सम्यग्दृष्टि हूं।

दूसरा प्रश्न है आजीविका का। क्या मेरी आजीविका न्याय पूर्ण है यह प्रश्न उठते ही मैं न्याय और अन्याय की परिभाषा में उलझ जाता हूं। क्या निर्णय करूं। क्या यह निर्णय काफी है कि

जिस कार्य में मेरी मानसिक स्थिति समरूप रहती है और मुझे राजदण्ड या पंचदण्ड का कोई भय नहीं है तो अपने दैनिक जीवन पर दृष्टि देता हूं। क्या मेरा जीवन आजीविका से न्यायपूर्ण है तो आज की इस दगा फरेब जालसाजी से भरी हुई दुनिया में न्याय की केवल दुहाई बाकी रह गई है। न्याय का तो अंत हो चुका। आज प्रपंच, दबाव, कपट आदि शस्त्रों से न्याय का खून हो रहा है। इन्द्रिय प्रसाधनों की फैलती हुई आग ने केवल जीवन स्तर उठाओ, भोगो, खाओ, खिलाओ, मौज करो का नारा बुलन्द कर रक्खा है। मैं भी इसी स्थिति का एक संज्ञी पञ्चेन्द्री मानव हूँ। उन्हीं सामाजिक प्राणियों का अंग हूँ जिन्होंने अपने वीतरागता, त्याग, संयम, परोपकार के आदर्शों को भूलकर झूठे प्रदर्शन का मार्ग अपना लिया है। जिस समाज में केवल धन के प्रदर्शन बड़प्पन के चिन्ह बन गये हों, मनुष्य का व्यक्तित्व धन के नाप से (चाहे वह किसी मार्ग से आया हो) नापा जाता हो वहां न्याय की समीक्षा व्यर्थ है। तांबे और चांदी के चन्द टुकड़ों पर अपना चरित्र और जिह्वा की दृढ़ता समाप्त की जाती हो उसी समाज का ही तो मैं अङ्ग हूं। सभी ऐसे हैं मैं भी ऐसा हूं' यही सन्तोष मुझे सम्यग्दृष्टि बना सकता है। सत्य रूप में मेरी आत्मा में सम्यग्दर्शन नहीं है, नहीं तो मेरी स्थिति कुछ और ही होती। मेरा आत्मबल मुझे अन्याय की ओर कदापि नहीं जाने देता। मैं तो अन्याय का क्रीत दास हूं फिर कैसे सम्यग्दृष्टि हो सकता हूँ।

तीसरा प्रश्न है अभक्ष्य भक्षण का! बहुधा देखा गया है कि मैंने कोई भी वस्तु खाकर ही यह परीक्षा की है कि यह अभक्ष्य है क्या! इन्द्रिय लंपटता ने मेरी दया भावना को नष्ट कर दिया जभी तो नाना प्रकार के सजीव हिंसा क्षय पदार्थों का भक्षण करता आया हूं। जैन आज्ञा की अवहेलना कर मैंने पंचेन्द्रियों के विषयों को अविचार पूर्वक सेवन किया है।· सम्यग्दृष्टि तो महान दयालु होता है। वह कर्मबंध से बचने के लिए सदा ही ऐसे खाद्य व उपयोग पदार्थों का योग नहीं बैठाता है जिसमें स्वपर हिंसा होती है पर क्या मैंने कभी ऐसा सोचा है। मैंने न रात देखी न दिन। भोजन करने का कोई न नियम है और न विचार। जिह्वा आदि इन्द्रियों की दासता ने मेरी सदृष्टि वीतरागता पर नहीं जमने दी। मैं पथभ्रष्ट होकर इस दावानल पूर्ण इन्द्रिय विषय में जल रहा हूँ। आत्महित का स्थान शरीर भोग तृप्ति ने ले लिया है। फिर मैं कैसा सम्यग्दृष्टि ? केवल दूसरों को सम्यग्दृष्टि नाम से स्वयं को घोषित करने वाला आत्माभिमानी। निष्पक्ष दृष्टि से विचार करं तो मेरी अभी सही दृष्टि नहीं है। मैं कषायों पर नियंत्रण करने का आदी नहीं हूँ। उधर का लक्ष्य ही नहीं है। क्या मैं इस पर भी सम्यग्दृष्टि हो सकता हूं। नहीं पर नहीं तो अनुभवी विद्वानों का यह कथन सत्य है कि इस भरतक्षेत्र के दुषमाकाल में उंगली पर गिगने योग्य सम्यग्दृष्टि होंगे। सत्य नहीं पूर्णतः सत्य है। मुझे ऐसा सम्यग्दृष्टि बनने के लिए शास्त्रोक्त विधि के अनुसार आठ अंगों का जीवन में घुलकर पालन करना चाहिये। पच्चीस दोषों पर नियंत्रण करना चाहिए। वीतरागता में रुचि रखकर वासनाओं में कमी करना चाहिये। व्रत, त्याग, नियम, संयम, धर्मध्यान की ओर कर्मठता पूर्वक उद्यमी बनना चाहिये। यह सारा अथक पुरुषार्थ मुझे यदि उन उंगलियों में गिनने योग्य व्यक्तियों की श्रेणी में लाकर रख देता तो मैं उसे अपना मनुष्य जन्म का साफल्य मानूंगा और उस समय ही मेरी चिरसाधना और कल्पना पूरी होगी जब किसी अनुभवी या प्रत्यक्ष द्रष्टा के द्वारा मुझे ज्ञात व अनुभूत होगा कि मैं सम्यग्दृष्टि हूँ। यह मेरा प्रश्न इसी मानव पर्याय में समाधान प्राप्त कर जाय यही वीतराग प्रभु से प्रार्थना है।

आत्मा का अस्तित्व और उसकी सिद्धि

श्री तेजपालजी काला नांदगांव साहित्यभूषण, सहायक सम्पादक 'जैनदर्शन'

संसार में दो तत्व मुख्य रूप से हैं। १—जीव और २—अजीव। जीव का लक्षण चेतना है और अजीव का चेतना विरहित जड़ता। दोनों एक दूसरे से बिलकुल भिन्न और विपरीत हैं। अजीव तत्व के भी पांच भेद हैं। १—पुद्गल, २—धर्म, ३—अधर्म, ४—आकाश और ५—काल। ये सब तत्व अपने अपने रूप में स्वतंत्र होते हुए भी केवल एक पुद्गल ही ऐसा तत्व है जिसका संसार स्थित जीवों के साथ अनादिकालीन संबंध है। जीव का अपर नाम आत्मा भी है। पुद्गल भी अजीव होने से चेतना विरहित जड़ है और स्पर्श, रस, गंध, वर्ण गुण से युक्त मूर्तिक है। आत्मा ज्ञान दर्शन गुण से युक्त एक चैतन्यशील अमूर्तिक पदार्थ है। इसमें पुद्गल की तरह न कोई आकार है, न स्पर्श है, न रस है, न गंध है और न वर्ण है। अतः दोनों की स्वरूप भिन्नता होने से अजीव की तरह जीव पुद्गल से भी बिलकुल भिन्न है। तथापि जीव और पुद्गल का संसार में अनादिकालीन संबंध होने से संसार में सांख्यदर्शन और चार्वाकादिने जीवित शरीर को ही आत्मा मान लिया है। ये आत्मा को शरीर से भिन्न नहीं मानते। इनका यह कहना है कि आत्मा का आज तक किसी को भी प्रत्यक्ष रूप से साक्षात्कार नहीं हुआ है। अतः आत्मा शरीर से भिन्न कोई पदार्थ या तत्त्व नहीं है।

शरीर में जो चैतन्य शक्ति दिखाई देती है वह शरीर में पृथ्वी, जल, तेज, वायु आदि चार या पांच भूत तत्वों का संयोग है। उनके संयोग से शरीर से हलन चलन रूप क्रिया होने लगती है। इन पंच महाभूत तत्वों के शरीर से बिलग होते ही शरीर निश्चेष्ट और शवरूप हो जाता है। अतः पंच महाभूत तत्वों के संयोग और वियोग का ही नाम जन्म और मरण है। इनके मत में शरीर ही आत्मा है। शरीर के शवरूप वन जाने पर आत्मा नाम की कोई वस्तु शेष नहीं रहती है। न उसका फिर पुनर्जन्म होता है। नरक, स्वर्ग, ईश्वर आदि भी उनके मत में कल्पित हैं। वास्तविक नहीं।

संसार में कुछ विचारक ऐसे भी हैं जो मन, इंद्रिय, प्राण आदि को ही आत्मा मानते हैं। इनके सिवा आत्मा नाम की कोई भिन्न वस्तु नहीं है ऐसी उनकी एकान्त मान्यता है। उनका यह कहना है कि जब तक शरीर में मन, इन्द्रियां और प्राणों की शक्ति विद्यमान रहती है तब तक शरीर काम करता है। जब मन, इंद्रियां और प्राणों की शक्ति नष्ट हो जाती है तो शरीर भी निर्जीव हो जाता है।

ये तो उन विचारकों के विचार हैं जो अनात्मवादी हैं। सांख्य चार्वाकादि अनात्मवादी विचारकों को छोड़ शेष जितने भी आत्मवादी दर्शन हैं वे सब आत्मा को शरीर से भिन्न मानते हैं। उसका स्वतंत्र अस्तित्व मानते हैं और उसका पुनर्जन्म भी। इन आत्मवादी दर्शनों में जैन, बौद्ध और वैदिक मुख्य हैं। यद्यपि इनमें भी आत्मस्वरूप के संबंध में तात्विक मतभेद हैं तथापि आत्मा को शरीर से भिन्न एक स्वतंत्र तत्व मानने में ये सभी एकमत हैं।

इतने विवेचन से एक बात तो स्पष्ट हो गई कि आत्मा का अस्तित्व मानने में तो सांख्यादि अनात्मवादी और आत्मवादी सभी दर्शन एकमत हैं। अन्तर यदि उनमें है तो यही है कि अनात्मवादी दर्शन तो शरीर, मन, इंद्रिय आदि को ही आत्मा मानते हैं। उसकी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं मानते। तब आत्मवादी दर्शन आत्मा को शरीरादि से बिलकुल भिन्न स्वतंत्र तत्व मानते हैं। पंच महाभूत तत्वों के बिलग हो जाने से आत्मा का सर्वथा नाश नहीं मानते।

इस विवेचन के प्रकाश में सहज ही यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि आत्मा का शरीरादिक से यदि कोई स्वतंत्र अस्तित्व है तो उसका अन्य अणु आदि पदार्थों की तरह इंद्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष साक्षात्कार क्यों नहीं होता ? वह सर्व सामान्य लोगों के लिए अज्ञात वस्तु कैसे रहती है ? यह एक प्रश्न है जिसका तर्क संगत समाधान हमको ढूंढना है।

आज का विज्ञान संसार के सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थों का अन्वेषण करने में निरन्तर गतिशील है। अणु जैसे अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ का परीक्षण भी उसकी खोज से बाहर नहीं रहा और वे उसको खोजने में सफल भी हुए हैं। तथापि उसका यह परीक्षण भी अभी पूर्ण नहीं माना जा सकता है। वैज्ञानिक लोग जिसको परमाणु मानते हैं जैन दर्शन उसको अनन्त परमाणुओं का समूह मानता है। अत्यन्त सूक्ष्म अणु का अन्वेषण तो अभी भी वैज्ञानिकों की खोज के परे है। ऐसी स्थिति में आत्मा का अस्तित्व विज्ञान के द्वारा खोजना कठिन ही नहीं असम्भव है।

कारण यह है कि अणु यह पुद्गल का एक अत्यन्त छोटा सा अविभागी प्रतिच्छेद अंश है। अत्यन्त छोटासा होने पर भी वह स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि पौद्लिक गुणों से संयुक्त होने के कारण इंद्रिय गम्य हो सकता है। क्योंकि इंद्रियां केवल उन्हीं पदार्थों को ग्रहण कर सकती हैं जो स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि गुण सहित मूर्तिक हैं। किन्तु आत्मा की ऐसी स्थिति नहीं है। वह स्पर्श, रस, गंध, वर्ण से रहित एक अमूर्त पदार्थ है। वह पुद्गल की तरह आकारवान पदार्थ नहीं है। यह नियम है कि पुद्गल से मूर्तिमान पुद्गल का ही साक्षात्कार हो सकता है, अमूर्त आत्मा का नहीं। जड़ की अपेक्षा आत्मा को जानना और समझना बहुत ही दुष्कर कार्य है। क्योंकि आत्मा अतीन्द्रिय पदार्थ है। अतीन्द्रिय पदार्थ अतीन्द्रिय ज्ञान का ही विषय हो सकता है। अतः ज्ञान के द्वारा आत्मा का अनुभव और साक्षात्कार तो हो सकता है किन्तु जड़ इंद्रियों द्वारा या वैज्ञानिक जड़ पदार्थों से नहीं।

ज्ञान यह आत्मा का निज गुण है । ज्ञान और आत्मा ये दोनों भिन्न नहीं हैं । अतः यह सुतरां सिद्ध है कि आत्मा ही आत्मा को जानता देखता है अन्य नहीं । इस प्रकार ज्ञान के द्वारा आत्मा को प्रत्यक्ष साक्षात्कार करना यह सर्व साधारण जीवात्मा धारण करने वाले प्राणियों का काम नहीं है । आत्मा का साक्षात्कार वास्तव में वे ही ऋषि महर्षि कर सकते हैं जिनने तप और त्याग के द्वारा आत्मा के साथ लगे हुए अनादिकालीन कर्मबंध हलके कर लिये हैं । कर्मबंधनों के कट जाने से ज्ञान पर कर्मों का पड़ा हुआ आवरण हट जाता है और जैसे सूर्य पर आये हुए बादलों के दूर हो जाने से सूर्य का प्रकाश स्पष्ट हो जाता है उसी तरह ज्ञान पर से कर्मों का पड़ा हुआ परदा दूर होते ही ज्ञान स्वयं आत्मा का साक्षात्कार करने लग जाता है । किन्तु जब तक आत्मा में इस प्रकार की कर्मबंधन शिथिल अवस्था प्राप्त नहीं होती तब तक एक साधारण संसारी मनुष्य अपने ज्ञान के द्वारा आत्मा का साक्षात्कार चाहे भले ही न कर सके आत्मा का स्वसंवेदन उसको अवश्य होता है । जीव को जो सुख दुःख की अनुभूति होती है वह चैतन्य गुणयुक्त आत्मा को ही होती है । जड़ शरीर इंद्रिय या मन को कदापि नहीं । शरीर, इंद्रिय और मन तो ऐसे माध्यम या द्वार हैं जो जीव को देखने या जानने में केवल मात्र सहायक होते हैं । जैसे मकान में लगे हुए वातायन के द्वारा बाहर की वस्तुएं देखी जा सकती हैं । स्वयं वातायन उन वस्तुओं को देख नहीं सकता । क्योंकि वह जड़ है जड़ या पौद्गलिक जितने भी पदार्थ हैं वे स्वयं कभी देख जान नहीं सकते । इसी प्रकार शरीर, मन, इंद्रियां भी जड़ होने से पदार्थ को स्वयं जान देख नहीं सकतीं । अतः उनको ही आत्म स्वरूप मानना नितान्त अज्ञता है ।

"पंच महाभूत तत्वों के संयोग से ही शरीर में चैतन्य शक्ति उत्पन्न होती है जैसे कोदों आदि मादक द्रव्यों के मिल जाने से उसमें मद्यशक्ति उत्पन्न हो जाती है । जब तक यह पंचभूत तत्वों की शक्ति शरीर में रहती है तब तक तो वह शरीर जानता देखता है । जब ये तत्व शरीर से अलग हो जाते हैं तो शरीर मुर्दा हो जाता है फिर आत्मा नाम की कोई चीज नहीं होती जो शरीर से निकलकर पुनर्जन्म धारण करती है ।" चार्वाक की यह मान्यता वस्तु स्वरूप से बिलकुल विपरीत है । वास्तव में चेतना यह भूतों का धर्म नहीं है । क्योंकि चेतना यह उपयोग रूप है और पंचभूत तत्व सब जड़ है । यह नियम है कि कारण कार्य का कभी विरोधी नहीं होता । कारण के अनुसार ही कार्य होता है । यह कभी नहीं हो सकता कि जड़ से चैतन्य की उत्पत्ति होवे और चैतन्य से जड़ की । यदि चेतना यह भूतों का धर्म माना जावे तो उसमें अलग अलग भी चैतन्य शक्ति पाई जानी चाहिए । परन्तु ऐसा नहीं है । तब यह सहज सिद्ध है कि जब उनमें अलग २ चैतन्य शक्ति नहीं है तो उनके समुदाय में भी चैतन्य शक्ति कहां से आ सकती है । कोदों आदि अलग २ पदार्थों के मिलने से उनमें जो मादकता उत्पन्न होती है वह मादकता वास्तव में उन सभी पदार्थों में अलग अलग मौजूद है । अतः यह बात स्पष्ट है कि चैतन्य यह पंचभूत तत्वों का धर्म नहीं है । यह पंच महाभूत तत्वों से एक स्वतंत्र वस्तु है जो अमूर्तिक और निराकार है । यह इंद्रियगम्य नहीं है । यदि पंच महाभूत तत्वों का समुदाय ही चैतन्य होता तो जिन वैज्ञानिकों ने अणु जैसे

अत्यन्त सूक्ष्म तत्व की भी खोज की है वह पंचभूत जुदे जुदे तत्वों को भी अपने वैज्ञानिक प्रयोगों के द्वारा एकत्र लाकर चाहे जिस मृत शरीर को पुनः जीवित करने में सफल हो जाते। परन्तु वस्तुतः पंच महाभूत तत्वों के समुदाय में चैतन्य शक्ति का सर्वथा अभाव है यह सुनिश्चित है।

आजकल किसी के मृत शरीर के हृदय को निकालकर अन्य रोगी के रोगग्रस्त हृदय की जगह बैठाने के प्रयोग भी बड़े बड़े डाक्टरों के द्वारा किये जाने के समाचार पत्रों में आते हैं। इससे यह माना जाने लगा है कि हृदय ही आत्मा है। उसके शक्तिहीन हो जाने से शरीर निर्जीव हो जाता है। किन्तु इससे हृदय को आत्मा नहीं माना जा सकता। क्योंकि हृदय तो जड़ मन का दूसरा नाम है और वह भी इंद्रियों की तरह पदार्थों को जानने और समझने का साधन मात्र है। वह स्वयं चैतन्य भूत आत्मा नहीं है। मृत शरीर के अच्छे हृदय को निकालकर किसी रोगी के हृदय के बदले में बैठाने से उस रोगी के शरीर में जो चैतन्य शक्ति पहले से व्याप्त है वह नये मृत हृदय को बैठाते ही उसमें भी चैतन्य शक्ति खेलने लगती है और वह इंद्रियों की तरह काम करने लगता है। यदि रोगी का शरीर भी चैतन्य विहीन होता तो यह संभव नहीं है कि उस हृदय परिवर्तन से वह रोगी का मृत शरीर भी काम करने लग जावे। इससे यह स्पष्ट है कि चैतन्य भूत आत्मा शरीर और हृदय से भिन्न है। यह चैतन्य जीवित शरीर में सर्वत्र प्राप्त रहता है। किसी हृदय जैसे एक स्थान में नहीं।

इसलिए यह बात निःसंदेह है कि आत्मा का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। वह अमूर्त चैतन्य गुण से युक्त उपयोग रूप है। वह रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि गुण से सर्वथा रहित ज्ञानदर्शन लक्षण स्वरूप है। वह द्रव्यरूप से अव्यय और अविनाशी है किन्तु पर्याय रूप से उसका उत्पादन और व्यय होता रहता है।

आत्मा है या नहीं इस प्रकार का संदेह ही आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व का सूचक है। जैसे अंधेरे में पड़ी हुई रस्सी को देखकर सर्प का संदेह या धूप में पड़ी सीप में चांदी का संशय होना ही सर्प और चांदी के स्वतंत्र अस्तित्व को सिद्ध करते हैं। जिस वस्तु का अस्तित्व नहीं होता वास्तव में उसका संदेह आकाश कुसुम की तरह किसी को नहीं होता है। क्योंकि आकाश कुसुम का अस्तित्व ही नहीं है। अतः यह प्रत्यक्ष रूप से स्पष्ट है कि जब आत्मा के संबंध में मन में संशय होता है तो उसका अस्तित्व निश्चित है।

इस तरह जब मनुष्य अपने विषय में यह अहंभाव करता है कि मैं बालक, जवान, वृद्ध, स्त्री, पुरुष आदि हूं तो उसका यह अर्थ है कि यह अहंभाव जिसमें होता है वह कोई स्वतंत्र वस्तु है। अहंभाव ज्ञान की पर्याय है और ज्ञान आत्मा का गुण है। अतः इस अहंभाव के द्वारा भी आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व की पहिचान होती है। अहंभाव यदि शरीर में होता तो वह मृत शरीर में भी होता।

गरज यह कि संशय या अहंभाव के द्वारा आत्मा का प्रत्यक्ष बोध होता है। इसी को स्वसंवेदन या अनुभूति कहते हैं।

आत्मा के अस्तित्व का बोध आगम से भी होता है। आगम की उद्भूति सर्वज्ञ आप्त पुरुष के द्वारा हुई है। उन्होंने अपने दिव्यज्ञान से आत्मा का स्वयं साक्षात्कार किया है। क्योंकि उनका ज्ञान तप और त्याग के बल से निरावरण और स्पष्ट हो गया था। अतः उन्होंने अपने दिव्य ज्ञान से आत्माका जैसा साक्षात्कार किया उसीका आगम में उल्लेख किया है। इस प्रकार आगम के द्वारा प्राप्त आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को झुठलाया नहीं जा सकता है।

जड़ शरीर के साथ अनंत काल से रहते हुए भी आत्माका ज्ञानदर्शन गुण के कारण अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। संसार अवस्था में उसका ज्ञान कर्म बंधनों से जकडा होने के कारण सावरण और परोक्ष रहता है। किन्तु तप, त्याग और चारित्र के बल से उस कर्म बंधन से मुक्त होने पर जब आत्मा निरावरण होकर कैवल्य प्राप्त कर लेता है तो आत्मा परमात्म अवस्था को प्राप्त कर संसार से मुक्त हो जाता है। और उस स्थिति में वह जन्म मरण की दुःख परम्परा की स्थिति से सर्वथा छूटकर अनंत सुख का भागी बन जाता है।

संसार अवस्था में आत्मा की जन्म मरण रूप परम्परा सदैव बनी रहती है। अपने व्रत कर्म के फल को भोगने के लिये आत्मा जब आयु पूर्ण होने पर अपने एक शरीर को छोडकर अन्य शरीर को धारण करता है तो उसको पुनर्जन्म कहते हैं। इस पुनर्जन्म की परम्परा का नाश तब तक नहीं होगा जब तक आत्मा अपनेमन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीर को अपने आत्म स्वरूप की अनुभूति में लय नहीं कर देता।

चार्वाकादि मतों को आत्मा के इस पुनर्जन्म के सिद्धांत पर भी विश्वास नहीं है। वह शरीर के शव के साथ ही आत्मा का भी सर्वथा नाश हो जाना मानते हैं। किन्तु यह बात भी पंचमहाभूत तत्व के समुदाय की तरह नितान्त असत्य है।

आये दिन समाचार पत्रों में जो पुनर्जन्म की घटनाएं प्रकाशित होती हैं उससे तो आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व और पुनर्जन्म की बात पर पर्याप्त प्रकाश पडता है

लीडर (अंग्रेजी) इलाहाबाद से प्रकाशित पत्र में दिनांक २९ मई १९४६ की एक घटना छपी थी। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के एक डाक्टर की एक पुत्री जिसकी आयु १२ वर्ष की थी। उसे अपने पूर्व भव की स्मृति स्पष्ट थी। वह पिछले जन्म में इलाहाबाद के प्रसिद्ध वकील मुन्शी हरनन्दन प्रसाद की पुत्री थी और ३९ वर्ष पूर्व उसका बनारस में देहांत हो गया था। जब वह बनारस में गई तो उसने वहां अपने पूर्व जन्म की सब पुत्रादि सम्बन्धियों को एवं मकान को पहचान लिया। यह पहचान उसके तीसरे भव की थी। उसके बाद और इलाहाबाद में जन्म लेने के पहले बीच में वह दो जन्म और ले चुकी थी। उसकी इस पुनर्जन्म की स्मृति की घटना ने सबको आश्चर्य में डाल दिया।

ऐसी अनेक घटनाएं पत्रों में पहले प्रकाशित हो चुकी हैं। जिसकी देश विदेश में काफी चर्चा

हुई। अनेक बाहर के विशेषज्ञ भी इसकी जांच करने आये थे। इन घटनाओं की सत्यता से वे बहुत प्रभावित हुये।

इन घटनाओं से आत्मा का शरीर से स्वतन्त्र अस्तित्व और उसका पुनर्जन्म यह अब विज्ञ जगत में सत्य माना जाने लगा है। इस बात पर निम्न श्लोक से भी अच्छा प्रकाश पडता है।

तदहर्जस्तनेहातो रक्षोदृष्टेर्भवस्मृतेः।
भूतानन्वयनाज्जीवः प्रकृतिज्ञः सनातनः ।।

एक बच्चा जब पैदा होता है तो वह स्वयं सिखाये बिना ही माता के स्तन से दूध पीने लगता है। यह उसके पूर्व जन्म के संस्कारों के कारण होता है।

भूत राक्षस आदि के सद्भाव से भी आत्मा की सिद्धि होती है। पिछले जन्मों की स्मृति की घटनाएं भी आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करती हैं। शरीर में निवास करने वाला यह आत्मा पंच महाभूत तत्वों से बिलकुल भिन्न है। क्योंकि उसका इन पंचमहाभूत तत्वों से वास्तव में कोई अन्वय संबंध नहीं है। पंचमहाभूत तत्व जड हैं और आत्मा चैतन्य स्वरूप है। इन उदाहरणों से यह बात निःसंशय है कि शरीर स्थित आत्मा शरीर से सर्वथा भिन्न अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखने वाला एक सनातन तत्व है।

कभी कभी आत्मा के सम्बन्ध में यह भी शंका उठती है कि यदि शरीर में रहने वाला आत्मा यदि शरीर से भिन्न है तो वह मृत्यु के समय दीखना चाहिये। लेकिन जब आत्म का मूर्तरूप आकार नहीं है तो वह मृत्यु के समय मूर्त इंद्रियों से कैसे देखा या पहचाना जा सकता है? जिस परमाणु तत्व की खोज वैज्ञानिकों ने बड़ेभारी परिश्रम से करने में सफलता प्राप्त की है वह तो वास्तव में अणु का बहुत बड़ा अंश है। अणु का एक अविभागी प्रतिच्छेद जो पुद्गल का ही अंश है उसकी खोज भी जब विज्ञान की शक्ति के परेकी चीज है तो अमूर्त आत्मा की खोज किसी विज्ञान के जड साधनों से करने की कल्पना हास्यास्पद है।

इस सारे विवेचन से यह बात सुतरां सिद्ध है कि आत्मा का अस्तित्व प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि प्रमाणों से स्वतः सिद्ध है। वह जड से भिन्न स्वतन्त्र शक्ति रूप है। उसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। वह ज्ञानदर्शन गुण से युक्त उपयोग रूप चैतन्य शील द्रव्य है। उसका द्रव्य रूप से कभी विनाश नहीं होता। वह परिणमन शील होने के कारण प्रवाह रूप से उसका उत्पाद और व्यय सदा होते रहता है।

आज प्रायः सारा विश्व चार्वाकादि मिथ्या-मतों से प्रमाणित होने के कारण अपने मूल शास्वत चैतन्य स्वरूप आत्म तत्व से तिरोहित हो रहा है। जडता में भी आत्मा की कल्पना कर वह शरीर

के संजोने आदि में अपने जीवन के अमूल्य क्षण व्यतीत कर देता है। परन्तु सुख की वास्तविक अनुभूति उसके जीवन में कभी नहीं होती। विज्ञान भी जड तत्व के अन्वेषण में ही लगा हुआ है जिसका परिणाम विश्वसंहारक अणु अस्त्र के निर्माण में हुआ है। आज सारा संसार इस जडत्व के मोह के कारण विनाश के भयंकर कंगोरे पर खडा है। एक हलका सा धक्का लगते ही विनाश के गर्त में गिरते देर नहीं लगेगी।

इस भयंकर दुःख से बचने का एक मात्र उपाय आत्मतत्व की खोज और उसके संरक्षण में अपने जीवन का सदुपयोग करने में है। जिन योगियों और तपस्वियों ने उस शास्वत अविनश्वर आत्म-तत्व पर अपना अधिकार जमा आत्म सिद्धि प्राप्त करली वे धन्य हैं। उनका मंगलमय जीवन इस अशान्त विश्वको भी आत्मालोक प्राप्त करावे ऐसी मंगल भावना है।

वैराग्य ही अभय प्रदायक

भोगे रोगभयं कुलेच्युतिभयं वित्ते नृपालाद्भयं,
माने दैन्यभयं बलेरिपुभयं रूपे तरुण्याभयम्।
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतांताद्भयम्,
सर्व वस्तुभयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्॥

संसार में प्राणियों को भोगों में रोग का, कुलीन गृह में जन्म होने पर उससे च्युत होने का, द्रव्य होने पर राजा से छीने जाने का, मान में दीनता का, शक्ति प्राप्त होने पर शत्रु का भय, रूपवान् होने पर युवती स्त्री का भय, ज्ञान प्राप्त होने पर वाद (शास्त्रार्थ) का भय, गुणवान् होने पर दुष्ट पुरुषों का भय और शरीर प्राप्त होने पर काल (मृत्यु) का भय रहता है। उपरोक्त बातों से यह निष्कर्ष निकलता है कि संसार में सभी पदार्थ भय से आक्रांत हैं। एक वैराग्य ही ऐसी उत्तम वस्तु है जिसमें किसी प्रकार का भय नहीं है।

बाबूलाल शास्त्री

आत्मानुभूति में अनुपम आनंद

थहिस्तुष्यति मूढात्मा विहितज्योतिरन्तरे।
तुष्यत्यन्तः प्रबुद्धात्मा बहिर्व्यावृत्तकौतुकः ।।

समाधिशतक श्लोक ६०

मूढ मानव मूढ आत्मा अंतरंग आत्मज्योतिको ढक कर अर्थात् उसके प्रकाश पर आवरण से बहिरंग वस्तुओं में संतुष्ट और अनुरक्त हो जाता है और जो प्रबुद्धात्मा अर्थात् जिनकी अंतरंग ज्योति प्रकाशमान है वे वहिरंग वस्तुओं के कौतुक से हटे हुये रहते हैं। आत्म-प्रकाश पा लेने पर वहिरंग वस्तु एक भी उन्हें नहीं सुहाती।

अंतरंग प्रकाश प्राप्त हो जाने पर उसे यह प्रतिभासित होता है कि वहिरंग वाह्य-पदार्थ मेरे नहीं है और न मैं वहिरंग वस्तुओं का हूं इस प्रकार प्रति समय विचारते रहने से वाह्य वस्तुओं से मोह घट जाता है। आचार्य कहते हैं कि भो भव्य ! तू इसी प्रकार सदैव विचार कर वाह्य वस्तुओं में ममता छोड़ दे। आत्मरस और अंतः प्रकाश में बड़ा आनन्द है। उस आनन्द को प्राप्त करने का सदैव प्रयत्न कर।

जिनकी अंतर्ज्योति प्रकाशित हो गई और जो आंतरिक अनिर्वचनीय आनन्द में ओतप्रोत निमग्न हैं वे अन्य प्राणियों को भी उस परमानन्द का रसास्वाद कराने के लिए भव्य-जीवों पर अनुग्रही होकर कहते हैं कि भो भव्य ! तू दर्शन ज्ञानमय विशुद्ध है, आत्मा में आत्मा को देख, एकाग्रचित्त होकर थोड़ी देर आत्म ध्यान में लीन होजा, बड़ा आनन्द मिलेगा और वह आनन्द ऐसा होगा जिसका अनंतांशभी वाह्य वस्तुओं में ममता रस प्राप्त न हो सकेगा।

ये वहिरंग पदार्थ तो कर्मोदय जनित हैं, पर हैं इनसे तेरा कोई तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। आत्मा का शाश्वतिक संबंध तो ज्ञान दर्शन से है। ज्ञान दर्शन ही अपने हैं। वहिरंग पदार्थ शरीर तक भी अपने नहीं हैं इसलिए वहिरंग पदार्थों में ममत्व छोड़कर आत्मरस में रसिक होना ही वास्तविक हित है।

इन्द्रलाल शास्त्री

'The Dharma Dravya' In Jainism And 'The Aether'

Anil Kumar Gupta

(इसके लेखक महोदय जन्म से अजैन हैं। श्री ब० रतनचन्दजी मुखतार सहारनपुर के निरन्तर सम्पर्क में रहने से आप जैनधर्म के तलस्पर्शी विद्वान् होगये हैं। साथ ही श्रद्धा व और चारित्र में भी बहुत सुदृढ़ हैं।)

I bow to Lord Mahavir, the All-knowing Perfect soul, the Incarnation of Peace on earth, for by annihilating all lusts and other worldly desires. He has obtained the highest equanimity of mind and He is the preacher of "Live and Let Live", the dogma of Universal-brotherhood.

Unfortunately, about the contributions of the Jain thinkers in the field of physics, biology and mathematics very little is known to the educated people. The present article is an humble attempt to put before them one of the contributions of the Jains in the domain of cosmology.

According to the Jain view, the substances of the universe may be subdivided into two chief categories : *Living and Non-living*; or *Soul and Non-soul.* The *Non-living continuumc* omprises of :

धर्म द्रव्य (*Dharma Dravya*)—Medium of motion for soul and matter,
अधर्म द्रव्य (*Adharma Dravya*)—Medium of rest for soul and matter,
आकाश द्रव्य (*Akasha Dravya*)—Space,
पुद्गल द्रव्य (*Pudgala Dravya*)—Matter and energy, and
काल द्रव्य (*Kala Dravya*)—Time.

In all Jain scriptures dealing with the subject there is a description of these substances. We have in Tattvarthadhigama Sutra by Acharya Uma Swami :

अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः ॥१/५॥
कालश्च ॥१/३९॥

Or

धर्माधर्मविथाकाशं कालः पुद्गल इत्यपि ।
अजीवः पञ्चधा ज्ञेयो जिनागम विशारदैः ॥६७॥

—चन्द्रप्रभचरितकाव्यं, अ० १८/

All these five non-living entities along with the sixth entity *soul* (जीव *Jiva*) are *uncreated, eternal* and *non-destructible*. Each of these is a group of its own characteristic qualities. Each of these is able to change its phases*. The discussion of each of these realities will result in a big article. Here we take up the discussion of the reality—*Dharma Dravya*.

'Dharma Dravya' has been defined by the Jain writers in the following terms :

"गमरा शिमित्तं धम्मम्"

—नियमसार, श्री कुन्दकुन्दविरचित ॥२,३०॥

(The auxiliary-cause of motion is Dharma Dravya)

गति परिणतानां धर्मः पुद्गलजीवानां गमन सहकारी ।
तोयं यथा मत्स्यानां अगच्छतां नैव स नयति ॥१७॥

—श्री नेमिचन्द्राचार्यकृत द्रव्यसंग्रह

(As water helps the movement of a moving fish so does the medium of Dharma help the motion of matter and soul. *But it can not move those which are not moving*).

जीवपुद्गलयोधर्म्मः सहकारी गतेर्म्मतः ।
अमूर्त्तो निष्क्रियो नित्यो मत्स्यानां जलवद् भुवि ॥

—वर्द्धमान पुराण, श्री सकलकीर्ति कृत ॥१६,२६॥

('Dharma Dravya' is the *fulcrum of motion* for matter and soul in a similar manner as water helps the motion of a moving fish. It is *formless, inactive* and *eternal*).

It should be noted that the word 'Dharma' has been used here in entirely a different technical sense than it is ordinarily understood to mean. Hindu philosophers have used this word in the sense of "duty" or "righteous deeds" but according to the Jain writers *the word 'Dharma Dravya' is used here to designate the medium of motion.*

---

*गुणपर्ययवद् द्रव्यम् ॥३८॥
द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥४१॥
तद्भावः परिणामः ॥४२॥

—तत्त्वार्थाधिगम सूत्र, अ० ५।

'Dharma Dravya' being a *non-material* (अमूर्त) substance has none of the qualities ordinarily associated with matter, i. e., it is devoid of qualities of touch, taste, colour, smell, etc. It is a *continuous medium* (अस्तिकाय) pervading the whole universe. (लोक) It remains unaffected by the motion of objects but it conditions the motion of those that can move, matter and soul. *'Dharma Dravya' neither moves by itself nor creates motion in other things, but it behaves as a fulcrum of motion to the living and non-living bodies.* Thus the 'Dharma Dravya' in itself is *non-motive* (अप्रेरक)* *and is co-extensive with Lokakasha* (*universe*).

We should remember the following points :

(i) 'Dharma Dravya' is *uncreated* (अनादि), *non-destructible* (अविनाशी) and *eternal* (सनातन).

(ii) It is *Amurta Dravya* (अमूर्त द्रव्य)—it has no qualities of touch, taste, smell and colour; it is formless.

(iii) It is *Ajiva* (अजीव)—non-living.

(iv) It is *Eka Pradeshi* (एक-प्रदेशी)† and Astikaya (अस्तिकाय)—non-discrete and continuous.

(v) It is *coextensive with Lokakasha* (लोकाकाश)—pervading the whole universe.

(vi) It is *Nishkriya* (निष्क्रिय)—non-active.

(vii) It is *Udasina Hetu* (उदासीन हेतु)—non-motive.

These are some of the important common qualities, emphasized by the Jain thinkers, of the 'Dharma Dravya'. The most approximate modern conception matching with the above description will be the ***Aether*** of the physicist.

Let us see what has a physicist to say about his aether.

In a popular scientific work '*An Outline for Boys and Girls and Their Parents*' edited by Naomi Mitchison, we find the following on P. 314 :—

---

* न स गच्छति धर्मास्तिको गमनं न करोत्यन्यद्रव्यस्य ।
भवति गते: स: प्रसरो जीवानां पुद्‌गलानां च ॥९५॥

—पंचास्तिकाय सार ।

† भेदकल्पनानिरपेक्षेणेतरेषां धर्माधर्माकाशजीवानां चाखण्डत्वादेकप्रदेशत्व

—आलापपद्धति, श्री देवसेन कृत ।

"The first problem was, of course, that if light waves were real waves, they must be waves in *something*. They were plainly not waves in matter; it was necessary therefore to invent something else, *which was not matter*, for them to be waves in. This something they called the "aether", and imagined it as an utterly thin and utterly elastic fluid, that flowed undisturbed between the particles of the material universe and filled all "empty space" of every kind.

What was this aether like ? Difficulties and contradictions appeared at once. For it was proved to be : (1) thinher than the thinnest gas; (2) more rigid than steel; (3) absolutely the same everywhere; (4) absolutely weightless; and (5) in the neighbourhood of any electron immensely heavier than lead".

In the '*Restless Universe*' by Max Born, we read (P. 115) :

"A hundred years ago the aether was regarded as an elastic body, some thing like a jelly, but much stiffer and lighter, so that it could vibrate extremely rapidly. But a great many phenomena, culminating in the Michelson experiment and the theory of Relativity, showed that *the aether must be something very different from ordinary terrestrial substances*".

"Now an aether is also required for electricity and magnetism; ...."

Again from '*The Nature of the Physical World*' by Eddington, the great authority on the subject, we have (P. 31) :

"In the last century it was widely believed that aether was a kind of matter, having properties such as mass, rigidity, motion like ordinary matter. It would be difficult to say when this view died out.....................*Now-a-days it is agreed that aether is n t a kind of matter. Being non-material, its properties are sui generis (quite unique)**.... ....*Characters such as mass and rigidity which we meet with in matter will naturally be absent in aether* but the aethar will have *new and definite characters of its own* ....non-material ocean of aether".

Although the scientists have firmly come to believe aether as non-material, their attempts to detect it are not yet over. The well-known experiment devised to detect aether was performed some seventy-five years ago and is *known as the Michelson-Morley experiment.*

---

* This is a brilliant confirmation of the Jain view.

The idea of the experiment is this : if all material bodies really swimming through a limitless ocean of Aether, it is quite easy to find how fast they are moving through it. The following analogy will make the point clear. The time taken to row a boat a certain distance up a swift river and down again is always greater than the time taken to row the same distance across the river and back*. Even if water were invisible one could calculate how fast it was flowing by measuring the time either way. In the same way it was argued that if earth were really moving through aether, a ray of light would take a longer time to go to a mirror and return a certain distance along the earth's motion than across it.

If aether were a material medium for the earth to move through, this seemed bound to be so. The experiment was performed in America by means of the most delicate apparatus but it was found that both journeys of the ray of light took exactly the *same time*.

The above experiment was performed in 1881 and in 1905 the experiment was repeated with better precautions but *the result again being zero.* This led us to conclude that either *there was no material aether* or that it moves with the earth or that *it is at rest in space,* while Miller's work indicated aether drag and *proved aether to be not non-existent*.

The Michelson experiment has been again repeated in recent years in a free balloon at heights of nearly $1\frac{1}{2}$ to 3 miles but the authors report that they are unable to confirm or refute the Miller's report. The famous "*Chicago rotation experiment*" designed to test the effect of the earth's rotation on the velocity of light confirmed the view that *aether was stagnant not moving*.

Let us review the whole situation. Why were the scientists led to such absurd conclusions that aether was thinner than the thinnest gas and at the same time more rigid than steel; absolutely weightless and at the same time heavier than lead ? The answer is : because they then regarded aether as a sort of matter i. e. *they identified 'Dharma Dravya' with 'Pudgala Dravya'*; and the discrepancies have now disappeared, when they have come to regard it as a non-material (अमूर्त) medium. We should remember the latest utterance of Eddington, Professor of Astronomy in the University of Cambridge, "Now-a-days it is agreed that *aether is not a kind of matter*".

* This fact can be proved mathematically.

D. C. Miller in his paper, published in 1934, says :

"The magnitude and direction of the observed effect vary in the manner required by the assumption that the earth is moving through *a fixed aether*".

Some people think that with the advent of the theory of relativity, the aether has been thrown out of science. They should carefully note what the great exponent of Relativity, Prof. Eddington, has to say on this point : "*This does not mean that the aether is abolished. We need an aether*". Thus it is proved that Science and Jain Physics agree absolutely in so far as they call Dharma Dravya (Aether) non-material, non-atomic, non-discrete, continuous, co-extensive with space, invisible pue as a necessary medium for motion and one which does not itself move.

The all discussed above is not an attempt to seek in ancient texts the substances of modern theories, as some are likely to think, nor is there any attempt to bring by forced, distant and misleading analogies the ancient discoveries in line with the modern science The points where the two agree and where they do not have been laid bare. Atter making a comparative study of the two, we may conclude that *the Dharma Dravya is more generalised than aether, in the sense that aether is hypothesized to be limited only to the wave-motion of light, while the Dharma Dravya is fulcrum for each motion in the universe.*

The peculiar merit of the Jain religion is that it has treated not only the problems of *soul, truth,* and *ahimsa* in a rational way but that *it also deals with matter and the physical universe in quite the same manner.* With regard to the cause of science, some day some Jain physicist may take up some prediction of the Jaln physics, work it out mathematically and a stonish the world. The 'animistic' belief of the Jains that the plants are endowed with life has already been demonstrated wonderfully by late Sir J. C. Bose, F. R. S.

Evolution of Logical Discussions in Sramana Cult

Dr. Bhagchandra Jain M. A. Ph. D. (Ceylon) Sahityacharya, Nagpur

Logical discussions and debates as the sceptics and sophists engaged in, in ancient Greece. were prevalent in Ancient India in the both Sramana[1] and Brahamana cults. They aimed at defending their own theories while refuting those of their opponents.

The Sutta Nipata which is supposed to be one of the earliest parts of the Pali scripture, states that such debates have arisen among both Sramanas[2] and Brahmanas[3], Sometimes the Titthiyas[4] (including Ajivikas and Niganthas), the socalled Vadasilas (habituate in the debate) have also been associated with these types of debates.[5]

All these debates are named takki[6] or takkika.[7] In Pali literature the ten possible ways of claiming knowledge have been criticised by the Budha in adderssing Kalama.[8] One of them is called "takka-hetu" which has been explained in the

---

1. All about the Sramana cult I may refer to my article "Antiquity of Sramana cult" published in the World Buddhism, Dehiwela, Ceylon, Vol. xv No, 1, August 1966.
2. Ete vivada samanesu jata, etesu ugghati nighati hoti, Suttanipata, Pasutasutta in Atthakavagga, 63
3. Ye kecime Brahmana vadasila. Buddha capi Brahmana santi keci, ibid, Culavagga, Dhammikasutta, 162,
4. Ye keci me Titthiya vadasila, Ajivika va yadi va Nigantha, ibid 161.
5, Ibid., 162.
6. Dighanikaya, i. 16.
7. Evem obhasitameva takkikanam, yavasammasambuddha loke nuppajjanti. Na takkika sujjhanit na ca pi savaka.ždudditthi na dukkha pamuccare. Udana, Jaccandhavaggo, Uppajjanitsutta.
8. A. i. 189.

Commentary as takki-gahena (adhering to reason)[9]. This takki-hetu appears to bc closely related with Pramana or epistemological or logical ground which is perhaps used first by Umasvami, a Jain Acharya of the first century B.C[10] The word "hetu" is also referred to in this sense in the Bhagwati Sutra and the Sthanangasitra as quoted by Satisha Chandra Vidyabhusana in the History of Indian Logic.[11] It is referred to in the Caraka Samhita also.[12]

Such discussions were held for the sake of gaining triumph in arguments or to defend religions. The debates used the vada, jalp and vitanda forms which are the classifications of katha or discussion in the Nyaya tradition. Pali literature also makes similar references to this classification. The Sutta Nipata mentions the vada[13] katha[14] and vitanda.[15] Buddhaghosa associates this vitandasattha with the Brahmanas, while the Saddaniti refers to the Tittyiyas. It shows the vitanda was utilized at that time by all schools of thought, since the term "Titthiya" was applied to both the Samanas and the Brahmanas.

The discussion through which knowledge is gained about doctrines is called the vada; that which is only for gaining victory over the opponents is Jalpa; the debate where the quibbles (chhala), analogues (jati), and respondent's failures (nigrahasthana) are utilized to vanquish the opponent is called Vitanda in the Nyaya[16] system and was used to defend their own views by right or wrong means.

The Buddhist tradition also could not escape being influenced by this practice The old logical compenda like the Upayahrdaya, Tarkasastra, etc. appear to have allowed the use of quibbles, analogues etc. for the specific purpose of protecting the Buddhist order, but Dharmkirti realising it was not in keeping with the high standards of truth and non-violence, completely denied their usage in the Vadanyaya. Hence, Dharmakirti rejects the qualities of the debater who speaks

---

9. AA, ii, 305.
10. Tatparoksam, Tattvarthasutra, 1.10.
11. Bhagavatisutra, 336, Sthanagasutra, 309-10; History of Indian Logic, p. 162.
12. Caraka Samhita, 3.8.6.25.
13. Yamassa vadam parihiramahu, apahatam panhavimasakase, Suttanipata, Pasurasutta in the Atthakavagga
14. Te vadakama parisam vigayha balam dahanti mithu annamannam Vadanti te annasita kathojjam, pasamsakama kusala vadana. ibid.
15. ibid.
16. Nyaya Sutra. 4.2.50-9.

more or less than necessary. Therefore he accepts only the two Nigrahasthanas,[17] Asadhananga and Adosodbhavana for both. vadi as well as prativadi.

The Jainas, on the other hand, stress more on truth and non-violence. They think of the vitanda as vitandabhasa.[18] Akalanka rejeets even the Asadhananga and Adosodbhavana in view of the fact that they are themselves the subjects of discussion. He then says: a defendent should himself indicate the real defects in the established theory of a disputant and then set up his own theory.[19] Thus he should consider each item from the point of view of truth and non-violence.

The above fact Is supported by Pali literature which contains several references to the logicai discussions of that period. Seme adherents of Jainism had also participated in such discussions. Saccaka, Abhaya, and Asibandhakaputta Gamini are the main chaiacters who have taken an active part in them.

Saccaka is described in the Nikayus as "one who indulged in debate, a learned, controversialist, who has been highly esteemed by the common people (bhassappavadako, panditavado, sadhu sammato bahujanassa).[20] He is said to have debated with all the six teachers, including even Mahavira or Nigantha Nataputta, although Saccaka was a staunch follower of Nigantha Nataputta. This may imply that he was a follower of the Parsvanatha tradition. But as Nigantha Nataputta became a Tirthankara of Jainism, Saccaka would have examined him through discussions and then aecepted his religion, which was nothing but the reformation of the Parsvanatha tradition.

---

17. Asadhananagavacanamadosodbhavanam dvayoh.
    Nigrahasthanamanyattu na yuktamiti nesyate. Vadanyaya, p 1.
18, Tadabhaso vitandadirabhyupetavyavasthiteh, Nayya Viniscaya, 2.384,
19. Svapaksasiddhirekasya nigraho nyasya vadinah.
    Nasadhanangavacanam nadosodbhavanam dvayoh Asatasati Astasahasri. p. 87.
20. Ekama samayam Bhagava vesaliyam viharati mahavane kutagarasalayam tena ho pana samayena Saecako Niganthaputto Vesaliyam pativasati bhassappavavadako panditavado sadhusammato bahujanasya. so vesaliyam parisati, evam vacam bhasati-"naham tam passami Samanam va Brahmanam va, sanghim ganim ganacariyam, api arahantam sammasambuddham patijanamanem, yo maya vadena vadam samaradhhona samkampeyya na sampa kampeyya na sampaved heyya, yassa na kacchehi seda mucceyyum. thunam ca paham acetanam vadena vadam samarabheyyam, sa api maya vadena vadena samaraddhe samkampeyya samkampeyya sampavedheyya. Ko pana vado manussabhutassa. M.I. 227.

Saccaka boasts about his dialectical skill in magniloquent language and speaks to Liccavis at Vaisali : "Today there will be a conversation between me and recluse Gautma. If Gautama takes up his stand against me, even as a powerful man, having taken hold of the fleece of a long fleeced ram, might tug it towards him." Further it has been mentioned there that the Buddha had asked a question which could not be replied by Saccaka. And result was that he becomes a follower of the Buddha.[21]

Another reference is recorded in the Abhayara jakumarasutta of the Majjhima Nikaya to the effect that Abhayarajakumara was sent by Nigantha Nataputta to ask a questien from the Buddha about his speech, as to whether the Tathagata utters unpleasant words and is unkind to others.[22]

The above reference that "Abhaya was sent by Nigantha Nataputta" is not supported by Jaina literature. Whatever its reason may be, one point is evident and that is that the Jainas participited actively in discussions and tried to indicate the defects of others 'religious utternnce made about the future of Devadatta. Abhaya then went to inquire about how far he was correct in his view. He does not appear to have questioned merely with the idea of imputing faults to his opponents' theory. This seems to be the first and most fundamental principle of Jaina conception of logical discussions of that period.

The propositional question asked by Abhaya Rajakumara from the Bubdha is as follows :

(i) Would the Buddha make statements which are displeasing and unpleasant to others ? (bhaseyya nu kho, bhante, tathagato tam vacam ya sa vaca paresam appiya amanapati).

(ii) Then how is different from the ordinary individual, who also makes statements which are displeasing and unpleasant to others ? (athakim carahi te, te, bhante, puthujjanena nanakarnam ? puthujjano hi tam vacam bhaseyya ya as vaca paresam appiya amanapa'ti)

(iii) The Buddha would not make statements which are displeasing and unpleasant to others (na, tathagato tam vacam bhaseyya ya as vaca paresam appiya amanapa'ti).

---

21. Ibid. i. 234 f.

22, chi tvam Rajakumara, Samanassa Gotamassa vadam, arohati, ibid. i. 392.

(iv) Then why has he pronounced about Devadatta that he is doomed to hell .... that he is incorrigible ? (atha kim carahi,te, bhante, Devadatto vyakato-appayiko Devadatto, nerayiko Devadatto, kappittho Devadatto atekiccho Devadatto).

Here Abhaya tried to show that the Buddha made a self-contradictory statement. Likewise, Asibandhaputta Gaminie[23], a follower of Nigantha Nataputta, made the following remarks on the Buddha as he understood him :

(i) The Buddha in various ways speaks well of showing compassion to people (nanu bhante, Bhagava anekapariyayena kulanam anudayam vannoti, anurakkham vanneti, anukampam vanneti'ti,).

(ii) The Buddha during the famine ... goes about with a large number of disciples and behaves in a way detrimental to the interest of people (atha kincarahi, bhante, Bhagava dubbhikkhe dvihitike setatthike salakavutte mahata bhikkhusanghena saddhim carikam carati ? ucchedaya Bhagawa kulanam patipanno anayaya Bhagava kulanam patipanno, upaghataya Bhagava kulanam patipanno ti).

The questions asked by Abhaya Rajakumara and Asibandhakaputta Gamani are based on such type of framed questions : "if they questioned thus and he answers thus, we shall join issue (vadam) with him thus.[24] "They are called "dupadam panham" or "ubhayatokotikam panham" (dilemmas)[25]. As a matter of fact, these are the traditional questions, which would have been thought out or taught before embarking on a dispute.

The Jaina attitude to these debates and discussions was that they were meant only to investigate the real defects in opponents' theories. They were not allowed to gain a victory through evil means, like quinnling, analogues, power and so on. That is why vitanda is considered Vitandabhasa in Jainism.[26] The Buddha himself appreciates the attitude of such panditas and agrees with them on other matters.[27] He called them "Vinnu" or intelligent persons who are supposed

23. Samyutta Nikaya, Vol. iv. 323-4.
24. Evamca no puttho evam vyakarissati, evam ti 'ssa mayam vadam aropessama, evamca pi no puttho....evanca pi' ssam mayam vadam aropessama, M. I. 176; ii 122.
25. Majjhima Nikaya, i. 393, Samyutta Nikaya, iv. 323.
26. Nyayaya Viniscaya. 2.384. Laghiyastraya, 6.
27. Santi eke samanabrahmana pandita nipuna kataparappavada...Digha. 1. 162.

to be hypothetical rational critics.[28] They used to make an impartial and intelligent assessment of the relative worth of conflicting theories.[29]

On the basis of above view the later Jaina philosophers established the definition and means of debates. Akalanka is perhaps the first to point out clearly such definitions. He says that if one is capable of establishing his own view (paksa) through right devices, it is Jaya (victory) for him parajaya (defeat) for the other[30] Acharya Gunabhadra also supports his view in the Uttarpuran.[31]

The Buddhist philosophical literature which developed later, has not mentioned any discussions and refutations of Jaina conception in this connection. This may be due to the fact that both philosophies had similar rules and regulations regarding such debates, except for a few differences especilly in the case of Nigrahasthanas.

We have discussed here the conception of Jains and Buddhists, the main types of Sramana cult. Others, views are quite unknown to us as no literature have been found so far.

---

28. Dighanikaya, i, 163-ff
29. Majjhima Nikaya, i, 403 ff.
30. Samarthavacanam jalpam caturangam vidurbudhah.
    Paksaniranayaparyantam phalam margaprabhavana.
    S V. 5·2. of Tsv. 380.
31. Uttara Purana. 44. 139-40

अथ भगवान्
श्री रामचन्द्रजी की पूजन

रचियता—वि० वा० स्या० वा० स्व० पं० खूबचंदजी शास्त्री, इन्दौर

सिद्धं शुद्धं प्रसिद्धं निरुपममहिमानं गुणौघैः समिद्धम्,
मोहक्षोभार्तिमायाविवशजनसमुद्धारणे बद्धकक्षम् ।
सम्यक्तत्त्वावबोधामृतवचनममुं पद्मगात्रं पवित्रम्,
धर्मारामाभिरामं प्रशमसमरसं रामचन्द्रं यजामि ।।१।।

इत्युक्त्वा पूजनप्रतिज्ञायां पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत् ।।

रमन्ते योगिनो यत्र, चिदानन्दात्मनि ध्रुवे ।
अभिरामः स रामो मेऽद्यात्रावतरतात्र हृदि ।।२।।

ॐ ह्रीं श्री चिन्दानन्दात्मन्, रामचन्द्र देव अत्र अवतर २ संवौषट् ।।

कर्माष्टकविनिर्मुक्त, विपाकाशयदूरग ।
रागादिक्लेशहृत् तिष्ठ, चित्ते मे पुरुषोत्तम ।।३।।

ॐ ह्रीं श्री क्लेशकर्मविपाकाशयरहित श्री रामचन्द्रदेव अत्रतिष्ठ २ ठःठः ।।

मुनिसुव्रततीर्थात्मन्, मर्यादाप्रतिपालक ।
सद्गुणाराम हे राम, भूयाः सन्निहितो मम ।।४।।

ॐ ह्रीं श्री मर्यादारक्षक श्री रामचन्द्रदेव अत्र मम सन्निहितो भव २ वषट् ।।

अथ अष्टकम्

—०—

१

पीयूषनिष्यन्दि हितार्थगर्भं, भव्यात्मनां मोहतमोविहन्तृ ।
पुण्यादवाप्यं वचनं यदीयं, तं रामचन्द्रं सलिलैर्यजामि ।।५।।

ॐ ह्री श्री भव्यसम्बोधकाय श्रीरामचन्द्रपरमेष्ठिने जलं निर्वपामीति स्वाहा ।।

२

पित्रोर्महत्तापनिवृत्तिहेतोस्तत्याज राज्यं भरताय यो प्राक् ।
लिम्पामि वात्सल्यभृतोऽस्य पादौ, रामस्य सद्गन्धितचन्दनेन ।।६।।

ॐह्रीं श्री वात्सल्यगुणधारकाय श्रीरामचन्द्रपरमेष्ठिने चन्दनं निर्वपामीति स्वाहा ।।

३

दुर्वासनावासितचित्तवृत्तिरक्षःक्षतत्रातसतीत्वधर्मम् ।
सीतासमुद्धारनिमित्तमेत्य, तं राममर्च्येऽक्षततन्दुलौघैः ।।७।।

ॐ ह्रीं श्री सज्जातित्वपरमस्थानरक्षकाय श्रीरामचन्द्रपरमेष्ठिने अक्षतान् नि. स्वा. ।।

४

पद्मस्यं पद्मसद्गन्धिपद्मालिङ्गितविग्रहम् ।
पद्ममालाभिरर्चामि, पद्मं निर्जितमन्मथम् ।।८।।

ॐ ह्रीं निर्जितकामविकाराय श्री रामचन्द्रपरमेष्ठिने पुष्पाणि नि. स्वा. ।।

५

पीयूषपिण्डैरिव सद्रसाढ्यैर्भक्त्यैरथो मोदकखज्जकाद्यैः ।
रामं प्रशान्तैकरसाभिरामं, कान्तारचर्यारतमर्चयामि ।।

ॐ ह्रीं परमनिष्क्रमणकल्याणधारकाय श्री रामचन्द्रपरमेष्ठिने नैवेद्यं नि. स्वा.

६

सीताचराखण्डितमात्मलीनम्, सर्वज्ञमानन्दमयं विरागम् ।
आर्हन्त्यलक्ष्मीं परिरम्भमाणम्, आरातये दाशरथिं प्रदीपैः ।।

ॐ ह्रीं आर्हन्त्यलक्ष्मीलक्षिताय श्री रामचन्द्रपरमेष्ठिने दीपं नि. स्वा. ।।

७

संहृत्य घातीनि विहन्तुमुत्कं, कर्माण्यघातीनि वसुप्रमाणान् ।
लब्धुं गुणानष्टमनिष्टधूपैर्देवं बलाढ्यं परिपूजयामि ।।

ॐ ह्रीं अष्टगुणविशिष्टाय श्रीरामचन्द्रपरमेष्ठिने धूपं नि. स्वा. ।।

८

उन्मूलिताज्ञानविषद्रुमः सन्, निर्बाधबोधामृतपूरपूर्णम् ।
संतिष्ठते स्वं स्वबमान एवं, सद्भिःफलैं राममिमं यजामि ।।

ॐ ह्रीं सच्चिदारामरमणाय श्री रामचन्द्रपरमेष्ठिने फलानि नि. स्वा. ।।

९

अर्भिश्चन्दनतन्दुलैः कुसुमसन्नैवेद्यदीपैरपि,
धूपैरिष्टफलैः कृतेन महता ऽनर्घ्येण संपूजये ।
अर्घ्येणेष्टमनुत्तरं गुणगुरुं सिद्धं प्रसिद्धं परम्,
रामं तं बलभद्रमद्य जगतः श्रेयोऽर्थसंसिद्धये ।।

ॐ ह्रीं परमनिःश्रेयससाधकाय श्री रामचन्द्रपरमेष्ठिने अर्घम् नि. स्वा. ।।

विद्याष्टगुणमूर्ति तं, कर्मकाष्ठाशुशुक्षणिम् ।
इष्टोत्कृष्टविशिष्टार्घै:, पूजयेऽनिष्टहानये ॥
ॐ ह्रीं सर्वोत्कृष्टपदप्राप्ताय श्रीरामचन्द्रपरमेष्ठिने पूर्णार्घं नि. स्वा. ॥

अथ गुणस्तवन-जयमालार्तिकम् ।

इत्थमष्टमरामस्य, विशिष्टपरमात्मन: ।
विधायाष्टतयीमिष्टिं, कुर्वे तद्गुणसंस्तवम् ॥१॥ पुष्पाञ्जलि:
जयतु जय राम, जय जय नाथ, जयतु जय राम ॥ अञ्चलिका

ऋषिमुनियतिसंस्तुतशुभनाम,
निरुपाधिकमतिरतिजितकाम ॥२॥ जयतु जय राम ॥
हे अभिराम राम गुणधाम,
चिन्मयतेजोरूपललाम ॥३॥ जयतु जय राम ॥
परहितनिरत विरत निष्काम,
अवहेलितभास्करशतधाम ॥४॥ जयतु जय राम ॥
सुरपतिमहित विदित बलराम
शाश्वतशुद्धशांत परिणाम ॥५॥ जयतु जय राम ॥
सीताचरसेवितपदपद्म,
सम्यक्त्वादिकगुणगणसद्म, ॥६॥ जयतु जय राम ॥
अद्भुतचेष्टित गुणगम्भीर,
मर्यादापुरुषोत्तम धीर ॥६॥ जयतु जय राम ॥
मोहासुरमर्दनदृढ़शूर,
भव्यारामामृतरसपूर ॥८॥ जयतु जय राम ॥
अशरणशरणचरणगतकाय,
कविगणमतितमहरणसहाय ॥९॥ जयतु जय राम ॥
मंगलमय मंगलकृद्रूप,
नित्यातीन्द्रियसच्चिद्रूप ॥१०॥ जयतु जय राम ॥
भवभयभीतसदयहृदयेश,
कलिमलहरणतमोरि विशेष ॥११॥ जयतु जय राम ॥
राघवसीरियद्म शुभनाम,
शाश्वतसुखमयचित्तनुधाम ॥१२॥ जयतु जय राम ॥

घत्ता

एवं वलदेवं सुरकृतसेवं, वज्रकुसुमसमभावधरम् ।
कर्माद्रिविदारणभव्योद्धारणशुद्धरूपमर्चामि परम् ।।१३।।

ॐ ह्रीं अनन्तगुणविशुद्धाय मंगलरूपाय श्री रामचन्द्रपरमेष्ठिने मंगलार्घं नि. स्वा.

प्रशस्तिः

श्रीमान् लालगढ़वास्तव्यो, भंवरीलालसंज्ञकः ।
खण्डेलवालजातीयबाकलीवालगोत्रजः ।।१।।

पूजापाठव्ययी तत्वश्रद्धादिगुणभूषितः ।
आर्याचाररतो नित्यं जैनाचारप्रचारधीः ।।२।।

श्रीरामचन्द्रसत्पूजाप्रचारे कृतमानसः ।
तद्भावनां समाश्रित्य प्रेरितेन च भूयशः ।।३।।

श्री राजेन्द्रप्रसादो राष्ट्रपतिर्यस्य तत्र गणराज्ये ।
विक्रमनाम्नि सुवर्षे षोडशसहिते सहस्रयुगे ।।४।।

मूलचन्द्रेण विदुषा, गीतां राम गुणार्चनाम् ।
कुर्वन्तु सुधियो नित्यं श्रेयोऽभ्युदयसाधवः ।।५।।

इति पुष्पाञ्जलिः

इति श्री रामचन्द्र पूजा । शुभं भद्रम् ।।

परिशिष्ट

विभिन्न धर्म के बेजोड़ सहभागी

स्वर्गीय भंवरीलाल बाकलीवाल हमारी सम्मिलित फर्म शालिगराम राय चुन्नीलाल बहादुर एण्ड को० का पार्टनर था। अपनी ११ वर्ष की उम्र में ही संवत् १९६६ में डिबरूगढ आ गया था। यहाँ पर पढ़ाई करने के साथ-साथ काम काज भी सीखता था। ५० वर्षों तक हम साथ-साथ रहे।

हम लोगों के अलग-अलग होने के पश्चात् सं० २०१५ में उनके हिस्से में इंफाल (मनीपुर) आया। वहां भंवरीलाल बाकलीवाल एण्ड को० के नाम से अपनी फर्म की। इसके बाद भी ८-९ वर्षों तक बराबर मिलता जुलता रहा और सम्पर्क रहा। लेशमात्र भी आलस्य न होने के कारण अपनी असाध्य बीमारी में भी पत्र व्यवहार करता रहा।

बचपन से ही उनकी धर्म पर श्रद्धा भक्ति निष्ठा एवं रुचि थी। मरुस्थल राजस्थान में उस समय स्थानकवासी और तेरह पन्थी साधुओं के विचरण (बिहार) धर्मोपदेश प्रचार के कारण ये लोग भी उन्हें ही मानते थे तथा धर्म गुरु समझते थे। हम लोग भी ऐसा ही समझते थे। हम को यज्ञोपवीत, रेशमी वस्त्र पहिन कर सन्ध्याबन्दन पूजापाठ, हवन सूर्यवरुण की पूजा वेदी (मांडलाजो) आदि कार्यों को करते देख कर इन लोगों को आश्चर्य होता। परन्तु जब तीनकूनिया डिबरूगढ जैन मन्दिर में जयपुर से मकराने की वेदी (सिंहासन) मंगाकर उसकी प्रतिष्ठा कराने के लिये पं० पन्नालालजी आए, उन्होंने ११ श्रावकों को यज्ञोपवीत पहना कर रेशमी वस्त्र धारण कराया एवं हमारे जैसे ही वेदी मंडलजी, हवन सूर्य वरुण आदि की पूजा कराई एवं जैन धर्म का उपदेश दिया। सिद्धान्त बताए तब इन्हें सच्चे जैन धर्म का ज्ञान हुआ। जब स्वर्गीय श्री मुनिमहाराज चन्द्रसागरजी ने अनुमान ३० वर्ष पहले लाडनू में चातुर्मास किया तब स्व० भंवरीलाल ने उनसे खान पान में कठोरता सूचक व्रत लिया और भी कई लोगों ने ऐसा व्रत लिया मुझे भी लाडनूं में मुनिश्री के दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ उनके उपदेश से मैंने भी उस साल रात्रि भोजन बन्द करने की प्रतिज्ञा ली थी।

मुनिराज श्री चन्द्रसागरजी महान् विद्वान् और तपस्वी थे उनके उपदेश अत्यन्त प्रभावशाली और मार्मिक होते थे।

किसी अनिवार्य परिस्थिति में श्री भंवरीलाल ने जो प्रतिज्ञा ली थी उसमें बम्बई में कुछ शिथिलता आ जाने से बड़ा भारी दुःख हुआ। उसका गुरुजनों से प्रायश्चित्त लिया और पुनः वह व्रत लेकर त्रिविध निष्ठा से उसे आजीवन प्रतिपालित किया।

स्व० भंवरीलाल ने सभी जैन तीर्थों की कई बार यात्रायें कीं। जैनबद्री मूड़बिद्री की यात्रा का वर्णन सुनकर मैंने भी अपनी चारों धाम की यात्रा का विवरण सुनाया तो बड़ा प्रसन्न हुआ और कहा आप और मैं आपके हमारे तीर्थों की यात्रा साथ-साथ करें। यह सुनकर मुझे बड़ी खुशी हुई कि समय मिलने पर करेंगे पर दोनों की इच्छा मन की मन में ही रह गई।

श्री मुनिमहाराजाओं के दर्शनों की उसके मन में हर दम इच्छा रहती थी। बराबर दर्शन धर्म ध्यान करने के लिए जाता। कैंसर जैसी असाध्य बीमारी का इलाज कराने के लिए बम्बई जाता हुआ भी रास्ते में श्रीमुनिमहाराजों के दर्शन करता हुआ गया। इससे अधिक और क्या उदाहरण हो सकता है ? आचार्यों, पंडितों से भी जा-जा कर धर्म चर्चा करता रहता।

भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा का दो बार सभापति बन कर महासभा की आर्थिक एवं सब तरह से उन्नति की। आपसी मनोमालिन्य को दूर कराया।

श्री रामेश्वरलाल सहारिया के साझे में जयपुर में व्यवसाय किया जिस में घाटा लगा, तब श्री रामेश्वरलाल ने आधा चुकाने पर बहुत जोर दिया परन्तु स्वर्गीय भंवरीलाल ने यह स्वीकार नहीं किया और पूरे रुपये जिन्हें देना था, दिये।

भाईजी किशनलालजी करवा की कारबार व्यापार सम्बन्धी शिक्षा हर दम याद करता रहता और कहता कि दादाजी का उपकार मैं अपने जीवन पर्यंत नहीं भूलूंगा। ऐसे ही भाईजी प्रेमसुखजी के हिन्दी का ज्ञान-उपदेश धार्मिक चर्चा के लिए कहता।

वास्तविक जैनी के लिए व्यर्थ युद्ध लड़ाई का तो सवाल ही नहीं उठता।

अपनी भूल स्वीकार करना शूरवीर का काम है, इस कहावत मुजिब ही अपनी भूल तुरन्त स्वीकार कर लेता।

एक बार कारबार के विषय को लेकर हमारे आपस में कुछ विवाद होकर कुछ मनोमालिन्य हो गया था परन्तु उन्हें अपनी गल्ती मालूम होते ही उसे स्वीकार कर लिया।

बातों ही बातों में किसी विषय को लेकर उनके मुंह से निकल गया कि आज के जमाने में सभी चोर हैं। इस पर मैंने कुछ नाराज होकर कहा तब क्या हम दोनों भी चोर हैं यह सुनते ही उसने मनमें अपने अनुचित शब्दों पर दुःख पश्चात्ताप किया।

मैं भाग्यवादी हूं, वह पुरुषार्थवादी था। इसे लेकर आपस में तर्क-वितर्क चलती रहती। जयपुर में व्यवसाय में नफा होकर घाटा लगा। बाद में बम्बई में कपड़े के काम में कपड़े में लाख रु० नफा होते हुए भी आखिर में दश बीस हजार का उसमें नुकसान लगा तब उन्होंने कहाकि पुरुषार्थ करने में मैंने कमी नहीं रक्खी परन्तु भाग्य में लिखे बिना कुछ नहीं होता अतः भाग्य भी बड़ा है। परन्तु भाग्य के ही भरोसे न रह कर पुरुषार्थ भी करते रहना चाहिये। भाग्य फलने का आधार पुरुषार्थ ही है।

ज्योतिष शास्त्र पर मेरी पूर्ण श्रद्धा है। उनकी नहीं थी परन्तु जब जयपुर में व्यवसाय में कभी नफा होकर बाद में घाटा लगजाता तब जयपुर में ज्योतिषियों को अपनी जन्म कुण्डली दिखाई। उन्होंने बताया कि आपको राहु की महा दशा है इसमें कभी अच्छा अन्तर प्रत्यन्तर आने से क्षणिक नफा हो जाता है परन्तु जब तक राहु की महा दशा रहेगी तब तक किसी तरह की भी उन्नति नहीं होगी। और हुआ भी यही। राहु की महादशा समाप्त होते ही मनीपुर में निजका काम हुआ और बहुत उन्नति हुई। तब से उनकी ज्योतिष पर श्रद्धा हो गई।

स्व० श्री भंवरीलाल में आलस्य लेशमात्र भी नहीं था। कोई कार्य होता उसे झट कर डालता। एक रोज डाक में कलकत्ते से किसी का पत्र मिला जिसमें चैनसुख गम्भीरमल कुचामन वालों के विषय में कुछ लिखा था पत्र पढ़ते ही प्लेन की टिकट मंगा कर कलकता चला गया।

सच्चाई, समय और बचन की पाबन्दी, कृतज्ञता गुणग्राहिता, सात्विकता स्वधर्म निष्ठा परस्पर प्रेम आदि अनेक गुणों का श्री भंवरीलाल प्रतीक था हमारे सारे परिवार से पारिवारिक जैसा ही सम्बन्ध उसका बना रहा। वास्तव में वह आदर्श व्यक्ति था।

हमारी सम्मिलित सालिगराम राय चुन्नीलाल बहादुर नाम के फर्म में हम लोग सनातन वैदिक धर्मी थे और चुन्नीलालजी और उनके वंशज एवं तीसरे भागीदार पांड्या रहे जो जैनधर्मानुयायी थे। हमारा १०० वर्ष तक साथ-साथ व्यवसाय चला परन्तु धर्म को लेकर कभी कोई आपस में रंचमात्र भी विसंबाद नहीं हुआ। यह सदैव विशेषता रही कि दोनों ही के धर्म कार्यों में एक का दूसरे के साथ पूर्ण सहयोग रहा और एक आदर्श धार्मिक सहिष्णुता रही जो सभी के लिये उदाहरण स्वरूप एवं अनुकरणीय है।

वृद्धिचन्द करवा
डिब्रूगढ़ (आसाम)

धर्मात्मा के तीन गुण

न्यायालंकार पं० श्री मक्खनलालजी शास्त्री, मोरेना

धर्मात्मा पुरुष वही श्रेष्ठ माना जाता है जिसमें तीन गुण पाये जाते हैं—पहला गुण धर्म और धर्मात्मा के प्रति विशेष अनुराग हो, जो धर्मात्मा पुरुषों को देखकर उनसे मिल कर अत्यन्त हर्षित हो जाय और हार्दिक आनन्द माने तथा गोवच्छके समान धार्मिक वात्सल्य प्रकट करे वह धर्मात्मा है यह उसकी पहली पहचान समझना चाहिये। दूसरी बात धर्मात्मा की यह है कि जो अधर्म की बात को सहन नहीं करे, आगम विरुद्ध मुनिराजों के विरुद्ध आगमानुकूल आचार विचारों के विरुद्ध बातों को सहन नहीं करे। आज कल ऐसा प्रायः देखा जाता है कि स्पष्ट रूप से धर्म विपरीत एवं आगम विपरीत बातों को सुनकर भी अनेक विद्वान् और श्रीमान् चुप रहते हैं। बाहरी शिष्टाचार एवं प्रेम निभाने के लिये यथोचित उत्तर नहीं देते हैं। उत्तर देने में वे संगठन का विघटन मानते हैं साथ ही पारस्परिक स्नेह में हानि समझते है इसका परिणाम यह होता है कि धीरे धीरे अधर्म का प्रचार बढ़ता जाता है और समाज के धर्म साधन में शिथिलता बढ़ती जाती है। इससे सम्यक्त्व और चारित्र दोनों में कमी होती जाती है। धर्म में उत्कर्ष नहीं होता है, अधर्म की पुष्टि और चारित्र का अभाव होता है। आगम में श्रद्धान एवं मुनिराजों में भक्ति नहीं रहती, दोनों की अवहेलना होती है। ऐसी प्रवृत्ति को चुप चाप देखते रहना उसका प्रति वाद नहीं करना धर्मात्मा का लक्षण नहीं कहा जाता है। धर्मात्मा पुरुष इन बातों को सहन नही करेगा। धर्म की रक्षा और अधर्म का विरोध करने से समाज का सच्चा हित होता है। अपना सम्यक्त्व और चारित्र भी दृढ़ होता है। धर्म की रक्षा और अधर्म का परिहार करने से स्नेह और संगठन भी सच्चे रहते हैं। वह कैसा संगठन है और कैसा स्नेह है जिससे देव गुरु शास्त्र का श्रद्धान और धार्मिक चर्चा भले ही नष्ट हो जाय परन्तु स्नेह और संगठन बना रहे। यह तो कोई विवेक की बात नहीं है। इसलिए धर्मात्मा पुरुष का यह लक्षण है या उसकी पहचान है कि वह धर्म विरुद्ध बात को सहन नहीं करे। किन्तु अपने सच्चे हृदय से धर्म की रक्षा करे। उससे वह स्वयं पुण्य का संचय करेगा और समाज को सन्मार्ग का प्रदर्शन करने वाला सिद्ध होगा। रत्नत्रय धारक निकट मोक्ष पात्र आचार्य मुकुट समंत भद्र स्वामी जगद्वंद्य आचार्य अकलंकदेव परीक्षा प्रधानी आचार्य विद्यानंदि आदि महर्षियों ने मिथ्यात्व एवं अधर्म का पूरी शक्ति लगाकर डटकर विरोध किया था, उसी का यह फल दीख रहा है कि आज भी हम (समाज) यथार्थ तत्वों का श्रद्धान कर रहे हैं। उक्त आचार्य महाराज यदि मिथ्यामार्ग का विरोध नहीं करते तो जैन धर्म की रक्षा कैसे होती? आचार्य और मुनिराजों ने धर्म रक्षा में कभी उपेक्षा नहीं की यह उनके

जीवन इतिहास से सुसस्पष्ट है। ऐसा राग भी प्रशस्त राग है वह परंपरा वितरागता का साधक है और सम्यग्दर्शन में दृढ़ता लाने वाला है। वर्तमान के परम पूज्य सभी मुनिराज—आचार्य संघ स्वात्म साधन और परहित में लगे हुए हैं। उनकी पवित्र चर्या समाज के लिये एक पवित्र आदर्श है। मुनिराजों की अधिकाधिक सम्हाल और विहार समाज हित के लिये पुण्योदय से प्राप्त अमूल्य निधि है। फिर भी यह परमावश्यक कर्तव्य है कि वर्तमान में विहार करने वाले सभी आचार्य और मुनिराज अधर्म प्रचार के विरोध में और धर्म रक्षा में अपने समय का कुछ भाग लगाते रहे ताकि समाज का कुछ भोला भाग धर्म से विचलित नहीं हो सके। वे पवित्र चारित्र की मूर्ति हैं उनके वचनों का प्रभाव विद्वानों से बढ़कर है। इसी प्रकार संस्कृत एवं सिद्धान्त पाठी विद्वानों का कर्तव्य है कि वे भी अपनी अर्जित विद्या का सदुपयोग करें। उन पर समाज हित का उत्तरदायित्व है। विद्वानों के संगठन का परिणाम धर्म प्रचार अधर्म परिहार होना चाहिये। अनेक विवेकी विचार शील विद्वान् इस श्रेयस्कर कार्य में लगे हुए हैं। समाज उनका कृतज्ञ है। धर्मात्मा का तीसरा परन्तु प्रधान लक्षण यह है कि वह स्वयं धर्म का यथा शक्ति अवश्य पालन करे। कम से कम जघन्य पाक्षिक के रूप में आठ मूल-गुणों का पालन तो परमावश्यक है। जैसे मुनि के लिये अठाईस मूलगुणों का पालन अनिवार्य रूप से आवश्यक है उसी प्रकार जघन्य श्रेणी के गृहस्थ को आठ मूल-गुणों का पालन करना आवश्यक है।

तीन गुणों का संक्षिप्त सूत्र यही है—

१—धर्म और धर्मात्माओं में विशेष अनुराग रक्खे।

२—अधर्म को सहन नहीं करे।

३—स्वयं धर्मनिष्ठ बने।

श्रीमान् समाजरत्न स्व० सेठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल सच्चे धर्मात्मा थे। उनके धर्मात्मा होने के तीनों लक्षण थे। वे धर्मात्मा पुरुषों से आगाध स्नेह रखते थे। परम पूज्य मुनिराजों में उनकी श्रद्धा भक्ति दृढ़ थी। धर्मात्मा पुरुषों से बड़े आदर और प्रेम से गद्‌गद होकर गले लगकर मिलते थे। अपने तीव्र पुण्योदय से वे वैभवशाली श्रीमान् थे। उनके इंफाल आदि में फर्म हैं। उनके चार सुयोग्य पुत्र हैं। मुझे पूरा भरोसा है कि वे अपने श्रद्धेय पिताजी के समान ही धर्मनिष्ठ और समाज सेवी बनेंगे और उनकी कीर्ति को अक्षुण्ण रखेंगे। उनके वियोग से समाज की महत्ती क्षति हुई है। परन्तु अपने सत्कार्यों से वे सदैव अमर समझे जायेंगे।

आदर्श एवं प्रभावशाली व्यक्तित्व

श्री भंवरीलालजी बाकलीवाल के सम्पर्क में आने का सौभाग्य २० बीस वर्ष पूर्व उनके मातुल श्री मानिकचन्दजी पांड्या की हवेली सुजानगढ़ में अनायास प्राप्त हुवा यही मेरा सर्वप्रथम छोटा साक्षात्कार था लेकिन यह उनके उच्च आदर्श प्रभावशाली व्यक्तित्व का ही मूल कारण था कि मैं अल्प काल में ही यह अनुभव करने लगा मानो कि वे मेरे ही परिवार के वरिष्ट सदस्य हों।

बात अत्यन्त साधारण और देखने में छोटी सी है किन्तु उसका सार और प्रभाव बहुत ही गहन और गूढ़ है। करीब दिन के दो बजे का समय था मैं भी श्री भंवरीलालजी के कमरे में उनके सामने बैठा हुआ था। काफी का प्याला हाथ में था और चर्चा धर्म केवल जैनधर्म ही नहीं अपितु शास्वत सनातन मानव धर्म की चल रही थी मेरे प्रश्न पर कि धर्म को लेकर विभिन्नतायें विषमतायें क्यों हैं? धर्म है क्या ? भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा के सभापति और जैन धर्म में अटूट आचरण रत श्री भंवरीलाल जी ने नन्हासा उत्तर बड़े सरल सहज भाव से दिया "धार्मिक विभिन्नतायें और विषमतायें मनुष्य की स्वार्थ रचित हैं। धर्म अपने कर्तव्य पालन, सदाचार,सदाचरण, सह अस्तित्व अथक अध्यवसाय का ही संक्षिप्त नाम है अपने से छोटों पर स्नेह व बड़ों का आधर, गुरु भक्ति मनुष्य के लिए परमावश्यक हैं।

श्री भंवरीलाल बाकलीवाल के महाप्रयाण के पश्चात भी उनके वाक्य आज भी कानों में गूंज रहे हैं। श्री भंवरीलालजी के चिर निद्रा देवी की गोद में सोने के एक दिन पहले की बात है मैं उनसे मिलने गया व उनके स्वास्थ्य के विषय में बातचीत की तो अत्यन्त वेदना-मय स्थिति में होते हुए भी हमेशा की तरह ही मुस्कराए और कहने लगे अब विदाई का समय आ चुका है जाने का कोई कष्ट या दुःख नहीं है जाना तो एक दिन हर व्यक्ति को निश्चित ही है। बीस वर्षों से आप के साथ रहे यदि कही जाने अनजाने कटु मृदु आपसे कुछ कहा भी हो और आपको संभवतः अप्रिय और अरुचिकर भी अनुभव हुआ हो तो इस अन्तिम बेला में आप सहर्ष क्षमा करेंगे।

घनश्यामदास ठेकेदार, सुजानगढ़

In him community has lost a great benefactor.

Sahu Shriyans Prasad Jain

निष्कपट मन व सादगीपूर्ण जीवन

श्री भंवरीलालजी बाकलीवाल के देहावसान से जो क्षति हुई है उसका अनुभव वे सभी लोग बहुत आसानी से कर सकते हैं जिन्हें थोड़ासा भी सेठ साहब के सम्पर्क में आने का अवसर मिला है। पिछले कुछ वर्षों से मुझे सेठ साहब के विशेष नजदीक आने का सौभाग्य मिल सका। वास्तव में वे एक ऐसे लगनशील, कर्तव्यनिष्ठ, सेवा भावी, धर्म परायण व सच्चे मानव प्रेमी पुरुष थे जिनसे वास्तव में मनुष्य प्रेरणा ले सकता है। जब तक व्यवसायिक क्षेत्र में सक्रिय रहें, पूर्ण सफलता के साथ उसका संचालन किया। समाज सेवा के कार्यों में गत कुछ वर्षों में विशेष लगनशील रहे और भारतवर्षीय दि० जैन महा सभा के अध्यक्ष पद तक को सुशोभित किया। राष्ट्र ऊंचा रहे, मानव सच्चा मानव बने। यह मानव और इसके लिए कुछ न कुछ करते रहने की दिशा में सदैव चिन्तन व मनन करते रहने की उत्कण्ठा मैंने उनमें बराबर देखी। उनका निष्कपट मन, सादगीपूर्ण जीवन व धनपति होते हुए भी अभिमान जिनको छू नहीं सका, ऐसे आदर्श पुरुष का जीवन परिचय स्मारिका के रूप में प्रकाशित करना वास्तव में हम सभी के लिए उपयोगी साबित होगा ऐसा मेरा मानना है।

फूलचन्द जैन
प्रधान मन्त्री,
राजस्थान प्रदेश कांग्रेस कमेटी

हमारे वंश का गौरव

चिरु भंवरीलाल हमारे बाकलीवाल परिवार का प्रमुख स्तम्भ था, उसके अवसान से गहरा धक्का लगा। उसने समाज की सेवा करके हमारे वंश को गौरव प्रदान किया है।

जोरहाट

धनश्यामदास बाकलीवाल

अपना शीश झुकाते हैं

यद्यपि आप हमारे नाना तोभी किया नहीं ना ना
जो चाहा सो सभी जुटाया खेल खिलौना अरु खाना।
प्यार आपका मधुर मनोहर विविध प्रणाली से होता
दुर्विधिने यह छीना हमसे, हमही क्यों सब जग रोता।।
बच्चों में बच्चे बन जाते हंसते खूब हंसाते थे
उत्तम सत्कृतियों में हम सब ज्ञान सुधारस पाते थे।
श्रेष्ठ आदतों के शिक्षक थे दुख संकट के भक्षक थे
सदाचार रसके दाता थे आप हमारे रक्षक थे।।
कार्य प्रणाली अरु दिन चर्या उपदेशात्मक होती थी
विनय सिखाती गुरुपद सेवा सेवाभाव जगाती थी।
जनसेवा अरुधर्म कार्यरुचि धार्मिक भाव सिखाती थी
निर्भयता आलस्य हीनता सबको अलख जगाती थी।।
छोड़ गये सबको हमको झट विलख-विलखते नानाजी
याद आपकी नित प्रति रहती नहीं दीखते नाना जी।
हो विनम्र हम शुद्ध भाव से श्रद्धा सुमन चढ़ाते हैं
तुम चरणों की पावन रज में अपना शीश झुकाते हैं।।

कमलकुमार सेठी

श्रीपाल सबलावत

—श्रीमान् सेठ भंवरीलालजी बाकलीवाल के निधन पर दि० जैन समाज बड़वानी, दि० जैन मालवा प्रान्तिक सभा बड़नगर, श्री आचार्य कुन्थुसागर ग्रन्थ माला सोलापुर, श्री चन्द्रसागर दि० जैन औषधालय चोरु, सर सेठ हुकमचन्दजी राजकुमार सिंह जी प्रा० लि० बम्बई, श्री सेठ प्रभुलाल धर्मचन्दजी अहमदाबाद, श्री चौधरी वंशीलालजी उदयपुर, श्री ब्र० सेठ हीरालालजी पाटनी निवाई, श्री ब्र० चांदमल जी चूड़ीवाल, श्री सेठ किस्तूरचन्द जौहरीमल जी इम्फाल, ब्र० हरकीबाई जी मुनिसंघ बाहुबली जी, श्री डा० सौभाग्यमल जी दोशी अजमेर, श्री पं० जम्बूप्रसाद जी शास्त्री मडावरा, श्री सोहनलाल जी पहाड़िया सुजानगढ़, श्री हरकचंदजी सेठी, प्रकाशक जैनगजट अजमेर,एवं आसाम, मारवाड़, राजस्थान आदि की अनेक संस्थाओं एवं सैकडों जैन व जैनेतर महानुभावों की श्रद्धांजलियां तार व पत्रों द्वारा प्राप्त हुई हैं। परन्तु समयावधि के पश्चात् प्राप्त होने से उन्हें प्रकाशित नहीं किया जा सका। प्रेषक महानुभाव क्षमा करें।

—सम्पादक

पावन-पितृ-चरणों में

मनुष्य जन्म पाकर माता पिता का संयोग मिलना तो स्वामाविक बात —परन्तु उत्तम कुल, उत्तम धर्म, अच्छी शिक्षा और सुयोग्य माता पिता का मिलना अत्यन्त मुश्किल है। हम अपना सौमाग्य समझते हैं कि हमें उत्तम कुल और उत्तम धर्म के साथ सुयोग्य एवं कीर्ति सम्पन्न माता पिता के यहां जन्म लेने का सुयोग्य प्राप्त हुआ।

हमारे पूज्य पिताजी स्व० श्रद्धेय भंवरीलालजी ने हमारा पालन पोषण, संवर्धन, शिक्षण, रक्षण, करने में कोई कसर नहीं उठा रखी। उनका व्यक्तित्व आदर्श और उच्च था। उनकी चर्चाएं उपदेशरूप होती थीं।

उनका अस्तित्व हम सबके लिए एक महान् वरदान था। उनका जीवन और उनके कार्य हमारे लिए तो वरद और मंगलमय थे ही किन्तु वे प्राणिमात्र के लिए भी हितकारी थे।

वे अजात शत्रु और अकुतोभय थे। पूज्य पिताजी के अवसान से हम छात्रहीन हो गये। हमें ऐसी आशा न थी कि वे इतने शीघ्र हमको छोड़कर चले जायेंगे परन्तु कालकी गति अगाध है, उसके आगे किसी का वश नहीं चलता।

पूज्य पिताजी के पावन चरणों में हमारी हार्दिक विनम्र श्रद्धांजलि कुसुमांजलि है।

पूज्यपाद पिताजी असंख्य गुणों के निधि थे उनके वे समस्त गुण हममें आसकें यह तो असंभव प्राय है यदि उनका शतांश भाग भी हममें रहे तो उस सबका श्रेय भी उनको ही है। जो महानुभाव पूज्य पिताजी के साथ स्नेह प्रेम आत्मीयता ममता रखते थे यदि वे सब हमारे साथ भी उसी प्रकार रक्खेंगे तो हम उनके आभारी रहेंगे।

विनम्र,

नथमल, प्रसन्नकुमार,

मन्नालाल, चैनरूप बाकलीवाल

श्रीमान धर्मपरायणो धृतिधरो धैर्याम्बुधिर्धीधनो
धर्मोद्धारधुरंधरो धनिवरो सद्धर्मधारां धरन्।
श्रीमद्धर्षधरः सदा सुबुधपः सद्धीर्धरालङ्कृतिः
सद्‌ध्याता धरणीमणिः स भंवरीलालः सुधीर्धार्मिक ः॥